

आनन्दवनग्रन्थमालायाः पञ्चदशं पुष्पं

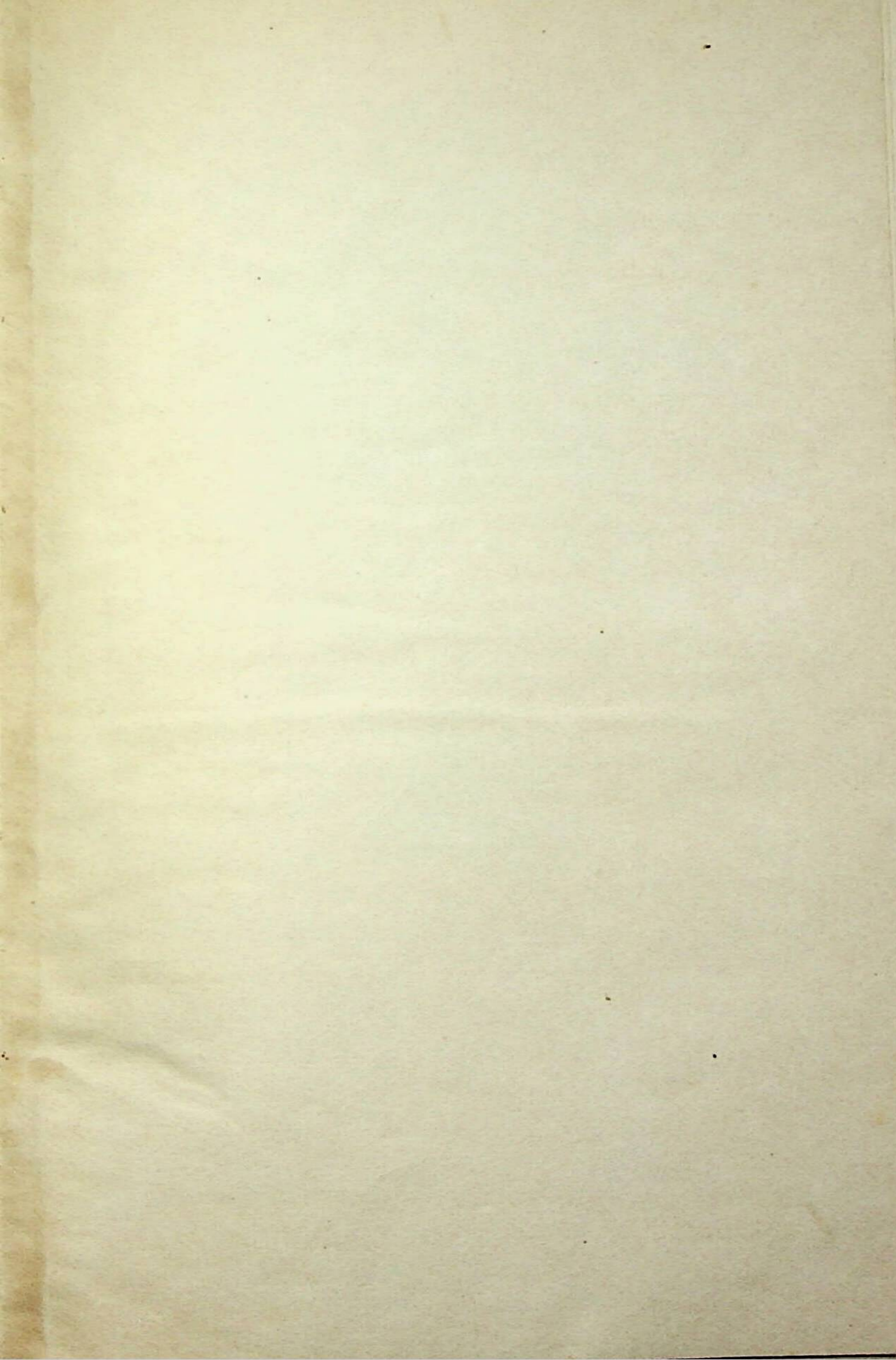
श्री शिवमाहिम्नः स्तोत्रम्

स्पन्दवार्त्तिकसहितम्



वार्त्तिककारः—

महामण्डलेश्वर श्रीस्वामिकाशिकानन्दयतिः





आनन्दवनग्रन्थमालायाः पञ्चदशं पुष्पं

श्री शिवमाहिम्नः स्तोत्रम्

स्पन्दवार्तिकसहितम्



वार्त्तिककार :—

महामण्डलेश्वर श्रीस्वामिकाशिकानन्दयतिः

प्रकाशक :—
श्री काशिकानन्द जी ट्रस्ट
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली (पश्चिम)
बम्बई–४०००६७

●

प्रथमावृत्ति १०००

१९८३

●

मूल्य : ३०·००

●

●

मुद्रक :—
ज्योति प्रेस
मध्यमेश्वर, वाराणसी

परिचय

गन्धर्वराज पुष्पदन्तविरचित शिवमहिम्नः स्तोत्रका स्मार्त्त समुदाय में इतना भारी आदर है कि रुद्राभिषेकमें रुद्रपञ्चमाध्यायके स्थान पर तथा स्वतन्त्ररूपेण भी इसका प्रयोग करते हैं। अर्थात् इसे वेदतुल्य ही मानते हैं। "भारतं पञ्चमो वेदः" जैसी प्रसिद्धि है वैसे महिम्नःस्तोत्रकी द्वितीय रुद्ररूपमें प्रसिद्धि है। इसमें एक कारण विषयगाम्भीर्य है। रुद्राध्याय-को रुद्रोपनिषद भी कहते हैं। उसमें सर्वात्मरूपेण शिव वर्णन है। "रुद्रोपनिषदप्येवं स्तौति सर्वात्मकं शिवम्"। "नमस्ते रुद्र" इत्यादिमें नमस्कारवचन होनेसे वह स्तुतिरूप है। भक्तिपूर्ण है। साथ ही अद्वैतशिव-वर्णनात्मक भी है। वैसे महिम्नःस्तोत्र भी "प्रणिहितनमस्योऽस्मि" "नमो नेदिष्ठाय" इत्यादिसे उक्तार्थको लेकर नमस्कार सहित है। भक्तिपूर्ण है। तथा परमतत्त्ववर्णनात्मक है। द्वितीय रुद्ररूपेण प्रसिद्धिमें विषय गाम्भीर्य जितना सहायक हुआ उतना ही कर्तृ गौरव भी हुआ।

महिम्नःस्तोत्ररचयिता

इस स्तोत्रके रचयिताके रूपमें गन्धर्वराज पुष्पदन्तकी प्रसिद्धि है जो भगवान् शंकरके गणोंमें एक माने जाते हैं। वहाँ तक तो हमारी पहुँच नहीं है कि हम यह कह सकें कि वे गण कितने विद्वान थे और कैसे थे। किन्तु कथा सरित्सागरके अनुसार ये ही पुष्पदन्त पार्वतीशापसे वररुचि या कात्यायन नामसे भूतलमें अवतीर्ण हुए जो महर्षि पाणिनिके साथ सम्बन्धित थे। अतएव कथासरित्सागरके अनुसार ये पुष्पदन्त वे ही कात्यायन हैं जिन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर विश्वविश्रुत वार्त्तिकग्रन्थ की रचना की। हरिवंश पुराणमें भी पुष्पदन्त और पाणिनिको एक ही जगह नाम ग्रहण पूर्वक वर्णन किया है। एवं अन्य पुराणोंमें तथा महा-भारतमें भी ऐसी ही बात उपलब्ध होती है।

महर्षि विश्वामित्रके वंशमें कति नामके एक ऋषि हुए। उन्हींके वंशजोंको कात्यायन नामसे पुकारने लगे। अनेक कात्यायन होनेसे एक जगह कात्यायनगण भी नाम लिखा है। संभवतः उसीको लेकर शंकर संबधसे शंकरके गणके रूप प्रसिद्धि हुई हो और कथासरित्सागरादिकारोंने शंकरगणके रूपमें वर्णन किया हो। विश्वामित्र वंशज कात्यायनने कात्यायन श्रौतसूत्र कात्यायन गृह्यसूत्र तथा प्रतिहारसूत्रकी रचना की। शुक्ल यजुर्वेदके आंगिरसायन शाखा के प्रवर्त्तक भी कात्यायन ही हैं जिसका प्रसार विन्ध्याचलसे दक्षिणमें महाराष्ट्रपर्यन्त है, स्कन्दपुराणमें इस कात्यायनको याज्ञवल्क्यका पुत्र बताया है। परंतु याज्ञवल्क्यकी एक पत्नी का नाम कात्यायनी (संभवतः गोत्र नाम) होनेसे सगोत्र विवाहकी उपपत्ति कैसे यह शंका हो सकती है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि वह गोत्र नाम न होकर कात्यायनस्य स्त्री कात्यायनी ऐसा अर्थवाला नाम हो। याज्ञवल्क्य कात्यायन गोत्रका हो तो ऐसा अर्थ संभव है। या कात्यायनीके पितृवंशीयको पुत्ररूपेण स्वीकार करनेसे कात्यायन याज्ञवल्क्य पुत्र माने गये हों।

कुछ लोग श्रौतसूत्र रचयिता कात्यायन तथा व्याकरण वार्त्तिक रचयिता कात्यायनको अलग मानते हैं। वार्त्तिककार कात्यायन सोमदत्त पुत्र वररुचि कात्यायन है। वररुचिको विक्रमादित्यके सभा पण्डित भी बहुतसे लोग मानते हैं। इस मतका विरोध या समर्थन दोनों ही अनुपयोगी है। क्योंकि जब कात्यायन गण ही हो गया तो उसमें अनेक कात्यायन होंगे ही। परंतु ईस्वी उत्तरवर्त्ती किसी विक्रमादित्यके सभा पण्डित इनको नहीं मान सकते। कारण भाष्यकार महर्षि पतञ्जलिका ही काल ईस्वी पूर्व है तो वार्त्तिककारके विषयमें कहना ही क्या। अतएव कात्यायन गणमें एकका अपना स्वनाम वररुचि रहा हो और वे ही वार्त्तिक रचयिता हुए हों तो कोई असंभव बात नहीं है। हाँ, इन सब बातोंको प्रमाणित करनेका अतिरिक्त प्रयास करना होगा।

यद्यपि पुष्पदन्तके जन्म स्थानके बारेमें वैमत्य आता है। वार्त्तिककार कात्यायनके लिये महाभाष्यमें "प्रियतद्धिता हि दाक्षिणात्याः" कह

कर उन्हें दाक्षिणात्यके रूपमें स्वीकार किया है। किन्तु कथा सरित्सागर के पुष्पदन्त या कात्यायन दाक्षिणात्य नहीं है। तब कात्यायनरूपेण अवतीर्ण पुष्पदन्त वार्त्तिककार कात्यायनसे भिन्न है—क्या? यह संशय भी हो सकता है। किन्तु कथा सरित्सागरकारने स्वयं पाणिनीय सूत्र व्याख्याकारके रूपमें पुष्पदन्तावतार कात्यायनको माना है। अतः जन्मस्थान विषयक लेखमात्रको अन्यथा स्वीकार करना उचित होगा। क्योंकि कथायें कई जन्मोको जोड़ जाड़कर लिखी जाती हैं। फिर कथासारित्सागर के बारेमें कहना ही क्या? जो अतिविलक्षण घटनाओंके वर्णनसे भरपूर है। इस अंशमें महाभाष्योक्त दाक्षिणात्यत्व ही प्रामाणिक है। अतः जन्म स्थानके विवादको लेकर कात्यायन भेद मानना अनुचित है। अतएव प्रसिद्ध व्याकरण वार्त्तिककार महर्षि कात्यायन ही महिम्नःस्तोत्र रचयिता हैं। यह निश्चित होता है।

वस्तुत, कात्यायन शाखा का दक्षिण देश में व्याप्त प्रचार ही उनके दाक्षिणात्यत्व में एक प्रमाण है जैसे कि हमने ऊपर दिखाया। यद्यपि याज्ञवल्क्य का आश्रम स्कन्द पुराणानुसार गुजरातमें था। ऐतिहासिक लोग इस पर यही कल्पना करते हैं कि जब याज्ञवल्क्य राजा जनक के पास मिथिला में गये तब उनका पुत्र कात्यायन वहां से दक्षिण की ओर गये होंगे। परन्तु हमारी समझमें तो बात यही आती है कि आज भी महाराष्ट्रादिमें याज्ञवल्क्यप्रवर्तित माध्यन्दिन शाखा का भी प्रचुर प्रचार है तथा वे लोग याज्ञवल्क्य को दाक्षिणात्य होने की ही श्रद्धा रखते हैं। अतः याज्ञवल्क्य दाक्षिणात्य ही रहे। गुजरातको उन्होंने अपना प्रचारक्षेत्र बनाया होगा और वहां आश्रम बनाकर रहने लगे होंगे। अतएव कात्यायन गणान्तर्गत वार्तिककार कात्यायन को महाभाष्यकारोक्त दाक्षिणात्यत्व उपपन्न है। सर्वथापि कथासरित्सागर के—

अवदच्च चन्द्रमौलिः कौशाम्बीत्यस्ति या महानगरी।
तस्यां स पुष्पदन्तो वररुचिनामा प्रिये जातः॥

इतने अंश पर ध्यान न दिया जाय या पूर्वोक्तरीत्या उसका समाधान किया जाय तो वार्तिकाकार वररुचि कात्यायन और पुष्पदन्तकी अभिन्नता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती ।

आधुनिक गवेषणानुसार भी इस स्तोत्रकी प्राचीनता तो बारहवीं शताब्दीके शिलालेखमें लिखित महिम्नःस्तोत्र पाठ ही सिद्ध करता है। अर्थात् तब तक यह स्तोत्र इतना लोकप्रिय एवं श्रद्धेय बन चुका था कि उसे अमिट बनानेके लिये शिलापर अंकित किया। अतएव बाधक दृढतर प्रमाणान्तर की अनुपस्थितिमें इसे वार्त्तिककार कात्यायन ऋषिकी रचना मानना अनुचित नहीं माना जा सकता।

विषय

विषय दृष्टिसे महिम्नःस्तोत्र अत्यन्त गम्भीर है। प्रथम नौ श्लोकों में निराकार साकार तथा शाश्वत-अर्वाचीन स्वरूपोंको लेकर विशद वर्णन किया। उसके बाद भक्तिप्रवर्धनार्थ पंद्रह श्लोकोंमें ("तवैश्यर्यं यत्नात्" से "श्मशानेष्वाक्रीडा" तक) पौराणिक सरल कथाओंके द्वारा अर्वाचीन पदका वर्णन किया जो साधन भक्तिके द्वारा परमार्थकी ओर ले जानेमें परम उपयोगी है। अन्तमें छः श्लोकोंमें साधन भक्तिगम्य परमपदका ससाधन वर्णन किया। इस प्रकार भगवत महिमा वर्णनरूपी स्तुति भक्ति एवं तत्त्वज्ञानका त्रिवेणी संगम यहां उपलब्ध होता है। एक प्रकारसे आदिमें नौ श्लोक और अन्तिम छः श्लोक मिलानेपर पंद्रह श्लोक तत्त्व प्रतिपादन प्रधान हैं और मध्यमें पंद्रह श्लोक कथाकथनमुखेन भावोद्भावन प्रधान है। ऐसा एक विलक्षण विभाजन यहाँ देखनेमें आता है। इकतीसवें श्लोकमें वाक्यपुष्पोपहारसमर्पण और बत्तीसवेंमें अपना निरभिमान प्रदर्शन के द्वारा प्रथम श्लोकार्थस्पष्टीकरण और उपसंहार ही है।

महिम्नःस्तोत्र पर अन्य व्याख्यायें

ऐसे तो इस स्तोत्रपर अनेक व्याख्यामें संस्कृत तथा हिन्दीमें प्रसिद्ध हो चुकी है। उनमें सर्वमूर्धन्यरूपेण श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीकी हरिहर-

पक्षीय व्याख्या अत्यन्त प्रसिद्ध है। उन्होंने स्वयमपि लिखा है कि पूर्वाचार्य-कृत व्याख्याओंका ही मैं संग्रह करता हूँ। उससे यह अर्थ निकलता है कि श्रीमन्मन्मसूदन सरस्वतीसे पूर्व भी अनेक व्याख्यायें इस पर हो चुकी थीं किन्तु हमारे दृष्टिपथमें वैसे विशिष्ट कोई व्याख्या नहीं आयी। संभव है वे कहीं छिपी पड़ी हों या कुछ कालकवलित हो गयी हों।

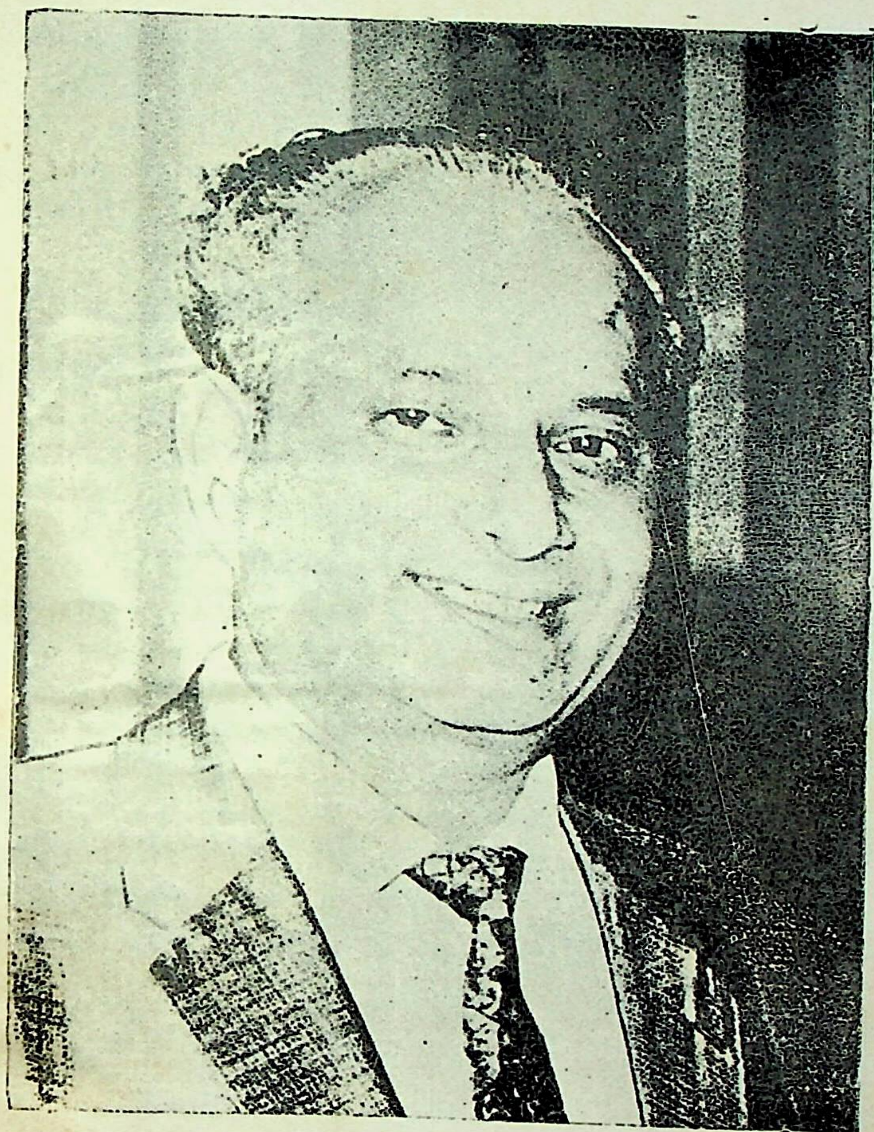
निजप्रयास

आजसे लगभग बीस वर्ष पहले एक भक्तके आग्रहपर मैंने मधुसूदनीय हरिहरपक्षीय व्याख्यानुसार उभयपरक शब्दार्थ व्याख्या तथा टिप्पणी लिखी। संवत् २०२२ में उसका मुद्रण निर्णयसागर प्रेसमें हुआ। वह काफी लोकप्रिय भी हुआ। उस व्याख्या लेखन कालमें मुझे ऐसा विचार आया कि इस पर एक विस्तृत व्याख्या होनी चाहिये। हरिपक्षमें व्याख्या ठीक है किन्तु वह रचयिताका हार्द प्रतीत नहीं होता। अतः शिवपक्षीय व्याख्यामें ही अपनी अधिक रुचि रही। लम्बे समयके बाद भडौंचमें महिम्नःस्तोत्रपर प्रवचनका अवसर आया तो मैंने उसका सदुपयोग किया और प्रायः प्रवचनोक्त अर्थोंको ही श्लोक बद्ध किया। वही यह प्रस्तुत ग्रन्थ है। स्पन्दवार्त्तिक नामक इस व्याख्याके विषयमें चर्चा मैं अभी प्रस्तुत करना नहीं चाहूँगा। इस पर विद्वज्जनोंकी कैसी दृष्टि है। इसे समझ-कर ही फिर आवश्यकता हुई और संभव हुआ तो अन्य संस्करण में विश्लेषण करूँगा।

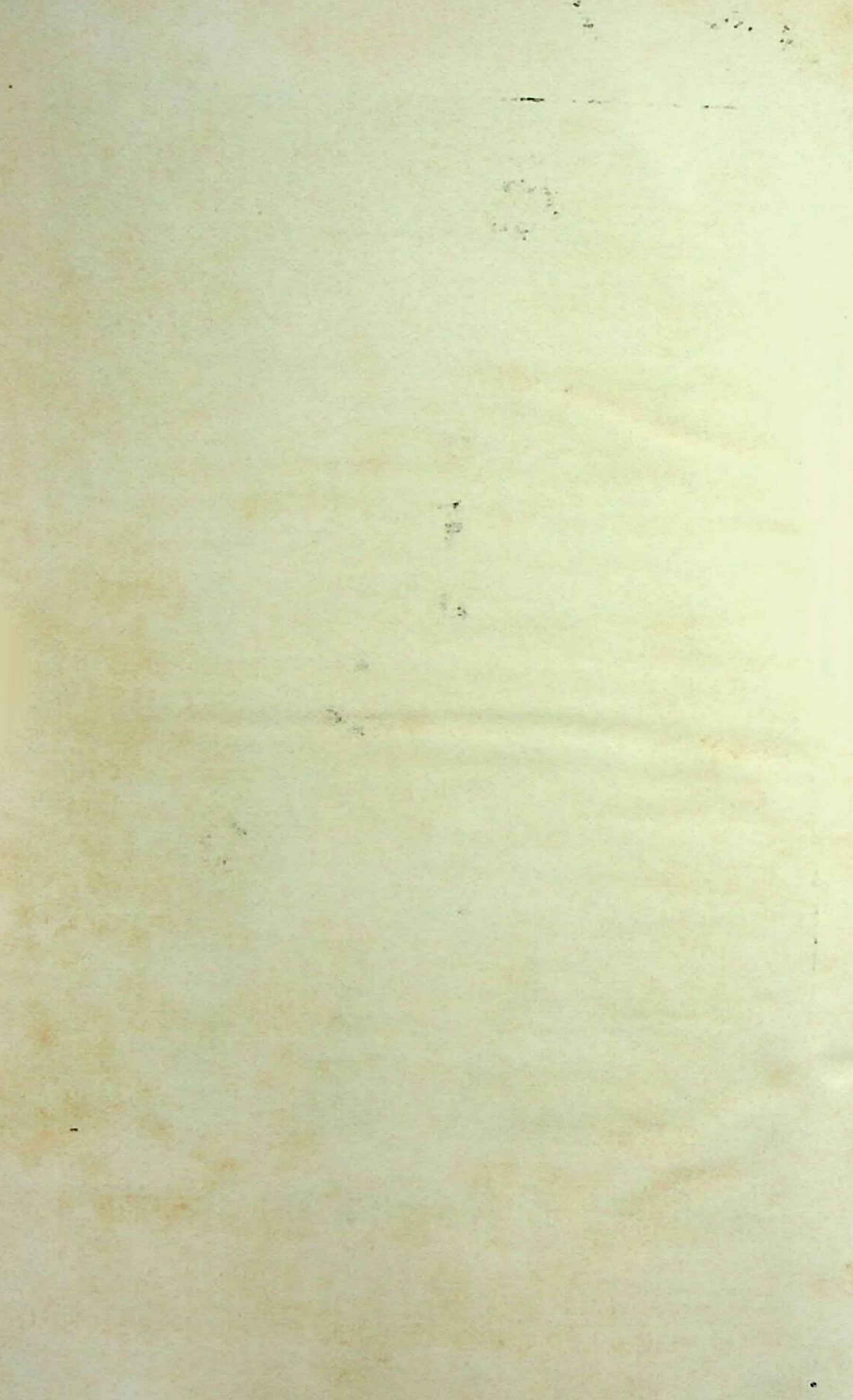
हरिहरपक्षीय व्याख्या

प्रथम जो मुद्रित हुआ था उसमें टिप्पणियाँ स्थान-स्थानपर दी गयी थी। उन सबको छोड़कर केवल शब्दार्थमात्रको प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तमें निवेशकर दिया गया है। जिससे उभयपक्षीय अर्थके जिज्ञासुओंका उपकार हो। जो जिज्ञासुजन महिम्नःस्तोत्रक शिवपरके तथा विष्णुपरक दोनों अर्थ ज्ञानके अभिलाषी हैं वे अन्तमें उसका अवलोकन कर सकते हैं।

—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीकाशिकानन्द



स्व० सेठ श्री शिवनारायण जी कपूर





श्री शिवमहिम्नः स्तोत्रम्

स्पन्दकार्तिकसहितम्

निष्कलङ्काय निःसीमस्वानन्दज्ञानरोचिषे ।
नमः शिवाय शान्ताय कण्ठकालाय मीढुषे ॥ १ ॥

भगवान शंकरका स्वरूप लोकोत्तर है । [एक ओर निष्कलङ्क और दूसरी ओर कण्ठमें कालकलङ्क है । एक ओर निःसीम आनन्द ज्ञान रूप है, दूसरी ओर हालाहल कण्ठमें है । ज्ञानसत्त्वरोचि है और काल तमोवर्ण है । स्वानन्दयुक्त होनेपर भी मीढ्वान् (मेह-प्रमेह युक्त) है । और शिव (कुशल मंगल) विपरीत भी है । अथ च] भगवान शंकर स्वमहिमामें स्थित, मायाकलंकरहित हैं असीम आनन्द एवं ज्ञान ज्योति स्वरूप हैं उनकी सीमा ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं पा सके थे । शिव तुरीय तत्त्वस्वरूप हैं । प्रपञ्चोपशम शान्त हैं । अर्वाचीन पदमें नीलकण्ठ एवं सर्वाभीष्टवर्षी हैं । ऐसे शंकर भगवानको हम प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

तनोतु शं विघ्नहरो गणेश्वरो गिरां च देवी सुमतिप्रदायिनी ।
महेश्वरी शक्तिकरी तनोतु शं सदाशिवश्चैव सदाशिवप्रदः ॥ २ ॥

विघ्नहरणकारी गणेश भगवान विघ्नहरण से मंगल करें । सुबुद्धि दायिनी सरस्वतीदेवी सुमतिप्रदानसे मंगल करें । शक्तिनिर्माणकारिणी महेश्वरी कर्तव्यकार्यशक्तिसंवर्धनसे मंगल करें । तथा सर्वदा मंगलदायी सदाशिव भगवान मोक्षरूप सदामङ्गलकी योग्यता सम्पादनसे मंगल करें ॥ २ ॥

कात्यायनाय मुनये मुनये श्रीमन्नृसिंहयतये च ।
सदयाय यतिकुलाय च शिरोवनामं नमस्यामः ॥ ३ ॥

भगवान कात्यायन मुनिको भगवान श्री नृसिंह यतिको और दयामय समस्त यतिवृन्दको सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ।। ३ ।।

यां चक्रे शिवतुष्टयेऽनुभजतां भक्तेश्च संपुष्टये,
गन्धर्वाधिपतिर्गति भगवतो दिव्यां महिम्नः स्तुतिम् ।
तस्या गूढरहस्यमाकलयितुं स्पन्दाभिधानामिमां
कुर्वे सर्वजनोपकारकरणीं वृत्ति सतां प्रीतये ।। ४ ।।

शंकरभगवानकी प्रसन्नताके लिये तथा भक्तजनोंकी भक्तिकी पुष्टिके लिये गन्धर्वाधिपति पुष्पदन्त मुनिने भगवद्बोधकारिणी दिव्य जिस महिम्नः स्तुतिकी रचना की उसके गूढ रहस्यको स्वयं आकलन करनेके लिये तथा अन्य लोगोंको भी करानेके लिये स्व पर सर्वजनोपकारिणी स्पन्द नामक यह वृत्ति संत पुरुषोंकी प्रीतिके लिये बना रहा हूँ । (भोजननिर्वाह भी वृत्ति है, उससे तुष्टि होती है और पुष्टि होती है यही प्रीतये पुष्टयेका अभिप्राय है) ।। ४ ।।

ज्ञानादेव तु कैवल्यं श्रुतिर्वदति शाश्वती ।
भक्त्या च भवति ज्ञानमुपास्तिपरिपाकया ।। ५ ।।

अपौरुषेयी श्रुतिका कहना है कि ज्ञानसे ही कैवल्य होता है । और उपासनासे परिपक्व हुई प्रेमलक्षणा भक्तिसे ही ज्ञान होता है ।। ५ ।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। ६ ।।

भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः अहमेवंविधोऽर्जुन ।
इत्यादिवचनव्रातैरेतदेव प्रसिध्यति ।। ७ ।।

गीतामें बताया है—भक्तिसे मैं जैसा हूँ और जो हूँ इस बातका तत्त्वतः ज्ञान होता है और वैसा तत्वतः जानकर बादमें वह ज्ञानी सिन्धुमें विन्दु के समान मुझमें प्रविष्ट होता है । हे अर्जुन ! अनन्य भक्तिसे ही इस प्रकार मेरी प्राप्ति होती है । ऐसे ऐसे अनेक वचनोंसे उक्त अर्थकी ही सिद्धि होती है ।। ६-७ ।।

ननु स्यात्तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थचिन्तनात् ।
आत्मसाक्षात्कृतिस्तद्धि प्रमाणत्वेन संमतम् ।। ८ ।।

पूर्वपक्षी :—तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके अर्थचिन्तनसे आत्मसाक्षात्कार होता है । क्योंकि वही प्रमाण है (भक्ति प्रमाणरूप नहीं है) ।।८।।

सत्यं नैव तु साक्षात्त्वं जायते परमात्मनः।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां शतशश्चिन्तने कृते।। ९ ।।

सिद्धान्ती :—आपका कहना यथार्थ है। किन्तु तत्वमसि आदि वाक्योंका हजार बार चिन्तन करने पर भी परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो पाता, यह भी आपको मान्य होना चाहिये ।। ९ ।।

मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
इत्येवं भगवत्पादा अपि स्पष्टं समीडिरे ।। १० ।।

भगवान शंकराचार्यने भी मोक्षसाधनसामग्रीमें भक्तिको ही गुरुतर बताया है ।। १० ।।

ननु प्रमाणं नो भक्तिः, सत्यं किं ते व्यथा ततः।
प्रसन्नो भगवानेव वाक्यं संस्फुरयेद्धृदि ।। ११ ।।

पू :—पर, भक्ति प्रमाण नहीं है। सि :—जी हाँ, माना, एतदर्थ आपको क्लेश क्यों है ? भगवान भक्तिसे प्रसन्न होकर हृदयमें महावाक्यको स्फुरित कर देंगे (और उसी वाक्यसे तत्वसाक्षात्कार होगा) ।। ११ ।।

श्रूयतां वा गुरुमुखात्तत्त्वमस्यादिकं वचः।
किंतु पुंदोषतः सद्यः साक्षात्कारक्षमं न तत् ।। १२ ।।

और "आचार्यवान् पुरुषो वेद" के अनुसार मनुष्यरूप आचार्य होनेपर ही ज्ञान होता है ऐसा आग्रह है तो वह भी मान लीजिये, और गुरुमुखसे तत्त्वमस्यादि महावाक्यका श्रवण भी मान लीजिये, फिर भी पुरुषापराधके कारण श्रवण करते ही साक्षात्कार उत्पन्न नहीं होता यह भी आपको स्वीकार्य होना ही चाहिये ।। १२ ।।

भक्त्या पुंदोषविगमे वाक्यं बोधयति श्रुतम्।
मणिमन्त्रादिविगमे दहत्यग्निर्यथेन्धनम् ।। १३ ।।

भक्तिसे ही पुरुषापराध निवृत्त होता है तो पूर्वश्रुत तत्त्वमस्यादि वाक्य ही बोध करा देगा, जैसे मणि-मन्त्र आदि प्रतिबन्धकके निकल जानेपर अग्नि इन्धनको जला डालती है ।। १३ ।।

अवाक्यमपि चोंकारः प्रमाणं परमं मतम्।
ततो हि सर्ववेदानां प्राकट्यं जायते यतः।। १४ ।।
व्यस्तस्य वाक्यरूपत्वमपि चास्त्यन्यथापि च।
जप्यमेतन्महावाक्यं प्रमाणं तच्च वक्ष्यते ।। १५ ।।

यदि महावाक्यसे साक्षात्कार माना तो यहाँ महिम्नः स्तोत्रमें उसका अभाव होनेसे फिर न्यूनता हुई ऐसी शंका भी यहाँ अस्थाने है।

कारण यहाँपर ॐकारका वर्णन अन्तमें आया है। वह जपार्थ भी है और प्रमाण भी है। यद्यपि ओंकार एक ही अक्षर या शब्द होने से वाक्य नहीं है, अतएव महावाक्य भी नहीं हो सकता। (वाक्यं पदसमूहः ऐसा न्याय-शास्त्रकारोंका कहना है) तथापि ओंकार परम प्रमाण है। संपूर्ण वेद ओंकारसे ही प्रकट हुए हैं तो संपूर्ण वेदोंका अर्थ उसमें समाविष्ट है। तब वह प्रमाण क्यों नहीं होगा ? अन्वितार्थबोधकत्वरूपी वाक्यत्व अखण्डार्थ-बोधक तत्त्वमसि आदिमें भी नहीं है। अतः संकोच सर्वमतसिद्ध है। दूसरी बात यह है कि ॐकारका समस्तरूप वाक्य न हो, व्यस्तरूप तो वाक्य है। वह पदसमुदायात्मक है यह भी आगे स्पष्ट होगा ॥ १४-१५॥

तत्र च द्विविधा भक्तिः साक्षात्कारोपयोगिनी।
अर्वाचीनपदस्याद्या नित्यसिद्धस्य चापरा ॥ १६ ॥

इसप्रकार भक्ति साक्षात्कारके प्रति उपयोगी सिद्ध हुई। वह दो प्रकारकी है। एक अर्वाचीन (नवीन साकार स्वरूप) की है और दूसरी नित्यसिद्ध निराकार स्वरूपकी है ॥ १६ ॥

साकारं करुणासिन्धुं पञ्चवक्त्रादिरूपिणम्।
उपास्यैव तुरीयस्य सामान्यं ज्ञानमाप्यते ॥ १७ ॥

वैसे तो अर्वाचीनपदकी उपासनामात्रसे प्रतिबन्धनाशपूर्वक भगव-त्साक्षात्कार महावाक्यसे होता है, यह पूर्व श्लोकमें बताया। परन्तु निराकारोपासनाके लिए आवश्यक तुरीयतत्त्वका सामान्यज्ञान भी उसीसे प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

ओंकारालम्बनेनैव तच्चोपास्य परात्परम्।
साक्षात्कारमवाप्नोति भवबन्धच्छिदावहम् ॥ १८ ॥

ओंकारके आलंबनसे ही परात्पररूपकी भी उपासनाकर भवबन्धको मिटानेवाला साक्षात्कार प्राप्त करते हैं ॥ १८ ॥

परमं तत्त्वमेवैवमुपास्यं स्तुत्यमेव च।
साक्षान्निःश्रेयसकरं किन्तु तन्नाञ्जसेयते ॥ १९ ॥

इस प्रकार साक्षात् मोक्षकारण होनेसे एक तरहसे परमतत्त्व ही उपासनीय तथा स्तवनीय है। तथापि वह कार्य इतना आसान नहीं जैसा कि कहनेमें आता है ॥ १९ ॥

परात्परस्य तूपास्तिर्बोध्यैकविषयत्वतः।
नेदीयसीत्यतः प्राज्ञा ऋजुमार्गं तमश्रयन् ॥ २० ॥

परात्पर परमेश्वरकी उपासना फिर क्यों की जाय, जब कि अर्वाचीनपदोपासनाके विना वह संभव नहीं और अर्वाचीन पदोपासनासे साक्षात्कार भी स्वीकार्य है ? कारण यही है कि साक्षात्करणीय परमतत्त्व ही परात्परोपासनाका विषय है अतः वह समीपतर मार्ग है। बुद्धिमान ऋजुमार्गको अपनाते हैं। कुटिलमार्गसे चलते हुए मध्यमें ऋजुमार्ग मिल गया तो उसे अपनाना कोई बुरा नहीं है। कुटिलमार्गाभिनिवेश उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ २० ॥

अर्वाचीनपदं त्वन्ये विक्षेपहरमब्रुवन् ।
उपास्येतामुभावेव विवादानास्पदत्वतः ॥ २१ ॥

कुछ लोग मानते हैं कि साकारोपासनासे केवल विक्षेपनिवृति होती है वह बहिरङ्ग साधन है। खैर, इस विवादमें पड़ना ही क्यों ? दोनोंकी उपासना करो, जिसमें कोई विवाद ही नहीं है ॥ २१ ॥

एतत्सर्वमभिप्रेत्य पुष्पदन्तो महामुनिः ।
कात्यायनो वररुचिरुभयं संप्रतुष्टुवे ॥ २२ ॥

इसी आशयसे महामुनि पुष्पदन्तने जिनको कात्यायन एवं वररुचि भी कहते हैं, दोनोंकी साम्यक् स्तुति की ॥ २२ ॥

तदुपक्षिप्यतेऽप्यत्र श्लोकेऽस्मिन् प्रथमे द्वयम् ।
सोपानक्रमतः प्राप्तुं गन्तव्यं स्थानमुत्तमम् ॥ २३ ॥

इस प्रथम श्लोकमें अर्वाचीन तथा परात्पर दोनों ही की उपासनाका उपक्षेप (उपक्रम) किया है। ताकि सोपानक्रमसे गन्तव्य परम स्थान प्राप्त किया जा सके ॥ २३ ॥

महिमानमुपस्थाप्य परं प्रस्तूयते परम् ।
स्वबुद्धिपरिणामोक्त्या तत्त्वं प्रस्तूयतेऽपरम् ॥ २४ ॥

पूर्वार्धमें परम महिमाको उपस्थितकर परात्पर स्वरूपको प्रस्तुत किया। और उत्तरार्धमें "स्वमतिपरिणामावधि गृणन्" कहकर अर्वाचीन पदको प्रस्तुत किया। क्योंकि गिराके अविषयमें स्वमतिपरिणामावधि-गिराका प्रश्न ही कहाँ उठता है ॥ २४ ॥

किं च स्तुत्यसदृक्त्वोक्त्या लक्ष्यते तत्परात्परम् ।
एवं भङ्ग्यन्तरेणास्य स्ताव्यत्वं च समर्थितम् ॥ २५ ॥

यदि "स्वमतिपरिणामावधि गृणन्" यह बात अर्वाचीन पदकी ही हो, तब परात्परकी स्तुत्यता असिद्ध होनेसे उसका प्रस्तुतीकरण व्यर्थ है

ऐसी भी शंका नहीं उठती। क्योंकि "परात्परकी स्तुति असदृशी है" इस उक्तिसे ही परात्परकी स्तुति लक्षणा द्वारा हो जाती हैं। अर्थात् भिन्न तरीकेसे उसकी स्तुत्यता भी समर्थित हो जाती है ॥ २५ ॥

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥ १ ॥

सर्वपापहारी हे हर! आपकी अपरंपार महिमाको न जाननेवाले हम जैसोंकी स्तुति यदि आपके अननुरूप है तो ब्रह्मा आदिकी भी वाणी आपके विषयमें जर्जरित ही है। यदि अपनी बुद्धिके परिपाककी सीमामें रहकर स्तुति करनेवाले सभी उलाहना देने योग्य नहीं ऐसा मानते हैं तो स्तुतिके बारेमें मेरा यह उपक्रम भी आक्षेपयोग्य नहीं है ॥ १ ॥

हर

प्रलये विश्वसंहाराद् रुद्रो हर इतीर्यते।
उपसंहरति स्वस्मिन् सर्वं स्थापयति प्रभुः ॥ २६ ॥
संसारदीर्घभ्रमणखेदखिन्नान् हि देहिनः।
स्वस्मिन् विश्रामयन् देवो हर इत्यभिधीयते ॥ २७ ॥

प्रलय समयमें समस्त विश्वका संहार भगवन रुद्र करते हैं। तदनुसार "हरति संहरति विश्वं" इस व्युत्पत्तिसे रुद्र हरपदार्थ है। संहारका मारना अर्थ नहीं, किन्तु प्रसारित भुवनका उपसंहार है। प्रलयकी उपमा सुषुप्तिसे दी जाती है। बल्कि सुषुप्ति नित्यप्रलय ही है। सुषुप्तिकालमें सकलविलय होता है। फलतः भगवान शंकर सबको अपनी गोदमें सुलाते हैं यही उनका संहार है। संसारकी लम्बी यात्रासे थके प्राणियोंको अपनेमें विश्राम कराते हैं इसलिये भगवान शंकर हर हैं ॥ २६-२७ ॥

पापापहरणाच्चैव धर्मरूपवृषध्वजः।
श्रुतिष्वपि श्रुतमिदमघोरापापकाशिनी ॥ २८ ॥
कशतिः शासनार्थो वा ताडनार्थोऽथवा भवेत्।
पापं कशति तच्छीला तनुः स्यात्पापकाशिनी ॥ २९ ॥
अपापकाशिनीत्यन्ये चिच्छिदुः श्रुतिगं पदम्।
न पापं काशयत्येषाऽदर्शनात्मकनाशनात् ॥ ३० ॥

प्रसङ्गाद् द्व्यक्षरं प्रोक्तमघं हन्ति शिवेति गीः ।
इत्याह स्म सती तस्मात्पापहारी हरः स्मृतः ।। ३१ ।।

"हरति अपहरति पापं" इस व्युत्पत्तिके अनुसार हरका पापापहारी अर्थ है । चतुष्पात् धर्मरूपी वृषभपर स्थित शङ्करका पापहारित्व उचित ही है । श्रुतिमें भी "या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी" ऐसा बताया हैं । पापं कशति शास्ति ताडयति वा तच्छीला ऐसी श्रुतिगत पदकी व्युत्पत्ति है । "कष हिंसायां" धातु शकारान्त भी हो सकता है । कुछ भाष्यकारोंने अपापकाशिनी ऐसा पदच्छेद किया है । उस पक्षमें भी "न पापं काशयति प्रकाशयि" पापका दर्शन नहीं कराता यही अर्थ उचित है । "णश अदर्शने" इस धात्वर्थनिरूपणानुसार अदर्शन नाश या लोप ही है । श्रीमद्भागवतमें "यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्" ऐसा बताया है । अर्थात् प्रसङ्गवश भी शिव ये दो अक्षर बोलनेपर तुरत सभी पाप नष्ट होते हैं । अतः हर पापहारी हैं ही ।। २८-३१ ।।

अज्ञानहरणाच्चैव ज्ञानदेहस्त्रिलोचनः ।
विद्याकामस्तु गिरिशं यजेतेति स्मृतत्वतः ।। ३२ ।।
विशुद्धज्ञानदेहाय ज्ञानमिच्छेत्तु शङ्करात् ।
इत्यादिभिश्च सिद्धं स्याद्धरस्याज्ञानहारिता ।। ३३ ।।

"हरत्यज्ञानमिति हरः" इस व्युत्पत्तिसे हरका अज्ञानहारी अर्थ निकलता है । ज्ञानशरीर वेदत्रयलोचन शङ्करमें अज्ञानहारित्व उचित हैं । "विद्याकामस्तु गिरिशं यजेत" ऐसा स्मृतिमें भी बताया है । "विशुद्धज्ञान-देहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे" "ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात्" इत्यादि वचनोंसे भी हरकी अज्ञानहारिता सिद्ध है ।। ३२-३३ ।।

द्वैतसंहरणाच्चैव तुरीयं धाम तच्छ्रुतम् ।
प्रपञ्चोपशमं शान्तमद्वैतं शिवमित्यपि ।। ३४ ।।

"हरित द्वैतप्रपञ्चमिति हरः" इस व्युत्पत्तिसे मोक्षरूप तुरीय धाम हरपदार्थ है। श्रुतिमें यह बताया भी है । "प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं" इत्यादि श्रुति है ।। ३४ ।।

महिम्नस्तस्य ते पारं हे हराऽविदुषोऽसदृक् ।
स्तुतिश्चेदवसन्नाः स्युर्ब्रह्मादीनां च तद्गिरः ।। ३५ ।।

हे हर ! ऐसे अनेकविधहरणकारी आपकी महिमाका पार न जानने-वालोंकी स्तुति आपके अननुरूप हो तो ब्रह्मा आदिकी वाणी भी आपके विषयमें अवसन्न गतिशून्य ही मानी जायेगी ।। ३५ ।।

महिम्नः

महिमेति महीयस्त्वबुद्धयुत्पादकमुच्यते ।
नानाविधं वैभवं तच्छ्रुतिरेतदभाषत ॥ ३६ ॥
गवाश्वमिह वै हस्तिहिरण्यं दासभार्यकम् ।
क्षेत्राण्यायतनानीति महिमेति प्रचक्षते ॥ ३७ ॥

जिससे यह महान है ऐसी प्रतीति हो उसे महिमा कहते हैं । नानाविध वैभव ही वह है यह बात श्रुतिमें बतायी है । गाय, अश्व, हाथी, सेना, दास, भार्या, क्षेत्र एवं गृहादि लोकमें महिमा कहलाते हैं ॥ ३६-३७ ॥

ईशस्य वैभवं तावत् सर्वमेव जगद् भवेत् ।
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥ ३८ ॥
एतावानस्य महिमेत्येवं भगवती श्रुतिः ।
भूतभव्यादिकं सर्वं महिमानमभाषत ॥ ३९ ॥

ईश्वरका वैभव तो पूरा जगत् ही है । भूत, वर्तमान, भविष्य सभी पुरुष ही है । इतनी इस पुरुषकी महिमा है इस प्रकार श्रुतिने यह बात कही है ॥ ३८-३९ ॥

कथं पुरुषरूपत्वे महिमा तस्य भण्यते ।
उच्यते तज्जलान् सर्वमतो ब्रह्म न वस्तुतः ॥ ४० ॥
तदनन्यत्वतः सर्वं ब्रह्मारम्भणशब्दतः ।
तज्जन्यत्ववशात् तस्य महिमेत्यप्युदीर्यते ॥ ४१ ॥

"पुरुष एवेदं सर्वं" ऐसा अभेदनिर्देश होनेसे पुरुषकी महिमा कैसे कहते हैं ? षष्ठीसे भेदनिर्देश हो रहा है । इस शङ्काका समाधान श्रुतिसे ही प्राप्त हो जाता है । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" ऐसी श्रुति है । जगत ब्रह्मरूप है ऐसा प्रथम अभेदकथन किया । फिर बताया—तज्जलान् । यह जगत् तज्ज, तल्ल एवं तदन् है । ब्रह्मसे उत्पन्न, ब्रह्ममें लीन होनेवाला एवं ब्रह्ममें जीवित रहनेवाला यह जगत् है । "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इस न्यायसे ब्रह्मोपादानक होनेसे अनन्यत्व है । अतः "सर्वं ब्रह्म" यह अभेदनिर्देश है । जन्यजनकभावको लेकर भेदनिर्देश भी है ॥ ४०-४१ ॥

पारं तेऽपरं

तस्यास्याखिलविश्वस्य महिम्नः पारमिष्यते ।
अपरं परहीनं तत्त्रिपाद् ब्रह्म श्रुतीरितम् ॥ ४२ ॥
परमित्येव वा च्छेदो ह्यव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चिदित्येवं श्रुतिदर्शनात् ॥ ४३ ॥

सारांश यही कि सारा विश्व परमेश्वरकी महिमा है उसका पार त्रिपाद ब्रह्म है। वह अपर अर्थात् परहीन है उससे आगे कोई पर श्रेष्ठ नहीं। अपरं पदच्छेद करनेपर उक्त अर्थ है। परं ऐसा च्छेद भी मान सकते हैं। क्योंकि श्रुतिमें उसे पर वताया है। "अव्यक्तात् पुरुषः परः" "पुरुषान्न परं किञ्चित्" ऐसी श्रुति है। इसी श्रुतिसे परहीन अर्थ भी सिद्ध है ॥४२-४३ ॥

एतावान् महिमा तस्य ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वभूतानि त्रिपादस्य स्वयंप्रभम् ॥ ४४ ॥

यही बात श्रुतिमें वताया है—भूत भव्यादि जो भी हो इतनी पुरुषकी ही महिमा है, किन्तु पुरुष इससे अधिक है। समस्त भूत इस पुरुषके एक पादमें आ जाते हैं। इससे परे त्रिपात् स्वयंप्रकाश है। "त्रिपादस्यामृतं दिवि" यहाँ दिविपदसे स्वयंप्रकाशता तथा परता प्राप्त होती है ॥ ४४ ॥

अविदुषो

स्वयंप्रभत्वान्न ज्ञेयं तदज्ञा यदि वा वयम्।
ब्रह्माद्याश्च तदज्ञाः स्युरज्ञेयत्वात्परात्मनः ॥ ४५ ॥

स्वयंप्रकाश होनेसे त्रिपादब्रह्म ज्ञेय=ज्ञानविषय नहीं है। तब हम यदि उस ब्रह्मके बारेमें अज्ञ हैं तो ब्रह्मा आदि भी अज्ञ ही हैं। वह परमात्मा ज्ञेय ही नहीं, तो उसका ज्ञान हो किसको? फलतः अज्ञानसे स्तुतिकी असदृशता सर्वसमान है ॥ ४५ ॥

महिम्नः

महीयमानं रूपं च महिमेति निगद्यते।
स एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्येति हि श्रुतिः ॥ ४६ ॥
न वर्धते कर्मणा स न कनीयांस्तथाविधः।
महिमा ब्रह्मणस्तच्च स्वरूपं परमं मतम् ॥ ४७ ॥

महिमा शब्दका दूसरा अर्थ है—महीयमान=अतिश्रेष्ठ रूप। श्रुतिमें उसका वर्णन इस प्रकार आया है—ब्रह्मकी यह महिमा नित्य है, कर्मोंसे वह न घटता है और न बढ़ता है। वह ब्रह्मका पारमार्थिक स्वरूप ही है ॥ ४६-४७ ॥

अविदुषः

पूर्ववत्तदवैदुष्यं ब्रह्मादेर्वा ममापि वा।
अपरिच्छिन्नरूपो हि पारो न ज्ञेयतां व्रजेत् ॥ ४८ ॥

उस ब्रह्मस्वरूप महिमाके पूर्णभावरूप पारका अज्ञान पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्मादि एवं मुझमें समान ही है। क्योंकि अपरिच्छिन्न वह पार ज्ञेय नहीं हो सकता। वह ज्ञानस्वरूप ही है। स्वप्रकाशरूप ज्ञानमें परप्रकाश्यतारूपी ज्ञेयता नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

नन्वत्र प्रथमे पक्षे द्वितीयश्लोकसङ्गतिः।
न भवेत्तत्र महिमा प्रोक्तो वाङ्मनसातिगः ॥ ४९ ॥
जगद्रूपस्तु महिमा नैव वागाद्यगोचरः।
मैवं वागाद्यविषयं तं च वक्ष्यामहे वयम् ॥ ५० ॥
किं चोभयार्थे श्रुतिषु प्रयोगो दर्शितो मया।
श्लोकद्वये स्तां भिन्नार्थौ ततः कापद्यते क्षतिः ॥ ५१ ॥

शङ्का होगी कि महिमा शब्दका भूतभव्यादि जगत् अर्थ पक्षमें द्वितीय श्लोककी सङ्गति नहीं होगी। वहाँ महिमाको वाणी और मनका अविषय बताया है और जगत्रूपी महिमा तो वाणी और मनका विषय है। उत्तर है कि जगत् भी अनन्त होनेसे वह भी वाणी और मनका अविषय ही है, यह बात हम आगे कहेंगे। दूसरी बात यह है कि जब श्रुतिमें ही "एतावानस्य महिमा" "एष नित्यो महिमा" इस प्रकार दोनों अर्थोंमें प्रयोग किया गया है। तब प्रथम श्लोकमें महिमा पदका एक अर्थ और दूसरे श्लोकमें दूसरा अर्थ लिया जाय तो हर्जा क्या है? ॥ ४९-५१ ॥

महिमानमविज्ञाय स्तुतिर्निन्दासमा भवेत्।
अयं पणशती राजेत्यलभ्यद्युम्नगीर्यथा ॥ ५२ ॥

वास्तविक महिमाको जाने बिना महिमाका वर्णन करेंगे तो वह स्तुति न होकर निंदा जैसी होगी। जैसे जिसने धन कभी न पाया हो वह बोलता है कि यह राजा सौ रुपयेवाला बड़ा धनी है ॥ ५२ ॥

मरुदेशी निशम्याह सुहृदं लब्धवैभवम्।
अयं बहुधनी चेत्स्याद् गुडोष्णीषी भविष्यति। ५३ ॥

मारवाड़का ग्रामीण अपने मित्रको वैभव प्राप्त सुनकर कहने लगा—अब तो वह गुड़की पागड़ी बाँधेगा (ग्रामीणकी बुद्धि उत्कृष्टतामें गुड़ ही तक पहुँचती है) ॥ ५३ ॥

मण्डूकी हि कथंकारं कुक्षिमापूर्य वायुना।
वृषभोदरतुल्यत्वं लभतां यत्नतोऽपि च ॥ ५४ ॥
परिच्छिन्नां मनोवृत्तिं विस्तार्यापि कथं तथा।
अनन्तं ब्रह्म बिभृयुर्ब्रह्माद्या अपि देवताः ॥ ५५ ॥

अगृहीतानन्तरूपा वृत्तिस्तुच्छैव निश्चिता।
तया गोचरितैरथैरनन्तस्य कथं स्तुतिः ॥ ५६ ॥

मेंढकीने वृषभको सुना तो अपने पेटमें वायु भरकर पूछा क्या इतना मोटा उसका पेट था? क्या संभव है कि श्वास भरकर मेंढकी वृषभतुल्य अपना उदर बना ले? मनोवृत्तियाँ परिच्छिन्न होती हैं। क्या उसके विस्तारसे अनन्त ब्रह्मका ग्रहण ब्रह्मादि भी कर पायेंगे? यदि वृत्तियाँ अनन्तरूपको ग्रहण नहीं कर सकतीं तो परिच्छिन्न होनेसे अवश्य तुच्छ होंगी। उनसे विषयीकृत अर्थोंसे अनन्तकी स्तुति कैसे संभव है ॥ ५४-५६ ॥

गगने पुत्तिका का चेद् गरुडस्तत्र को वद।
वयं चेत्पुत्तिकातुल्या ब्रह्माद्या गरुडोपमाः ॥ ५७ ॥

गगनमें फतींगा क्या चीज है? (क्या वह उड़कर गगन पार करेगा?) ठीक है, तो गगनमें गरुड़का भी कौन-सा अस्तित्व है? (वह भी गगनको पार नहीं कर सकता।) हम सब गगनमें फतींगेके बराबर हैं तो ब्रह्मादि गरुड़के बरावर ॥ ५७ ॥

को वा अनन्तस्य गुणाननन्तान् गणयेत्पुमान्।
भूमे रजांसि गणयेन्न त्वनन्तस्य कोपि तान् ॥ ५८ ॥

अनन्त भगवानके अनन्त गुणों की गणना कौन कर सकता है? भूमिमें कितनी रज है उन्हें कोई गिन ले, पर अनन्त भगवानकी गुणगणना संभव नहीं। "यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स नु बालबुद्धिः" ऐसा बताया है ॥ ५८ ॥

अथावाच्यः

अथ स्वबुद्धेस्तु यथा-परिपाकं शिवं स्तुवन्।
सर्वोऽवाच्यो भवेत्तर्हि मत्स्तुतिः किं न शोभताम् ॥ ५९ ॥

यदि कहें कि अपनी बुद्धिके परिपाकानुसार शिवस्तुति करनेवाले सभी उपालम्भके अयोग्य हैं तो मेरी स्तुति भी उपालम्भयोग्य क्यों हो? ॥ ५९ ॥

भूमौ निपतमानानां भूमिरेवावलम्बनम्।
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं मम ॥ ६० ॥
इत्येवं सापराधापि स्तुतिः संशोध्य शंभुना।
अङ्गीकरिष्यते नूनमिति यत्नोऽर्थवान्मम ॥ ६१ ॥

भूमिपर चलते समय कोई गिरता है तो उसका अवलंबन भूमि ही होगी। भगवान के प्रति अपराध होनेपर शरण भगवान ही होंगे।

इसी प्रकार अपराध सहित भी मेरी स्तुति को स्वयं संशोधन कर अंगीकार करेंगे । अतः मेरा यत्न तो सफल ही होगा ।। ६०-६१ ।।

ब्रह्मादीनापि वचोऽगोचरोऽपाररूपभाक् ।
शिवस्य महिमेत्युक्त्या सुष्टुतोऽत्र हरः स्फुटम् ।। ६२ ।।

ब्रह्मा आदिके भी वचन का अविषय है अतएव शिवमहिमा अपार है, यह कहते हुए शिवकी सुन्दर स्तुति स्तुतिसमर्थनके बहाने ही यहाँ की गयी है ।। ६२ ।।

धियोऽवधिकथाव्याजात्तस्यानवधिरूपताम् ।
ध्वनयंश्च शिवोत्कोर्षो नभोवद् व्यापकः स्तुतः ।। ६३ ।।

"स्वमतिपरिणामाधि" शब्दसे शिवोत्कर्ष स्वयं अवधिशून्य है यह ध्वनित किया और गगन समान व्यापक ध्वनित करते हुए स्तुति की गई ।। ६३ ।।

तथापि च स्वस्वमतिपरिपाकावधिस्थितम् ।
रूपं स्तुत्यं किमप्यस्तीत्येतच्च ध्वन्यते स्फुटम् ।। ६४ ।।
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
यादृशः स्तूयते देवस्तादृक् समुदियात् पुरः ।। ६५ ।।

भगवान निरवधि होने पर भी स्वमतिपरिणामावधि में भी स्थित कोई स्तुत्यरूप परमेश्वरका स्वरूप है यह भी ध्वनित होता है । अन्यथा सावधि स्तुति परमेश्वरविषयक ही न होती । गीतामें भी 'जो जैसे मुझे भजता हैं मैं भी उसे उसी रूप में आकर अपनाता हूँ' ऐसा कहा है । जिस रूप से भगवान का भजन करते हैं उसी रूप से भगवान आविर्भूत होते हैं ।। ६४-६५ ।।

आलम्बनमुपादाय तदन्तर्यतयो हि यम् ।
निरालम्बं प्रपश्यन्ति महेशं तमुपास्महे ।। ६६ ।।

साकार शिवरूपी आलम्बन लेकर उस सालम्बनके अंदरसे निरालम्ब परमेश्वर को यतिगण देखते हैं उस महेश की हम वन्दना करते हैं ।। ६६ ।।

परिच्छिन्नेऽपि हृत्पद्मेऽपरिच्छिन्नं यथेक्ष्यते ।
निरालम्बस्तथालम्बे तमालम्बे महेश्वरम् ।। ६७ ।।

आलम्बन लेकर निरालम्बका दर्शन कैसे ? जैसे दहरपुण्डरीकालम्बनमें गगनोपम ब्रह्मका दर्शन होता है । जिसको उपनिषदोंमें बताया है । उस निरालम्ब महेश्वरका हम आलम्बन करते हैं ।। ६७ ।।

सात्त्विक्या मायया च्छन्नस्तामस्याऽविद्ययाप्यसौ ।
भवनैडूकसंलग्नताम्यज्जवनिकाऽऽभया ॥ ६८ ॥

वह परमेश्वर सत्वप्रधान मायासे और तमःप्रधान अविद्यासे भी आच्छादित है। जैसे प्रभायुक्त आकाशको प्रथम भवनभित्ति ढक लेती है, फिर भी अंदर से काला परदा भी लगा हो तो क्या कहना ? ॥ ६८ ॥

शिवाकाराद्यथा कुड्यकाचाज्जवनिकोद्धृतो ।
प्रभापटलितं व्योम शिवाकारं विलोक्यते ॥ ६९ ॥
शिवाकृत्या तथा मायाशक्त्याऽविद्यालवोद्धृतौ ।
स्वप्रभं भासते ब्रह्म शिवाकारं परात्परम् ॥ ७० ॥

भवनके दीवारपर शंकराकारका रोशनदान कांच लगा है। इधर परदा जरा उठ गया तो उस कांचसे प्रकाशपटलयुक्त आकाश शिवाकार दिखाई देगा। वैसे अविद्या का कुछ अंश निकल जाता है तो भित्ति-स्थानीय मायामें लगे हुए काचस्थानीय अतिनिर्मल शिवाकर दिव्यशक्तिसे शिवाकार स्वयंप्रभ ब्रह्म प्रकाशित होता है। अर्थात् भासमान ब्रह्म अपरिच्छिन्न है किन्तु शिवाकारयुक्त शक्तिसे भासित होनेसे शिवाकार भासता है ॥ ६९-७० ॥

भक्तभावानुसारेण दिव्या शक्तिः शिवात्मिका ।
स्यात्तथाकृतिरुक्तं तत्तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥ ७१ ॥

भक्तभावानुसार मायाभित्तिगत शिवाभिन्न दिव्यशक्ति शिवाद्याकार हो जाती है। यही "तांस्तथैव भजाम्यहम्" इस गीतावचन का रहस्यार्थ है ॥ ७१ ॥

मायामन्ये जवनिकां तत्रेशाकारकर्तनात् ।
व्योमवद्ब्रह्मणोपीशाकारतां च न्यरूपयन् ॥ ७२ ॥
तच्चिन्त्यं बाह्यरेखैवं चित्रस्येवोपपद्यताम् ।
त्रिनेत्रभालभस्मादिमध्याकारः कथं भवेत् ॥ ७३ ॥

कुछ आचार्योंने ऐसा वर्णन किया है कि माया और अविद्या ये दो नहीं है। एक ही माया परदा है। उसमें शिवादि आकार काट निकालते हैं तो जैसे परदेके अन्दरसे शिवादि आकार में गगन दीखता है। वैसे माया परदेके अन्दरसे परब्रह्म शिवादि आकारमें दीखने लगता है। परन्तु यह मत विचारणीय है। इस प्रकार परदेमें शिवाकार परदा काट निकालनेसे बाहरकी रेखा भले सम्पन्न हो, किन्तु मध्यमें त्रिनेत्र, भाल, भस्म, जटा, गंगा, ओष्ठादि आकार कैसे बनेंगे ॥ ७२-७३ ॥

न च वाच्यं मायया स स्यात्तन्मायामयो भवेत् ।
तदा चिन्मयतावाचोयुक्तिस्तु घटतां कथम् ॥ ७४ ॥

यदि कहें कि भाल भस्मादि मध्याकार मायासे दीखता है तब वह मायामय होगा और आपका चिन्मयतावाद कहाँ रह जायेगा ? ॥ ७४ ॥

परास्य शक्तिर्विविधा श्वेताश्वतरशाखिभिः ।
श्रूयमाणा निगदिता सिद्धा सातः परेशितुः ॥ ७५ ॥

"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इस श्वेताश्वतरवचनसे परमेश्वरकी पराशक्ति सिद्ध होती है ॥ ७५ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
इत्युक्तत्वाज्जगद्धेतुः सिद्धा माया च धूर्जटेः ॥ ७६ ॥

श्वेताश्वतरमें ही "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादि मन्त्रमें शंकर भगवानकी माया पृथक बतायी है । अतः माया भी सिद्ध है ॥ ७६ ॥

वर्तमाना अविद्यायां बहुधेत्यादिवाक्यतः ।
सिद्धा भवत्यविद्यापि यतः स्यान्मूढता नृणाम् ॥ ७७ ॥

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः" इत्यादि वाक्यसे मनुष्यको मूढ बनानेवाली अविद्याकी भी सिद्धि होती है ॥ ७७ ॥

स्पन्दमाना भवेत्सृष्टिकाले शक्तिस्तु शाश्वती ।
शिवशक्त्योः सामरस्यं मोक्षे च प्रतिपादितम् ॥ ७८ ॥

सृष्टिकालमें शक्तिका स्पन्दन होता है । मोक्षमें शिवशक्तिका सामरस्य होता है ॥ ७८ ॥

शिवः परो यादृशोऽस्ति तादृशाय नमो नमः ।
भवाय स्पन्दमानाय यथामति नमो नमः ॥ ७९ ॥

परमशिव ज्ञानविषय नहीं अतः जैसे हैं वैसे उनको यह प्रणाम हो । स्पन्दमान अर्वाचीनपदस्थ भगवान भवको यथामति प्रणाम हो ॥ ७९ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ वृत्तः स्पन्दोऽयमादिमः ॥

ॐ

द्वितीयः श्लोकः

ब्रह्मादीनामवैदुष्यं कथं नामोपपद्यते ।
सर्वज्ञाः खलु ते प्रोक्ताः सर्वज्ञानां न चाज्ञता ॥ १ ॥

'अविद्वानकी स्तुति असदृश है तो ब्रह्मादिकी स्तुति भी अवसन्न हैं इस उक्तिसे ब्रह्मादिमें भी अवैदुष्य सूचित होता है । अवसन्नतामें वही हेतु कहा जा रहा है । परन्तु ब्रह्मादि तो सर्वज्ञ हैं । उनमें अज्ञता कैसे मानी जा सकती है ? ॥ १ ॥

नैवं वाङ्मनसातीतं शैवं यत्परमं पदम् ।
न शक्यं तद्धि विज्ञातुममनोगोचरत्वतः ॥ २ ॥

उत्तर यह है कि वाणी और मनसे परे जो परम शैव पद है वह जाना नहीं जा सकता है । क्योंकि वह मनोगोचर नहीं है ॥ २ ॥

महिमा द्विविधः प्रोक्तो बाह्य आन्तर एव च ।
गवाश्वादिस्तु बाह्यः स्याद् वीर्यशौर्यादिरान्तरः ॥ ३ ॥

महिमा दो प्रकारकी है । एक बाह्य है, दूसरी आन्तर है । गाय, अश्व, सुवर्णादि बाह्य महिमा है । वीरता, शूरता आदि आन्तर महिमा है ॥ ३ ॥

पादोऽस्य सर्वभूतानि महिमा परमात्मनः ।
बाह्यः स्यादान्तरस्तस्य त्रिपाद्रूपः स्वयंप्रभः ॥ ४ ॥

परमात्माकी बाह्य महिमा समस्त विश्वरूपी पाद है । और आन्तर महिमा स्वयं प्रकाश त्रिपात् ही है ॥ ४ ॥

न बाह्यं महिमानं च प्राप्तुं वाङ्मनसे क्षमे ।
कियानाकाश इति न वक्तुं ज्ञातुं हि शक्यते ॥ ५ ॥

परमात्माकी बाह्य महिमाको भी सविषय बनानेमें वाणी और मन समर्थ नहीं होते (आन्तर महिमाकी बात ही क्या) यह आकाश कितना बड़ा है यह जानना या बोलना भी सम्भव नहीं है ॥ ५ ॥

अनन्तकोटयस्तत्र ब्रह्माण्डानि चकासति ।
असंख्यत्वात् परिच्छित्तिः कथं तेषां हि संख्यया ॥ ६ ॥

इस आकाशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं। अनन्त होने हीसे संख्यापरिच्छेद संभव नहीं है ॥ ६ ॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण बाह्योऽपि महिमोच्यते ।
अनन्तो ह्यन्तवद्भिन्नोऽसंख्यः संख्यायुतेतरः ॥ ७ ॥

परमात्माकी बाह्य महिमाको भी अतद्व्यावृत्तिसे कहना पड़ता है। अनन्तका अर्थ है—जो अन्तवानसे भिन्न है। असंख्यका अर्थ है—गणना-विषयसे जो भिन्न है। आकाश अनन्त है, ब्रह्माण्ड असंख्य हैं यहाँ दोनों जगह अतद्व्यावृत्ति है ॥ ७ ॥

नन्वविज्ञाय सृजतु ब्रह्माण्डानि कथं विधिः ।
कथं रक्षत्वसंख्यानि विष्णुस्तानीति चेन्न तत् ॥ ८ ॥

प्रतिब्रह्माण्डमेकैके ब्रह्मविष्णुहराः स्मृताः ।
तेषां सृष्टिस्थितिलयकर्ता ह्येको महेश्वरः ॥ ९ ॥

यदि ब्रह्माको पूरे जगतका ज्ञान न हो तो वे सृष्टि कैसे करते और विष्णु रक्षा कैसे करते ? इस शंकाका उत्तर यह है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें प्रत्येकमें एक-एक ब्रह्मा विष्णु रुद्र हैं। अपने-अपने ब्रह्माण्डका उन्हें ज्ञान है। इन सबके सृष्टिस्थितिलयकर्ता महेश्वर ही एक है ॥ ८-९ ॥

नन्वण्डानामसंख्यत्वादनन्तत्वाद्विहायसः ।
शंकरोऽपि कथं नाम विज्ञातुं भवति प्रभुः ॥ १० ॥

उच्यते शांकरं ज्ञानमप्यनन्तं विदुर्बुधाः ।
तस्मान्नैवाज्ञता तस्य शक्यसंभावना भवेत् ॥ ११ ॥

ब्रह्माण्ड असंख्य और अनन्त होने से ब्रह्मादिमें यदि आपेक्षिक सर्व-ज्ञता मात्र है तो भगवान महेश्वरमें भी वही दोष आयेगा; इस पूर्वपक्षका समाधान यह है कि महेश्वरका ज्ञान भी तो अनन्त है। संख्या या अन्त है ही नहीं, अतः उसका ज्ञान न होना उचित ही है। जो है ही नहीं उसका ज्ञान क्या होगा ? ॥ १०-११ ॥

नन्वनन्तं कुतो नैवं ब्रह्मादेर्ज्ञानमिष्यताम् ।
योगाद्युपायतोऽस्माकमप्यनन्तं कुतो न तत् ॥ १२ ॥

ज्ञानस्य च तदानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं भवेदिति ।
सूत्रयामास भगवान् पतञ्जलिरपि स्वयम् ॥ १३ ॥

पूर्वपक्ष:—महेश्वरका ज्ञान अनन्त हो सकता है तो वैसे ही ब्रह्मादिका भी ज्ञान अनन्त क्यों नहीं हो सकता ? "तदा ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं" इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिने भी समाधिजन्य ज्ञानको अनन्त बताया है ।। १२–१३ ।।

मैवमानन्त्ययुक्तानि विज्ञानानि बहूनि न ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यदेक एव महेश्वरः ।। १४ ।।

ज्ञानानि वृत्तिरूपाणि प्रतिबिम्बात्मकानि वा ।
नाना स्युर्न पुनर्बिम्बरूपं ब्रह्मात्मकं तथा ।। १५ ।।

एकैकाण्डपरच्छिन्नब्रह्मादेश्चित्तवृत्तयः ।
अपरिच्छिन्नरूपा न कथंचिदुपपद्यते ।। १६ ।।

मुक्ता महेश्वरात्मत्वं प्राप्ता ये तद्दृशा जगौ ।
ज्ञानानन्त्यं तथा ज्ञेयस्याल्पतां च पतञ्जलिः ।। १७ ।।

समाधान :—ब्रह्मा आदिमें पृथक्-पृथक् अनन्तरूप नाना ज्ञान नहीं हो सकते । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुतिमें उक्त अनन्त ज्ञान जो ब्रह्मरूप है वह एक ही है । वृत्तिरूप ज्ञान या प्रतिबिम्बरूप ज्ञान नाना हो सकता है । परन्तु एक एक ब्रह्माण्डमें ही सीमित ब्रह्मा आदिकी वृत्ति अपरिच्छिन्न नहीं हो सकती । भगवान पतञ्जलिऋषिने ज्ञानकी अनन्तता एवं ज्ञेयकी अल्पता जो बनायी है वह योगाभ्यासवशात् जो मुक्त या जीवन्मुक्त होता है वह स्वयं महेश्वररूप हो जाता है, इस दृष्टिसे है । न कि परिच्छिन्न ज्ञान अपरिच्छिन्न बनेगा इस आशयसे (क्योंकि परिच्छिन्न कभी भी अपरिच्छिन्न नहीं बन सकता ।) ।। १४-१७ ।।

तस्मादतद्व्यावृत्त्यैव बाह्योऽपि महिमोच्यते ।
आन्तरो नितरामेव श्रुत्यापीत्यधुनोच्यते ।। १८ ।।

अतः बाह्य महिमा भी अतद्व्यावृत्तिसे कहना पड़ता है तो आन्तर महिमा सुतरां अतद्व्यावृत्तिसे कहना होगा । और श्रुति भी वैसे ही प्रतिपादन करती है यह बात इस श्लोकमें कही जायेगी ।। १८ ।।

अर्वाचीनपदं यत्तु स्वभावानुविधायि तत् ।
साक्षात्तच्छक्यते स्तोतुमित्यप्यत्र निरूप्यते ।। १९ ।।

और जो अर्वाचीनपद है वह भक्तके अपने-अपने भावके अनुरूप होता है अतः उसका स्तवन साक्षात हो सकता है यह भी बतायी जा रही है ।। १९ ।।

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥ २॥

हे हर! आपकी महिमा वाणी और मनके मार्गको छोड़कर आगे बढ़ गयी है, जिसको श्रुति भी इतरनिषेधके द्वारा, मानो कहीं गलती न हो जाय, ऐसे भयके साथ कहती है। वे आप किसके लिये स्तोतव्य हैं—स्तुतियोग्य हैं? अर्थात् किसीके लिये नहीं। किस गणितसंख्यामें आपके गुणोंके प्रकार आ सकते हैं? किसीमें नहीं—आपके कितने प्रकारके गुण हैं यह भी कोई नहीं कह सकता। कितने गुण हैं यह कहना तो दूर है। किसके आप विषय हैं? मन, वाणी आदि किसीके विषय नहीं। किन्तु अर्वाचीन-भक्तानुग्रहार्थ गृहीत नवीन स्वरूप किसका मन आकर्षित नहीं करता? और किसकी वाणीको कुछ बोलनेके लिये विवश नहीं करता॥ २॥

अतद्व्यावृत्त्या

तदिति ब्रह्म तद्भिन्नमतत् सर्वमिदं जडम्।
तद्व्यावृत्तिस्तन्निषेधस्तेनेशं वदति श्रुतिः॥ २०॥

अतद्व्यावृत्ति शब्दमें तत्पदका बुद्धिस्थ ब्रह्म अर्थ है। अतद् माने ब्रह्मसे भिन्न जड़रूप समस्त जगत्। उसकी व्यावृत्ति अर्थात् जड़ जगतका निषेध। उस निषेधके द्वारा श्रुति परमेश्वरको कहती है॥ २०॥

अशब्दस्पर्शरूपादि चास्थूलाण्वादि चाक्षरम्।
मूर्तामूर्तात्मकं विश्वं नेति नेति परं पदम्॥ २१॥
निषिध्यैवमतत् सर्वं परं बोधयति श्रुतिः।
तत्त्वमस्यादिवाक्यं चाप्यतद्व्यावृत्तिलक्षणम्॥ २२॥
तत्र भागो ह्यतद्रूपः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।
तं व्यावर्त्य श्रुतिः सत्यमखण्डं बोधयेत् पदम्॥ २३॥

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं" "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घं" इस प्रकार अक्षरको श्रुतिने समझाया है। "मूर्तं चामूर्तं च" "अथात आदेशो नेति नेति" इस प्रकार भी समझाया है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य भी अतद्-व्यावृत्तिसे ही बोध कराते हैं। वाच्यार्थका परस्पर विरोध होनेसे चैतन्य-भिन्न अतत् सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्वादि भागकी व्यावृत्तिकर श्रुति अखण्डबोध कराती है॥ २१-२३॥

अतीतः पन्थानं

सम्बन्धगुणजातीनां क्रियाणां च व्यपेक्षया ।
शब्दः प्रवर्तते लोके नैवेशेऽन्यतमोऽपि वा ॥ २४ ॥

अशक्यस्तेन वाच्यार्थविधया वक्तुमीश्वरः ।
सम्बन्धादीन् परित्यज्य भागान् श्रुतिरतो वदेत् ॥ २५ ॥

लोकमें शब्द सम्बन्ध, गुण, जाति और क्रियाकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होता है (धनवान, शुक्ल, गाय, पाचक ये क्रमशः उदाहरण हैं) परमेश्वरमें तो सम्बन्धादि कोई नहीं है। अतः वाच्यार्थरूपसे ईश्वरको कहना अशक्य है। फलतः सम्बन्धादि भागका परित्यागकर लक्षणासे श्रुति ईश्वरको कहेगी ॥ २४-२५ ॥

सम्बन्धादिपरित्यागे स्वप्रभं शिष्यते पदम् ।
न तत्प्रकाश्यं तत्त्वे वा प्रकाश्यत्वाज्जड़ं भवेत् ॥ २६ ॥

लक्ष्यमाणं जड़ं मा भूत्तत्रापि चकिता श्रुतिः ।
अखण्डाकारिणीं वृत्तिमुद्भाव्यैव निवर्तते ॥ २७ ॥

छित्वा वृत्तिश्च साऽविद्यां तत्कार्यं स्वं च नाशयेत् ।
न सा प्रकाशयेद् ब्रह्माविद्याभावात्स्वयं स्फुरेत् ॥ २८ ॥

सम्बन्धादिका परित्याग होनेपर स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। वह भी श्रुतिसे प्रकाश्य नहीं है। प्रकाश्य होनेपर जड़ होगा। लक्ष्यमाण ब्रह्म कहीं जड़ न हो ऐसी चकित श्रुति अखण्डाकार वृत्ति उत्पन्न करते ही निवृत्त हो जाती है। वह वृत्ति भी अविद्याको नष्टकर अविद्याकार्य स्वयंको भी नष्ट करती है। वह भी ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करती। हाँ, अविद्याके नष्ट होनेसे परमेश्वर स्वयमेव स्फुरित होने लगता है ॥ २६-२८ ॥

अतद्व्यावृत्तिरेवं हि वाक्षु विध्यात्मिकास्वपि ।
निषेधवाक्प्रवृत्तिस्तु विपर्ययनिवृत्तये ॥ २९ ॥

पूर्वोक्तरीतिसे "सत्यं ज्ञानं" "तत्त्वमसि" इत्यादि विधिरूप श्रुतियोंमें भी अतद्व्यावृत्ति ही है। "अशब्दमस्पर्शं" इत्यादि विषेध श्रुति कोई भ्रान्ति न रह जाय एतदर्थ है ॥ २९ ॥

सर्वज्ञाल्पज्ञते त्याज्ये विरुद्धत्वात्पदार्थतः ।
ज्ञत्वं कुतः परित्याज्यमिति शङ्का प्रवर्तते ॥ ३० ॥

विपर्यय इस प्रकार हो सकता है कि ठीक है; विरुद्ध होनेसे तत्त्वंपदार्थोंसे सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व दोनों छोड़ दो, किन्तु ज्ञत्व आदि क्यों छोड़ना चाहिये ? ॥ ३० ॥

नान्तःप्रज्ञबहिष्प्रज्ञोभयतःप्रज्ञरूपभाक् ।
न प्रज्ञाप्रज्ञरूपं चादृष्टं चाव्यवहार्यकम् ॥ ३१ ॥

एकात्मप्रत्यये सारं प्रपञ्चोपशमं तथा ।
शान्तं तुरीयमद्वैतं शिवं धामेति च श्रुतिः ॥ ३२ ॥

ज्ञत्वादि सकलं द्वैतं निषिध्य जडलक्षणम् ।
प्रपञ्चोपशमं शान्तमुपस्थापयति स्फुटम् ॥ ३३ ॥

उक्त शंकाका निवारण "नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं" इत्यादि निषेध-श्रुति ही करती है। जडलक्षण समस्त प्रपञ्चका निषेधकर शुद्ध तत्त्वको वह श्रुति उपस्थापित करती है ॥ ३१-३३ ॥

अत्र मण्डनमिश्राद्या निषेधश्रुतिमात्रतः ।
ज्ञायतेऽवधिरित्याहुः सर्वद्वैतविवर्जितः ॥ ३४ ॥

आचार्य मण्डनमिश्र प्रभृतिका कहना है कि निषेधश्रुतिसे निषेधावधि सर्वद्वैतरहित तत्त्वका ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

तदा निषेधः श्रौतः स्याद् ब्रह्म त्वार्थिकमापतेत् ।
पदार्थशोधनार्था सा विधेर्बोध इतीतरे ॥ ३५ ॥

अन्य आचार्योंका कहना है कि निषेधश्रुति मुख्य हो तो निषेध ही श्रुतिप्रमाणगम्य होगा ब्रह्म अर्थापत्तिगम्य होगा। अतः निषेध श्रुति तत्त्वंपदार्थ शोधनार्थ है । ब्रह्मबोध विधिवाक्य तत्त्वमसि आदिसे ही होगा ॥ ३५ ॥

पश्यत्याश्चर्यवत्कश्चिद् वदत्याश्चर्यवत् परः ।
श्रुतिश्च चकितं ब्रूयान्मा भूदर्थविपर्ययः ॥ ३६ ॥

ब्रह्मको कोई आश्चर्यसे देखता है, कोई आश्चर्यसे बोलता है, वैसे श्रुति भी कहीं अर्थविपर्यय न हो इस आशंकासे चकित होकर बोलती है ॥ ३६ ॥

स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः

त्रिपात् कस्य भवेत्स्तुत्यमेकपादपि दुःस्तवम् ।
एकपद्या गुणविधाः स्युः किं गणितगोचराः ॥ ३७ ॥

त्रिपात् ब्रह्म किसके स्तोतव्य हो? बल्कि एकपाद ब्रह्म भी स्तोतव्य नहीं हो सकता। एकपाद ब्रह्मके गुण प्रकार क्या गणित विषय बन सकते हैं? नहीं ॥ ३७ ॥

कस्य विषयः

वागाद्याश्चक्षुराद्याश्च मनोबुद्ध्यादयश्च ये।
तेषु कस्य भवेदेष विषयोऽविषयात्मकः ॥ ३८ ॥

वागादि कर्मेन्द्रिय, चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय एवं मन आदि अन्तःकरणमें वह किसका विषय होगा? किसीका नहीं। क्योंकि स्वयं वह अविषयात्मक है ॥ ३८ ॥

नन्वत्र कस्य विषय इत्युक्त्यैव गतार्थता।
कस्य स्तोतव्यः इत्येतत् किमर्थमभिधीयते ॥ ३९ ॥

स्तुतिवाग्विषयत्वं हि स्तोतव्यत्वमुदीर्यते।
तन्निषेधस्तु चरमपर्यायादेव लभ्यते ॥ ४० ॥

"कस्य विषय" इस प्रकार विषयताका सामान्य रूपसे प्रतिक्षेप हो गया तो "कस्य स्तोतव्यः" यह कहनेकी क्या आवश्यकता? क्योंकि स्तोतव्यः का अर्थ है स्तुतिरूपी वाणी का विषय होना। किन्तु इसका प्रतिक्षेप "कस्य विषयः" से ही हो जाता है ॥ ३९-४० ॥

मैवं स्तुतिप्रसङ्गेऽत्र स्तोतव्यत्वं निषिध्यते।
तद्धेतुविधया चोर्ध्वं प्रतिक्षेपद्वयं मतम् ॥ ४१ ॥

स्तूयते विविधैरेव गुणैः स्तोतव्यता यदि।
गुणानां च विधा नैव ज्ञायन्ते परमात्मनः ॥ ४२ ॥

गुणैः स्तोतव्यता नाम तच्छब्दविषयीकृतिः।
कथं साऽविषये तस्मिन् स्यादित्येतदिहोच्यते ॥ ४३ ॥

उक्त शंकाका समाधान यह है कि स्तुतिके प्रसङ्गमें स्तोतव्यताका ही मुख्य रूपसे प्रतिक्षेप किया जा रहा है। "कतिविधगुणः," "कस्य विषयः" ये दो प्रतिक्षेप स्तोतव्यताप्रतिक्षेपमें हेतु हैं। नाना प्रकार के गुणोंसे स्तुति होती है, किन्तु कितने प्रकारके गुण परमेश्वरमें हैं यह पता नहीं, तब वह स्तोतव्य किस प्रकार? फिर स्तोतव्यताका अर्थ है स्तुतिविषय बनाना। वह किसीका विषय ही नहीं तो स्तुतिविषय कैसे बनेगा? ॥ ४१-४३ ॥

कस्य स्तोतव्यः

अथवोत्कर्षविषयशब्दः स्तुतिरितीर्यते ।
उत्कर्षश्च शिवे कस्माद् यत् स्तोतव्यो भवेदसौ ।। ४४ ।।

अथवा यहाँ व्याख्या दूसरे ढंगसे कीजिये । उत्कर्षको बतानेवाला शब्द स्तुति कहलाती है । शिवमें किसकी अपेक्षा उत्कर्ष है ? जिसका वह स्तोतव्य हो ।। ४४ ।।

यस्मान्नास्ति परं नेवापरं चेति श्रुतत्वतः ।
नोत्कर्षवत्त्वविधया स निरूपणमर्हति ।। ४५ ।।

श्रुतिमें बताया है कि उससे उत्कृष्ट भी कोई नहीं, अपकृष्ट भी कोई नहीं । वह अद्वैत है । अतएव उत्कर्षवानके रूपमें शिवका निरूपण सम्भव नहीं । यही "कस्य स्तोतव्यः" का तात्पर्य है ।। ४५ ।।

कतिविधगुणः

यस्मिन् विश्वात्मके देवे गुणैरुत्कर्ष इष्यते ।
कति तत्र गुणा यैर्हि ज्ञातैः स्तोतुं स शक्यते ।। ४६ ।।

और जिस विश्वरूप सगुण परमात्मामें गुणप्रयुक्त उत्कर्ष अभीष्ट है उसमें कितने प्रकारके गुण हैं ? जिनको समझकर स्तुति की जा सके । यही "कतिविधगुणः" का तात्पर्य है ।। ४६ ।।

कस्य विषयः

परो विश्वात्मको वाऽयं कस्य वा विषयो भवेत् ।
अनन्तत्वात्परिच्छिन्नवागाद्यविषयो हि यत् ।। ४७ ।।

चाहे परमशिव हो, चाहे विश्वात्मक शिव हो, किसका विषय बनेगा ? पर तो अनन्त है ही । संसार अनन्त होनेसे विश्वात्मक शिव भी अनन्त है । वह परिच्छिन्न वाणी, मन आदिका विषय कैसे हो सकता है । यह "कस्य विषयः" का तात्पर्यार्थ है ।। ४७ ।।

पदे तु अर्वाचीने

नन्वेवं तु स्तुतिर्व्यर्था स्तोतव्यत्वनिराकृतः ।
आधीपरिणतिस्तोत्रमित्यप्येवमसंगतम् ।। ४८ ।।

मैवं पदेऽर्वाचीने न पतेत्कस्य मनो वचः ।
यत्परं सुन्दरं सत्यं शिवं सर्वजनप्रियम् ।। ४९ ।।

यदि स्तोतव्य ही नहीं तो स्तुति ही व्यर्थ है। स्वमतिपरिणामावधिवाली बात भी स्तोतव्यता हो तबकी है। इसका उत्तर यह है कि शंकर भगवानके अर्वाचीन स्वरूपमें किसका मन और वचन प्रवृत्त नहीं होता जो कि परमसुन्दर, सत्य, मङ्गलमय तथा सर्वजनप्रिय है॥ ४८-४९॥

अर्वाचीनपदद्वारा परं च स्तूयते पदम्।
तदेव भासते तत्र तथा लक्षणयोच्यते॥ ५०॥

अर्वाचीन आवतारिक पदके द्वारा परशिवतत्त्वकी भी स्तुति होती है। क्योंकि अर्वाचीन पदमें भी वही भासित होता है, तथा लक्षणया स्तुतिबोध्य भी वही है॥ ५०॥

ध्यायेन्नित्यं महेशं तं रजताचलसंनिभम्।
चन्द्रावतंसं सद्रत्नभूषोज्ज्वलकलेवरम्॥ ५१॥
हस्तैर्दधानं परशुं मृगं वरमुताभयम्।
पद्मासीनं प्रसन्नास्यं व्याघ्रकृत्तिधरं शिवम्॥ ५२॥
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं भीहरणं सुरसंस्तुतम्।
पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं च सर्वो ध्यायेत् स्तुवीत च॥ ५३॥

अर्वाचीनपद क्या है? जो "ध्यायेन्नित्यं" इत्यादि ध्यानमन्त्रादिमें बताया है वे महेश्वर हैं। चाँदीके पर्वतके समान गौरवर्ण हैं। चन्द्रशेखर हैं। रत्नभूषणभूषितशरीर हैं। परशु, मृग, वर और अभय हाथोंमें धारण किये हैं। पद्मासनासीन हैं। प्रसन्नवदन हैं। व्याघ्रचर्मधारी हैं। विश्वकारण हैं। विश्ववन्दनीय हैं। भयहारी हैं। देवस्तुत हैं। पञ्चवक्त्र तथा त्रिनेत्र हैं। ऐसे भगवानका सभी ध्यान करते हैं और स्तुति करते हैं॥ ५१-५३॥

सद्योजातं प्रपद्येऽहमुत्तराननरूपिणम्।
जगतः सृष्टिकर्तारमकारं नं महेश्वरम्॥ ५४॥

भगवान शंकरके उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व एवं ऊर्ध्व इस क्रमसे पाँच मुख हैं। ॐकारकी पाँच मात्रा और पञ्चाक्षरमन्त्रके पाँच अक्षर क्रमशः उनके वाचक हैं। सद्योजात-वामदेवादि क्रमशः नाम हैं। तदनुसार-उत्तरमुखरूपी जगत्सृष्टिकर्ता ॐकारके अकार और पञ्चाक्षरके नकार-स्वरूप सद्योजातके हम शरणागत हैं। "सद्यो जातं प्रपद्यामि" इत्यादि मन्त्र है॥ ५४॥

वामदेवाय च नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठरूपिणे।
पश्चिमाननरूपाय रक्षित्र उ म आत्मने॥ ५५॥

पश्चिमानन, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, ॐकारके उकाररूप और पञ्चाक्षरके 'मः' अक्षरात्मा, जगद्रक्षणकर्ता, वामदेवको प्रणाम है। "वामदेवाय च नमो ज्येष्ठाय च नमः श्रेष्ठाय च" इत्यादि मन्त्र है ॥ ५५ ॥

अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यस्त्वद्रूपेभ्यो नमो नमः ।
दक्षिणास्याय संहर्त्रे मशिरूपाय ते नमः ॥ ५६ ॥

हे भगवान ! आपके अघोर तथा घोर जैसे सभी रूपोंको नमस्कार है। तथा दक्षिणास्य, संहारकर्ता, ॐकारके मकाररूप तथा पंचाक्षरके शिकाररूप आपको प्रणाम है। "अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः" इत्यादि मन्त्र है ॥ ५६ ॥

विद्मस्तत्पुरुषायास्मै महादेवाय ते नमः ।
पूर्वास्याय तिरोधात्रे बिन्दवे वास्वरूपिणे ॥ ५७ ॥

तत्पुरुषकी हम उपासना करते हैं। महादेवका ध्यान नमस्कार करते हैं। पूर्वानन, तिरोधानकर्ता, ॐकारमें विन्दुरूप, पञ्चाक्षरमें वाकार-रूप भगवानको प्रणाम करते हैं। "तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि" इत्यादि मन्त्र है ॥ ५७ ॥

ईशानः सर्वविद्यानामूर्ध्वास्यः परमेश्वरः ।
नादो योऽनुग्रहीता यः स शिवोऽस्तु सदाशिवोम् ॥ ५८ ॥

सर्वविद्याके अधीश्वर ऊर्ध्वमुख परमेश्वर ॐकारमें नादरूप, पंचा-क्षरमें यकाररूप जो ईशान है वह हमारे लिये सदा मंगलरूप हो। "ईशानः सर्वविद्यानां" इत्यादि मन्त्र है ॥ ५८ ॥

नमोऽस्त्वोंकाररूपाय नमः पञ्चाक्षराय च ।
नमः शिवाय तुर्याय समस्ताय नमो नमः ॥ ५९ ॥

व्यस्त रूपसे सद्योजातादिस्वरूप तथा समस्तरूपसे ॐकारस्वरूप, पञ्चाक्षरस्वरूप तुरीय शिवस्वरूप व समस्तस्वरूप शंकरको प्रणाम है ॥ ५९ ॥

इत्थं वदंश्च ध्यायंश्चाप्यर्वाचीनपदं शिवम् ।
परं शिवमवाप्नोति जडलोकापबाधनात् ॥ ६० ॥

इस प्रकार अर्वाचीनपदका वाणीसे कथन तथा मनसे ध्यान करता हुआ क्रमशः जडांशनिराकरण कर परमशिवपदको मनुष्य प्राप्त करता है॥ ६०॥

पतति न मनः कस्य न वचः

नन्वत्र नास्तिकादीनां न पतेद् वाङ्मनोऽपि च ।
सामान्यतः कथमियं कस्येत्याक्षेपसंगतिः ॥ ६१ ॥

पूर्वपक्षः— "पतति न मनः कस्य" इस प्रकार सामान्याक्षेप कैसे संगत है ? नास्तिकादिका मन एवं वचन परमेश्वरमें नहीं लगता है ॥ ६१ ॥

सत्यं मुनिरभव्यानां रमणीयामशोभनाम् ।
विदधीरन् जडधियो व्याक्रोशीमिति वक्ष्यति ॥ ६२ ॥

भव्यस्याऽजडबुद्धेर्न कस्य नाम मनो वचः ।
पतेत्पदेऽर्वाचीनेऽस्मिन्नित्यर्थोऽत्र ततो भवेत् ॥ ६३ ॥

उत्तरः—स्वयं पुष्पदन्त मुनि आगे कहेंगे कि 'अभव्यों को रमणीय लगने वाली अशोभन गालियाँ जडमति पुरुष भगवान के प्रति निकालते रहते हैं' ऐसी स्थिति में यहाँ स्वयमेव अर्थतः यह अर्थ निकालेगा कि अभव्य तथा जडमति को छोड़कर अन्य किसका मन एवं वचन अर्वाचीन पद में नहीं लगता ॥ ६२-६३ ॥

तत्रैव जडधीशब्दलक्ष्यं वक्ष्यामहे वयम् ।
नास्तिकाः सन्ति धीमन्तोऽपीति नाशङ्क्यतां ततः ॥ ६४ ॥

जड़धी किसको कहते हैं यह हम उसी श्लोककी व्याख्यामें स्पष्ट करेंगे। अतः नास्तिक भी तेजबुद्धिवाले होते हैं ऐसी शंका यहाँ मत करो ॥ ६४ ॥

भव्यानां सद्धियां सेव्यमर्वाचीनपदं शिवम् ।
तदन्तःस्थं परं चापि ध्यायं ध्यायं स्तुवीमहि ॥ ६५ ॥

श्लोकका सारांश यही हुआ कि भव्य सद्बुद्धि पुरुषोंके सेव्य अर्वाचीन पद शिवका मनसे ध्यान तथा वाणीसे मैं स्तुति करता हूँ और उस अर्वाचीन पदके अन्तःस्थित परमशिवका भी इसके द्वारा ध्यान एवं स्तुति करता हूँ ॥ ६५ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ द्वितीयस्पन्दसंग्रहः ॥ ६६ ॥



तृतीयः श्लोकः

स्तुत्यौचित्यं समर्थ्याद्ये द्वितीये स्तुतिसंभवम्।
स्तुतिप्रयोजनं प्राह तृतीयेऽस्मिन्नकामिनाम्।। १ ।।

प्रथमश्लोकमें स्तुतिके औचित्यका समर्थन किया। द्वितीयमें स्तुतिकी संभवता बतायी। इस तृतीय श्लोकमें स्तुतिका प्रयोजन कहते हैं ।। १ ।।

नन्वीश्वरप्रसादस्य फलत्वं स्पष्टमीरितम्।
पुराणादौ कुतस्तस्य विचारोऽत्र विधीयते।। २ ।।
न च युक्त्या फलं तत्स्यान्निरास्यमिति सांप्रतम्।
यतो न खण्डनं युक्तं शास्त्रोक्तार्थस्य युक्तिभिः।। ३ ।।

शंकाः—पुराणोंमें स्तुतिका फल ईश्वरप्रसाद बताया है। अतः यहाँ फलविचार व्यर्थ है। यह कहें कि 'ईश्वरप्रसाद फल है' यह बात युक्तिसे निरस्त होती है, तो सही नहीं, कारण शास्त्रोक्त अर्थका युक्तियोंसे खण्डन करना अयुक्त है ।। २-३ ।।

उच्यतेऽपुरुषार्थः सन् यो युक्त्यापि विरुध्यते।
न तत्र शस्त्रतात्पर्यं कथंचिद् भवितुं क्षमम्।। ४ ।।
अपाम सोममममृता अभूमेति श्रुतौ श्रुतम्।
जन्यस्यामृतताऽयोगादन्यार्थमुररीकृतम् ।। ५ ।।

उत्तर :—जो अपुरुषार्थ तथा युक्तिविरुद्ध हो उसमें शस्त्रतात्पर्य नहीं होता। बल्कि युक्तिविरुद्ध होनेमात्रसे स्वर्गकी अमरता आपेक्षिक ही मानी गयी है। क्योंकि उत्पन्न वस्तु अमर नहीं हो सकती ।। ४-५ ।।

तस्मादयुक्तिसिद्धं चेत् पुराणोदीरितं फलम्।
फलान्तरविचारस्तु कार्यो मीमांसकैरपि।। ६ ।।

यहाँ तो वेदोक्त भी नहीं, पुराणोक्त है और युक्त्यादिविरुद्ध भी है तब मीमांसकोंको भी अन्यफलके बारेमें मीमांस करनी पड़ेगी ।। ६ ।।

भक्तस्तु लोकसामान्यदृष्टार्थं सहतां कथम्।
ईशे स्वतुच्छतां पश्यन्नतोऽन्यत्फलमीर्यते।। ७ ।।

मीमांसकोंकी भी यह स्थिति है तो भक्तका क्या कहना। साधारण लोगोंमें जो स्तुतिसे प्रसन्नता देखी जाती है क्या भक्त उसे भगवानमें स्वीकार करेगा ? फिर स्वयंको तुच्छ देखनेवाला अपनी स्तुतिकी करामात क्यों सोचने लगा ? वह अपनी अल्पताको ही प्रकट करेगा वैसा ही फल यहाँ कह रहे हैं ॥ ७ ॥

मधुस्फीता वाचः परममममृतं निर्मितवत--

स्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम् ।

मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः

पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन् ! विभु परमेश्वर ! मधुमधुर परम अमृत वाणीका निर्माण करनेवाले आपके संमुख सुरगुरु बृहस्पति या ब्रह्माकी भी वाणी क्या विस्मयकारिणी हो सकती है ? नहीं, मेरे जैसोंकी तो बात ही क्या ? वस्तुतः आपके गुणकथनपुण्यसे मैं अपनी ही वाणीको पवित्र करता हूँ इस उद्देश्यसे मैंने अपनी बुद्धिको स्तुति करनेमें लगाया है ॥ ३ ॥

मधुस्फीताः परममृतं

मधुस्फीताः समसृजद् वाचः स परमेश्वरः ।
निरमासीच्च परममृतं वचनात्मकम् ॥ ८ ॥

उस परमेश्वरने मधुमधुर वाणी उत्पन्न की। तथा परम अमृत वचनका भी निर्माण किया ॥ ८ ॥

शब्दप्रपञ्चो द्विविधः श्रेयोहेतुरुदीर्यते ।
मधुरूपोऽमृतात्मा च तदुक्तं विबुधैरपि ॥ ९ ॥

संगीतमपि साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम् ।
एकमापादमधुरमन्यदालोचनामृतम ॥ १० ॥

दो प्रकारका शब्दप्रपञ्च श्रेयका हेतु बताया है। एक मधुस्वरूप है। दूसरा अमृतस्वरूप है। इस बातको विद्वानोंने भी कहा है—संगीत और साहित्य सरस्वती देवीके दो स्तन (स्तन्य दुग्ध) हैं। एक (संगीत) समूचा मधुर है। दूसरा (साहित्य) विचारोत्तर अमृतरूप है ॥ ९-१० ॥

श्रवणं मधुमाधुर्यं संगीतं सर्वदेहिनाम् ।
विचारादमृतस्यन्दि साहित्यं श्रुतिलक्षणम् ॥ ११ ॥

उक्त वचनका तात्पर्य यह है कि सुननेमात्रसे ही संगीत सबको मधुके समान मधुर लगेगा। श्रुतिरूपी साहित्य सुनते ही मधुर नहीं लगेगा, किन्तु विचार करनेपर मोक्षरूपी अमृतको प्रदान करनेवाला होगा ॥ ११ ॥

वाचो गीतमधुस्फीता वचश्च परमामृतम्।
इत्येवं प्रकृतेऽर्थः स्यादन्तर्भावितचार्थके ॥ १२ ॥

प्रकृत श्लोकवाक्य अन्तर्भावित चार्थक है। अर्थात् मधुस्फीताश्च अमृतं च ऐसा समुच्चय यहाँ विवक्षित है (मधुर संगीत वाणी भी बनायी, श्रुतिरूप अमृत वाणी भी बनायी) ॥ १२ ॥

पञ्चभिः शंकरो वक्त्रैः पञ्च रागानवर्तयत्।
तथा च रागिणीर्नानेत्येवं विद्वद्भिरीर्यते ॥ १३ ॥

स्वीयगीतिपरिक्षुण्णा नारदो रागरागिणीः।
वीक्ष्य ता रक्षितुं शम्भुमगादिति जनश्रुतिः ॥ १४ ॥

संगीतप्रवर्तकके रूपमें शंकरभगवान संगीताचार्योंमें प्रसिद्ध हैं। अपने पाँच मुखोंसे शंकरने पाँच मुख्य रागोंको तथा रागिणियोंको प्रकट किया था। एक बार नारदजीने देखा कि हमारे गायनसे इन रागरागिणियोंका अंगभंग हो गया तो उन्हें पूर्ववत् करनेके लिये शंकरभगवानकी शरण ली थी ॥ १३-१४ ॥

विद्याधिष्ठातृरूपेण प्रसिद्धः शंकरस्ततः।
साहित्यनिर्माणकरोऽप्येष एवेति सिध्यति ॥ १५ ॥

विद्याके अधिष्ठाताके रूपमें शंकर प्रसिद्ध हैं। अतः साहित्यनिर्माण-कर्ता भी शंकर ही सिद्ध होते हैं ॥ १५ ॥

मधु—अमृतं

सामवेदे तु संगीतं वेदान्ते चामृतं परम्।
तदेतदुभयं चक्र इति वा योज्यतामिह ॥ १६ ॥

सामवेदमें संगीत है, वेदान्तमें अमृत है। दोनोंका निर्माण शंकरने किया ऐसी भी योजना सम्भव है ॥ १६ ॥

मधु—अमृतं

अथवा द्विविधा वाक् स्यात् परा चैवापरापि च।
ऋग्वेदादिर्भवेत्तत्राऽपरा वाङ् मुण्डकेरिता ॥ १७ ॥

परा तु साऽक्षरं सत्यं यया वाचाधिगम्यते।
यददृश्यं तथाऽग्राह्यमचक्षुःश्रोत्रलक्षणम् ।। १८ ।।

अथवा दो प्रकारकी वाणी है—परा और अपरा। ऋग्वेदादि अपरा वाणी है और परा वाणी वह है जिससे अक्षर सत्यकी प्राप्ति हो। जो अक्षर, अदृश्य, अग्राह्य, अचक्षुः, अश्रोत्रादिरूपसे वर्णित है ।। १७-१८ ।।

विद्यैव मुण्डके प्रोक्ता परापरविभागभाग्।
तथापि तद्धेतुरपि परापरविभागभाग् ।। १९ ।।

यद्यपि मुण्डकोपनिषत्में "द्वे विद्ये वेदितव्ये······परा चैवापरा च" इस प्रकार विद्याके दो विभाग बताये तथापि विद्याहेतु वाणीके भी ये दो विभाग सुगम हैं ।। १९ ।।

अत्राद्या तु मधुव्याप्ता स्वर्गादिफलसर्जनात्।
अमृतं यत्तु तत्रोक्तं भवेदापेक्षिकं हि तत् ।। २० ।।
आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते।
इति शास्त्रेषु तत्तत्त्वं स्पष्टं व्याख्यातमेव च ।। २१ ।।

इनमें प्रथम—ऋग्वेदादिरूप वाणी स्वर्गदाता होनेसे मधुव्याप्त है। यद्यपि स्वर्गको भी कहीं-कहीं अमृत बताया है। तथापि वह आपेक्षिक अमृत ही है। कल्पपर्यन्तस्थायित्व ही अमृतत्व है। इस प्रकार शास्त्रोंमें उसकी स्पष्ट व्याख्या भी उपलब्ध है ।। २०-२१ ।।

अत एवाह भगवान् गीतासु विजयं प्रति।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।। २२ ।।
पुष्पे प्रसिद्धं हि मधु मधुस्फीता ततस्तु सा।

इसीलिए गीतामें—"अविद्वान इस सकामकर्मप्रतिपादक पुष्पित वाणीको कहते हैं" ऐसा बताया है। पुष्पमें मधु प्रसिद्ध है। अतः कर्मबोधक वेदवाणी मधुस्फीत है ।। २२½ ।।

अन्या वेदान्तरूपा तु परमामृतदायिनी ।। २३ ।।

परा वाणी वेदान्तरूप है। वह परम अमृत मोक्षको देती है। अतः अमृतं इस विशेषणके योग्य ही है ।। २३ ।।

वाचः

स्वर्गादीनामनेकत्वाद् बहुत्वेनाह वाक्पदम्।
अमृतस्यैकरूपत्वात् तदेकवचनेन च ।। २४ ।।

अपरावाणीके फल स्वर्गादि अनेक हैं, अतः वाचः ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग किया । अमृत-मोक्ष एकरूप है अतः अमृतं ऐसा एकवचनान्त प्रयोग किया ॥ २४ ॥

अथवा वाच इत्यस्मात् त्रयी विद्याभिधीयते ।
ॐकारोऽमृतमित्येतत्पदेन विनिगद्यते ॥ २५ ॥

अथवा "वाचः" से वेदत्रय ग्राह्य है और "अमृतं" से ॐकार ॥२५॥

परमं

साररूपाः पृथिव्याद्या भूतानां पृथिवी रसः ।
इत्यादिवचनात्तेषां व्यावृत्त्यै परमं पदम् ॥ २६ ॥

"एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः अपामोषधयो रसः" इत्यादि कहकर अन्तमें "साम्न उद्गीथो रसः" ऐसा छान्दोग्यमें बताया है । उनमें भूतादिकी अपेक्षा पृथिवी आदि सार-अमृतरूप है । उनकी व्यावृत्तिके लिए 'परम' विशेषण है ॥ २६ ॥

रसानां स्याद्रसतम उद्गीथः परमोऽष्टमः ।
त्रयायं वर्तते तेन परमामृतमुच्यते ॥ २७ ॥

"स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः" इस प्रकार पृथिवी आदि रस संख्यामें अष्टम उद्गीथ ॐकारको रसोंमें रसतम परम बताया है । उसीसे तीन वेद प्रकट है । अतः वह परम अमृत कहलाता है ॥ २७ ॥

अमृतं

ओमित्यक्षरमेतद्धि भूतं भव्यं भवच्च यत् ।
रूपाणि नाम्नि लीयन्ते नामान्योंकार एव च ॥ २८ ॥

तथा चामृतरूपत्वमोंकारस्य स्फुटं मतम् ।
तद् व्याहरन् मृतो मर्त्यश्चामृतत्वं प्रपद्यते ॥ २९ ॥

ॐको विशिष्ट अक्षर बताया है । क्षरणशून्य ही अक्षर है । भूत, भविष्यद्, वर्तमान आदि सभी ॐकार ही है । रूप सभी नाममें लीन होते हैं । नाम ॐकारमें लीन होते हैं । ओंकारका लय नहीं होता । इस प्रकार ॐकार अमृत सिद्ध हुआ । उसका उच्चारणकर मरनेवाला मर्त्य अमर होता है इसलिए भी ॐकार अमृत है ॥ २८-२९ ॥

निर्मितत्वत:

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ।। ३० ।।

प्रणव: सर्ववेदेष्वित्युक्तेश्च परमं भवेत् ।
तन्निर्माणं व्याहरणं वेदव्याहरणं तत: ।। ३१ ।।

गीतामें भी यह बात आयी है–"ओंकार उच्चारण एवं मेरा स्मरण कर देह त्यागनेवाला परमगतिको प्राप्त होता है। सब वेदोंमें प्रणव मैं हूँ" इससे ॐकारकी परमता सिद्ध होती है। उसका निर्माण प्रथमोच्चारण है। उसके बाद भगवानने वेद प्रकट किया ।। ३०-३१ ।।

शास्त्रयोनित्वत इति सूत्रकारोऽप्यसूत्रयत् ।
त्रयो वेदा अजायन्त तस्मादित्यागमादपि ।। ३२ ।।

"शास्त्रयोनित्वात्" इस प्रकार सूत्रकार व्यासजीने भी भगवानको वेदकारण बताया है। स्वयं वेदोंमें भी यही बात "तस्मात्तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त" इस वचनसे बताया है ।। ३२ ।।

वेद: शिव: शिवो वेद इत्यन्या श्रुतिरब्रवीत् ।
शिवात्मत्वं तु वेदानां शिवव्याहरणाद् भवेत् ।। ३३ ।।

वेद ही शिव है शिव ही वेद है इस प्रकार अन्य श्रुती कह रही है। शिवजीने प्रकट किया अत: शिवरूप कहा गया ।। ३३ ।।

एवं सुमधुरा वाच: परमामृतमेव च ।
निर्मातुर्विस्मयपदं किं नु वाग् गीष्पतेरपि ।। ३४ ।।

इस प्रकार सुमधुर तथा परमामृत वाणीका निर्माण करनेवाले भगवानके सामने गीष्पति की भी वाणी विस्मयजनक होगी क्या ? ।। ३४ ।।

अन्ये व्याचक्षते वाचां द्वे इहोक्ते विशेषणे ।
मधुस्फीतत्वमेकं तत् परमामृतताऽपरा ।। ३५ ।।
शब्दालंकारयुक्तत्वं मधुस्फीतत्वमुच्यते ।
अर्थालङ्कारयुक्तत्वममृतत्वं निगद्यते ।। ३६ ।।

दूसरे लोग यहाँ ऐसी व्याख्या करते हैं कि वाणीके ही दो विशेषण मधुस्फीतता और परमामृतता है। शब्दालंकार मधुस्फीतता है। अर्थालंकार परमामृतता है ।। ३५-३६ ।।

केचित्त्वमृतमित्येतन्निर्माणस्य विशेषणम् ।
क्रियाविशेषणत्वाच्च क्लीबैकत्वे समार्थयन् ।। ३७ ।।

कुछ लोगोंने "अमृतं" को निर्माण क्रियाका विशेषण माना। क्रियाविशेषण होनेसे नपुंसक प्रयोग और एकवचनान्तता है ॥ ३७ ॥

मधुस्फीता

ऊरीकृत्यैकवचनं मधुस्फीतेति केचन।
वाच इत्यपि षष्ठ्यन्तमन्यथा व्याचचक्षिरे ॥ ३८ ॥
वाच ऋग्रस इत्युक्तं छान्दोग्ये तत्र साम च।
तत्राप्युक्तो रसतम उद्गीथः परमः पुनः ॥ ३९ ॥
ऋचं वा साम वोद्गीथं वाऽमृतं वाग्रसात्मकम्।
कर्तुः किं विस्मयपदं मधुस्फीतापि वाग् विधेः ॥ ४० ॥

कुछ लोग—मधुस्फीता यह एकवचनान्त है ओर "वागपि" का विशेषण है, वाचः यह षष्ठचन्त है, ऐसा मानकर व्याख्या करते हैं। वाचः=वाणीका, अमृत=रस—ऋक् या साम या ॐकार बनाने वालेको ब्रह्माकी मधुमय वाणी भी विस्मित करा सकती है क्या ? ॥ ३८-४० ॥

निर्मितवतः किं विस्मयपदम्

इत्थं मध्वमृतां वाचं निर्मातुः परमेशितुः।
चमत्कृतिं कां नु कुर्यां स्तुत्याल्पचतुरोऽनया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार मधुरूप तथा अमृतरूप वाणीके निर्माता शंकरको ब्रह्मा भी चमत्कृत नहीं कर सकते तो अल्पचतुर मैं इस स्तुतिसे भला कैसे चमत्कृत कर सकता हूँ ? ॥ ४१ ॥

अस्तु गीतकला स्तुत्यामस्तु साहित्यमेव च।
तथाप्येषा चमत्कर्तुं क्षमते नैव शंकरम् ॥ ४२ ॥

और माना भी जाय कि इस स्तुतिमें गीतकला भी है साहित्यकला भी है। फिर भी शंकरभगवानको यह चमत्कृत नहीं कर सकती (क्योंकि वाणीमात्रका निर्माण शंकरने किया है) ॥ ४२ ॥

चीनांशुकापणात् क्रीत्वा तत्खण्डं यदि कश्चन।
तस्यैव श्रेष्ठिने दत्वा चमत्कर्तुं क्षमेत किम् ॥ ४३ ॥

उद्यानपतये तस्मादाचीयोद्यानतो यदि।
द्वित्राणि दद्यात्पुष्पाणि किमतोऽन्यद्विडम्बनम् ॥ ४४ ॥

रेशमी वस्त्रकी दुकानसे एक रेशमी वस्त्र खरीदकर उसका एक टुकड़ा उसी दुकानके मालिक सेठको देकर कोई उसे खुश कर सकता है

क्या ? उसकी आँखोंको चकाचौंध कर सकता है ? बगीचेके मालिकको उसी बगीचेसे दो चार फूल तोड़कर अपना कहकर कोई देने लगे तो इससे बढ़कर क्या विडम्बना होगी ? ।। ४३-४४ ।।

दूरान्मम तु वागेषा किं स्यात्सुरगुरोरपि ।
तव विस्मापनी यस्या निर्मातासि त्वमेव हि ।। ४५ ।।

मेरी वाणी तो दूर, क्या सुरगुरु बृहस्पति या ब्रह्माकी भी वाणी आपको विस्मित करने वाली है ? जिसके रचयिता स्वयं आप हैं ।। ४५ ।।

वाचो रसविधातारं रसयेत् कस्य वाऽत्र वाक् ।
अमृतं प्रणयन्तं हि मधु विस्मापयेत् किमु ।। ४६ ।।

अथवा यों कहें—वाणीके अमृतरूपी रसका निर्माण करनेवाले आपके हृदयमें किसकी वाणी रसोद्भावन कर सकती है ? आपने वाणीमें अमृत डाला । हमारी वाणीमें तो सिर्फ मधु है । क्या अमृत बनानेवालेको मधु (शहद) आश्चर्यमें डालेगा ? ।। ४६ ।।

बन्दिभिः कविभिश्चैव स्तूयमानो महीपतिः ।
वाचां निगुम्फैः संतुष्येन्न त्वं तद्वन्महेश्वर ।। ४७ ।।

बन्दीगण और कविगण स्तुति करने लगते हैं तो राजा आदि उनकी वाणी चातुरीसे प्रसन्न होते हैं । परन्तु हे भगवन् उस प्रकार आप प्रसन्न नहीं होते ।। ४७ ।।

परिच्छिन्नाः परिच्छिन्नैः प्रसीदन्तु स्तवादिभिः ।
अनन्तब्रह्मरूपस्त्वं कथं तर्हि प्रसीदसि ।। ४८ ।।

परिछिन्न राजा आदि परिच्छिन्न उत्कर्षबोधक स्तुति आदिसे भले प्रसन्न हो । किन्तु हे ब्रह्मन् ! आप अपरिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप उससे कैसे प्रसन्न हो सकते हैं ।। ४८ ।।

सर्वकर्मा सर्वरसगन्धकामादिभागसि ।
अनादरो नित्यतृप्तेरात्मा ब्रह्मास्यशेषदृक् ।। ४९ ।।

हे ब्रह्मन् ! आप समस्तजगत्कारक हैं । सभी रसगन्धकामादि आपमें हैं । नित्यतृप्त होनेसे अनादर हैं । अप्राप्त प्राप्तिमें आदर होता है । अप्राप्त कुछ है नहीं । अतः स्तुतिसे आप अप्राप्त क्या पायेंगे जिससे आप प्रसन्न होंगे ?

पुनाम्रीत्यर्थे

अहं पुनः स्तवीमि त्वां स्वीयां पावयितुं गिरम् ।
लौकिकस्तुतिनिन्दाद्यैर्याऽपवित्रा ममाभवत् ।। ५० ।।

आपको चमत्कृत करनेके लिये नहीं किन्तु अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये मैं आपकी स्तुति करता हूँ। लौकिक स्तुतिनिन्दासे जो (मेरी वाणी) अपवित्र हो गयी है ॥ ५० ॥

पुरमथन

देवैः स्तुतः पुरा हत्वा त्वमेव त्रिपुरासुरम्।
अपावयो भुवं तद्वन्मद्वाणीं पावय प्रभो ॥ ५१ ॥

आसुर्या संपदा विद्धव्यवहारप्रदूषिताम्।
त्वां विना पावयेत्को नु पुरान्तक गिरं मम ॥ ५२ ॥

हे पुरमथन ! देवताओंकी स्तुति सुनकर आपने त्रिपुरासुरवधकर पृथिवीको पवित्र किया वैसे मेरी वाणीको भी पवित्र करो। यह वाणी आसुरी संपदासे दूषित व्यवहारसे कलंकित हो गयी है। आपके बिना कौन मेरी इस वाणीको पवित्र कर सकता है ॥ ५१-५२ ॥

भवत्स्तुतिर्भवद्योगात्पावयिष्यति तां स्वयम्।
तदर्थं प्रार्थये नाहं पृथक् त्वां जगतः प्रभो ॥ ५३ ॥

परन्तु मेरी वाणी पवित्र करो ऐसी पृथक् प्रार्थना मैं नहीं करता। क्योंकि आपकी स्तुति आपसे संयुक्त होनेसे स्वयं पवित्र करेगी ॥ ५३ ॥

त्वत्स्तुत्या पूतया वाण्या पठन् वेदान् जपन् मनुम्।
त्वदीयं परमं लप्स्ये पदं सर्वशिवंकर ॥ ५४ ॥

आपकी स्तुतिसे पवित्र बनी वाणीसे वेदोंको पढ़ते हुए मन्त्रोंको जपते हुए आपके परमपदको मैं अवश्य पाऊँगा ॥ ५४ ॥

असद्गिरा महापातः सद्गिरा च महोन्नतिः।
अतोऽहं पावये वाणीं त्वत्स्तुत्या परमेश्वर ॥ ५५ ॥

झूठ बरावर पाप नहीं, भगवत्स्तुति बराबर पुण्य नहीं अतः आपकी स्तुतिसे वाणीको पवित्र करना भी बहुत बड़ी सिद्धि है ॥ ५५ ॥

किं च वाण्यां पवित्रायां मनःशुद्धिर्विनिर्मलम्।
ज्ञानं च सत्यतपसो दृष्टं तच्च भवेन्मम ॥ ५६ ॥

वाणीकी पवित्रतासे वेदपाठादिप्रयुक्त सद्गति प्राप्त होगी ही। इतना ही नहीं। उससे मनकी पवित्रता तथा निर्मलज्ञान ब्रह्मचारी सत्यतपस्को प्राप्त हो गया था। वह मुझे भी प्राप्त होगा ॥ ५६ ॥

निःश्रेयसान्तं तदिदं यस्य स्याद्गुणकीर्तनम्।
तस्मै नमोऽस्तु सततं ब्रह्मणे पुरभेदिने ॥ ५७ ॥

इस प्रकार ज्ञान द्वारा निःश्रेयसपर्यन्त जिसका गुणकीर्तन फल प्रदान करता है उस ब्रह्मस्वरूप त्रिपुरारि शंकर को मैं प्रणाम करता हूँ ।। ५७ ।।

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नःस्तोत्रविवृतौ तृतीयस्पन्दसंग्रहः ।। ३ ।।

ॐ

चतुर्थः श्लोकः

अर्वाचीने न पतति मनः कस्य न वा वचः ।
इत्येतन्नास्ति युक्तार्थं नास्तिकेष्वनवेक्षणात् ।। १ ।।

पहले बताया था कि भगवान के अर्वाचीन साकार स्वरूपमें किसका मन नहीं लगता और किसकी वाणी कुछ कहने के लिये आगे नहीं बढ़ती । परन्तु यह बात सङ्गत नहीं दीखती । कारण कस्य के अन्दर नास्तिक भी आते हैं, उनमें उक्त बात लागू नहीं होती ।। १ ।।

न चास्तिकानां तद् दृष्टं युक्तं स्यादिति सांप्रतम् ।
श्रद्धाजडधियां तत् स्यात् किं स्यात्संख्यावतां ततः ।। २ ।।

यदि कहें कि नास्तिकोंकी बात छोड़ो, आस्तिकोंका मन वाणी तो लगता है । तो यही कहा जायेगा कि श्रद्धाके कारण जो जडधी हो गये हैं उनके इस वृत्तका संख्यावान्=पण्डित (सांख्यवेत्ता) के लिये क्या उपयोग ? ।। २ ।।

किं चार्वाचीनशब्देन ध्वन्यते परमात्मनः ।
सनातनं पदं किंचिदन्यत्तस्यैव विद्यते ।। ३ ।।
तदसिद्धं न हि यतः प्राचीनं किंचिदीदृशम् ।
अर्वाचीनं कुतस्तस्य कथा चैव वृथा ततः ।। ४ ।।

दूसरी बात यह है कि "पदे त्वर्वाचीने" यहाँ अर्वाचीन पदसे सूचित होता है कि परमात्माका प्रचीन कोई सनातन पद भी है । परन्तु ऐसा कोई

प्राचीन पद असिद्ध है। प्राचीन नहीं तो अर्वाचीन कहाँसे आया। तव उसकी कथा भी वृथालाप मात्र होगी ।। ३-४ ।।

तथा च तत्स्तुतिं कृत्वा स्ववाक्पावनताकृतेः।
प्रत्याशाऽर्थवती नेति तत्रेदमभिधीयते ।। ५ ।।

ऐसी स्थितिमें उस अर्वाचीनपदकी स्तुति कर अपनी वाणीको पवित्र करनेकी आशा दुराशा ही है इस पूर्वपक्षपर "तवैश्वर्यं यत्तत्" इत्यादि चतुर्थ श्लोक स्तुतिरूपमें कहा जा रहा है ।। ५ ।।

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ।
अभव्यानामस्मिन् वरद रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ।। ४ ।।

हे वरद ! आपका ऐश्वर्य ऐसा है जो जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करता है, तीन वेदोंका प्रतिपाद्य तत्त्व है, सत्त्व, रज, तम ऐसे तीन गुणोंसे भिन्न तीन शरीरोंमें व्यस्तरूपसे स्थित है। कुछ जड़मति उस ऐश्वर्य-का निरास करनेके लिये ऐसा प्रलाप करते हैं जो वस्तुतः अशोभनीय है, किन्तु संसारमें अभव्य व्यक्तियोंके लिये रमणीय लगता है ।। ४ ।।

ऐश्वर्यं

ऐश्वर्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
त्रिपाद्ब्रह्मात्ममहिमा परमैश्वर्यमीरितम् ।। ६ ।।
ईश्वरः सर्वशक्तः स्यात्सृष्टिस्थितिलयादिकृत् ।
तस्य भावो यदैश्वर्यमपरं तत्तु कीर्तितम् ।। ७ ।।
तच्च सृष्टिस्थितिलयानुग्रहादिविधायकम् ।
चैतन्यमेव प्रकृते भवेदैश्वर्यशब्दितम् ।। ८ ।।

ऐश्वर्य दो प्रकारका होता है। एक पर ऐश्वर्य है। दूसरा अपर ऐश्वर्य है। "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इस प्रकार पहले उपपादित परम महिमा ही पर ऐश्वर्यं है। दूसरा ऐश्वर्यं ईश्वर=सर्वसमर्थ=सृष्टिस्थितिलयादिकारी, उसका भाव इस व्युत्पत्तिसे लभ्य ऐश्वर्य है। वही अपर ऐश्वर्य है। प्रकृतमें भाव-मात्र नहीं समझना। किन्तु सृष्टिस्थितिलय आदि करनेवाला चैतन्य ही ऐश्वर्यं शब्दका अर्थ समझना चाहिये ।। ६-८ ।।

ऐश्वर्यमेकमेव प्राक् त्रिपाद्रूपेण संस्थितम् ।
उपाधिवशतः पश्चात् सृष्टिस्थित्यन्तकृद्भवेत् ॥ ९ ॥

यद्यपि ऐश्वर्य दो नहीं है। तथापि उपाधिसे भेद है। जो ऐश्वर्य प्रथम त्रिपात्‌रूपसे स्थित है वही उपाधिवशात् बाद सृष्टिस्थितिलयकारी होता है ॥ ९ ॥

त्रयीवस्तु

तवैश्वर्यं परं यत्तत् त्रयीवस्त्विति योजना ।
त्रय्यां तत्प्रतिपाद्यत्वविधया वसतीत्यतः ॥ १० ॥

श्लोकमें यथासंख्य अन्वय करना चाहिये। तव ऐश्वर्यं यत् त्रयीवस्तु। तिसुषु गुणभिन्नासु तनुषु जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्। ऐसा अन्वय है। आपका पर ऐश्वर्य वेदत्रयप्रतिपाद्य वस्तु है। वही तीन शरीरोंमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र शरीरोंमें जगतकी उत्पत्ति स्थिति लयकारण होकर अपर हुआ। परन्तु आगे कुछ विशेषता आगमानुसार दिखायेंगे। अतः प्रथम इतनी ही योजना कीजिये—भगवान्‌का पर ऐश्वर्य वेदत्रयवस्तु है। इसकी व्याख्याकर आगे बढ़ेंगे। तीन वेदोंमें प्रतिपाद्यरूपसे वास करता है अतः त्रयीवस्तु कहा-त्रय्यां वसति ॥ १० ॥

सर्वे वेदाः पदं यद्ब्रह्मामनन्तीति श्रुतेर्वचः ।
वेदैश्च सर्वैर्वेद्योऽहमित्याह भगवानपि ॥ ११ ॥

श्रुतिवचन है—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" सभी वेद जिस एक परमपदको ही कहते हैं। भगवद्‌गीतामें भी बताया—सभी वेदोंमें वेद्य मैं (परमात्मा) ही हूँ। अतः वह त्रयीवस्तु है ॥ ११ ॥

सदेव सोम्येति शिवं शान्तमद्वैतमित्यपि ।
तथा तत्त्वमसीत्यादिः श्रुतिः साक्षात्तदाह हि ॥ १२ ॥

त्रयीप्रतिपाद्यता दो प्रकारसे है। साक्षात् और परम्परया। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्", "शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं", "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुति साक्षात् पर ऐश्वर्यका वर्णन करती है ॥ १२ ॥

सर्वा एवोपनिषदस्तात्पर्यविधया परम् ।
आहुरैश्वर्यमिति च षड्‌लिङ्गैर्दर्शितं बुधैः ॥ १३ ॥

सभी उपनिषदें तात्पर्यतः परब्रह्मरूपी ऐश्वर्यका ही वर्णन करती हैं यह बात षड्‌लिङ्गोंके द्वारा विद्वानोंने दरशाया है ॥ १३ ॥

त्वंपदार्थविशुद्धयर्थं कर्मकाण्डं प्रवर्तते ।
तत्पदार्थविशुद्धयर्थमुपासाकाण्डमेव च ॥ १४ ॥

यह ज्ञानकाण्डकी वात हुई। कर्मकाण्ड और उपसनाकाण्डमें पर ऐश्वर्यका वर्णन किस प्रकार ? सो कहते हैं—पूरा कर्मकाण्ड त्वंपदार्थशोधनार्थ है। और पूरा उपासनाकाण्ड तत्पदार्थशोधनार्थ है। अतः वहाँ भी परम्परया प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है ॥ १४ ॥

नाशरूपं बाधविधं द्विविधं शोधनं मतम् ।
कर्मभिर्मलनाशात्म त्वंपदार्थविशोधनम् ॥ १५ ॥
मायातरणरूपं च तत्पदार्थविशोधनम् ।
उपास्त्या मां प्रपद्यन्ते ये तां मायां तरन्ति ते ॥ १६ ॥
ज्ञानकाण्डे पुनस्तत्त्वंपदार्थपरिशोधनम् ।
बाधरूपं भवेत्तत्र पूर्वोक्तं तु सहायकम् ॥ १७ ॥

कर्मकाण्ड और उपसानाकाण्डसे तत्त्वंपदार्थशोधन कैसे ? इसे समझनेके लिये प्रथम दो प्रकारका शोधन समझिये। एक शोधन नाशात्मक है। दूसरा बाधात्मक है। कर्मसे त्वंपदार्थ जीवात्मास्थित मलनाश होगा तब वह शुद्ध होगा, शीघ्रस्वरूपबोधयोग्य होगा। उपासनासे मायाऽपसरणरूप तत्पदार्थशोधन होता है। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इस प्रकार गीतामें यह वात कही गयी है। ज्ञानकाण्डमें तत्त्वंपदार्थशोधन बाधात्मक होता है। उसमें पूर्वोक्त नाशात्मक शोधन सहायक है। अतः सकलवेदप्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व है ॥ १५-१७ ॥

किं च कर्मोद्धृतमलो ध्वस्तविक्षिप्त्युपास्तिकः ।
अधिकारी भवेत् पारम्पर्येण ब्रह्मदर्शने ॥ १८ ॥

कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड अन्य प्रकारसे भी ब्रह्मदर्शनमें कारण है। जैसेकि कर्मसे मलनिवृत्ति जिसकी हो गयी हो, विक्षेपको ध्वस्त करनेवाली उपासना जो कर चुका हो वही परम्परया ब्रह्मदर्शनमें अधिकारी होता है ॥ १८ ॥

स्वर्गादिकं फलं यत्र कर्मादेः श्रुतिषूदितम् ।
तत्रापि विश्वासोत्पत्तिपारम्पर्यमभीप्सितम् ॥ १९ ॥

शङ्का होगी कि "स्वर्गकामो यजेत" से विहित यागका स्वर्गादि फल एवं पश्चात् पतन ही होता है, वहाँ ज्ञानतात्पर्य कथमपि संभावित नहीं है, इसका समाधान यह है कि वहाँ भी सत्कर्मप्रवृत्ति एवं विश्वासोत्पत्तिमें तात्पर्य है ॥ १९ ॥

यथा प्रवृत्तिर्दिव्यार्था मनःस्थितिनिबन्धनी।
तथा स्वर्गादिसंप्राप्तिर्वेदविश्वासकारिणी ॥ २० ॥

जैसे दिव्यगन्धादिसंवित्‌रूपी प्रकृष्टवृत्ति होनेपर योगशास्त्रमें विश्वास होता है वैसे स्वर्गादि प्राप्त होनेपर वैदिकविद्याओंमें विश्वास उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

न च प्रत्यक्षफलतो विश्वासोत्पत्तिरिष्यताम्।
स्वर्गाद्यदृष्टफलतः कथं तदिति सांप्रतम् ॥ २१ ॥
सर्वथाऽदृष्टरूपत्वे फलत्वं नैव युज्यते।
अत्यन्ताज्ञेयतत्प्रेप्सा नापि कस्यापि जायते ॥ २२ ॥
ततः स्वर्गाद्यनुभवसंस्कारवशतः पुमान्।
तदिच्छन् वैदिकार्थेषु विश्वासं लभते क्रमात् ॥ २३ ॥

यदि कहें कि प्रत्यक्ष गंधादि संवित्से विश्वासोत्पत्ति हो, किन्तु स्वर्गादिरूप अदृष्टफलसे विश्वास कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि सर्वथा अदृष्ट हो तो वह फल ही नहीं हो सकता। अत्यन्त अज्ञातकी प्राप्तीच्छा भी नहीं हो सकती। अतः स्वार्गादिके अनुभवका कुछ संस्कार अनुवर्तित होता है यह मानना होगा। तब वह वैदिकार्थोंमें विश्वासोत्पादक भी निश्चित है ॥ २१-२३ ॥

त्रय्यां वसति तत् तस्मात्त्रयीवस्त्विति भण्यते।
त्रय्यां वास्तविकोऽर्थोऽयं त्रयीवस्तु ततोऽपि च ॥ २४ ॥

वेदत्रयीमें वास करता है अतः त्रयीवस्तु है। और वेदत्रयीमें यही वास्तविक अर्थ है इसलिये भी त्रयीवस्तु है ॥ २४ ॥

जगदुदय०

प्रकृत्युपाधिमादाय त्रयीवस्तु तदेव हि।
विश्वोत्पत्तिस्थितिलयकारणं जायते परम् ॥ २५ ॥

प्रकृति उपाधिको लेकर वही त्रयीवस्तु ब्रह्म बादमें विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय करनेवाला होता है ॥ २५ ॥

यतो भूतानि जायन्ते जीवन्त्यभिविशन्त्यपि।
यस्मिन्प्रयन्ति तद् ब्रह्मेत्येवमाह श्रुतिः स्वयम् ॥ २६ ॥

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मको जगत-उत्पत्तिस्थितिलयका कारण बताया, ब्रह्मा, विष्णु आदिसे नहीं ॥ २६ ॥

तिसृषु गुण०

तदेव गुणभिन्नासु ब्रह्मविष्ण्वीशनामसु ।
व्यस्तं पृथक् तनुषु च सृष्टयादिकरमिष्यते ॥ २७ ॥

त्रयीवस्तु जो प्रकृति उपाधिसे सृष्टिस्थितिलयकारी हुआ वही सत्त्व, रज, तमसे विष्णु, ब्रह्मा, शिवनामवाले शरीरमें व्यस्त (अलग अलग) होकर पृथक् सृष्टिकर्ता, रक्षाकर्ता और संहारकर्ता होता है ॥ २७ ॥

तुरीयं पदमद्वैतं परमः शिव उच्यते ।
स्पन्दनात् स शिवः प्रोक्तः प्रकृत्येच्छात्मना सह ॥ २८ ॥
स त्र्यक्षः पञ्चवक्त्रश्च सृष्टिस्थित्यन्तकृत् स हि ।
तस्य वामाङ्गतो ब्रह्मा दक्षिणाद्विष्णुरेव च ॥ २९ ॥
हृदयात्त्वभवद्रुद्रस्ततोऽस्य महिमाधिकः ।
त्र्यक्षत्वादिसमाकारो रुद्रस्यैव महेशितुः ॥ ३० ॥
विस्तरेणाखिलमिदमग्रे समभिधास्यते ।
पूर्वार्धकथितार्थस्य क्रमार्थमधुनेरितम् ॥ ३१ ॥

तुरीय अद्वैतपदको परमशिव कहते हैं । वह अपनी इच्छारूपी प्रकृति-से स्पन्दन करता है तो शिवसंज्ञावाला होता है। वही त्रिनयन पञ्चमुख शङ्कर है, वही वास्तवमें सृष्टिस्थितिप्रलय करनेवाला है । उस शिवके वाम भागसे ब्रह्मा प्रकट हुआ । दक्षिण भागसे विष्णु उत्पन्न हुआ और हृदयसे रुद्र प्रादुर्भूत हुआ । हृदयसे उत्पन्न होनेके कारण रुद्रकी महिमा अधिक है । अतएव कहीं-कहीं रुद्रका शिवरूपेण वर्णन और शिवका रुद्र शब्दसे वर्णन मिलता है। बीचमें एक सदाशिव भी है । परन्तु इन सबका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे । यहाँ तो "तवैश्वर्यं यत्तत्" इत्यादि पूर्वार्धमें कथित अर्थका क्रम दिखानेके लिये हमने संक्षेपतः निरूपण किया ॥ २८-३१ ॥

विहन्तुं

तदिदं हि तवैश्वर्यं परापरविभागगम् ।
विहन्तुं केचिदबुधा व्याक्रोशीं संप्रतन्वते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार पर-अपरविभागयुक्त आपके उस ऐश्वर्यका निराकरण करनेके लिये कुछ अज्ञानीजन नाना प्रलाप करते हैं ॥ ३२ ॥

व्याक्रोशीं

नास्तिकानां प्रवक्ष्यामो व्याक्रोशीमुत्तरत्र हि ।
व्याक्रोशीं द्वैतिनामत्र ब्रवीम्यास्तिकमानिनाम् ॥ ३३ ॥

नास्तिकोंकी व्याक्रोशी (प्रलाप) को उत्तर श्लोकमें बतायेंगे। यहाँ अपनेको आस्तिक बतानेवाले द्वैतवादियोंकी व्याक्रोशीको हम दिखाते हैं ॥ ३३ ॥

अद्वैते वक्तृवक्तव्यभोक्तृभोक्तव्यतादिकम् ।
गुरुशिष्यादिकं चैव कथंचिन्नोपपद्यते ॥ ३४ ॥
ईशमीशः कथं शास्ति ब्रह्म ब्रह्मात्ति वा कथम् ।
गुरौ ज्ञानिनि शिष्योऽपि स्वतो ज्ञानी कथं न ते ॥ ३५ ॥
अद्वैतं शिवमित्येतदनर्थकमतो वचः ।
स्वस्योपपादकं स्वं चेत् सिध्येद् व्योमसुमाद्यपि ॥ ३६ ॥

द्वैतवादी व्याक्रोश करते हैं—अद्वैतमें वक्ता और श्रोता एक ही होगा जो अनुपपन्न है। भोक्ता और भोग्य तथा गुरु शिष्य ये सब एकतामें असम्भव हैं। ईश्वर ईश्वरपर कैसे शासन करेगा ? ब्रह्म ब्रह्मको कैसे खायेगा ? गुरु ज्ञानी है तो शिष्य भी ज्ञानी क्यों नहीं ? "अद्वैतं शिवं" यह वचन अर्थहीन है। उपपादक और उपपाद्य एक होनेपर गगनकुसुम भी सिद्ध होगा ॥ ३४-३६ ॥

अर्वाचीनपदेऽप्येवं व्याक्रोशीं ते प्रतन्वते ।
श्मशानीकास्तमस्व्येषोऽपूज्यो वाच्योऽशुचिस्त्विति ॥ ३७ ॥

अर्वाचीनपद शिवके विषयमें तथा रुद्रके विषयमें भी भेदवादी प्रलाप करते रहते हैं। श्मशानवासी है, तमोगुणी है, अतएव अशुचि, निन्द्य है, अपज्य है, शिवनाम भी ग्राह्य नहीं है इत्यादि ॥ ३७ ॥

अभव्यानां

अभव्यानामियं वाणी रमणीयाऽसतां भवेत् ।
न भव्यं भाविकालेऽपि येषां संभाव्यते क्वचित् ॥ ३८ ॥

ऐसी वाणी अभव्योंको ही रमणीय लगती है। जिनका भव्य मङ्गल कभी भी सम्भावित नहीं वे अभव्य हैं ॥ ३८ ॥

एतत्प्रतिविधानं तु यथास्थानं विधास्यते ।
अभव्यत्वं यथा तेषां तदत्र तु निदर्श्यते ॥ ३९ ॥

इन पूर्वपक्षप्रलापोंका यथास्थान समाधान होगा। प्रथम उन प्रलापियोंकी अभव्यताका हम निदर्शन करा देते हैं ॥ ३९ ॥

दक्षो निनिन्द गिरिशं पूषा हर्षाज्जहास च ।
विस्फार्याक्षि भगोऽहृष्यत् श्मश्रूवाकम्प्याऽऽश्रृणोद्भृगुः ॥ ४० ॥

सा चाऽरमणी निन्दा रमणीयाऽसतामभूत् ।
पूषादीनां ततस्तेषामभव्यं समपद्यत ।। ४१ ।।

उदाहरणरूपमें दक्षने शङ्करकी निन्दा की । पूषाको आनन्द आया तो खूब हँसा । आँख फाड़कर भग खुशीसे देखने लगा । दाढ़ी हिलाकर भृगुने उसका अनुमोदन किया । इस प्रकार अरमणीय निन्दा उन सबको रमणीय लगी । परिणाम अमङ्गल ही हुआ ।। ४०-४१ ।।

भग्नदन्तोऽभवत्पूषा रुग्णनेत्रोऽभवद्भगः ।
भृगुर्विलुञ्चितश्मश्रुर्दक्षो बस्तमुखोऽभवत् ।। ४२ ।।

परिणाम यह हुआ कि पूषाके दाँत टूटे । भगकी आँखें फूटीं । भृगुकी डाढ़ी नुच गयी । दक्षका बकरेका मुख हो गया ।। ४२ ।।

कर्मानुरूपं हि फलं पूषादीनां यथाऽभवत् ।
अभव्यानां तथान्येषु फलं जन्मसु तादृशम् ।। ४३ ।।

कर्मानुरूप फल जैसे पूषा आदिको मिला, वैसे यथोक्त अभव्योंको भी जन्मान्तरमें कर्मानुरूप फल मिलता है ।। ४३ ।।

श्मशानवासीत्युक्त्वा येऽपूतमाह सुपावनम् ।
श्वानो भूत्वा श्मशानेषु शयीरंस्तेऽन्यजन्मनि ।। ४४ ।।
अस्पृश्यं ये किलाऽऽख्यान्ति शंकरं परदैवतम् ।
पुल्कसादिजनुर्लब्ध्वा तेऽस्पृश्या जन्मजन्मनि ।। ४५ ।।
येऽग्राह्यं शिवनामाहुः पतितास्तेऽन्यजन्मनि ।
नृणामग्राह्यनामानो भवन्ति जनधिक्कृताः ।। ४६ ।।

कर्मानुरूप फल इसप्रकार कि जो परमपवित्र शिवको श्मशानवासी होनेके कारण अपवित्र कहनेकी धृष्टता करते हैं वे दूसरे जन्ममें कुत्ते वनकर श्मशानभूमिमें शयन करेंगे । जो शंकर को अस्पृश्य कहते हैं वे दूसरे जन्मोंमें चाण्डालादि बनकर अस्पृश्य बने रहेंगे । शिवनाम नहीं लेना इसप्रकार बोलनेवाले दूसरे जन्ममें ऐसे पतित होंगे कि उनका नाम लेना पाप माना जायेगा, लोग उन्हें धिक्कारेंगे ।। ४४-४६ ।।

अभव्यानां

यद्वा न भव्यास्तेऽभव्या भृशं मलिनचेतसः ।
व्याक्रोशी सुखदा तेषां न भव्यपुरुषस्य तु ।। ४७ ।।

जिनका भव्य-मङ्गल भावीमें भी न हो वे अभिव्य ऐसी व्याख्या यहाँतक की । दूसरी व्याख्या है, जो भव्य नहीं वे ही अभव्य हैं अर्थात्

जो मलिनचित्त हैं उनको उक्त व्याक्रोशी सुखद होगी। भद्र पुरुषोंको वह सुखद नहीं होगी ॥ ४७ ॥

श्रीधरस्वामिनस्तस्मादन्यथा व्याचचक्षिरे।
निन्दाध्ययनभीरुत्वाद्दक्षप्रकरणं स्फुटम् ॥ ४८ ॥

अतएव श्रीधरस्वामीने निन्दाध्ययन अच्छा न लगनेसे पूरे दक्ष-प्रकरणकी व्याख्या ही बदल दी ॥ ४८ ॥

जडधियः

जडा विमूढा धीर्येषां ते स्युर्जडधियो नराः।
शिवतत्त्वानभिज्ञाना विमुखा ज्ञानमूर्तितः ॥ ४९ ॥

जडधीका अर्थ है मूढबुद्धि। अर्थात् शिवतत्त्वको न जाननेवाले। भगवान् ज्ञानमूर्ति हैं—"विशुद्धज्ञानदेहाय" ऐसा शास्त्रने बताया है। ज्ञानाधिष्ठाता हैं। जो ज्ञानसे विमुख हो वह जड़ होगा ही ॥ ४९ ॥

जडधियः

यद्वा जडेषु भोग्येषु यद्धीर्जडधियो हि ते।
धनदारादिविषयभोगमात्रपरायणाः ॥ ५० ॥

अथवा जडधीमें सप्तमी बहुव्रीहि है। अर्थात् जड-भोग्य पदार्थोंमें ही जिनकी मति बनी हुई है। धन, दारादि विषयोंके भोगमात्रमें जो लगे हुए हैं वे जडधी हैं ॥ ५० ॥

द्वैतिनः सर्व एवेमे भवन्ति जडसेविनः।
स्वोपास्यमपि ते हन्त जडमेवाभिमन्वते ॥ ५१ ॥

पूरे द्वैतवादी जडसेवी होने से जडधी हैं। उनको अपना उपास्य भी जड ही अभिमत है ॥ ५१ ॥

आत्मभिन्नमनात्मा स्याद् यदनात्मा जडं हि तत्।
आत्मभिन्नश्च भगवानुपास्यो द्वैतिसम्मतः ॥ ५२ ॥

जो आतमासे भिन्न हो वह अनात्मा ही होगा। जो अनात्मा होगा वह जड ही होगा। द्वैतवादी अपने उपास्य भगवानको आत्मभिन्न मानते हैं। अर्थात् उसे अनात्मा, जड मानते हैं ॥ ५२ ॥

ननु चेतन एव स्यादनात्मापि महेश्वरः।
पारमात्मेत्यतः सद्भिरुच्यते चित्कलेति चेत् ॥ ५३ ॥

परमात्मा आत्मा न होनेपर भी चेतन है। अतएव चित्कला होनेसे परमात्मा कहा जाता है इस पूर्वपक्षका उत्तर है कि—

आत्मभिन्नः कथंकारं परमात्मा भवेत् सखे।
घृतभिन्नं कथं तैलं परमं घृतमुच्यताम् ॥ ५४ ॥

अनक्षः परमाक्षश्चेदधनश्चेन्महाधनः।
अनात्मा परमात्मा स्यादप्रभा चेन्महाप्रभा ॥ ५५ ॥

नेत्रहीन उत्तम नेत्रवाला हो, निर्धन महासेठ हो, अन्धकार महाप्रकाश हो तो अनात्मा भी परमात्मा हो सकता है ॥ ५४-५५ ॥

अस्तु वा चेतनः श्रीशस्ततः किं ते भविष्यति।
जडो वा चेतनो वाऽन्यो वैशेष्यं तेन किं भवेत् ॥ ५६ ॥

अन्यस्माद्भोगलिप्सैव जडाद्वा चेतनाद्धि वा।
तदा हानिर्जडत्वेऽपि भोगदत्वे नु का हरेः ॥ ५७ ॥

स्वार्थसिद्ध्यर्थमेवान्यं प्रीणन्ति किल देहिनः।
जडादेव स चेत्सिध्येत् किं स्यात्ते चेतनाग्रहात् ॥ ५८ ॥

अत एव च सांख्याद्या नेशमिच्छन्ति चेतनम्।
प्रकृत्या जडया सर्वभोगसंपत्तिर्दर्शिनः ॥ ५९ ॥

अच्छा, मान भी लो कि भगवान चेतन है। लेकिन उससे तुम्हें क्या मिलेगा ? भगवान जड हो या चेतन उससे तुम्हारा मतलब क्या है ? अपनेसे अन्यके साथ प्रीति इसलिये होती है कि उससे भोगप्राप्ति होंगी। यदि हरि भोगप्रद है तो वह जड ही क्यों न हो, नुकसान क्या ? अन्य पर प्रीति स्वार्थके लिये ही होती है। यदि वह स्वार्थ जडसे सिद्ध होता है तो चेतनताके आग्रहका कोई अर्थ नहीं है। यही कारण है—सांख्य एवं मीमांसकादि चेतन ईश्वरको नहीं मानते। क्योंकि वे देखते हैं कि जड प्रकृति या कर्मसे ही स्वार्थसिद्धि हो सकती है ॥ ५६-५९ ॥

अचेतनो न हि स्रष्टेत्यादितर्कस्तु निष्फलः।
अनादिकालसंसारनियमैर्दोषवारणात् ॥ ६० ॥

अन्यथा नास्तिकानां यस्तर्कोऽग्रे दर्शयिष्यते।
लोकदृष्टान्तमात्रस्य स तेऽपि स्याद् दुरुद्धरः ॥ ६१ ॥

अत एवेप्सिताशेषदाता न जड इत्यपि।
तर्कः पराकृतोऽनादिनियमालम्बिभिर्बुधैः ॥ ६२ ॥

'सांख्यादिमत अयुक्त है, क्योंकि अचेतन जगत् कर्ता नहीं हो सकता, इत्यादि तर्क निष्फल हैं। जीवकृत कर्मसचिव प्रकृति ही जगत् बनाती है। ऐसा अनादि नियम माननेसे कोई दोष नहीं आता। कुम्भकरादि दृष्टान्त बलसे यदि आप चेतनको स्रष्टा मनवाना चाहते हैं तो उसी दृष्टान्तसे मरण-धर्मा नाना सामग्रीसहित फलाकाङ्क्षी कर्ता है यह भी सिद्ध होगा। तब "किमीहः किंकायः" इत्यादि अग्रिम नास्तिकतर्क दुरुद्धर होगा। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि जड प्रकृति या कर्म हमारे अभीप्सित समस्त फलोंको कैसे दे सकता है इस तर्कको भी सांख्यादिने निराधार घोषित किया। अमुक कर्म या उपासनासे अमुक फल इत्यादि सभी वेदोक्त नियम अनादिकालसिद्ध हैं। उसमें चेतनको जोडना व्यर्थ है। जोड़ते हैं तो फिर वही "किमीहः किंकायः" आदि पक्ष भी खड़े होंगे ॥ ६०–६१ ॥

नन्वीशभक्त्या परया मोक्षः संभवतीति चेत्।
प्रकृत्या सोऽपि लभ्येत मोक्षश्चेदीश्वरेण किम् ॥ ६२ ॥

यदि कहो कि परा भगवद्भक्तिसे ही मोक्ष हो सकता है, अतः ईश्वर मान्य है। तो सांख्यका यही उत्तर है कि प्रकृति ही मोक्ष भी देती है तो ईश्वरसे क्या लेना देना ? ॥ ६२ ॥

अन्यस्मिन्नात्मनि परा भक्तिरित्यप्यसांप्रतम्।
कथंचिदपि न ह्यन्यः परप्रेमास्पदं भवेत् ॥ ६४ ॥
मोक्षं वाञ्छन् भगवतः स्वार्थमेवाभिलष्यसि।
मोक्षप्रियः कथं त्वं हि भगवत्प्रिय उच्यसे ॥ ६५ ॥
फलप्रेम्णा भवेत्प्रेम गौणं वृक्षलतादिषु।
मोक्षप्रेम्णा तथा प्रेम गौणं ते स्यात्परात्मनि ॥ ६६ ॥

अपनेसे भिन्न आत्मामें परा भक्ति हो यह भी असंगत बात है। क्योंकि अपनेसे भिन्न परमप्रेमास्पद होता ही नहीं है। भगवानसे मोक्ष चाहनेवाले तुम आखिर अपना स्वार्थ ही तो चाह रहे हो। तुम परमात्माका मोक्ष चाह रहे हो कि अपना ? जब तुम मोक्षप्रेमी हो तो भगवत्प्रेमी क्यों कहलाते हो ? वृक्ष लता आदिपर गौण ही प्रेम होता है मुख्य प्रेम तो फलपुष्पादि पर है। वैसे तुम्हारा मोक्षप्रेम तो मुख्यप्रेम हो जायेगा और भगवत्प्रेम गौण होगा। भक्ति परमप्रेमको कहते हैं। पराभक्तिकी बात ही क्या ? ॥ ६४–६६ ॥

भक्तिरेव फलं भक्तेर्न तु मोक्षादिकं मम।
भक्त्या संजातया भक्त्येत्यादिभागवतान्ननु ॥ ६७ ॥

सत्यं तदा महेशोऽसौ जडो वा चेतनोऽथ वा ।
भवेत् किं तेन भक्तिर्हि तस्य ते खल्वपेक्षिता ।। ६८ ।।
स्वगतं प्रेम विषयजडचेतनतावशात् ।
न जाड्यं नापि चैतन्यं लभते तदयोगतः ।। ६९ ।।

पूर्वपक्षः—भक्तिका फल मोक्ष नहीं, भक्ति ही है । "भक्त्या संजातया भक्त्या" ऐसा भागवतमें भी बताया है । उत्तर—तुम्हें भक्तिसे मतलब है तो ईश्वर जड़ हो या चेतन उससे क्या होगा ? भक्तिका विषय जड़ हो या चेतन इससे भक्ति जड़ या चेतन नहीं बनती । क्योंकि प्रेम स्वगत होता है । वह जैसा है वैसा ही रहेगा ।। ६७–६९ ।।

देवदत्तो महाभक्तस्तस्मिन् भक्तिर्हि विद्यते ।
ततः कृतार्थता ते न कस्मादिति निगद्यताम् ।। ७० ।।
भक्तेः सति स्वसम्बन्धे कस्योत्कर्षो निगद्यताम् ।
नोत्कर्षः संभवेद् भक्तेः स्वस्यैव परिशिष्यते ।। ७१ ।।
तमुत्कर्षमभीप्संस्त्वं कथं भो भगवत्प्रियः ।
कथं भक्तिप्रियो वापि स्वार्थमात्रपरायणः ।। ७२ ।।
न स्वार्थो विद्यते कश्चित् प्रस्तरः किं न सेव्यताम् ।
तस्माद्विडम्बनामात्रं पराभक्तिर्हि भेदिनाम् ।। ७३ ।।

यदि कदाचित् भक्त और भगवानकी एकता मानें या परमेश्वरकी ह्लादिनी शक्तिको भक्ति मानें तो भी प्रश्न यह उठेगा कि देवदत्त एक महा-भक्त है, उसमें भक्ति है, उससे तुम्हारी कृतार्थता क्यों नहीं होती है ? अतः भक्तिका अपने साथ सम्बन्ध अभीष्ट है । किन्तु वैसा सम्बन्ध होनेपर किसका उत्कर्ष मानते हो ? भक्ति स्वयं उत्कृष्ट है । उसका तुम्हारे सम्बन्धसे क्या उत्कर्ष होनेवाला है ? अतः अपना ही उत्कर्ष अन्ततः मानना होगा अपना ही कुछ उत्कर्ष होता है । तब तुम वही अपना उत्कर्ष चाह रहे हो, भगवान को या भक्तिको चाहनेकी बात कहाँ रह गयी ? तुम भगवत्प्रिय या भक्तिप्रिय किस प्रकार ? यदि कहते हो कि कोई भी चाह मुझमें नहीं है, भक्तिकी भी चाह नहीं है । भक्ति करनी है इसलिये कर रहा हूँ, तो कोई भी इच्छा न रही तो भगवानकी ही भक्ति करनेका आग्रह क्यों ? पत्थरकी भक्ति क्यों न कर लें ? जब कि लेना-देना किसीसे कुछ है नहीं ।। ७०–७३ ।।

ननु श्रुतिवशादीशं चेतनं मन्महे वयम् ।
सत्यं तत्त्वमसीत्यैक्यं तस्य कस्मान्न मन्यसे ।। ७४ ।।

तां श्रुतिं त्वं निरसितुं कुतर्कं कुरुषे यदि ।
तच्चैतन्यं निरसितुं कुतस्तर्को न दर्श्यताम् ॥ ७५ ॥

नैवार्धजरतीयं हि युक्तमाश्रयितुं बुधैः ।
ततो निरीश्वरः सांख्यवादो विजयमाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

पूर्वपक्ष :– हम परमात्माको चेतन न तो जगत्कर्ता होनेसे मानते हैं और न जीवाभिन्न होनेसे । श्रुति बतला रही है वह चेतन है । "तदैक्षत" "ईक्षतेनाशब्दं" इत्यादि श्रुति न्याय प्रसिद्ध हैं । उत्तर—बात यथार्थ है । तब श्रुतिप्रामाण्यवादी तुम "तत्त्वमसि" आदि श्रुतिसे बताया हुआ जीवपरैक्य क्यों नहीं मानते हो ? उस श्रुतिका निराकरण करनेके लिये तुम यदि कुतर्क करनेका अधिकार रखते हो तो, ईश्वरचैतन्यका निराश करनेवाला सांख्यतर्क भी क्यों नहीं सामने लाया जा सकता है ? बुद्धिमान् अर्धजरतीय न्याय नहीं अपनाते । फलतः निरीश्वर सांख्यवादकी ही विजय होगी ॥ ७४-७६ ॥

आत्मनः खलु कामाय सर्वमेव प्रियं भवेत् ।
न पुत्रजायादेवादिकामायेत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ७७ ॥

तस्मान्मुख्यं परं प्रेम भवेद् नूनं निजात्मनि ।
स्यादात्मपरमात्मैक्ये परमात्मन्यपि स्वयम् ॥ ७८ ॥

आत्माके लिये ही सभी प्रिय होता है, पुत्र जायाद्यर्थं पुत्रादि प्रिय नहीं, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवार्थं ब्रह्मा विष्णु आदि प्रिय नहीं इत्यादि रीति श्रुतिमें स्पष्ट ही देवादिविषयक मुख्यप्रेम का निराश किया है । अतः मुख्य प्रेम तो अपने आत्मामें ही होता है यह निश्चय है, और आत्मा तथा परमात्माकी एकता होनेपर स्वयमेव वह प्रेम परमात्मविषयक ही हो जाता है ॥ ७७-७८ ॥

नातो भक्त्यर्थमप्यात्मपरमात्माभिदेष्यते ।
आत्मभिन्नं ततः सर्वं जडमित्येव निश्चयः ॥ ७९ ॥

तस्मिन् भोग्ये जडे येषां धीस्ते जड़धियो जनाः ।
व्याक्रोशों ते विदधते त्वयि नात्मधियःक्वचित् ॥ ८० ॥

अतः भक्त्यर्थ भी आत्मा और परमात्माका भेद माना नहीं जाता । जिस परमात्माकी जडतापत्तिभयसे आत्मभिन्नको भी आप आत्मा एवं चेतन मानने जा रहे थे वह जब आत्मस्वरूप ही सिद्ध हुआ तो आत्मभिन्न सभी जड है यही सिद्ध होता है । उस भोग्य जडमें जिनकी मति लगी है वे

ही जडधी कहलाते हैं । वे भगवदैश्वर्यविषयमें प्रलाप करते हैं आत्मधी कभी नहीं करते ।। ७९-८० ।।

ननु भोग्ये जडे बुद्धिः सर्वेषामेव जायते ।
तददाने महेशे वाङ्मनसे पततां कुतः ।। ८१ ।।

विरक्तः शंकरो भूतिभूषः किं मे प्रदास्यति ।
मैवं प्रतिविधिं वक्ष्ये तदाह वरदेति हि ।। ८२ ।।

शंका :—भोग्य जड़पदार्थोंमें बुद्धि किसकी नहीं होती ! कोई एकाध संत तपस्वी वैसा निकले तो अलग बात है, बाकी सभी भोगवस्तु चाहते हैं । उसे न देनेवाले शंकरमें वाणी और मन कैसे लगेंगे ? विभूत रमानेवाले विरक्त शंकर हमें क्या देंगे ? समाधान—ऐसी शंका मत करो आगे "सुरास्तां तामृद्धिं" इत्यादिमें समाधान मिलेगा । इस आशयसे यहाँ पर "वरद" यह सम्बोधन है ।। ८१-८२ ।।

यद्वा जड़धियो नाम जड़चिन्तनतत्पराः ।
सुप्तास्ते परमेशाने तेन निन्दन्त्यसद्धियः ।। ८३ ।।

अथवा जड़चिन्तनपरायण ही जड़धी हैं । वे परमेश्वरके बारेमें सोये हुए हैं । अतः असद्‌बुद्धि होनेसे व्याक्रोशी करते हैं ।। ८३ ।।

सर्ववेदैकवेद्याय जगत्सर्गादिकारिणे ।
अनन्तैश्वर्यपूर्णाय शिवाय प्रभवे नमः ।। ८४ ।।

समस्त वेदोंमें एकमात्र वेद्य, जगत्‌की सृष्टि आदि के कर्ता, अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण परमशिव प्रभुको प्रणाम है ।। ८४ ।।

नमः शिवाय शान्ताय सर्वशक्तियुजे नमः ।
नमो गुणविभक्ताय रुद्राय च नमो नमः ।। ८५ ।।

सर्ववेदवेद्य शान्त शिवको प्रणाम है । सर्गादिहेतु सर्वशक्तिसम्पन्नको प्रणाम है । सत्त्वादिगुणविभक्त सदाशिवको प्रणाम है । अन्तमें रुद्ररूप-स्थित शंकरको प्रणाम है ।। ८५ ।।

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नस्तोत्रविवृतौ चतुर्थस्पन्दसंग्रहः ।। ४ ।।

ॐ

पञ्चमः श्लोकः

व्याक्रोशी द्वैतिनां मूले सामान्योक्त्यैव दर्शिता ।
न हि तस्या विशेषेण निरूपणमपेक्षितम् ॥ १ ॥

उररीकुर्वते वेदप्रामाण्यं ये मनीषिणः ।
आत्मबुद्धिर्भवेदेषां कदाचित्पारमार्थिकी ॥ २ ॥

अतो निरसनीयाः स्युर्विशेषेणात्र नास्तिकाः ।
व्याक्रोश्यतो विशेषेण तेषामत्र निरस्यते ॥ ३ ॥

मूलमें द्वैतवादियोंका प्रलाप सामान्य कथन से ही बता दिया । वेद प्रामाण्य माननेवालोंकी बुद्धि कभी जरूर सुधरेगी । अतः उसका विशेष निरूपण अनपेक्षित है । विशेषरूपसे तो नास्तिकोंका प्रलाप ही निरस्त करना चाहिए । अतः उसीका यहाँ निरूपण किया जा रहा है । ॥ १-३ ॥

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं ।
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥ ५ ॥

वह आपका विधाता त्रिभुवनकी सृष्टि करता है तो उसकी कैसी चेष्टा है ? कौनसा शरीर है ? क्या उसके पास साधन है ? आधार क्या है । उसके पास उपादान कारण क्या है ? इत्यादि कुतर्क तर्कके अविषय, ऐश्वर्यसे सम्पन्न आपमें अवसर न पानेसे स्थितिरहित होनेपर भी कुछ मूढ़मति हतबुद्धियोंको लोकमोहार्थ मुखरित कर ही लेता है ॥ ५ ॥

किमीहः

ईहा चेष्टा हि का तस्य भुवनस्रष्टुरीशितुः ।
सेष्टानिष्टप्राप्तिपरि-हारव्यापार ईरिता ॥ ४ ॥
व्यापके न क्रिया काचिदिष्टानिष्टे तु दूरतः ।
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ॥ ५ ॥

आप आस्तिकके मतमें भुवनका स्रष्टा ईश्वर है। परन्तु परमेश्वरमें कैसी चेष्टा है यह बताइये। चेष्टा कहते हैं इष्टप्राप्ति एवं अनिष्टपरिहारार्थ क्रियाको। व्यापक तत्त्वमें कोई क्रिया संभव नहीं। तब इष्ट एवं अनिष्टके प्राप्तिपरिहारप्रयोजक विशेष क्रिया कैसे हो ? और इष्ट-अनिष्ट भी परमात्मामें क्या हो सकता है ? तब इष्टप्राप्ति एवं अनिष्टपरिहाररूपी प्रयोजन क्या होगा ? विना प्रयोजन अतिमन्द भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। आपका सर्ववेत्ता ईश्वर तब विना प्रयोजन कैसे प्रवृत्त होगा ॥ ४-५ ॥

किंकायः

कः कायस्तस्य भवति नाकायः स्रष्टुमर्हति।
गृहादिं सतनुः कुर्यान्न पिशाचोऽकलेवरः ॥ ६ ॥
पिशाचादिर्नाशयतीत्येवं चेन्मन्यतामपि।
न सृजेदेव तद्वद्धि न सृजेदीश्वरोऽतनुः ॥ ७ ॥

उस ईश्वरका शरीर क्या है ? बिना शरीर कोई सृष्टि नहीं करता। सशरीर मनुष्यादि गृहादि निर्माण करते हैं। अशरीर पिशाचादि नहीं। यदि कहो कि पिशाच कुछ नाश, कुछ नुकसान कर सकता है। तो भले मानो, पर सृष्टि तो नहीं ही करेगा। वैसे अशरीर ईश्वर भी सृष्टि नहीं कर सकता ॥ ६-७ ॥

किमुपायः

अस्त्वीश्वरोऽस्तु कायोऽस्य किन्तूपायोऽस्य को भवेत्।
तुरीवेमादिविरहे कुविन्दः किं करिष्यति ॥ ८ ॥
सृष्टेः प्राक् साधनानि क्व क्व सृष्टिः साधनैर्विना।
अन्योन्याश्रयदुष्टत्वादीशात् सृष्टेरसंभवः ॥ ९ ॥

अच्छा मान लो ईश्वर है और उसका शरीर भी है। किन्तु उसके पास सृष्टचर्थ उपकरण क्या है ? तुरी-वेमा इत्यादि न हो तो जुलाहा क्या कर सकता है। कोदाल न हो तो खोदेंगे कैसे ? सृष्टि करो तो साधन पैदा होगा और साधन पहले हो तो सृष्टि की जा सकेगी, इसप्रकार अन्योन्याश्रय होनेसे ईश्वरसे सृष्टि मानना शक्य नहीं है ॥ ८-९ ॥

किमाधारः

कुलालो भूतले स्थित्वा कुर्याच्चक्राश्रये घटम्।
किमाधारः सृजत्येष भुवनं परमेश्वरः ॥ १० ॥

पूर्वमाधारसृष्टिः स्यात्ततो भुवनसर्जनम् ।
आधारसृष्टेराधारपूर्वत्वे चानवस्थितिः ।। ११ ।।

कुम्हार भूतल पर स्थित होकर चक्रादि आश्रयमें घट बनाता है। परमेश्वर का ऐसा कौनसा आधार है जिसपर स्थित होकर वह भुवन निर्माण करे ? पहले आधारकी सृष्टि मानी जाय तो उसकी सृष्टिके लिये अन्य आधार चाहिये । ऐसे फिर अनवस्था होगी ।। १०-११ ।।

किमुपादानः

उपादानं वद तथा जगन्निर्माणकारणम् ।
नेष्टिकाचूर्णतोयादिविरहे गृहनिर्मितिः ।। १२ ।।

इसी प्रकार जगत्-निर्माणका कारणरूप उपादान भी बताना चाहिये । ईंट, चूना, पानी आदि न हो तो मकान कैसे बन सकता है ? ।। १२ ।।

कुतर्को०

वाचालयेत् कुतर्कोऽयं मूढान् पण्डितमानिनः ।
प्राप्नुवन्ति ततो मोहमज्ञाः साधारणा जनाः ।। १३ ।।

ऐसा ऐसा कुतर्क अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ जनोंको वाचाल बना देता है। परिणाम यही होता है कि साधारण अज्ञजन भ्रममें पड़ जाते हैं ।। १३ ।।

तर्कान् नैव निषिध्यामः कुतर्कांस्तु प्रधुन्महे ।
युक्तिः श्रुत्यनुकूला चेत्तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ।। १४ ।।

हम तर्कका निषेध नहीं करते, केवल कुतर्क निराकरण करते हैं। श्रुत्यनुकूल हो तो तर्क कीजिये, कुतर्क मत कीजिये ।। १४ ।।

अतर्क्यैश्वर्यं

न तर्कः प्रसरेद्यत्र कुतर्कस्य तु का कथा ।
अतर्क्यैश्वर्यमीशानमामनन्ति श्रुतेर्गिरः ।। १५ ।।
नैषा तर्केण हि मतिरापनेयेति गीः श्रुतेः ।
सूत्रकृच्चागदीत्तर्काऽप्रतिष्ठानादितीश्वरः ।। १६ ।।

जहाँ तर्कका भी अवकाश नहीं वहाँ कुतर्ककी तो बात ही क्या ? श्रुति भगवानके ऐश्वर्यको तर्काऽगोचर कहती है। "यह मति तर्कसे प्राप्त नहीं होती, और तर्कसे नष्ट मत करो" ऐसी श्रुति है। सूत्रकार भगवान वेदव्यासने भी तर्ककी अप्रतिष्ठा ही बतायी है।। १५-१६ ।।

कुतर्कप्रतिषेधाय तथापि मतिवर्धनान् ।
श्रुतिसंवादिनस्तर्कान् दर्शयामोऽत्र कांश्चन ।। १७ ।।

फिर भी हम कुतर्क निराकरणार्थ बुद्धिवर्धक श्रुतिसंमत कुछ तर्कोंको यहां दिखाते हैं ।। १७ ।।

किमुपादानः

उपादानं किमिति तु भवता तस्य पृच्छ्यते ।
तत्र ब्रूमः स्वयं तावदुपादनं महेश्वरः ।। १८ ।।
न च कर्तुः पृथक् तत्स्यात् सर्वत्रेति तु सांप्रतम् ।
नियमस्यापवादोऽपि प्रायः सर्वत्र हीक्ष्यते ।। १९ ।।
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णीयाच्चेति वेदगीः ।
अपवादं स्वयं तस्य दर्शयामास विस्फुटम् ।। २० ।।

आपका प्रश्न है कि जगन्निर्माणमें उपादान क्या है ? उत्तर है—स्वयं परमेश्वर उपादान है । कर्तासे उपादान अलग होना चाहिये ऐसा सर्वत्र नियम नहीं है । उसका अपवाद मकड़ीमें स्वयं श्रुतिने ही दिखाया है । मकड़ी अपनेसे स्वयमेव जाल बनाती भी है, खा जाती भी है ।। १८-२० ।।

कर्तात्मा ननु लूताया उपादानं तु तत्तनुः ।
सत्यं कुविन्ददेहः किं पटोपादानमीक्षितः ।। २१ ।।
न चेन्नियमभङ्गस्तु जात एव न संशयः ।
भग्ने च नियमे तर्कः कुतर्कः स्यात्तदाश्रितः ।। २२ ।।

पूर्वपक्ष :—मकड़ीकी आत्मा कर्ता है और शरीर उपादान है, दोनों अलग हैं । उत्तर :—ठीक है; इसी प्रकार जुलाहाकी आत्मा कर्ता और उसका शरीर कपड़ेका उपादान ऐसा देखा गया है क्या ? यदि नहीं, तो नियमभंग हो ही गया । नियमभंग हुआ तो उस नियमपर आश्रित तर्क भी कुतर्क बन जायेगा ।। २०–२२ ।।

किं चोर्णनाभेः किं तन्वा मृतया तन्तुवायकः ।
तन्तुं शक्नोति निर्मातुं हेतुर्जीवत्तनुस्ततः ।। २३ ।।

दूसरी बात :—मरी मकड़ीके शरीरसे कोई कारीगर तन्तु बना सकता है क्या ? कहना पड़ेगा कि जीवित शरीर ही तन्तूपादान है । तब कर्ता और उपादानको पृथक् कैसे करोगे ? ।। २३ ।।

देहप्रधाना लूता चेत्तन्तूपादानमिष्यते ।
चित्प्रधाना तथा लूता निमित्तं तन्तुजन्मनि ।। २४ ।।

मायाप्रधान ईशोऽस्तु तथोपादानमस्य हि।
चित्प्रधानो निमित्तं च ततः का हानिरुच्यताम् ॥ २५ ॥

यदि कहें कि देहप्रधान मकड़ी जालका उपादान है और चैतन्यप्रधान मकड़ी कर्ता है तो वैसे ही मायाप्रधान ईश्वर जगत्का उपादान और चैतन्यप्रधान ईश्वर कर्ता है, ऐसा हम भी कहें तो उसमें क्या दोष है ? ॥ २४–२५ ॥

आरोहन् पतितस्तन्तुमत्ति मर्कटको यथा।
तथा प्रलयकालेऽत्ति जगदेतन्महेश्वरः ॥ २६ ॥

गिरनेपर चढ़ती हुई मकड़ी धागेको खा जाती है। वैसे प्रलयकालमें परमेश्वर स्वसृष्ट जगत्को ग्रस लेता है ॥ २६ ॥

यस्य ब्रह्म तथा क्षत्रमुभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेकश्चेत्येवमाह श्रुतिः स्वयम् ॥ २७ ॥

"जिसका ब्राह्मण और क्षत्रिय अर्थात् तदुपलक्षित जगत् भात जैसा है, मृत्यु चटनी समान है" ऐसी श्रुति है ॥ २७ ॥

किमाधारः

किमाधार इति प्रोक्त उत्सर्गश्चाप्यपोद्यते।
नहि सर्वत्र साधारनियमो विद्यते यतः ॥ २८ ॥

आपने किमाधारः ऐसा जो उत्सर्ग दिखाया उसका भी अपवाद है। क्योंकि सर्वत्र आधारका नियम नहीं है ॥ २८ ॥

विष्टरो हि तवाधारो विष्टरस्य गृहं तथा।
गृहाधारो मही तस्या आधारस्तु न कश्चन ॥ २९ ॥

आप (देवदत्तादि) का आसन आधार है। आसनका गृह आधार है। गृहका पृथिवी आधार है। किन्तु पृथिवीका आधार कोई नहीं। अतः यहींपर आधारनियमका भङ्ग हो गया ॥ २९ ॥

ननु व्योम भवेन्मह्या आधार इति चेन्न तत्।
व्योम्न आधारता नोरीक्रियते तार्किकैर्यतः ॥ ३० ॥
नभस्युत्पतितं वस्तु निराधारमितीर्यते।
निराधाराश्चन्द्रतारा व्योम्नीत्येवं प्रतीतितः ॥ ३१ ॥

यदि कहो कि पृथिवीका आधार आकाश है तो ठीक नहीं। क्योंकि आकाशको नैयायिकादि आधार नहीं मानते। आकाशमें फेंकी गयी वस्तु कुछ देर निराधार रहती है, आकाशमें चन्द्र, तारा आदि निराधार खड़े हैं इत्यादि व्यवहार देखनेमें आता है ॥ ३०–३१ ॥

दिगम्बर इति ह्युक्तिर्निरम्बरपरा यथा ।
गगनाधार इत्युक्तिर्निराधारपरा तथा ॥ ३२ ॥

जैसे दिगम्बरका अर्थ ही निरम्बर होता है वैसे गगनाधार कहनेका अर्थ ही निराधार होता है ॥ ३२ ॥

व्योमाधारा यथा पृथ्वी वृक्षादीन् तनुते निजे ।
व्योमाधारः कथं नैव कुविन्दः कुरुतां पटम् ॥ ३३ ॥

यदि व्योम भी आधार है तो व्योमाधार पृथिवी जैसे अपनेमें वृक्षादिको उत्पन्न करती है वैसे व्योमाधार जुलाहा भी वस्त्रादि क्यों नहीं बनाता ? ॥ ३३ ॥

अस्तु खं वसुधाधारः खस्याधारस्तु को वद ।
अनाधारं यदि नभो नियमो भज्यते तदा ॥ ३४ ॥

अच्छा पृथिवीका आधार आकाश मान भी लो । आकाशका आधार क्या है ? यदि गगन निराधार है तो आपका नियम टूट गया ॥ ३४ ॥

नन्वाधारो न नभसो व्यापकस्येति चेत्तदा ।
व्यपकस्य महेशस्य कैषाधारगवेषणा ॥ ३५ ॥

पूर्वपक्षः—आकाश व्यापक है उसका आधार नहीं होता । मूर्तका ही आधार होता है । उत्तर—तव आप व्यापक परमात्माका आधार क्यों ढूँढ़ने लगे ? ॥ ३५ ॥

प्रतिष्ठितः स कस्मिन् हि स्वे महिम्नीति ह्यब्रवीत् ।
यदि वा न महिम्नीति संप्रबोधयति श्रुतिः ॥ ३६ ॥

वह भूमा परमेश्वर किसमें प्रतिष्ठित है ? कहा—अपनी महिमामें । अथवा अपनी महिमामें भी नहीं । स्वयं प्रतिष्ठित है । इस प्रकार श्रुति भी समझाती है ॥ ३६ ॥

प्रत्युत ब्रूमहे व्योम्नोप्याधारं भगवत्पदम् ।
सूत्रे चाक्षरमाधारमम्बरान्तधृतेर्जगौ ॥ ३७ ॥

प्रत्युत आकाशका भी आधार हम परमात्माको मानते हैं । "कस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इस प्रश्नके उत्तरमें अक्षर परमात्माको ही आधाररूपेण श्रुतिने बताया । "अक्षरमम्बरान्तधृतेः" इस प्रकार सूत्र में भी उसका निर्णय किया गया ॥ ३७ ॥

चेतनस्यैव हेतुत्वे साधारत्वं नियम्यते ।
महद्यादेर्जनकत्वे तु नियमो नेति चेन्न तत् ॥ ३८ ॥

सदेहस्यैव हेतुत्वे साधारत्वं नियम्यताम् ।
संकोचाधिकृतिस्ते चेदस्ति, सा नास्ति मे नु किम् ।। ३९ ।।
कर्तुराधारनियमो हेतुमात्रस्य नेति चेत् ।
सदेहकर्तुराधारनियमो दृश्यते भुवि ।। ४० ।।

पूर्वपक्ष:—चेतन यदि हेतु हो तो उसके लिये आधारनियम है। पृथिवी आदि अचेतन जहां हेतु है वहां उक्तनियम नहीं है। उत्तर :—सदेह चेतनके हेतुत्वमें आधारनियम है ऐसा क्यों नहीं कहते ? नियमसंकोच में आपको ही अधिकार है हमें नहीं है यह कैसी बात ? पूर्वपक्ष :—कर्ताका आधारनियम है। हेतुमात्रका नहीं। उत्तर :—सदेह कर्ताका आधारनियम देखा गया है। अत: दृष्टानुरोधेन नियम बनाइए। ईश्वर सदेह कर्ता नहीं अत: वहाँ आधारकी जरूरत नहीं ।। ३८-४० ।।

किमुपाय:

उपायनियमोऽप्येव न हि सार्वत्रिको भवेत् ।
तस्यापि बहुधा लोकेष्वपवादो विलोक्यते ।। ४१ ।।

किमुपाय:—यह उपायनियम भी सार्वत्रिक नहीं है। उसका भी अपवाद देखनेमें आता है ।। ४१ ।।

केचित्तु रोटकान् कुर्युर्बेलनोपायसंयुता: ।
अन्ये तमनपेक्ष्यैव हस्तमात्रेण कुर्वते ।। ४२ ।।
न च तत्राप्युपायोऽस्ति हस्ताविति तु सांप्रतम् ।
बेलने सत्यपि स्तस्तावन्योपायस्त्वपोद्यते ।। ४३ ।।

कुछ लोग बेलन उपाय रखकर रोटी बनाते हैं। दूसरे लोग बेलनकी अपेक्षा रखे विना हाथसे ही बना लेते हैं। कहो कि वहाँ भी हाथ उपाय तो है, तो क्या बेलन रहनेपर हाथ नहीं रहता ? अन्य उपायका अपवाद हम बता रहे हैं ।। ४२-४३ ।।

सामर्थ्यविरहेऽपेक्षा साधनानामिति स्थिति: ।
सेनासहायो नृपति: परान् विजयतेऽबल: ।। ४४ ।।
चतुर्दशसहस्राणि राक्षसान् हि खरादिकान् ।
अजैषीदेकलो राम: सामर्थ्यं तत्र कारणम् ।। ४५ ।।

सामर्थ्य न हो तो साधनोंकी आवश्यकता होती है। निर्बल राजा सेनाकी सहायतासे शत्रुओंपर विजय पाता है। अकेले रामने चौदह हजार खरादि राक्षसोंको मारा तो वहाँ सामर्थ्य ही कारण था ।। ४४-४५ ।

यन्त्रादिना सहायेन भार उत्थाप्यते महान् ।
हस्ती विनैव यन्त्रादि महाभारं समुद्धरेत् ।। ४६ ।।
उपनेत्रसहायत्वमसमर्थस्य चक्षुषि ।
किं ज्वलज्ज्योतिषोरक्षणोरुपनेत्रं करिष्यति ।। ४७ ।।

यन्त्रादि सहायतासे लोग भारी बोझ उठाते हैं, बिना यन्त्रादि ही हाथी उसे उठा लेता है। चश्मेकी सहायता कमजोर आंखवालोंको चाहिये। तेज हो तो चश्मेका क्या काम ? ।। ४६ ४७ ।।

परास्य शक्तिर्विविधेत्येतच्छ्रौतं श्रुतिर्जगौ ।
न तस्य कार्यं करणमित्यप्याहापरं वचः ।। ४८ ।।

"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इस प्रकार परमेश्वरकी अनन्तशक्ति को श्रौतत्वेन श्रुति कहती है। "उसका कार्य और करण नहीं" इत्यादि वचनोंमें करणादि निरपेक्षता बतायी है ।। ४८ ।।

किंकायः

किंकाय इति चायुक्तं तडित्सु व्यभिचारतः ।
प्रकाशयेद्वीजयेच्च शीतयेच्चातनुस्तडित् ।। ४९ ।।
धातुतन्तुः शरीरं चेन्न चेष्टादेरभावतः ।
चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयं हि देहं नैयायिका जगुः ।। ५० ।।

"किं कायः" यह आक्षेप भी अयुक्त है। बिजलीका कोई शरीर नहीं है। फिर भी बल्बसे प्रकाशन, पंखेसे वायुचालन, फ्रीज आदिसे शीतन करती है। यह कहें कि बिजलीका तार आदि उसका शरीर है तो ठीक नहीं। कारण "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरं" ऐसा न्यायसूत्रमें कहा है—जिसमें चेष्टा हो, इन्द्रिय हो और सुखादि हो वही शरीर है ।। ४९-५० ।।

देहो नास्तीश्वरस्येति कस्त्वां चावञ्चयत् सखे ।
ॐदेहः शक्तिदेहश्च पञ्चवक्त्रोऽपि चेश्वरः ।। ५१ ।।

ईश्वरका देह नहीं है ऐसा दिमागमें ठुसाकर किसने तुमको ठगा ? शिवका ॐकार शरीर है, शक्ति शरीर है और पंचवक्त्र त्रिनेत्र शरीर प्रसिद्ध ही है ।। ५१ ।।

किमीहः

एतेनैव निरस्तं स्यात् किमीह इति चोदितम् ।
सति देहे हि कापत्तिरीहासत्त्वे महेशितुः ।। ५२ ।।

शरीर मान लिया अत एव "किमीहः" इस प्रश्नका भी अवकाश नहीं रहा ।। ५२ ।।

किं च संकल्पमात्रेण स्वेच्छामात्रेण शंकरः।
सृजत्यवति　　हन्तीदमुत्सर्गोऽत्राप्यपोद्यते ॥ ५३ ॥

दूसरी बात—भगवानको न चेष्टाकी आवश्यकता है और न शरीर की ही। संकल्पमात्रसे इच्छामात्रसे परमेश्वर सृष्टिस्थितिसंहार करता है। शरीर चेष्टादियुक्त ही कार्य करता है इस उत्सर्गका यहाँ भी अपवाद है॥ ५३ ॥

मायावी वस्तु निर्माति स्वेच्छया संहरत्यपि।
योगी च स्वेच्छया निर्मात्युपसंहरतेऽपि च ॥ ५४ ॥

इस उत्सर्गापवादका लौकिक उदाहरण भी है। मायावी स्वेच्छासे निर्माण एवं संहार करता है। योगी स्वेच्छामात्रसे निर्माण और उपसंहार करता है, चेष्टाकी कोई जरूरत नहीं है ॥ ५४ ॥

संसारनियमः सर्वः सापवादो विलोकितः।
संसारनियमे बन्धुनीशं मा साहसं कुरु ॥ ५५ ॥

संसारके सभी नियम सापवाद देखनेमें आ ये हैं। अतः संसारनियममें परमेश्वरको बाँधनेका साहस मत करो ॥ ५५ ॥

नन्वेवं सर्वनियमापोदनं विदधासि चेद्।
शून्यादेव जगत्कस्मान्नोत्पद्येत निगद्यताम् ॥ ५६ ॥
न चासतः समुत्पन्ने स्यादसत्त्वानुवर्तनम्।
क्षीरोत्पन्ने क्व वा दध्नि क्षीरस्यास्त्यनुवर्तनम् ॥ ५७ ॥
न चासतः समुत्पत्तिः सतो नैवावलोकिता।
क्षीरध्वंसात् समुत्पत्तिर्यतो दध्न्यवलोकिता ॥ ५८ ॥
न वा दधि क्षीरककणादुत्पद्येतेति सांप्रतम्।
क्षीराऽध्वंसे　　क्षीरकणाद्दध्युत्पत्तिप्रसङ्गतः ॥ ५९ ॥
केवलान्नहि विध्वंसाद् दृष्टोत्पत्तिः सतो यदि।
केवलाच्च सतो दृष्टा क्वोत्पत्तिरिति भण्यताम् ॥ ६० ॥
असत् सर्वत्र सुलभं सर्वं सर्वत्र चेद् भवेत्।
सच्च सर्वत्र भवतः सर्वं सर्वत्र नो कुतः ॥ ६१ ॥

वौद्ध पुर्वपक्षः—सर्व नियमोंका अपवाद आपने माना तो शून्यसे जगत्की उत्पत्ति माननेमें क्या दोष ? यह कहो कि असत्से घटादि उत्पन्न हो तो असत्की अनुवृत्ति होगी। तब घट है ऐसा न होकर घट नहीं है ऐसी प्रतीति होगी, सो बात गलत है। दूधसे दही उत्पन्न हुआ तो वहाँ दूधकी अनुवृत्ति कहाँ होती है ? असत्से सत्की उत्पत्ति कहीं देखी नहीं यह कहना

भी अनुचित है। क्योंकि क्षीरध्वंससे दहीकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष है। क्षीरध्वंस अभाव ही तो है। इसपर सद्वादी कहेंगे कि क्षीरध्वंससे दहीकी उत्पत्ति नहीं, किन्तु क्षीरके कणोंसे दहीकी उत्पत्ति है। परन्तु उन्होंने यह सोचा नहीं कि क्षीरनाश न होनेपर भी क्षीरकण हैं तब क्षीरनाश हुए विना ही दधि क्यों उत्पन्न नहीं होता ? अतः क्षीरध्वंस दधिकारण है। सद्वादियोंका रामबाण यही माना जाता है कि केवल क्षीरनाशसे दही उत्पन्न नहीं होगा, क्षीरकण भी चाहिये। किन्तु अद्वैतवादियोंसे पूछेंगे—केवल सत्से वस्तुकी उत्पत्ति भी कहाँ होती है, बताओ। साधानन्तर तो चाहिये ही। अन्तिम वज्र यही है कि असत्से सत् पैदा हो तो असत् सर्वत्र है अतः आकाशमें भी कुसुम पैदा होगा। परन्तु सर्वजगत्कारण आपका ब्रह्म भी तो सर्वत्र है। उससे आकाश-में पुष्प उत्पन्न क्यों नहीं होता ? ॥ ५६-६१ ॥

अत्र ब्रूमः पुमर्थत्वं शून्यस्य न कथंचन।
परिपूर्णपरानन्दो यत्सर्वैः पुम्भिरर्थ्यते ॥ ६२ ॥

तर्केण सदसद्वेति निश्चेतुं चेन्न शक्यते।
पुमर्थत्वं भवेत्तत्र नियामकमिति स्थितिः ॥ ६३ ॥

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥ ६४ ॥

कारण सत् है या असत्, सर्वान्त्यमें सत् रहेगा या असत् रहेगा इस-पर तर्कसे कोई निर्णय न होता हो तो वहाँ पुरुषार्थता ही निर्णायिका होगी। शून्य पुरुषार्थ नहीं होता। परिपूर्ण परमानन्द ही सर्वपुरुषेच्छाविषय है। ब्रह्मको असत् माननेवाला असत् अर्थात् पुरुषार्थरहित हो जाता है। सत् माननेवाला सन्त अर्थात् पुरुषार्थयुक्त होता है ॥ ६२-६४ ॥

नन्वनिर्णीततत्त्वेषु पुरुषेच्छा निरङ्कुशा।
कथं निर्णायिका वस्तुविकल्पापादिकेति चेत् ॥ ६५ ॥
न च वाच्यं तृणमपि स्यादालम्बो निमज्जतः।
मज्जत्येव तृणालम्बी जलसंतरणाक्षमः ॥ ६६ ॥

पूर्वपक्ष—सत् असत्का निर्णय न होनेपर पुरुषेच्छा (पुरुषार्थता) नियामिका कैसे होगी ? क्योंकि पुरुषेच्छा निरंकुश होती है। चन्द्र-आनयन जैसे असंभव अर्थकी भी इच्छा हुआ करती है। पुरुषेच्छानुसार वस्तु सिद्ध हो तो वस्तुविकल्प होने लगेगा। यदि कहें—"डूबतेका तिनका भी सहारा" होगा तो वह ठीक नहीं। तृणका सहारा लेने वाला तैरना न जानता हो तो डूब ही जायेगा ॥ ६५-६६ ॥

तन्नानभिभवे बुद्धेः सर्वे सत्पक्षपातिताम् ।
उपयन्त्यन्यथा लोका जीवेयुः किंबला इह ।। ६७ ।।

उत्तर :—करणविशेषसे अभिभूत न हो तो बुद्धि सत्यपक्षपाती होती है । इस बातको सभी मानते हैं । बुद्धि पर विश्वास न हो तो जीना भी संभव नहीं होगा । जीनेका आधार ही बुद्धि है ।। ६७ ।।

अशक्यस्थितिके चात्र सत्त्वासत्त्वविनिश्चये ।
अभिभावकराहित्यात् सत्ये धीः प्रसरेत्स्वयम् ।। ६८ ।।

सत्व या असत्त्वका तर्कसे निर्णय असंभव हुआ । अभिभूत करनेवाला रहा नहीं । अब जो बुद्धिका प्रसार होगा वह सत्यमें ही होगा ।।६८।।

परिपूर्णपरानन्दाकाङ्क्षा स्वाभाविकी धियः ।
तत्तादृक्तत्त्वसिद्धिं नाऽपोढुं विधिरपि क्षमः ।। ६९ ।।

और परिपूर्णपरानन्दाभिलाषा बुद्धिकी स्वाभाविक गति है । अतः ऐसे तत्त्वकी सिद्धिको ब्रह्मा भी निवारण नहीं कर सकते ।। ६९ ।।

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्याद् बुद्धिं चेमे तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ।। ७० ।।

इन नास्तिकोंने मूर्खताके कारण श्रुतिका अनादर तो किया ही, बुद्धिका भी अनादर किया । केवल तर्कपर ये निरात्मवादी बन गये ।।७०।।

अचिन्त्यानन्तशक्तित्वात् क्व च मेऽस्त्यव्यवस्थितिः ।
त्वया शक्त्यभ्युपगमात् क्वासद्वार्तावतिष्ठते ।। ७१ ।।

जो पहले दोष कहा कि 'सत्' रूपी कारण सर्वत्र है, सभी कार्य सर्वत्र होगा, वह ठीक नहीं । अचिन्त्य शक्ति भी हम मानते हैं । अतः अव्यवस्था नहीं है । नास्तिक शक्तिसत्ता मानते हैं तो असद्वाद नहीं रहेगा ।। ७१ ।।

शक्तिशक्तिमतोर्नैव पृथगस्तित्वमिष्यते ।
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं गण्यते पृथक् ।। ७२ ।।

शक्ति और शक्तिमानकी पृथक सत्ता नहीं, अतः द्वैतापत्ति भी नहीं । लोकमें भी चैत्र और उसकी शक्ति ऐसे दो नहीं गिने जाते ।। ७२ ।।

अतर्क्यैश्वर्यं

तत्त्वं तत् कीदृगिति चेत् श्रुतिं गुरुमुखाच्छृणु ।
न हि तर्केण विज्ञातुं यतस्वाऽतर्कगोचरम् ।। ७३ ।।
पृच्छामि त्वौपनिषदमित्याह पुरुषं श्रुतिः ।
अतर्क्यैश्वर्यरूपेऽतः कुतर्कं मा कृथा वृथा ।। ७४ ।।

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
यदि वा योजयेस्तर्हि तर्कं श्रुतिमतं नय ।। ७५ ।।
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवानुमीयते ।। ७६ ।।
ततोऽनवसरत्वेन दुःस्थस्तर्को महेश्वरे ।
कुतर्कस्त्याज्य एवातो मा स्म भूद्धतधीर्नरः ।। ७७ ।।
स्वयं मूढा हतधियो मोहयन्त्यपरानपि ।
परात्मघातिनस्तेऽतिपापिनः स्वात्मघातिनः ।। ७८ ।।

वह सत्-तत्त्व कैसा है यह जानना हो तो गुरुमुखसे श्रुति सुनो, तर्कसे जाननेका यत्न न करो। वह पुरुष औपनिषद है ऐसी श्रुति है। अचिन्त्य भावोंपर तर्कको जोड़ना नहीं, जोड़ना ही हो तो श्रुतिमत तर्क जोड़ो। क्योंकि तर्कका प्रतितर्क भी अवश्य होगा। अतः परमेश्वरमें अवकाश न होनेसे जो कुतर्क टिक ही नहीं सकता उसे त्यागना ही उचित है। ये कुतर्की स्वयं मूढ होकर आत्मघात करते ही हैं, दूसरोंको मोहमें डालकर परात्मघाती भी होते हैं, फलतः केवल पापजीवन होते हैं ।। ७३-७८ ।।

अतर्क्यैश्वर्यमतुलं सन्तं चानन्तशक्तिकम् ।
पुमांसमौपनिषदं शिवं वन्दे परात्परम् ।। ७९ ।।

जिसका ऐश्चर्य तर्कका अविषय है। क्योंकि वह अतुल-उपमान दृष्टान्तरहित है। तथापि सद्रूप है, अनन्त शक्तिसंपन्न है, उस उपषित्मात्र वेद्य परात्पर पुरुष शिवकी हम बन्दना करते हैं ।। ७९ ।।

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नःस्तोत्रविवृतौ पञ्चमस्पन्दसंग्रहः ।। ५ ।।





षष्ठः श्लोकः

ईहाद्यवान्तराक्षेपान्मूलाक्षेपो विवक्षितः।
नास्तीशो यदि वास्त्येष ईहादिः क इतीर्यते ।। १ ।।

पूर्वश्लोकमें किमीहः इत्यादिसे ईहा आदि जो अवान्तर तत्त्वका आक्षेप है उससे मूल ईश्वरका ही आक्षेप विवक्षित है। पूर्वपक्षीका आशय है-ईश्वर नहीं है, यदि है तो उसकी क्या ईहा, क्या चेष्टा क्या शरीर इत्यादि कहो ।। १ ।।

तत्र चावान्तराक्षेपः सुसमाधान इत्यतः।
मूलाक्षेपं निराचष्टे सत्तर्केणाधुना स्फुटम् ।। २ ।।

अवान्तराक्षेपोंका समाधान सरल है (हम दिखा भी चुके हैं) अतः कुतर्कविपरीत सत्तर्कसे मूलाक्षेपनिराकरण अब करते हैं ।। २ ।।

अपि चास्तिकमेव स्वं मन्यमाना अपीतरे।
यदन्यथान्यथा प्रोचुस्तानप्युद्धरते मुनिः ।। ३ ।।

और भी बात है। जो अपनेको आस्तिक कहलाते हैं वे भी ईश्वरके बारेमें तरह-तरहकी बातें करते हैं। जैसे हमने चतुर्थ श्लोककी व्याख्यामें दरसाया। कुछ बातें मीमांसकादिकी विलक्षण हैं। उन सबका महर्षि कात्यायन उद्धार करने जा रहे हैं ।। ३ ।।

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति।
अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ।। ६ ।।

क्या सावयव लोक भी अजन्मा हो सकते हैं? जगत्की उत्पत्तिका सिलसिला अधिष्ठाताकी अपेक्षा किये बिना ही क्या चल सकता है? इस भुवनमण्डलके उत्पादनमें ईश्वरसे अतिरिक्त भी कोई तैयार हो सकता है क्या? जिन बातोंको लेकर हे देवदेव! आपके विषयमें ये मन्दबुद्धि तरह-तरहके संशय करते रहते हैं ।। ६ ।।

अजन्मानो

हस्ताद्यास्तन्ववयवाः स्कन्धशाखादयस्तरोः ।
गिरिसिन्ध्वादयः पृथ्व्या घटादीनां मृदादयः ॥ ४ ॥

अणवो दृश्यकार्याणां तत्संयोगात्तदुद्भवः ।
अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः संयोगः स तु कीर्तितः ॥ ५ ॥

उत्पत्तिध्वंसशालित्वं संयोगादेरवेक्ष्यते ।
नानादित्वमतस्तेषां शक्यमुत्प्रेक्षितुं बुधैः ॥ ६ ॥

संयोगे सति जन्मैषां कार्याणां नान्यथा तथा ।
अजन्मानः कथं तस्माल्लोकाः सावयवा इमे ॥ ७ ॥

हाथ पांव आदि शरीरके अवयव हैं, डाली पत्ते आदि वृक्षके अवयव हैं, वैसे गिरिसागरादि पृथिवीके अवयव हैं, घटादिके मृदादि अवयव हैं। त्र्यणुकपर्यन्त सभी दृश्यकार्योंके अणु अवयव हैं। इन अवयवोंके संयोगसे इन कार्योंकी उत्पत्ति होती है। संयोग भी उत्पन्न होता है। पूर्वमें जो अप्राप्त रहकर बादमें प्राप्त होते हैं उनकी वह प्राप्ति ही संयोग है। और संयोगादिकी उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष है। अतएव ये संयोगादि अनादि हैं ऐसी शंका नहीं की जा सकती। इन अवयवोंका संयोग होनेपर ही इन शरीर, वृक्ष, पृथिवी आदिका अस्तित्व होता है। तब सावयव ये लोक अजन्मा कैसे हो सकते हैं ? ॥ ४-७ ॥

ननु वृक्षे स्थिते तस्मिन् शाखापत्रादयो नवाः ।
उत्पद्यन्ते कथं तर्हि जरन्नुत्पद्यतां तरुः ॥ ८ ॥

जाते मर्त्ये ततस्तस्य केशश्मश्रुस्तनादयः ।
जायन्ते न तु तैर्जातैर्जायते पुनरेव सः ॥ ९ ॥

व्यज्यन्ते यदि केशाद्या नोत्पद्यन्न इतीर्यते ।
व्यज्यन्तां नित्यलोकानां कुतो नावयवा अमी ॥ १० ॥

वृक्ष तैयार हुआ उसके बाद भी शाखा, पत्र आदि नये पैदा होते हैं। उन शाखापत्रादिसे थोड़े ही पूर्वभव वृक्ष उत्पन्न हुआ ? मनुष्य पैदा हो गया उसके बाद भी केश, डाढी, स्तन आदि पैदा होते हैं। तो क्या इनके उत्पन्न होनेपर अवयवोंसे दुबारा वही मनुष्य उत्पन्न होता है ? यदि कहो कि डाली, पत्ता, डाढ़ी, स्तन आदि बादमें केवल प्रकट होते हैं तो वैसे ही लोकोंके भी अवयव बादमें प्रकट हों। उन अवयवोंसे लोकोंको उत्पत्ति क्यों मानना ? ॥ ८-१० ॥

सत्यं, न्यायमते कार्यं सर्वत्रोत्पद्यते नवम्।
सर्वं सांख्यमते कार्यं व्यज्यते हि घटाद्यपि ॥ ११ ॥
घटादेर्व्यञ्जकः किं वा जन्मदाता यथानथम्।
अपेक्षितः कुलालादिस्तावन्मात्रमिहेक्ष्यताम् ॥ १२ ॥

उक्त पूर्वपक्षपर हमारा कहना यह है कि न्यायमत और सांख्यमत दो पृथक हैं। न्यायमतमें नवीन शाखापत्रादिसे वृक्षादि भी नवीन उत्पन्न माना ही गया है और सांख्यमतमें सभी कार्य कारणमें अभिव्यक्त होते हैं। घटादि भी मृत्तिकामें अभिव्यक्त होता है। चाहे उत्पत्ति मानलो चाहे अभिव्यक्ति, घटस्थलमें तदर्थ कुलालादि अपेक्षित है ही (इसी प्रकार लोकोंके जन्म या अभिव्यक्तिमें कर्ताकी अपेक्षा है ही) इतना ही यहाँ विवक्षित है ॥ ११-१२ ॥

तथा जगज्जन्म कथमधिष्ठातारमन्तरा।
अप्राप्तप्रापकेणात्र भाव्यं केनापि तद्विदा ॥ १३ ॥

सावयव लोक सजन्मा सिद्ध हुए। वह जगज्जन्म अधिष्ठाता अर्थात् कर्ताके विना कैसे हो ? अप्राप्त अवयवोंका प्रापक-जोड़नेवाला उसका ज्ञाता जरूर कोई होना चाहिये ॥ १३ ॥

अदन्ते बालके भोक्तुमशक्ते मोदकादिकम्।
कोऽतनोज्जननीस्तन्यमनत्युष्णमशीतलम् ॥ १४ ॥

तद्विदा ऐसा पूर्वश्लोकमें कहा। ज्ञाता भी सामान्य ज्ञाता नहीं किन्तु औचित्यज्ञाता। शिशु दन्तरहित है। लड्डू आदि नहीं चबा सकता। उसे दूध ही उपयुक्त है। इस बातको समझकर माताके स्तनोंमें मुँह जले भी नहीं, ठंढीसे पेटमें वायु भरे भी नहीं वैसा न अधिक गरम न अधिक ठण्ढा दूध बनाकर भरनेवाला वह कौन है ॥ १४ ॥

न भूम्यां नैव बीजे च रङ्गो नैव दलादिषु।
रङ्गकारोऽभ्यगात्कोऽयं प्रसूनं येन रञ्जितम् ॥ १५ ॥

मिट्टी सामान्य है, बीजमें भी कोई रंग नहीं। शाखापत्रादिमें भी खास कुछ नहीं। तब इन पुष्पोंपर रंग चढ़ानेवाला यह रंगरेज कौन है बताओ ॥ १५ ॥

हिमदेशेऽतिशैत्येन मा म्रियेरन्निमे त्विति।
केन वा धर्मरोमाणि कृतानि पशुपक्षिणाम् ॥ १६ ॥

हिमालयमें जाकर देखो। वहाँके पशुपक्षियोंके गरम ऊन जैसे रोम होते हैं। इसलिये कि ये ठण्ढीमें न मरें। यह कृपालु कर्त्ता कौन ? ॥ १६ ॥

अधिष्ठातारं०

ग्लौर्महीं सा रविं सोऽपि सत्यं बम्भ्रम्यते परि।
ऋणाणवो धनाणूंश्च को न्वयं यन्त्रचालकः॥ १७॥

चन्द्रमा पृथ्वीकी चारों ओर भ्रमण कर रहा है। पृथ्वी सूर्यकी चारों ओर भ्रमण कर रही है। सूर्य सत्यलोककी परिक्रमा कर रहा है। ऋणाणु धनाणु की परिक्रमा कर रहे हैं। आखिर इस प्रकार यन्त्र चलानेवाला यह कौन है ?॥ १७॥

बुभुक्षोरन्ननिर्माता पिपासोर्जलवर्षणः।
दिनान्नक्तं दिनमिति को व्यवस्थापको न्वयम्॥ १८॥

भूखेके लिये अन्ननिर्माण और प्यासे के लिये जल वर्षण करनेवाला कौन ? दिनके वाद रात फिर दिन ऐसी व्यवस्था करनेवाला कौन है ?॥ १८॥

भुक्तमन्नं रसं रक्तमिति रीत्या तनुं नयन्।
कोऽयं वैज्ञानिकः कौक्षानन्त्रादीन् रचयन् प्रभुः॥ १९।

खाये अन्नको रसरक्तादि क्रमसे शरीर पर्यन्त बनानेवाला यह कौन है ? कौन यह वैज्ञानिक है जिसने पेटमें अन्त्रादि निर्माणकर अन्नको अहं बना डाला ?॥ १९॥

किं वात्र बहुनोक्तेन जगदेतच्चराचरम्।
प्रत्यण्वत्यद्भुतं तद्धि सुविज्ञेन विना कथम्॥ २०॥
सुव्यवस्थितसंचारं नियमाबद्धविग्रहम्।
अनन्तमद्भुतं विश्वमधिष्ठात्रा विना कथम्॥ २१॥

हम अधिक क्या कहें यह चराचर जगतमें अणु-अणुमें आश्चर्य ही आश्चर्य है। यह किसी सुविज्ञके बिना कैसे पैदा हो ? व्यवस्थित कार्योत्पत्ति एवं संहार चल रहा है। सभी अपने-अपने नियमोंमें आवद्ध हैं। ऐसे अनन्त असंख्य अद्भुत विश्व अधिष्ठाताके बिना कैसे हो ?॥ २०-२१॥

अनीशो वा०

न कर्तारोऽस्मदाद्याः स्युरसमर्था अतीव ये।
जगत्कर्तृतया शक्याः केन कल्पयितुं हि ते॥ २२॥

क्या ऐसे जगतका निर्माता हमारे तुम्हारे जैसा कोई होगा जो अत्यन्त असमर्थ है ? एक सामान्य घरभी अकेले बनाना जिसके लिये संभव नहीं उसे जगत्कर्ता के रूप में कौन सोच सकता है॥ २२॥

नैकलानां प्रयत्नोऽस्ति मिलितानां न दृश्यते।
तस्मादपर एवासौ सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ॥ २३ ॥

हम लोगोंमें अकेले जगत्को बनानेका प्रयत्न कोई कर नहीं सकता। सब मिलकर बनावें यह तो देखनेमें नहीं आता। आगे-पीछे जनमने-मरने वाले मिलकर कैसे बनायेंगे ? अतः दूसरा ही कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत्कर्ता है ॥ २३ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति भास्करः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ २४ ॥

उसी सर्वज्ञ परमात्माके नियन्त्रणसे जगत्का नियमित संचार हो रहा है। उसीके नियन्त्रणसे अग्नि तप रही है, सूर्य प्रकाशित हो रहा है, इन्द्र (मेघ) तथा वायु स्वकार्य कर रहे हैं। पांचवी यह मृत्यु यथासमय उपस्थित होती है ॥ २४ ॥

अमरवर

न तस्य मरणं येन जन्मदोऽन्विष्यतां परः।
अमराणां वरो नापेक्षिकी ह्यमरता यतः ॥ २५ ॥

उस परमात्माका भी जन्मदाता कोई है क्या ? नहीं। क्योंकि वह मरता नहीं, अमर है। आपेक्षिक कल्पपर्यन्त स्थायित्वरूप अमरता भी नहीं, किन्तु नित्य शाश्वत अमरता है। अतएव अमरवर है ॥ २५ ॥

मन्दास्त्वां०

मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या उपद्रुताः।
संशेरते जगद्धेतौ शिवे हि पतनोन्मुखाः ॥ २६ ॥

मन्द अर्थात् जो मन्दमति या मन्दभाग्य हों अथवा मांदा—संसार-रोगरुग्ण हों वे ही जगत्कर्ता परमेश्वर शिवके विषयमें संशय करते हैं जिनका पतन निकट है ॥ २६ ॥

व्याख्यात एवं सामान्यविधया श्लोक एष तु।
विशेषेण वयं कंचिद् विचारं वर्तयामहे ॥ २७ ॥

हमने यह श्लोककी सामान्य व्याख्या की। अब कुछ विशेष विचार प्रस्तुत करते हैं ॥ २७ ॥

मीमांसकाश्च सांख्याश्च वैष्णवादय एव च।
क्रमेणात्र विचार्यन्ते त्रिविधा भेददर्शिनः ॥ २८ ॥
मीमांसकास्तु प्रथमे द्वितीये सांख्यवादिनः।
वैष्णवाद्यास्तृतीये च पादेऽत्र सुविचारिताः ॥ २९ ॥

मीमांसक, सांख्य एवं वैष्णवादिका यहाँ क्रमेण विचार है। प्रथम पादमें मीमांसक, द्वितीय पादमें सांख्य तथा तृतीय पादमें वैष्णवादिकी यहां आलोचना है ।। २८-२९ ।।

अजन्मानो०

प्रलयं नैव मन्यन्ते जरन्मीमांसकाः किल ।
अनादिसिद्धाः पृथ्व्याद्याः कर्तुः किं स्यात्प्रयोजनम् ।। ३० ।।

न च वृक्षादयोऽध्यक्षोत्पत्तिका इति सांप्रतम् ।
तत्र बीजं तत्र वृक्षः प्रवाहानादिता यतः ।। ३१ ।।

अनादिनियमादेव बीजवृक्षपरम्परा ।
संपद्यते ततो नैवाऽपेक्षितोऽस्ति नियामकः ।। ३२ ।।

पिता तत्पितुरुत्पन्नः स्वपितुः सोऽपि जायते ।
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां तथाऽनादिः परम्परा ।। ३३ ।।

ईश्वराज्जायमानत्वे न जातिनियमो भवेत् ।
बीजादुत्पत्तिनियमभङ्गो नैव च युज्यते ।। ३४ ।।

प्रथम जीर्ण मीमांसकोंका मत सुनिये। वे प्रलय नहीं मानते। उनके मतमें पृथिवी जलादि सभी अनादिकालसिद्ध हैं। अतः इन सबको बनानेवाले ईश्वर को माननेका क्या प्रयोजन? यद्यपि वृक्षलतादि उत्पन्न होते हैं यह प्रत्यक्ष है। किन्तु बीजसे वृक्ष होगा। वह बीज वृक्षसे। इस प्रकार बीजवृक्षप्रवाह अनादि है। अनादि नियम है कि अमुक बीजसे अमुक वृक्ष इत्यादि। अनादि होनेसे ही नियम बनानेवालेकी आवश्यकता नहीं है। पिता उसके पितासे, वह पितामह अपने पितासे उत्पन्न हुआ। अतएव ब्राह्मण क्षत्रियादि जातिभेदपरम्परा रही। यदि ईश्वरसे सब पैदा हुए तो कौन ब्राह्मण कौन क्षत्रिय? इसका नियामक कौन होगा? प्रथम जन्म ईश्वरसे, बादमें बीजसे यह बीजोत्पत्तिनियमका भंग है। वह उचित नहीं है ।। ३०-३४ ।।

मुखतो जायमानस्य ब्राह्मणत्वं यदीष्यते ।
बाह्वादेः क्षत्रियादित्वं नाद्यत्वे तद्विलोक्यते ।। ३५ ।।
तस्माद्विप्रसुतो विप्रः क्षत्रियः क्षत्रियोद्भवः ।
मानसाद्युद्भवोक्तेश्च प्रशस्त्यर्था तथा श्रुतिः ।। ३६ ।।
यजेत विप्र इत्यादिरप्रमाणं श्रुतिर्भवेत् ।
जातिभङ्गे प्रलयतः प्रलयस्तेन नेष्यते ।। ३७ ।।

यह नियम कहे कि ब्रह्माके मुखसे जो पैदा हुआ वह ब्राह्मण, बाहु आदिसे क्षत्रियादि । तो ठीक नहीं । क्योंकि आजकल ब्रह्माके मुखसे कोई पैदा नहीं होता । अतः ब्राह्मणपुत्र ब्राह्मण, क्षत्रियपुत्र क्षत्रिय, यही नियम मान्य होगा । दूसरी बात-पुराणादिमें वशिष्ठादिको मानसपुत्र माना । ब्रह्माका शरीर द्विधा हो गया तो मनु और शतरूपा हो गये । उनकी ब्राह्मणता क्षत्रियता असिद्ध हुई । उस गोत्रमें या परम्परामें जो जनमे वे किस जातिके होंगे ? अतः मुखसे सृष्टि आदि कथन प्रशंसार्थ है । यदि ब्राह्मणादि जातिभेद नहीं मानेंगे तो "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादि श्रुति अप्रमाण होगी । प्रलय हो तो जातिभंग होगा । अतः प्रलयको ही अमान्य करना उचित है ।। ३५-३७ ।।

नन्वीश्वरात्समुत्पत्तावपि कर्मवशादिह ।
जातिभेदो भवेन्मर्त्यपशुपक्ष्यादिभेदवत् ।। ३८ ।।
तदसत्तदसिद्धत्वाद् भङ्गश्चेन्नियमस्य तु ।
प्रलयस्यैव भङ्गोऽस्तु योऽन्तर्गडुरुपेयते ।। ३९ ।।

यदि ईश्वरवादी यह कहें कि ईश्वरसे भले सभी पैदा हो । किन्तु पूर्व-कल्पीय कर्मवशात् कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रियादि होगा । जैसे ईश्वरसे पैदा होने पर भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जाति कर्मवशात् हुई । तो यह कथन असंगत है । केवल कर्मसे जातिभेद असिद्ध है । जन्मभेदसे ही जाति-भेद होता है । जन्मभेदसे जातिभेद इस प्रत्यक्षनियमको तोड़नेकी अपेक्षा इस अप्रत्यक्ष निरर्थक प्रलयका ही भंग क्यों नहीं करते ।। ३८-३९ ।।

ननु वेदेषु निर्दिष्टा देवा हरिहरादयः ।
सत्यं तद्देवतात्वेन न त्वीशत्वेन चोदिताः ।। ४० ।।

द्रव्यत्यागसमुद्देश्या उद्दिश्य यदि देवताः ।
यागादि क्रियते चेत् तत्कर्म स्यात् फलदातृ वः ।। ४१ ।।

पूर्वपक्ष :—वेदोंमें शिव, विष्णु आदि सबका निर्देश आया है । "विष्णवे शिपिविष्टाय द्वादशकपालं निर्वपति" इत्यादि वाक्य अर्थवाद नहीं है । उत्तर :—ठीक है, किन्तु शिव, विष्णु आदिको देवताके रूपमें बताया है । ईश्वरके रूपमें नहीं । जिसको उद्देश्यकर द्रव्यत्याग (होम) किया जाता है वह देवता है । उसके उद्देश्यसे यागादि करेंगे तो कर्म सफल होगा । इसमें जगत्सृष्टिकर्ताके रूपमें ईश्वरप्रतिपादन कहां है ? ।।४०-४१।।

अत्रोच्यते सावयवाः सजन्मानो भवन्त्यमुम् ।
नियमं हंसि नियमपक्षपाती कथं स्वयम् ।। ४२ ।।

मीमांसकोंके प्रति उत्तर यह है कि आप इतने भारी नियमपक्षाती हैं तो सावयव सजन्मा होता है इस नियमको क्यों तोड़ने लगे ? ।। ४२ ।।

नियमं सापवादं चेत्त्वमप्यभ्युपगच्छसि ।
प्रलयं शास्त्रसंप्रोक्तं त्यक्तुमुत्सहसे कुतः ।। ४३ ।।

ब्राह्मणाद् ब्राह्मणोत्पत्तिः कुत एव नियम्यताम् ।
बीजादेव तरूत्पत्तिः कुतोऽयं नियमोऽपि ते ।। ४४ ।।

प्रथमा सृष्टिरीशात् स्यात् सृष्टात्सृष्टिस्ततःपरम् ।
सजातीयात् सजातीया द्वितीयादौ नियम्यते ।। ४५ ।।
दधि स्याद्दधियुक्क्षीरात्तच्च दध्यन्तराद्दधि ।
आद्यं दधि कथं जातं किमनादीष्यते दधि ।। ४६ ।।

सावयव सजन्मा होता है इस नियमका अपवाद यदि आप मानते हैं तो शास्त्रोक्त प्रलयका भी खण्डन क्यों करते हैं ? ब्राह्मणसे ही ब्राह्मणकी उत्पत्ति, बीजसे वृक्षोत्पत्ति इत्यादि नियमोंका भी अपवाद हो सकता है। प्रथम सृष्टि बिना किसी नियम ईश्वरसे हुई। आगे सजातीयसे सजातीयकी सृष्टिका नियम चला। ऐसा माननेमें क्या आपत्ति ?। दूधमें दही जामन डालते हैं तो दही बनेगा परंतु आतंचन दही उससे पूर्व आतंचन दही सहित दूधसे बना। इस नियमको यदि आप मानते हैं तो दहीको भी अनादि पदार्थ मानना पड़ेगा (किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रथम दही उपायान्तरसे बन जाता है। फिर दहीसे दही यह नियम चलता है) ।। ४३-४६ ।।

बृहदारण्यकोक्तं स द्वेधात्मानमपातयत् ।
ततः पतिश्च पत्नी च मर्त्यहेतू बभूवतुः ।। ४७ ।।
वडवैकेतरोऽश्वोऽभूदितिरीत्या महेश्वरः ।
एक एवाभवन्नाना बिभेषि प्रलयात् कुतः ।। ४८ ।।
अध्यापयत् स सर्गादौ वेदान् ब्रह्माणमीश्वरः ।
ततस्तदर्थमपि ते न भयं युज्यते सखे ।। ४९ ।।
यो ब्रह्माणं व्यधात् पूर्वं तस्मै वेदांश्च प्राहिणोत् ।
इत्येवं श्रुतिरप्याह कुतो भीः प्रलयात्तव ।। ५० ।।
स एव सकलं बीजमकरोद्भगवान शिवः ।
तस्मिन् परिसमाप्तिः स्यान्नियमानामशेषतः ।। ५१ ।।

बृहदारण्यकवचन है कि उस परमात्माने अपनेको द्वेधा किया। उससे पतिपत्नी हुए। उससे फिर मनुष्यजाति हुई। इधर एक घोड़ी, दूसरा घोड़ा हुआ। उससे अश्वजाति हुई। इसरीनि एक ही परमात्मा नाना हुए।

तब प्रलयसे क्या भय ? उसी परमात्माने सर्गादिमें ब्रह्माको वेदोपदेश दिया। अतः वेदाध्ययनपरम्परानाशभयसे भी प्रलयको न मानना बेकार है। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं" इस श्रुतिमें उक्त अर्थ स्पष्ट भी है। उसी परमेश्वरने सभी वृक्षादि बनाये कहो या सभी बीज बनाये कहो। जैसा भी हो समस्त नियम परमेश्वरमें समाप्त हैं ॥ ४७-५१ ॥

अधिष्ठातारं किं०

सांख्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते प्रलयं मन्महे वयम्।
प्रकृतिर्जगतः कर्त्री सर्वबीजात्मिका हि सा ॥ ५२ ॥
विश्वं सृजति भोगार्थमपवर्गार्थमाहरेत्।
भोगापवर्गदा सैषा सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥ ५३ ॥
अज्ञानात्संसरेज्जीवो ज्ञानाच्चैव विमुच्यते।
ईश्वरस्यात्र किंचिच्च नैव कार्यमवेक्ष्यते ॥ ५४ ॥

प्रथम पादसे मीमांसकमतापाकरण हुआ। वहाँ सांख्य खड़े हो गये। वे कहने लगे गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रलयको हम मानते हैं। जगत्का प्रादुर्भाव भी मानते हैं। किन्तु प्रकृति ही जगत्को बनायेगी (ईश्वर नहीं)। प्रकृति सर्वजगतबीजरूपिणी है। जीवोंके भोगके लिये वह विश्वसर्जन करती है। अपवर्ग (मोक्ष) जब देना है तो सृष्टि कार्यसे उपरत होती है। यही प्रकृति भोग तथा अपवर्ग देनेवाली है। यही प्रकृति जगत् सृष्टिस्थितिलय-कारिणी भी है। अज्ञानसे जीव संसारमें पड़ता है, ज्ञानसे मुक्त होता है। इस प्रक्रियामें ईश्वरका कोई काम देखनेमें नहीं आता है ॥ ५२-५४ ॥

अत्रोच्यते कथं सृष्टिरधिष्ठातारमन्तरा।
न चित्रं कर्गले क्वापि प्रकृतिः कुरुते स्वयम् ॥ ५५ ॥

सांख्यमतका उत्तर दिया "अधिष्ठातारं किं" इत्यादि मूलमें। अधिष्ठाताके बिना सृष्टि कैसे हो ? किसी कागजपर कोई चित्र स्वयं प्रकृति बना डालती हो ऐसा देखनेमें नहीं आया। आपके मतके अनुसार तो स्वभावतः रंग इधर-उधरसे उड़कर आते और कागजपर राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्तादिका चित्र बन जाता ॥ ५५ ॥

प्राग्व्याख्यातदिशा सर्वं सव्यवस्थं चराचरम्।
किमज्ञा प्रकृतिः कुर्यादावश्यक्यधियं विना ॥ ५६ ॥

हम पहले व्याख्या कर चुके हैं कि जहाँ बालक पैदा हुआ वहाँ स्तन्य तैयार है, हिमालयमें ठंठी है तो वहाँके पशु आदिके लम्बे घने बाल हैं। इस आवश्यकताके ज्ञानके बिना अज्ञ प्रकृति इस प्रकार व्यवस्थित संसारको कैसे बना सकती है ? ॥ ५६ ॥

यथायोग्यविधिज्ञः सन् व्यवस्थितिकरः प्रभुः ।
कर्ता यो नाम भवति सोऽधिष्ठाता निगद्यते ॥ ५७ ॥
एतत्सर्वं यदि भवान् प्रकृतौ मन्यते तदा ।
ईश्वरं चेतनं ब्रूषे प्रकृतिं नामभेदतः ॥ ५८ ॥
नाशब्दमीक्षतेः सृष्टिरित्येवमाह स्म सूत्रकृत् ।
भगवत्पादभाष्ये च तत्तात्पर्यं स्फुटीकृतम् ॥ ५९ ॥
पराक्रान्तं बुधैरत्र बहुधेति विरम्यते ।
अधिष्ठाता ततः सिद्धो जगतोऽस्य महेश्वरः ॥ ६० ॥

अधिष्ठाता उसी कर्ताको कहते हैं जो आवश्यकताको समझता हो, व्यवस्था करता हो और समर्थ हो । ये सारी बातें यदि प्रकृतिमें आप मानते हैं तो चेतन ईश्वरका नामान्तरमात्र प्रकृति होगा । "ईक्षतेर्नाशब्दं" इस सूत्रमें और उसके भगवत्पादीय भाष्यमें ये सभी बातें स्पष्ट की गयी हैं । विद्वानोंने इसपर पर्याप्त विचार भी किया है । अतः हम विस्तार नहीं करते । इस जगतका अधिष्ठाता महेश्वर है इतनी बात तो सिद्ध हो ही जाती है ॥ ५७-६० ॥

अनीशो वा कुर्याद्०

प्रत्यवास्थिषतान्ये चाप्यास्तिकत्वेन कीर्तिताः ।
शैववैष्णवशाक्ताद्याः परस्परविरोधिनः ॥ ६१ ॥
पुराणान्तरमग्राह्यं नेक्ष्यं शास्त्रान्तरं तथा ।
न विष्णुशिवयोरैक्यं कथंचिद् गुणभेदतः ॥ ६२ ॥
एवं परिच्छिन्नविदोऽपरिच्छिन्नेशदूरगाः ।
अनीशमेव जगतः कर्तारं जगदुर्बलात् ॥ ६३ ॥

शैव, वैष्णव, शाक्त आदि जो आस्तिक कहलानेवाले हैं, कहते हैं कि (स्वपुराणसे) अन्य पुराणोंको पढ़ना नहीं चाहिये । शास्त्रान्तर देखना नहीं चाहिये । शिव और विष्णु कभी भी एक नहीं हो सकते । वे परस्पर विरोधी बातें करते हैं । परिच्छिन्नदर्शी वे अपरच्छिन्न ईश्वरसे दूर रहते हैं । अनीश्वरको ही बलपूर्वक जगत्कर्ता मानते हैं ॥ ६१-६३ ॥

नन्वीशत्वं कथं तेषां भेदमात्रेण हीयते ।
उच्यते भेदिनां प्राहानीशत्वं शास्त्रमेव यत् ॥ ६४ ॥

शङ्का होगी—शिव, विष्णु आदिके भेदमात्रसे ईश्वरत्वकी हानि क्यों होगी ? ईश्वरत्वमें प्रयोजक सामर्थ्य है, न कि भेदाभाव । समाधान है कि शास्त्र स्वयं कहता है कि ईश्वर भेदवाला नहीं है ॥ ६४ ॥

यत्र पश्यति नैवान्यन्न चैवान्यच्छृणोति हि।
स भूमा मर्त्यमल्पं यदित्येवं श्रुतिरब्रवीत् ॥ ६५ ॥

जहाँ अन्यको नहीं देखते, अन्यको नहीं सुनते वही भूमा परमेश्वर है, जो परिच्छिन्न है वह मर्त्य-मरणशील है ऐसा श्रुतिवचन है ॥ ६५ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता इत्येवं भेददर्शिनः।
उपक्रम्याब्रवीन् कृष्णो गीतायामर्जुनं प्रति ॥ ६६ ॥
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।
इत्यादिकं ततोऽनीशा विष्ण्वाद्या भेदयोगिनः ॥ ६७ ॥

गीतामें भी "येप्यन्यदेवता भक्ता" इस प्रकार भेददर्शियोंका उपक्रमकर भगवानने कहा है वे मुझे ठीक तरहसे नहीं जानते अतः वे पतित होते हैं। इससे भेददर्शनके विषय विष्णु आदि अनीश्वर हैं यह सिद्ध होता है ॥ ६६-६७ ॥

ईशस्तु शिवमद्वैतं शान्तमित्यागमोदितः।
देवानेव भजन्त्येते वैष्णवाद्या न संशयः ॥ ६८ ॥

ईश्वर तो "शान्तं शिवमद्वैतं" इस श्रुतिमें कथित द्वैतभेदवर्जित शिव ही है। वैष्णवादि तो "देवान् देवयजः" इस गीतोक्त देवताओंका ही भजन करते हैं, ईश्वरका नहीं ॥ ६८ ॥

परिच्छिन्नस्य मर्त्यत्वात्तदुत्पादयिता नु कः।
अपरिच्छिन्न एवासावनवस्थान्यथा भवेत् ॥ ६९ ॥

परिच्छिन्नको श्रुतिने मर्त्य बताया। मृत्युग्रस्तको उत्पन्न करनेवाला कोई दूसरा मृत्युग्रस्त हो तो अनवस्था होगी। अतः अपरिच्छिन्न ही ईश्वर है ॥ ६९ ॥

नन्वीशं व्यापकं ब्रूमो विष्ण्वादिमिति चेत्तदा।
नासौ गोलोकवैकुण्ठदेशभेदनिरुद्धभूः ॥ ७० ॥
व्यापकस्य न चाकारः कल्पितादन्य इष्यते।
शिवादिश्च तथैवेति भेदवार्ता गता तव ॥ ७१ ॥

हम विष्णु आदिको व्यापक मानते हैं, परिच्छिन्न नहीं, ऐसा यदि वे कहते हैं तब इन्हें गोलोकवासी, बैकुण्ठवासी ऐसे देशविशेषस्थित नहीं कहना चाहिये। व्यापक आकाशका कोई आकार या हाथ पाँव नहीं होता। वैसे व्यापक ईश्वरका भी वास्तविक आकार नहीं होगा। कल्पित आकार होगा। तब शिव दुर्गा आदि भी व्यापक हैं, आकार कल्पित हैं तो शिव-विष्णुका भेद कहाँ रहा ? ॥ ७०-७१ ॥

व्यापकानामनेकेषां विष्ण्वादीनां प्रकल्पना ।
सर्वशास्त्रविरुद्धत्वान्मूढानामेव शोभते ॥ ७२ ॥
सर्वभूतेषु गूढोऽयमेको देव इति श्रुतेः ।
नानात्वकल्पना व्यर्था नानाकारास्तु कल्पिताः ॥ ७३ ॥

यदि कहें कि व्यापक ही अनेक देव शिवविष्णु आदि हैं तो यह सर्व शास्त्रविरुद्ध मूढ़कल्पनामात्र है। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः" ऐसी श्रुति है। नानाकार स्वेच्छया कल्पित हैं ॥ ७२-७३ ॥

अखण्डमपरिच्छिन्नं भेदत्रयविवर्जितम् ।
चैतन्यमीशः स शिवो विश्वं जनयतीश्वरः ॥ ७४ ॥

सारांश यही है कि अखण्ड अपरिच्छिन्न त्रिविध भेदवर्जित चैतन्य ही ईश है, वही शिव है, वही ईश्वर विश्वका स्रष्टा है ॥ ७४ ॥

इमान् सावयवांल्लोकान् जनयन्तं कृपानिधिम् ।
अधिष्ठातारमीशानं नमामस्तं सुनिश्चिताः ॥ ७५ ॥

इन समस्त सावयव लोकोंको उत्पन्न करनेवाले अधिष्ठाता दयामय ईश भगवानको निश्चितमति होकर हम प्रणाम करते हैं ॥ ७५ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नःस्तोत्रविवृतौ स्पन्दः षष्ठोऽयमुज्ज्वलः ॥ ७६ ॥

ॐ

सप्तमः श्लोकः

ननु नास्तिकवत् किं नु सांख्यमीमांसकादयः ।
वैष्णवाद्याश्च पतनमृच्छन्ति शुभकारिणः ॥ १ ॥

पूर्वश्लोकमें द्वितीय व्याख्याके अनुसार मीमांसक, सांख्य एवं वैष्णवादि सभी मन्दमति ही सिद्ध हुए तो नास्तिकोंके समान वे भी पतनको प्राप्त होते हैं क्या ? यह बात नहीं जँचती । क्योंकि ये सभी शुभकारी माने जाते हैं ॥ १ ॥

अत्रोच्यते न हि क्वापि वेदमार्गावलम्बिनः ।
ऋच्छन्ति पतनं किंचिदपि व्यत्यस्तबुद्धयः ॥ २ ॥

उक्त शङ्काका समाधान यह है कि कुछ कुछ मति विभ्रम होनेपर भी वेदमार्गावलम्बी कहीं पतित नहीं होते ॥ २ ॥

वेदमार्गावलम्बित्वाच्छुद्धसत्त्वाः क्रमेण ते ।
विज्ञाय परमं तत्त्वं विमुच्यन्ते विलम्बतः ॥ ३ ॥

वेदमार्गावलम्वी होनेसे धीरे धीरे वे भी शुद्धान्तःकरण बनेंगे। फिर शास्त्र और आचार्यकृपासे परमतत्त्वको भी जानेंगे। भले विलम्ब हो लेकिन अन्तमें मुक्त हो ही जायेंगे ॥ ३ ॥

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।
इत्युक्तत्वादीशयजि वैयर्थ्यासंभवादपि ॥ ४ ॥

भगवानने ही बताया कि अन्यदेवताकी उपासना करनेवाला भी अविधिपूर्वक मेरी ही पूजा करता है। तब परिच्छिन्न विष्णु आदि पूजा भी अविधिपूर्वक ईशपूजा ही हुई। ईशपूजाका वैयर्थ्य तो हो ही नहीं सकता ॥ ४ ॥

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।
इति चोक्तेः क्रमेणैषामप्युद्धारो भवेत्सताम् ॥ ५ ॥

"कल्याणकर्मकारीकी दुर्गति नहीं होती" इस वचनसे यदि वे सत् पुरुष हैं तो अवश्यमेव क्रमशः उनका उद्धार होगा ॥ ५ ॥

तदेतद्दर्शयन्नेव पुष्पदन्तो महामुनिः ।
अशेषशास्त्रतात्पर्यमपि सूचयतीश्वरे ॥ ६ ॥

इस बातको दिखाते हुए महामुनि पुष्पदन्त समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य भी ईश्वरमें सूचित करते हैं ॥ ६ ॥

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ ७ ॥

मीमांसा, सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रस्थानों (दर्शनों) मेंसे कोई कहता है यह मत ठीक है, दूसरा कहता है यह मत हितकारी है इस प्रकार रुचिवैचित्र्य होनेसे सीधे टेढे नाना मार्गसे चलनेवाले लोगोंके लिये चाहे वह इनमें कोई भी हो, एकही गन्तव्य स्थान आप हैं, जैसे सीधे टेढे चलनेवाले नदीनालोंके लिये गन्तव्यस्थान एक ही समुद्र है ॥ ७ ॥

त्रयी

त्रयीति वेदत्रय्युक्ता मीमांसाऽतश्च गम्यते।
द्विविधा सा च मीमांसा कर्मब्रह्मार्थभेदतः ॥ ७ ॥

त्रयीका तीन वेद अर्थ है। उससे मीमांसा गम्यमान है। मीमांसा दो है। कर्ममीमांसा ओर ब्रह्ममीमांसा ॥ ७ ॥

द्विधा च कर्ममीमांसा सेश्वरा च निरीश्वरा।
उभयोरत्र मतयोः संग्रहो मुनिना कृतः ॥ ८ ॥

कर्ममीमांसा भी सेश्वर तथा निरीश्वर भेदसे दो प्रकारकी है। दोनों मतोंका यहां संग्रह है ॥ ८ ॥

फलदानप्रतिभुवं ये बुद्ध्वा कर्मणीश्वरम्।
कुर्वन्ति वैदिकं कर्म सेश्वरास्ते प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥
ईशकारुण्यमासाद्य कदाचिल्लब्धदेशिकाः।
तत्त्वं विज्ञाय गच्छन्ति शैवं ते परमं पदम् ॥ १० ॥

सेश्वर मीमांसक वे हैं जो परमेश्वरको कर्मफलदाता समझकर वैदिक कर्म करते हैं। कदाचित् भगवत्कृपासे वे सद्गुरु पाकर तत्त्वज्ञ बनते हैं और शैव परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ९-१० ॥

यत्करोषीत्यादिवचसामष्टकादिस्मृतेरिव।
प्रामाण्यमुररीकृत्य कुर्युः कर्मार्पणं तु ये ॥ ११ ॥
ते शुद्धमानसाः सन्तः क्रमाज्ज्ञानमवाप्य च।
गच्छन्ति शिवमद्वैतं पन्था तेषामृजुर्भवेत् ॥ १२ ॥
अयमेव यतः पन्था वेदान्तेषु निरूपितः।
यज्ञैर्विविदिषन्तीति पेठुर्वाजसनेयिनः ॥ १३ ॥

अष्टकादि स्मृतिके समान "यत्करोषि यदश्नासि" आदि स्मृतिका प्रामाण्य स्वीकारकर जो कर्मोंको भगवदर्पण करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है, क्रमेण ज्ञान प्राप्त होता है और अन्तमें शैव परम पदको वे प्राप्त होते हैं। यह ऋजुमार्ग ही है। क्योंकि वेदान्तमें यही मार्ग बताया है। "विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इत्यादि श्रुति है ॥ ११-१३ ॥

तस्मात्कुटिलमार्गस्थाः सकामा एव कर्मिणः।
कादाचित्कगुरुप्राप्त्या येषामुद्धारसंभवः ॥ १४ ॥

इसलिये सकाम कर्मी ही कुटिल मार्गगामी है। कदाचित् सदगुरु प्राप्ति से उनका उद्धार हो सकता है। जैसे कि पहले दरसाया ॥ १४ ॥

निरीश्वरापि मीमांसा देवतास्तित्ववादिनी ।
किं च सत्कर्मतात्पर्यान्नैवैषा पतनोन्मुखी ॥ १५ ॥

कुसीदाय गतः कश्चित् काशीं भागीरथीजलम् ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा परं पुण्यं प्राप्नोत्येव तथात्र च ॥ १६ ॥

निरीश्वर मीमांसामें भी देवताका अस्तित्व माना ही गया है। मन्त्रात्मक ही देवता इस पक्षमें आखिर सत्कर्म करनेमें तात्पर्य होनेसे वह पतनाभिमुख तो नहीं ही है। जैसे कोई उधार दिये धनका ब्याज लेनेके लिये ही काशी गया था। फिर भी उसने गंगाका दर्शन और स्पर्श कर लिया। उसका पुण्य उसको मिलेगा ही। वैसे स्वर्गार्थ कर्म करते हुए भी वेदोच्चारण स्मरणादि पुण्य यहां भी होगा ही ॥ १५-१६ ॥

नन्वीश्वरं विधुवतः पापमेव भवेदतः ।
कथमुद्धारशङ्कापि विधातुं शक्यते किल ॥ १७ ॥

सत्यं परं वेदपुण्यं महदेवाभ्युपेयते ।
तस्मान्मीमांसकानामस्त्युद्धारसुषिरं स्फुटम् ॥ १८ ॥
ईश्वराऽमानिनोऽप्येवाधीयीरन् स्वर्गकाम्यया ।
वेदानित्येव तात्पर्यं तत्प्रवर्तनकारिणाम् ॥ १९ ॥

पूर्वपक्ष :—ईश्वरका जो खण्डन करते हैं उन महापापियोंकी उद्धार-शंका ही कहाँ हो सकती है? उत्तर:—वेदाध्ययनपुण्य भारी माना गया है। अतः वह मीमांसकोंके उद्धारका सुषिर है। निरीश्वर मीमांसा मत प्रवर्तक आचार्योंका इतना ही अभिप्राय है कि ईश्वरको न माननेवाले भी कमसे कम स्वर्गेच्छासे वेद तो पढें ॥ १७-१९ ॥

नन्वनादौ हि संसारे धर्माधर्मप्रवृत्तितः ।
जन्ममृत्युसुखादीनां प्राप्तिः सकलसम्मता ॥ २० ॥

वेदाधीतिकृतो धर्मः संसारस्यैव कारणम् ।
अनधीतश्रुतिं कंचिज्जीवात्मानं न मन्महे ॥ २१ ॥

सप्तान्नसर्गे विस्पष्टं जगदुत्पत्तिकारणम् ।
कर्मोपास्ती विनिर्दिष्टे ततश्चैतत्समर्थनम् ॥ २२ ॥

कपूययोनिगमनं स्वर्गान्ते कर्मिणामपि ।
श्रूयते तेन सामान्यं वेदाध्ययनमीयते ॥ २३ ॥

संसारे वा तदुद्धारे न काचित्पक्षपातिता ।
त्रय्यास्ततः कथं तस्या एको गम्यो महेश्वरः ॥ २४ ॥

पूर्वपक्ष :—अनादि संसारमें धर्म एवं अधर्मकी प्रवृत्तिसे ही जन्म, सुख, दुःखादिकी प्राप्ति होती है यह सर्वसम्मत है। तब वेदाध्ययनपूर्वक जो धर्म किया वह संसारका ही कारण सिद्ध हुआ। केवल अधर्मसे नरक-पतन भले हो पर यह प्रत्यक्षसंसार तो धर्माधर्मजन्य ही है। अतएव अनादिकालसे सर्वथा वेदाध्ययनसे शून्य कोई जीवात्मा ही नहीं है यही हम मानते हैं (क्योंकि नरक जानेके लिये भी मनुष्यजन्मकृत पाप चाहिये। और मनुष्यजन्म पुण्यपाप उभयसे होगा।) वृहदारण्यकमें सप्तान्नसर्गप्रकरणमें कर्म और उपासनाको ही संसारकारण बताया भी है। कर्मसे स्वर्ग जानेवालोंमें पतनोत्तर कपूययोनि (सूकरश्वानादि योनि) को प्राप्त होनेवाले भी बहुत हैं, ऐसा श्रुतिमें कहा है। अत एव वेदोंकी संसार या संसारोद्धार दोनोंमें सामान्यगति है। तब त्रयीका एक ही गम्य परमेश्वर है यह बात कैसे ?॥ २०-२४ ॥

सत्यं न कारको वेदो ज्ञापकस्तूपगम्यते।
धर्मादीन् कुर्वतः स्वोक्तान् संसृतौ स्वं न दोषयुक्॥ २५ ॥
स्वोक्तानधर्मांस्त्यजतो धर्मांश्चाचरतः सतः।
स्वपुण्येन शिवप्राप्तिरिति तस्य सदाशयः॥ २६ ॥

उत्तर—बात सत्य है। किन्तु यह स्मरण रहे कि वेद कारक नहीं, ज्ञापक है। वेदमें धर्म और अधर्म बताया। किसीने दोनोंको किया और उससे संसार पाया तो वेदका क्या अपराध ? वेदोंका यही सदाशय है कि अपनेमें दरसाये अधर्मको छोड़कर लोग धर्माचरण करें। कर्म सकाम होने पर भी वेदाध्ययनपुण्य पृथक् है ही। उससे शिवप्राप्ति होगी॥ २५-२६ ॥

द्वितीया ब्रह्ममीमांसा भगवद्व्यासदर्शिता।
ऋजुमार्गः स संप्रोक्तो वेदान्तार्थविचारणा॥ २७ ॥
श्रवणं मननं चैव निदिध्यासनमेव च।
विचाराख्यानि कुर्वद्भिर्गम्यते परमं पदम्॥ २८ ॥

त्रयीपदके अर्थ दो मीमांसाओं में द्वितीय ब्रह्म मीमांसा है। भगवान वेदव्यासजीने उसे बनाया। वेदान्तार्थ विचाररूप वह मीमांसा ऋजुमार्ग है ऐसा विद्वान मानते हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन, जिनको विचार भी कहते हैं—करने वाले परमपद को प्राप्त होते हैं॥ २७-२८ ॥

ब्रह्मैव परमं सत्यं विज्ञानानन्दलक्षणम्।
दृश्यं जडं परिच्छिन्नं न जगत् पारमार्थिकम्॥ २९ ॥

घटादिषु सती मृत्स्ना सद् ब्रह्मैव जगत्यपि ।
शिवं शान्तं तदद्वैतमिति वेदन्तडिण्डिमः ।। ३० ।।

ब्रह्म ही परम सत्य है, वह विज्ञान एवं आनन्दरूप है। यह दृश्यमान, परिच्छिन्न, जड़ जगत् पारमार्थिक नहीं है। घटादिमें यथार्थतः मिट्टीकी ही सत्ता है, वैसे जगत्में भी ब्रह्म की सत्ता ही है। वही शान्त अद्वैत शिव है ऐसा वेदान्त का उद्घोष है ।। २९-३० ।।

न जीवपरयोर्भेदः स्वतो ह्यौपाधिकस्तु सः ।
अनुपाधि परं ब्रह्म जीवेशौ मायया कृतौ ।। ३१ ।।
मायाव्यष्टिसमष्टिभ्यां स्यातां प्राज्ञेश्वरौ हि तौ ।
सूक्ष्मव्यष्टिसमष्टिभ्यां तैजसः सूत्रमेव च ।। ३२ ।।
स्थूलव्यष्टिसमष्टिभ्यां विश्ववैश्वानरौ मतौ ।
मायामिथ्यात्वतः कार्यं स्थूलसूक्ष्मादिकं तथा ।। ३३ ।।
तद्बाधे जगतो बाधादेकमेवावशिष्यते ।
तत्रैवाखिलवेदान्ततात्पर्यं नानृते क्वचित् ।। ३४ ।।
तत्त्वमस्यादिभिर्वाक्यैर्भाग त्यागपुरःसरम् ।
श्रुत्वा मत्वा निदिध्यास्य परं ब्रह्माधिगच्छति ।। ३५ ।।

जीवात्मा और परमात्माका औपाधिक भेद है, वास्तविक नहीं। निरुपाधि चित् ब्रह्म है। माया से जीव और ईश्वर हुए। मायाकी व्यष्टिसे प्राज्ञ और समष्टिसे ईश्वर हुए। सूक्ष्म जगत्की व्यष्टिसे तैजस, समष्टिसे हिरण्यगर्भ हुए। स्थूल जगत्की व्यष्टिसे विश्व और समष्टिसे विराट् हुए। मायाके ही सूक्ष्म और स्थूल कार्य हैं। याया मिथ्या होनेसे वे भी मिथ्या हैं। मायाके वाधसे जगत्का बाध हुआ तो एक अद्वितीय ही अवशिष्ट रहेगा। उसीमें समस्त वेदांतोंका तात्पर्य है, मिथ्या जगत्में नहीं। तत्त्वमसि आदि वाक्यसे भागत्यागकर श्रवणमनननिदिध्यासन करनेपर परब्रह्मरूपेण स्थितिरूप शिवप्राप्ति होती है ।। ३१-३५ ।।

निर्गुणोपासना या तु वेदान्तेषु निरूपिता।
सापि त्रयीपदार्थः स्यान्नर्जुर्न कुटिलापि सा ।। ३६ ।।
नानापदमतः प्रोक्तं मध्यमार्गरुरुत्सया ।
पुष्पदन्तेन मुनिना तारताम्यादनेकधा ।। ३७ ।।

निर्गुणोपासना भी त्रयीपदका अर्थ है। उपनिषदोंमें उसका प्रतिपादन है। वह ऋजु भी नहीं बहुत कुटिल भी नहीं। मध्यमार्ग है। उसके संग्रहार्थ ही मूलश्लोकमें नानापद है। थोड़ा सीधा ज्यादा कुटिल, थोड़ा

कुटिल ज्यादा सीधा इस प्रकार मध्यमार्गमें तारतम्य है। अतः मध्य न कहकर नाना कहा ॥ ३६-३७ ॥

जगन्मिथ्यात्वबोधेन विनैव परमं शिवम् ।
ध्यायतस्त्रिपुटीभावा निर्गुणोपासना मता ॥ ३८ ॥
संप्रबाध्य जगत्सर्वं ध्यातृध्याने विहाय च ।
ध्यायतोऽद्वैतभावं तु निदिध्यासनमिष्यते ॥ ३९ ।

निर्गुणोपासना और निदिध्यासनमें फरक यह है कि उपासनामें जगत्-बाध नहीं होता, त्रिपुटीभाव रहता है। निदिध्यासन जगत्बाधपूर्वक होता है, ध्याता और ध्यानके विना ध्येयमात्रविषयक होता है ॥ ३८-३९ ॥

संवादिभ्रमवद् ब्रह्मोपास्त्या कालविलम्बतः ।
विज्ञाय तत्त्वं पुरुषः प्राप्नोति परमं शिवम् ॥ ४० ॥
विचारे त्वपनीयैव प्रतिबन्धान् महामतिः ।
साक्षादेवर्जुमार्गेण प्राप्नोति परमं शिवम् ॥ ४१ ॥

उपासना संवादिभ्रमके समान है, भ्रमसे प्रमापर पहुँचकर कालविलम्वसे उपासक परमशिवको प्राप्त होगा। विचारमें तो प्रतिवन्धोंको हटाते हुए साक्षात् ऋजुमार्गसे परमशिवको प्राप्त होगा ॥ ४०-४१ ॥

सांख्यं

अथ सांख्यं द्विधा तच्च सेश्वरं च निरीश्वरम् ।
श्रीमद्भगवताद्युक्तं सेश्वरं कापिलं मतम् । ४२ ॥
निरीश्वरं पुनर्व्यक्ताऽव्यक्तप्रज्ञविवेकतः ।
प्रकृत्या क्रियते मोक्ष इत्यासुरिमुखोदितम् ॥ ४३ ॥

अव सांख्यमत सुनिये। सांख्यमत भी मीमांसाके समान सेश्वर तथा निरीश्वर दो प्रकारका है। श्रीमद्भागतमें देवहूतिको कपिलने जो तत्त्वोपदेश किया वह सेश्वर सांख्य मत है। कपिल भगवानके शिष्य आसुरि नामके मुनि हुए। उन्होंने निरीश्वर सांख्य प्रवर्तित किया। उनका कहना है कि व्यक्त, अव्यक्त प्रकृति और प्रज्ञ पुरुषका विवेक ज्ञान कराकर प्रकृति ही मोक्ष दिला देती है ४२-४३ ॥

प्रकृतिर्यात्वविकृतिस्तदव्यक्तमितीरितम् ।
महदाद्यास्तु प्रकृतिविकृत्युभयरूपिणः ॥ ४४ ॥
महत्तत्त्वमहंकारस्तन्मात्राः पञ्च सप्त ते ।
षोडश स्युर्विकृतयो न ताः प्रकृतयो मताः ॥ ४५ ॥

एकादशेन्द्रियाणां स्यादहंकारात्समुद्भवः ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनाघ्राणाः ज्ञानेन्द्रियाण्यमी ॥
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः स्युः कर्मेन्द्रियाण्यमी ॥ ४६ ॥
मनश्चैकादशं प्रोक्तमथ तन्मात्रसंभवम् ।
पृथ्व्यप्तेजोमरुद्व्योमसंज्ञकं भूतपञ्चकम् ॥ ४७ ॥
एतत्षोडशसंख्याकं प्रागुक्तं सप्तकं तथा ।
व्यक्तमित्युच्यते शास्त्रे पञ्चविंशस्तु पूरुषः ॥ ४८ ॥
नायं स्यात्प्रकृतिर्नो वा विकृतिश्चेतनः पुमान् ।
असङ्गोऽप्यविवेकेन बद्धः संसारबन्धने ॥ ४९ ॥
विकृतिं प्रकृतिं चैव विविच्यासौ निजं यथा ।
जानात्यसङ्गं तर्ह्येव मुक्तो भवति संसृतेः ॥ ५० ॥
सांख्यशास्त्रपराभ्यासवैराग्याभ्यामयं खलु ।
स्वरूपस्य विवेकाच्च तत्त्वं पश्यन् विमुच्यते ॥ ५१ ॥

व्यक्त-अव्यक्त-प्रज्ञका विवेक उन्हींकी गणना आदिरूप सांख्य विचारसे होगा। प्रथम तत्त्व प्रकृति है, वह मूल है अर्थात् विकाररूप नहीं है, वही अव्यक्त है। वादमें सात प्रकृतिविकृति उभयरूप हैं। महत्तत्व, अहंकार, शव्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्रा ये सात हैं। इसके बादमें होने वाले सोलह केवल विकृति हैं। किसीकी प्रकृति नहीं। अहंकारसे उत्पन्न ग्यारह इन्द्रियां और पंचतन्मात्रासे उत्पन्न पंञ्चमहाभूत ये सोलह हैं। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, ये पांच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्; पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवां मन मिलानेपर एकादश इन्द्रिय होते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच भूत हैं। ये सोलह विकृति और पूर्वोक्त सात प्रकृविविकृति ऐसे तेईस व्यक्त पदार्थ हैं। प्रज्ञ पुरुष प्रकृतिविकृति दोनों नहीं। वह चेतन असंग है। अविवेकसे संसारबंधनमें वध गया है। विकृति (व्यक्त) और प्रकृति (अव्यक्त) से पृथक कर अपने को जव वह असंग देखता है तभी मुक्त होता है। एतदर्थं सांख्यतत्त्वका परम अभ्यास और वैराग्य दोनों चाहिये। तब स्वरूपविवेकसे तत्त्वदर्शन कर मुक्त होगा ॥ ४४-५१ ॥

ननु सेश्वरसांख्यानां प्रभुभक्तिरुदीरिता ।
ईशकारुण्यतस्तेषां शिवप्राप्तिश्च पूर्ववत् ॥ ५२ ॥
निरीश्वराणां नैवेशकृपासंभावना भवेत्
न तेषां वेदपुण्यं च तेषां गम्यः कथं शिवः ॥ ५३ ॥

सत्यं वैराग्यमात्मानुचिन्तनं चेति यद्द्वयम् ।
पुण्यमेव परं तेन तेषामीशकृपा भवेत् ॥ ५४ ॥
क्षणिकं सकलं विश्वं व्यक्तमेतन्निरीक्ष्य ते ।
लभन्ते धनदारादिवैराग्यं सांख्यकोविदाः ॥ ५५ ॥
असङ्गमकलं शुद्धमात्मानं चिन्तयन्ति यत्
भोक्तृत्वेन विपर्यस्य परमात्मानमेव तत् ॥ ५६ ॥
किं च तेऽप्यास्तिकत्वेन निजाम्नायानधीयते ।
वेदपुण्येन राहित्यमतस्तेषां न युज्यते ॥ ५७ ॥
असङ्गचेतनात्मा च परमात्मसमीपगः ।
ततः कुटिलपद्धत्या तेषां गम्यो महेश्वरः ॥ ५८ ॥

पूर्वपक्ष :—सेश्वर सांख्योंका सेश्वर मीमांसकके समान ईश्वरकृपासे शिवप्राप्ति हो सकती है। किन्तु निरीश्वर सांख्योंको शिवप्राप्ति कैसे ? निरीश्वर मोमांसक तो वेदमीमांसासे वेदपुण्य प्राप्त करेगा। किन्तु निरीश्वर सांख्य तो प्रकृतिपुरुषमीमांसा करता रहता है। उसको वेदपुण्य भी कहांसे होगा ? उत्तर :—यह कथन यथार्थ है। परंतु सांख्योंमें वैराग्य और अत्मचिन्तन ये दो पुण्य हैं ही, उससे भी ईश्वरकृपा हो जायेगी। व्यक्त जगत्‌को क्षणिक देखते-देखते धनदारादिसे वैराग्य होता है। और असंग अकल शुद्ध आत्माका जो चिन्तन है वह भी आखिर परमात्मचिन्तन ही है। केवल भोक्तृत्व की उन्हें भ्रान्ति है। फिर सांख्य भी तो आस्तिक हैं अर्थात् वेदप्रामाण्य मानते हैं। अतः अपनी शाखाका अध्ययन जारी रखेंगे, तो वेदपुण्य होगा नहीं ऐसा कैसे कह सकते हैं ? यह असंग चेतन आत्मा परमात्मा के नजदीक पहुँच भी जायेगा अतः कुटिलमार्गसे उनको भी शिव प्राप्य है ॥ ५२-५८ ॥

— योग :—

योगः पातञ्जलः सोऽयं सेशसांख्यसमः स्मृतः ।
क्लेशाद्यसंस्पृक्पुरुषविशेषं वदतीश्वरम् ॥ ५९ ॥
ईश्वरप्रणिधानेन लब्धपुण्यः समाहितः ।
तत्त्वं द्रुतमभिज्ञाय योगी याति शिवं परम् ॥ ६० ॥
यमस्तथैव नियम आसनं प्राणसंयमः ।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं च ससमाधिकम् ॥ ६१ ॥
अष्टावङ्गान्यनुष्ठाय समाधिं निर्विकल्पकम् ।
प्रविश्य वासनायुक्तः प्रायः शुद्धमवेक्षते ॥ ६२ ॥

धर्ममेघसमाधिस्थः स्फुरद्वेदान्तवाक्यतः ।
विज्ञाय तत्त्वं मुच्येत ऋजुप्रायपथस्त्वयम् ॥ ६३ ॥

महर्षि पतञ्जलि प्रोक्त योग प्रायः सेश्वर सांख्य मतके बराबर ही है। क्लेशकर्मविपाकआशयोंसे असंस्पृष्ट पुरुषविशेषको ही योगने ईश्वर बताया है। ईश्वर प्रणिधानसे पुण्य सम्पादन कर समाधिस्थ होता हुआ योगी तत्त्वको शीघ्र जानकर परशिवको प्राप्त होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सविकल्पक समाधिरूपी आठ योगाङ्गोंका अनुष्ठानकर योगी निर्विकल्पक समाधिमें प्रवेश करता है। किञ्चित वासनायुक्त होनेसे वहाँ प्रायः शुद्ध महेश्वरको ही देखता है। धर्ममेघ समाधि लगनेपर उसके महापुण्यसे उसको वेदान्तवाक्योंकी स्फुरणा हो जाती है (स्वतः या गुरुसे)। उससे परमतत्त्वदर्शन कर वह मुक्त होता है। यह मार्ग प्रायः ऋजु है। प्रायः इसलिये कहते हैं कि जगत्सत्यत्व वासना होनेसे वाक्यसे उसके बाधनमें विलम्ब होता है। अतएव निर्विकल्पक समाधिमें त्रिपुटीरहित शुद्ध चैतन्यदर्शन होनेपर वह प्रायः शुद्ध ही है। क्योंकि जगत्सत्यत्ववासनासे उपहित है॥ ५९-६३ ॥

पशुपतिमतं

मतं पाशुपतं नाम पदार्थास्तत्र खल्विमे ।
कार्यं च कारणं योगो विधिर्दुःखान्त एव च ॥ ६४ ॥
जडजीवौ भवेत्कार्यं कारणं तु महेश्वरः ।
जीवस्येश्वरसंयोगो योगो भक्त्यादयो विधिः ॥ ६५ ॥
अज्ञानाऽधर्मशक्तीनां नाशो दुःखान्त ईरितः ।
तदा पशुत्वहानिश्च शिवाद्वैतस्थितिस्तथा ॥ ६६ ॥

पशुपतिमतमें कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त ये पाँच पदार्थ हैं। जड जगत् और जीव कार्य हैं। कारण शिव है। जीवेश्वरसंयोग ही योग है। भक्ति आदि विधि है। अज्ञान, अधर्म और आसक्ति इनका नाश दुःखान्त है। तव पशुत्वहानि और शिवाद्वैत होता है॥ ६४-६६ ॥

पाशवन्तो हि पशवः पाशः पञ्चविधो भवेत् ।
मलं कर्म च माया च रोधशक्तिः सबिन्दुका ॥ ६७ ॥

पशुका पाशबद्ध अर्थ है। मल, कर्म, माया, रोधशक्ति औरबिन्दु ये पाँच पाश हैं॥ ६७ ॥

मलमावरणं प्रोक्तं कर्म धर्मादिलक्षणम् ।
शक्तिः कलादिकृन्माया द्वे त्वन्ते शिवगे मते ॥ ६८ ॥

रोधशक्तिस्तिरोधानं बिन्दुर्विद्येश्वरादिकः ।
ऊर्ध्वगे पातभयतो बिन्द्वन्तः पाश ईरितः ॥ ६९ ॥

उनमें ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्तिका आवरण ही मल है, धर्म अधर्म ये दो कर्म हैं। कला आदि की कर्त्री शक्ति माया है। अन्तिम दो शिवगत हैं। तिरोधान रोधशक्ति है। विद्येश्वर आदि विन्दु हैं। वे ऊपर गये हुए हैं। अतएव पतनभय होने से पाशरूप हैं ॥ ६८-६९ ॥

पाता पशूनां कर्मादिफलदाता महेश्वरः ।
स्वतन्त्रः परमानन्दचितिः पशुपतिः स्मृतः ॥ ७० ॥

पशुओंका (जीवोंका) रक्षक पति कर्मफलदाता स्वतन्त्र परमानन्द चैतन्यरूप महेश्वर ही पशुपति है ॥७०॥

विद्यां क्रियां च योगं च चर्यां चेति चतुष्टयीम् ।
आश्रितान् पाति जीवान् स ततः पशुपतिर्मतः ॥ ७१ ॥

विद्या मन्त्रादिविज्ञानं शिवसाक्षात्कृतिस्तथा ।
साङ्गपूजादिकविधिः क्रिया विद्याप्रयोजिका ॥ ७२ ॥

प्राणायामादयो योगाः क्रियासिद्धिप्रयोजकाः ।
चर्या विधिनिषेधानुवृत्तिः पूर्वत्रयोपकृत् ॥ ७३ ॥

एतैश्च साधनैयु क्तो मिथ्याज्ञानादिकं क्रमात् ।
तीर्त्वा पाशांश्च संछिद्य शिवत्वं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

विद्या , क्रिया, योग और चर्या इन चारों को अपनाने वाले जीवपशु की रक्षा करने से पशुपति है । इनमें मंत्रादिज्ञान और शिवसाक्षात्कार दोनों विद्या हैं। विद्याका हेतु साङ्गपूजाविधि क्रिया है। उस क्रिया की सिद्धिमें हेतु प्राणायामादि योग है। विद्या, क्रिया, योग इन तीनोंकी उपकारिणी विधिनिषेधानुवर्तिता (विहितकरण और निषिद्धत्याग) चर्या है। इन साधनोंसे युक्त पुरुष मिथ्याज्ञानादिको क्रमेण पारकर, पाशोंको भी छेदकर शिवभावको प्राप्त होता है ॥ ७१-७४ ॥

भेददर्शनयुक्तत्वादिदं पाशुपतं मतम् ।
न मोक्षसाधनं साक्षादृजुनैषा स्मृतिस्ततः ॥ ७५ ॥

नात्यन्तकुटिलाप्यन्ते शिवैक्यप्रतिपादनात् ।
ततो निर्गुणविद्येव मध्यमार्गात्मकं भवेत् ॥ ७६ ॥

शिवदीक्षां गृहीत्वा च पञ्चाक्षरपरायणः ।
शिवकारुण्यमाप्नोतीत्येतद्वैशेष्यमत्र तु ॥ ७७ ॥

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुभावना।
दानक्षपणसंयोगाद्दीक्षेति विनिगद्यते ॥ ७८ ॥

इस पाशुपतमतमें भी भेददर्शन रहता है अतः यह साक्षात् मोक्षसाधन नहीं है। अतएव ऋजुमार्ग नहीं है। और अत्यन्त कुटिल भी नहीं है। क्योंकि अन्तमें शिवैक्यका प्रतिपादन किया है। अतः निर्गुणोपासनाके समान मध्यम मार्ग है। निर्गुणोपासनासे इसमें विशेषता यह है कि शिवदीक्षा लेकर पञ्चाक्षर जप करते रहने से शिवकृपा प्राप्त होती है। 'दी' माने ज्ञान दिया जाना। और 'क्षा' माने पशुभावका क्षयकरना इन दोनोंके योगसे दीक्षा शब्द बना है ॥ ७५-७८ ॥

वैष्णवम्

भगवद्विष्णुभक्तानां मतं वैष्णवमुच्यते।
तच्च नानाविधं लोके नानासिद्धान्तहेतुतः ॥ ७९ ॥
विशिष्टाद्वैतिनः केचिद् द्वैताद्वैतपराः परे।
शुद्धाद्वैतपराश्चान्ये तथान्ये द्वैतवादिनः ॥ ८० ॥

भगवान विष्णुके भक्तोंका मत वैष्णव कहलाता है। सिद्धान्तभेदसे वह नानाविध है। कोई विशिष्टाद्वैत मानता है, कोई द्वैताद्वैत। कोई शुद्धाद्वैत मानता है और कोई द्वैत ही मानता है ॥ ७९-८० ॥

शिवविद्वेषिणः प्रायः सांप्रतं वैष्णवा भुवि।
नैवोद्धारः कथमपि तेषां संभाविता क्वचित् ॥ ८१ ॥
तथापि शिवभक्तो हि महाविष्णुः कृपानिधिः।
समुद्धर्तुं प्रयतते स्वानभीष्टानपीदृशान् ॥ ८२ ॥
बहुजन्मोत्तरं तेऽपि भगवद्विष्णुयत्नतः।
शिवद्वेषं परित्यज्य गच्छेयुः परमं पदम् ॥ ८३ ॥

आजकल अधिकतर वैष्णव शिवद्वेषी होते हैं। उनका कैसे भी उद्धार संभावनीय नहीं है। तथापि उनके उपास्य महान् विष्णु स्वयं शिवभक्त हैं और दयालु भी हैं। वे अपने अनभीष्ट भी ऐसे शिवद्वेषियोंको गलेपादुकान्यायसे अपनाकर उद्धार करनेका प्रयत्न करते हैं। भगवान विष्णुके अथाह प्रयत्नके परिणाम हजारों जन्मोंके बाद वे कथंचित् शिवद्वेष छोडकर परमपद शायद प्राप्त कर लें ऐसी संभावनासे भी इनकार नहीं जा सकता ॥ ८१-८३ ॥

अशिवद्वेषिणो ये तु वैष्णवाः शेमुषीजुषः।
सत्त्वशुद्धिक्रमेणैते शिवं परममाप्नुयुः ॥ ८४ ॥

जो शिवद्वेषी नहीं हैं ऐसे कुछ समझदार वैष्णव हैं। वे अन्तःकरण शुद्धि क्रमसे अन्तमें परमशिवपद प्राप्त करते हैं ॥ ८४ ॥

संक्षेपाद्दर्शयामोऽत्र यत्किंचिद्वैष्णवं मतम्।
बोधायनादिभिः प्रोक्तं भगवद्भक्तिसिद्धये ॥ ८५ ॥
वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः ॥ ८६ ॥
अन्तर्यामिश्रुतेर्जीवप्रपञ्चौ तत्कलेवरम्।
स चार्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिभेदभाक् ॥ ८७ ॥
अर्चावतारः सर्वार्थं प्रतिमादिः कृपानिधेः।
रामादयस्तु विभवावतारा ध्यानयोगिनाम् ॥ ८८ ॥
संकर्षणो वासुदेवात्प्रद्युम्नोऽतोऽनिरुद्धकः।
व्यूहश्चतुर्विधः पूजामण्डले तस्य सिद्धिदाः ॥ ८९ ॥
संपूर्णषड्गुणं सूक्ष्ममुपास्यं ब्रह्म तद्धृदि।
ततोऽधिकारी भवति ह्यन्तर्यामिणमीक्षितुम् ॥ ९० ॥
तस्य पञ्चविधोपास्तिस्तत्राभिगमनं तथा।
उपादानं तथैवेज्या स्वाध्यायो योग एव च ॥ ९१ ॥
संमार्जनोपलेपादिः पूजा संभारसंभृतिः।
देवपूजाजपादिश्च श्रीशध्यानं च ताः क्रमात् ॥ ९२ ॥
एतैरुपासिते विष्णौ सत्त्वशुद्धिर्भवेन्नृणाम्।
ज्ञानं तत्कृपया लब्ध्वा ते गच्छन्ति शिवं परम् ॥ ९३ ॥

संक्षेपसे कुछ वैष्णवसिद्धान्त हम दिखाते हैं जिसे बोधायनादि ऋषियोंने भक्तिसिध्यर्थं बताया। कल्याणगुणगणसम्पन्न परंब्रह्म वासुदेव भुवनों के उपादान तथा कर्ता एवं जीवनियामक हैं। अन्तर्यामी श्रुतिके अनुसार जीव और जगत वासुदेवका शरीर हैं। वह अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामीरूपसे पञ्चधा स्थित है। अज्ञानीको भी सिद्धि देनेवाला अर्चावतार है। ध्यानादिनिमित्त रामकृष्णादि विभवावतार है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं जिनकी मण्डलमें पूजा होती है। षड्गुणसंपन्न हृदयमें उपास्य ब्रह्म सूक्ष्म है। ध्यान पूजा आदि करने से अन्तर्यामिदर्शनयोग्यता होती है। मन्दिरमार्जनादि अभिगमन, पूजासमग्री संपादनरूपी उपादान, देवपूजादिरूपी इज्या, जपादिरूप

स्वाध्याय, हरिध्यानरूपी योग ये पांच उपासनाप्रकार हैं। इनसे उपासित वासुदेव अन्तःकरणशुद्धि होनेपर ज्ञान प्रदान करते हैं। और वे मनुष्य क्रमशः परमशिवपदको प्राप्त होते हैं ॥ ८५-९३ ॥

मोक्षस्तूपास्तिकर्मभ्यां देवदर्शनतो भवेत्।
इति बोधायनाद्युक्तः पन्था तावत् प्रदर्शितः ॥ ९४ ॥
अन्ये तु प्रेमभक्त्यैव भगवत्प्राप्तिरिष्यते।
भक्त्या त्वनन्यया लभ्य इत्यादिस्मृतिदर्शनात् ॥ ९५ ॥
साध्या भक्तिरियं प्रोक्ता परमप्रेमलक्षणा।
साधनं नवधाभक्तिर्बहुधा क्वचिदीरिता ॥ ९६ ॥

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ ९७ ॥

महत्सेवादिकं चान्ये योजयित्वा मनीषिणः।
तामेकादशधा प्राहुर्न्यूनाधिकतयापि च ॥ ९८ ॥

पाञ्चरात्रादितन्त्रेषु पूजाविधिरुदीरितः।
द्वैताद्वैतादिकं तत्र दर्शनेषु विभिद्यते ॥ ९९ ॥

बोधायनादि मतानुसार उपासनादिसहित कर्म से देवदर्शन होनेपर मोक्ष माना गया है। दूसरे लोग प्रेमलक्षणा भक्तिसे भगवत्प्राप्ति मानते हैं। "भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः" इसी गीतावचनसे उसका समर्थन होता है। प्रेमभक्ति साध्यभक्ति है। साधन नवधा भक्ति है। प्रकारान्तर भी है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन. अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन यह नवधा भक्ति है। महापुरुषसेवादिको जोड़कर कोई एकादशधा भक्ति कहते हैं। न्यून और अधिकरूपसे साधनभक्ति तत्रतत्र प्रदिपादित हुई है। पाञ्चरात्रागमादिमें जो पूजाविधि आदि बतायी उसमें विशेष मतभेद नहीं है। द्वैताद्वैतादि दर्शनभेद अवश्य है ॥ ९४-९९ ॥

इति

इतिशब्दः प्रकारार्थे तेनान्येषां च संग्रहः।
वैशेषिकाश्च शाक्ताश्च गाणपत्यादयस्तथा ॥ १०० ॥

द्रव्यादितत्त्वविज्ञानान्मोक्षं वैशेषिका जगुः।
श्रीविद्योपासनादिभ्यो मोक्षं शाक्ताः प्रचक्षिरे ॥ १०१ ॥

गाणपत्यादयश्चैवं चित्तशुद्धिकरं क्वचित्।
क्वचिद्विवेकादिकरं शिवं प्रापयति क्रमात् ॥ १०२ ॥

वैष्णवमिति यहां इति शब्द प्रकारार्थमें है। इस प्रकारके अन्य मत-वैशेषिक, शाक्त, गाणपत्यादि भी ग्राह्य हैं। द्रव्यगुणकर्मादितत्त्वज्ञानसे वैशेषिक मोक्ष मानते हैं। श्रीविद्योपासना प्रभृतिसे शाक्त मोक्ष मानते हैं। ऐसे ही गाणपत्यादि मत भी हैं। ये सब कहीं चित्तशुद्धिमें और कहीं विवेकादिमें उपयोगी हैं और विवेकादि क्रमसे अन्तमें शिवपदको प्राप्त कराते हैं ।।१००-१०२ ।।

अत्राचार्यवराः श्रीमन्मधुसूदनयोगिनः ।
अष्टादश त्रयीविद्याप्रस्थानानीति संजगुः ।। १०३ ।।
वेदा ऋगाद्याश्चत्वारः षडङ्गैर्ज्योतिषान्तिमैः ।
शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्द आह्वयैः ।। १०४ ।।
पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रैरुपाङ्गकैः ।
गन्धर्वायुर्धनुर्वेदार्थशास्त्रैः सहितास्तथा ।। १०५ ।।

मीमांसायां हि वेदान्तो न्याये वैशेषिकं तथा ।
सांख्यं योगः पाशुपतं वैष्णवं भारतं तथा ।। १०६ ।।

रामायणादिकं धर्मशास्त्रेष्वन्तर्भवन्ति हि ।
प्रस्थानभेदबोधार्थं सांख्यादीह पृथग् जगौ ।। १०७ ।।

इस श्लोककी व्याख्यामें आचार्यप्रवर मधुसुदन सरस्वतीने त्रयीपदसे तदन्तर्गत अठारह विद्याप्रस्थानोंकी विवक्षा होनेसे यहां परि-गणनामें न्यूनता नहीं है, ऐसा बताया है। चार वेद, छः अंग, चार उपांग और चार उपवेद मिलाकर अठारह विद्याप्रस्थान होते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चार वेद हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त' छन्द और ज्योतिष ये छः अंग हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये चार उपांग हैं। आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, धनुर्वेद, अर्थशास्त्र ये चार उपवेद हैं। मीमांसामें ही वेदान्तका अन्तर्भाव है। न्यायमें वैशेषिक और धर्म-शास्त्र में सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव, महाभारत, रामायणादि अन्तर्भूत होते हैं। ऐसी स्थितिमें मूलमें त्रयीसे गतार्थ होनेसे सांख्ययोगादि पृथक् क्यों कहा यह प्रश्न होगा। उत्तर है—उनके उपादानसे ही तो प्रस्थान-भेदका बोध होता है ।। १०३-१०७ ।।

अत्रेदं चिन्त्यते नास्ति सकलास्तिकसंमते ।
शिक्षाकल्पादिके काचित्पथ्यापथ्यविचारणा ।। १०८ ।।
विवादास्पदमेवातः पथ्यापथ्यविकल्पितम् ।
अभिधित्सितमत्रास्ति पुष्पदन्तेन योगिना ।। १०९ ।।

तस्माद्वेदत्रयोक्तार्थः कर्म वा ब्रह्म वा स्फुटम् ।
शिक्षाकल्पादिभिर्ज्ञातुं पर्याप्तुमपि शक्यते ।। ११० ।।
इत्यतस्ते विनिर्दिष्टा बालव्युत्पत्तिहेतवे ।
तदुक्तं तर्हि बालानां व्युत्पत्तय इति स्वयम् ।। १११ ।।
मीमांसद्वयमेवातस्त्रयी शब्दविवक्षितम् ।
शाक्तादिकं त्वितिपदसंग्राह्यमिति युज्यते ।। ११२ ।।

मधुसूदनी टीकापर कुछ विचार करना आवश्यक हो गया है। वेद एवं शिक्षाकल्पादिको सर्व आस्तिकोंने ऐकमत्येन माना है। वहां पथ्य-अपथ्य विचार है नहीं। तब "परमिदमदः पथ्यमिति च" यह पङ्क्ति कैसे लगेगी ? अतः श्लोकमें विवादास्पद मतविशेष ही जो पथ्य अपथ्यसे विकल्पित हैं, पुष्पदन्त योगीके विवक्षित हैं। अतः त्रयीपदका मीमांसाद्वय ही अर्थ है। (वह भी कर्म ज्ञानका उपकारी है मानकर। अन्यथा कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी दोनोंमें भी मतभेद है। कर्मकाण्डी कर्मसे मोक्ष मानता है, श्रेष्ठ मानता है। ज्ञानकाण्डी सकाम कर्मको अपथ्य कहकर ज्ञानसे ही मोक्ष मानता है) सांख्ययोगादिमे पथ्यापथ्यविवाद तो लोकप्रसिद्ध ही है। विवादास्पद शाक्त एवं नैयायिकादिमतको मूलगत इतिपदसे संगृहीत करना चाहिये, यह हम पहले ही वता आये हैं। तब आचार्य मधुसूदन सरस्वतीका प्रस्थानभेदवर्णनके प्रयासका तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए कि त्रयी पदार्थ कर्म या ब्रह्म सम्यक् तभी जाने जा सकते हैं और कर्मविशेषानुष्ठान तभी संभव हैं जब शिक्षाकल्पादि प्रस्थानोंका भी अध्ययन हो। अर्थात् एक प्रकारसे त्रयीपदार्थोपापादनोपयोगी होनेसे बालकोंकी व्युत्पत्तिके लिये भेदप्रदर्शन है। स्वयं मधुसूदन सरस्वतीने भी बीचमें 'बालव्युत्पत्त्यर्थ मैं वर्णन करता हूँ' ऐसा बताया है ।। १०८-११२ ।।

प्रभिन्ने प्रस्थाने

प्रस्थीयते यदेतेन परमार्थपरायणैः ।
प्रस्थानं मार्ग इत्येतत् प्रभिन्नः शास्त्रलक्षणः ।। ११३ ।।
शास्त्रभेदश्च शास्त्रार्थभेदादेव भवेदतः ।
बुधैः शास्त्रोदितार्थोऽपि प्रस्थानमिति कथ्यते ।। ११४ ।।

परमार्थपरायण पुरुष लक्ष्यकी ओर जिससे प्रस्थान करते हैं वही प्रस्थान है। अर्थात् शास्त्ररूपी परामर्थमार्ग ही प्रस्थान शब्दका अर्थ है। शास्त्रभेद प्रतिपाद्य अर्थ के भेद से माना जाता है। अतएव शास्त्रोक्त अर्थ भी प्रस्थान ही कहा जाता है।। ११३-११४ ।।

फलैक्येऽप्येव विषयभेदात्प्रस्थानभेदिता ।
प्रस्थानयोर्न्यायवैशेषिकयोर्हि यथा भिदा ।। ११५ ।।
विषयैक्येऽपि तन्मार्गभेदात्प्रस्थानभेदिता ।
प्रस्थानभेदो भामत्या यथा विवरणस्य च ।। ११६ ।।

फल एक होनेपर भी विषयभेदसे प्रस्थान भिन्न होता है। जैसे न्याय और वैशेषिकमें दुःखध्वंसरूप मोक्षफल सम होनेपर भी प्रतिपाद्य-विषयभेदसे प्रस्थानभेद हुआ। विषय एक होनेपर भी मार्ग भिन्न होनेपर प्रस्थानभेद होता है। जैसे ब्रह्मात्मैक्य विषय एक होनेपर भी भामतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान पृथक् है ।। ११५-११६ ।।

परमिदमदः पथ्यम्

मेनिरे मार्गमेवैके गन्तव्यस्थानमात्मनः ।
दीर्घयात्रारता बाष्पयानादि गृहवद्यथा ।। ११७ ।।
विश्रामस्थानभूतां ये धर्मशालां स्वमन्दिरम् ।
मन्वीरंस्तर्हि ते मन्दाः कथं स्वगृहमाप्नुयुः ।। ११८ ।।
ब्रह्मलोकोऽपि मार्गो वा विश्रामस्थानमेव वा ।
अनन्तरं च गन्तव्यं परमं पदमुच्यते ।। ११९ ।।
ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ।। १२० ।।
ब्रह्मलोकप्रभेदा हि वैकुण्ठाद्या उदीरिताः ।
वर्तन्ते सर्व एवैते सौवर्णे मेरुपर्वते ।। १२१ ।।
अन्ये तु ब्रह्मलोकं हि वैकुण्ठं वैष्णवा जगुः ।
कैलासं शैवमार्गाश्चेत्येवं संप्रतिपेदिरे ।। १२२ ।।
सर्वथा मार्ग एवायं वैकुण्ठादिकमिष्यते ।
गम्यस्थानं परं जज्ञुः सम्यङ् नो वैष्णवादयः ।। १२३ ।।
ततः स्वं स्वं मतं धृत्वा प्राहुस्ते मन्मतं परम् ।
मन्मतं पथ्यमित्येवं वादिनो भेददर्शिनः ।। १२४ ।।

केवल मार्गभेद है तो पथ्यापथ्य विवाद क्यों है ? सो सुनिये। बहुतसे लोग मार्गको ही गन्तव्यस्थान समझ बैठे हैं। जैसे गाड़ीमें मासयात्रादि हो तो धीरे-धीरे गाड़ीको ही घर समझने लगते हैं और विश्रामस्थान धर्मशालाको ही घर मानने लग जाते हैं, तो ऐसे मन्दमति अपना घर कैसे पहुँचेंगे ? ब्रह्मलोक भी मार्ग या विश्रामस्थानमात्र है। गन्तव्यस्थान तो परमपद ही है। अतएव कल्पान्तमें ब्रह्माके साथ परमपदमें प्रवेश करते

हैं। ऐसा शास्त्रवाक्य है। वैकुण्ठ, कैलास ये सभी ब्रह्मलोकके ही भेद हैं। ये सब सुवर्णमय सुमेरुपर्वतपर स्थित हैं ऐसा कुछलोग मानते हैं। दूसरोंका कहना है कि पञ्चाग्न्युपासकादि उसीको ब्रह्मलको समझते हैं तथा वैष्णव विष्णुलोक एवं शैव कैलासलोक समझते हैं। लोक एक ही है, भावभेदमात्र है। सर्वथा ये वैकुण्ठादि मार्ग ही हैं। गम्यस्थान परशिव-पदको ये वैष्णव शैवादि बराबर नहीं समझते। अतः अपना-अपना मत लेकर मेरा मत श्रेष्ठ है, मेरा मत वास्तविक है, इत्यादि झगड़ा करते हैं। क्योंकि वस्तुतः ये सभी भेददर्शी जो ठहरे ॥ ११७-१२४ ॥

भिन्नत्वाच्च परिच्छिन्ना उपास्यास्ता हि देवताः ।
अनीश्वरास्ताश्च नैव भुवनोद्भावनक्षमाः ॥ १२५ ॥
अनीशो वा कथं कुर्यादित्येवमत एव च ।
भेदवादिमतोपास्य देवताऽस्रष्टृतोदिता ॥ १२६ ॥

ये सब प्रभिन्न प्रस्थान हैं। विष्णु आदि भी भिन्न-भिन्न सबके उपास्य हैं। अतएव परिच्छिन्न होनेसे वे अनीश्वर हैं, भुवनसृष्टिमें अक्षम हैं। इसीलिये पूर्वश्लोकमें द्वैतवादी आस्तिकमतोंको लेकर ही "अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने" इत्यादिसे इन सबकी स्रष्टृताका प्रतिक्षेप किया ॥ १२५-१२६ ॥

अनादर्शममर्यादं कृष्णं रामानुयायिनः ।
अल्पशक्तमसम्पूर्णमाहू रामं च कार्ष्णयः ॥ १२७ ॥
भेददर्शिन एवं ये तदुपास्याः स्वकल्पिताः ।
अल्पाः कथं भवन्तीशा अनीशा एव ते ततः ॥ १२८ ॥

रामभक्त कहते हैं—श्रीकृष्ण आदर्शरहित हैं, मर्यादारहित हैं। कृष्णभक्त कहते हैं—राम अल्पशक्तिमान है, अपरिपूर्ण है। इन भेददर्शियोंके उपास्य उन्हींके कल्पित परिच्छिन्न देवता हैं। वे कैसे ईश हो सकते हैं। अतएव वे अनीश ही हैं। ॥ १२७-१२८ ॥

रुचीनां

ननु तत्तत्पुराणेषु तथा वर्णनदर्शनात् ।
कथमेतन्मतं सर्वमल्पमित्यभिधीयते ॥ १२९ ॥
अन्ये त्वंशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इत्यादिकं हि वचनं तत्र तत्र विलोक्यते ॥ १३० ॥

शंका :—भिन्न-भिन्न पुराणोंमें व्यासजीने वैसा वर्णन किया है। अतः इनके मतोंको आप अल्प कैसे कहते हैं? उदाहरणार्थ भागवतमें

कहा–रामादि अंशकला है, कृष्ण पूर्णभगवान है। (ऐसे ही शिव, विष्णु आदिके विषयमें भी कथन है।) ॥ १२९-१३० ॥

उच्यते रुचिवैचित्र्यात्तथा व्यासेन वर्णितम् ।
यतो भिन्नरुचिर्ह्येष लोक इत्येतदीक्ष्यते ॥ १३१ ॥
मर्यादारुचयो रामं वात्सल्यरुचयोऽम्बिकाम् ।
लीलाभिरुचयः कृष्णं समाधिरुचयो हरम् ॥ १३२ ॥
भजन्तु भक्त्या सिद्ध्यर्थं तेषां क्वाप्यन्यनिन्दनम् ।
न निन्दा निन्दितुं किन्तु विधेयं स्तोतुमुच्यते ॥ १३३ ॥

समाधान :—लोगोंकी रुचि भिन्न होनेसे व्यासजीने वैसा वर्णन किया। लोग भिन्न रुचि वाले होते हैं। मर्यादा रुचिवाले रामका, वात्सल्य रुचिवाले अम्वाका, लीलारुचिवाले कृष्णका, समाधिरुचिवाले शंकरका भक्तिसे भजन करें। उनकी सिद्धिके लिये कहीं अन्यकी निन्दा है। वह निन्दार्थ नहीं, किन्तु विधेय स्तुत्यर्थ है ॥ १३१-१३३ ॥

कला - विज्ञान - गणित प्रभृता हि यथारुचि ।
प्रवर्तमानाः साफल्यं लभन्ते तद्वदत्र च ॥ १३४ ॥

जैसे छात्र अपनी रुचिके अनुसार कला, विज्ञान, गणित आदि विषय लेते हैं तो सफल होते हैं। वही बात यहां भी है ॥ १३४ ॥

विधाय भेदं द्वेषं च शिष्यवित्तापहारकाः ।
गुरुब्रुवा जडाघयो जगन्मोहाय युञ्जते ॥ १३५ ॥
अष्टादशपुराणानि निर्ममौ बादरायणः ।
प्रामाणिकानिसर्वाणि किंचिन्नानर्थकं भवेत् ॥ १३६ ॥

परस्पर भेद डालकर द्वेष करानेवाले शिष्यवित्तापहारक गुरुपदवीधारी विषयपरायण लोग ही जगतको मोहमें डालते हैं। भगवान बादरायणने जो अठारह तुराण बनाये सभी प्रामाणिक हैं। उनमेंसे कोई-कोई पुराण अप्रमाण है ऐसा कहना धृष्टतामात्र है ॥ १३५-१३६ ॥

यथा तथापि वा विष्णुशिवादीनामुपासनम् ।
पन्थैवाजामिलस्येव पुत्रनारायणाह्वयः ॥ १३७ ॥

जैसे तैसे विष्णु शिवादिकी उपासना भी मार्ग ही है। जैसे अजामिलका स्वपुत्र नारायण को बुलाना भी उपासना हुआ ॥ १३७ ॥

भेदद्वेषादिजात् पापान्मा स्म भूवन्निमेऽधियः ।
दविष्ठा भगवद्भावादित्यतस्तन्निरस्यते ॥ १३८ ॥

भेद एवं द्वेषादिसे भगद्भावसे अत्यन्त दूर न हो एतदर्थ इस भेदभावादिका हम निरास कर रहे हैं ॥ १३८ ॥

ऋजु०

ऋजवः केऽपि पन्थानः पन्थानः कुटिलाः परे ।
नानापथजुषो लोका यथारुचि यथामति ॥ १३९ ॥

कोई मार्ग सीधा है। कोई ठेढ़ा है। अपनी समझ एवं रुचिके अनुसार लोग नानामार्गसेवी होते हैं ॥ १३९ ॥

शृण्वन्ति मन्वते नित्यं ध्यायन्त्यपि परं शिवम् ।
नित्यं विज्ञानमानन्दमृजुमार्गरतास्तु ते ॥ १४० ॥

नित्य विज्ञान आनन्दस्वरूप परम शिवका श्रवण, मनन, निदिध्यासन जो करते हैं वे ऋजुमार्गगामी हैं ॥ १४० ॥

सतो विविदिषार्थं ये निष्कामं कर्म कुर्वते ।
देवानुपासते वापि ते चर्जु पथगामिनः ॥ १४१ ॥

"विविदिषन्ति यज्ञेन" के अनुसार जो निष्काम कर्म करते हैं और विविदिषार्थ ही देवोपासना करते हैं वे भी ऋजुमार्गगामी हैं ॥ १४१ ॥

रामकृष्णशिवाम्बादिरूपमाश्रित्य भेदतः ।
मताग्रहा भजन्ते ये कुटिलाध्वायनाश्च ते ॥ १४२ ॥
न्यायसांख्यादिसिद्धान्तमाश्रित्यैव भजन्ति ये ।
नित्यमेव भवन्त्येते कुटिलाध्वपरायणाः ॥ १४३ ॥

राम, कृष्ण, शिव, अम्बा आदिका आश्रयणकर भेदबुद्धिसे मताग्रह रखकर जो भजन करते हैं वे कुटिलपथगामी हैं। वे ही मताग्रहादि छोड़ें तो पूर्वोक्तरीत्या ऋजुमार्गी होंगे। न्याय, सांख्य आदि सिद्धान्तको आश्रयणकर जो भजन करते हैं वे तो नित्य कुटिलमार्गगामी हैं। अर्थात् कुछ छोड़नेपर वे भी ऋजुगामी हों ऐसी बात नहीं ॥ १४२-१४३ ॥

ननु चर्जुं परित्यज्य कुतः कुटिलमाश्रयेत् ।
श्रवणादिपरः कस्माद् सर्व ईशस्य नेति चेत् ॥ १४४ ॥
उन्नते पर्वतारोहे कुटिला रोचते सृतिः ।
पातित्यशङ्का भवति ऋजूर्ध्वगमने सति ॥ १४५ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ १४६ ॥

सकामं प्रथमं कृत्वा कर्म सद्वासनः पुमान् ।
निष्कामभावमासाद्य प्राप्नुयात् परमं पदम् ॥ १४७ ॥

शङ्का :—सीधा मार्ग छोड़कर लोग टेढ़े मार्गमें जाते क्यों हैं ? सभी श्रवणमननादि क्यों नहीं करते ? उत्तर—पर्वतपर चढ़नेवाले टेढ़े मार्गको ही पसन्द करते हैं। सीधे चढ़ेंगे तो आदमी गिर भी सकते हैं। अतएव गीतामें निर्गुणमार्गको अधिक क्लेशकारी बताया। भोगवासना भरी है तो पहले सकाम ही कर्म करो। उससे भी सद्वासना होगी। पश्चात् निष्काम-भाव प्राप्त कर क्रमशः परमपद पा सकेंगे ॥ १४४-१४७ ॥

नृणाम्

सर्वेषां च नृणामेको गम्योऽन्ते परमः शिवः ।
अनीशोपासनाप्येव क्रमात्तद्वाहनी भवेत् ॥ १४८ ॥
ग्रामाधिपत्यं प्रथमं कामितं प्राप्य मानवः ।
विरज्यति ततोऽतुष्टो राज्यं कामयते भृशम् ॥ १४९ ॥
तत्प्राप्यापि ततोऽतुष्टश्चक्रवर्तित्वमीप्सति ।
परिच्छिन्ने नरः क्वापि संतुष्यति न वस्तुनि ॥ १५० ॥
वैकुण्ठादिकमप्येवं प्राप्य मर्त्यो न तुष्यति ।
अपरिच्छिन्नसंप्रेप्सा सर्वेषामन्ततो भवेत् ॥ १५१ ॥
तत्रेशकृपया पुण्यबलाद्वा प्रागुदीरितात् ।
जायते ब्रह्मजिज्ञासा गच्छन्त्यन्ते परं शिवम् ॥ १५२ ॥

सभी त्रयी आदिके अनुगामी मनुष्योंका अन्तमें गन्तव्य एक परमेश्वर ही है। अनीश की उपासना भी वहाँ ले जानेवाली है। कैसे ले जायेगी यह देखो—साधारण मनुष्य ग्रामपति जमींदार बनना चाहता है। पर ग्राम मिलनेपर उसमें सन्तोष नहीं होता। उसे राज्यकी इच्छा होती है, ग्रामसे विरक्ति होती है। राज्य मिलनेपर चक्रवर्तित्वकी इच्छा होती है। परि-च्छिन्नमें कभी भी मनुष्यको सन्तोष नहीं होता, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। वैसे वैकुण्ठादि मिलनेपर भी सन्तोष नहीं होगा। वहाँ भी ऊँच-नीच भाव है। अपरिच्छिन्नकी ही अन्ततः इच्छा होगी। विशेषता यही कि आस्तिकोंपर भगवत्कृपा हो जाती है या उनका पुण्य प्रबल होता है तो अपरिच्छिन्न-प्राप्तिहेतु ब्रह्मजिज्ञासा हो जाती है। उससे फिर अन्तमें परमशिवपदप्राप्ति होती है ॥ १४८-१५२ ॥

पयसामर्णव इव

गङ्गा वा यमुना वापि ब्रह्मपुत्राऽथवा परा।
पारम्पर्येण साक्षाद्वा व्रजत्येव महार्णवम् ॥ १५३ ॥

चाहे गङ्गा हो, चाहे यमुना, चाहे ब्रह्मपुत्रा हो या और कोई हो परम्परया या साक्षात् सागरमें ही पहुँच जाती है। गङ्गा सीधी सागरमें जाती है। यमुना गङ्गामें मिलकर। ब्रह्मपुत्रा सारे हिमालयकी परिक्रमाकर ॥ १५३ ॥

गर्ते पतित्वा यदि वा शुष्येत्तोयं कदाचन।
पुनर्बाष्पः पुनस्तोयं भूत्वान्ते याति सागरम् ॥ १५४ ॥

कदाचित् पानी गड्ढेमें पड़ा और सूख गया तो भी भाप बनकर, फिर पानी बनकर अन्तमें सागर पहुँच ही जायेगा ॥ १५४ ॥

सांख्यवैष्णवशैवाद्यैस्त्रयीमार्गपरैरपि ।
पारम्पर्येण साक्षाद्वा गम्यं वन्दे महेश्वरम् ॥ १५५ ॥

पयसामर्णव इव गतिर्देव त्वमेव मे।
पाहि मां परमेशान सन्ततं ते नमो नमः ॥ १५६ ॥

सांख्य, वैष्णव एवं शैवादिके तथा वेदवेदान्तमार्गसे चलनेवालोंके परम्परया या साक्षात् गन्तव्य महेश्वरकी मैं वन्दना करता हूँ। हे भगवन्, पानीके लिये परमगति-आधार समुद्र है। वैसे मेरी गति आप ही हैं। मेरी रक्षा करो। सदा मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥ १५५-१५६ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ गतः स्पन्दस्तु सप्तमः ॥ ७ ॥



ॐ

अष्टमः श्लोकः

ईशस्तुतिः प्रतिज्ञाता सोपपत्ति सहेतुकम् ।
वाणीं पुनामीत्यन्तेन प्रोक्तेशस्तुत्यतापि च ॥ १ ॥

तीन श्लोकोंमें प्रथम ईशस्तुतिप्रारम्भप्रतिज्ञाकी तथा युक्ति और फल सहित इसकी स्तुत्यता भी दिखाई ॥ १ ॥

व्याक्रोश्यस्तुत्यताख्याना प्रोक्ता जडधियां ततः ।
कुतर्कमात्ररूपत्वं व्याक्रोश्याः प्राब्रवीत्ततः ॥ २ ॥

स्तुत्यता समर्थन विरोधी अस्तुत्यता विषयक व्याक्रोशीको चतुर्थ श्लोकमें बताया। और वह व्याक्रोशी कुतर्कमात्र है यह पञ्चम श्लोकमें दरसाया ॥ २ ॥

सुतर्कं दर्शयामास षष्ठेन च महामुनिः ।
सर्वशास्त्रैकगम्यत्वात्सर्वस्तुत्यत्वमप्यतः ॥ ३ ॥

उस कुतर्कके विपरीत सुतर्क षष्ठ श्लोकमें बताया। वल्कि सर्वशास्त्रमतैकगम्य होनेसे सर्वस्तुत्य है यह सप्तममें अर्थात् त्रयी सांख्यं इत्यादि पूर्व श्लोकमें बताया ॥ ३ ॥

अर्वाचीनपदं स्तोतुमधुनारभते मुनिः ।
महोक्षाद्युपकारत्वमर्वाचीनपदस्य हि ॥ ४ ॥

अब अर्वाचीन पदकी स्तुतिका आरम्भ करते हैं। क्योंकि महोक्षादि उपकार अर्वाचीन पदका ही है, निर्गुणका नहीं ॥ ४ ॥

अत्रेदं शङ्क्यते स्तुत्याः सप्तश्लोक्या समर्थनम् ।
कृतं तदेव च श्लोके नवमेऽपि विलोक्यते ॥ ५ ॥
तदेष स्तवनारम्भो विहितः कथमष्टमे ।
नवमं प्राक् पठित्वैष युज्यते पठितुं ततः ॥ ६ ॥

यहांपर शंका होती है कि सात श्लोकोंमें स्तुतिका समर्थन किया और वही नवम श्लोकमें भी है। बीचमें अष्टम श्लोकमें एकाएक स्तुतिका अरम्भ कैसे कर दिया ? नवम श्लोक "ध्रुवं कश्चित्" इत्यादि पहले पढ़कर वादमें "महोक्षः खट्वाङ्गं" इत्यादि पढ़ना उचित था ॥ ५-६ ॥

अत्र केचिद्, द्विधा रूपं महेशस्य प्रदर्शितम् ।
परापरविभागेन व्याख्यातं च तथा स्फुटम् ॥ ७ ॥
तत्रोभयविधस्तोत्रौचित्यं तु प्राङ्निरूपितम् ।
अर्वाचीनं पुरस्कृत्य तदौचित्यमथोच्यते ॥ ८ ॥
ध्रुवाध्रुवविचारोऽयमर्वाचीने प्रवर्तते ।
वाचामगम्ये तेषां हि विकल्पानामसंभवात् ॥ ९ ॥
यद्यप्यपररूपे स्याद् ध्रुवाध्रुवविचारणा ।
तथापि पररूपं प्राक् मुख्यत्वेन निरूपितम् ॥ १० ॥

यहां यह उत्तर है कि पहले महेश्वरके तीन रूप सूचित हुए । पर अपर और अर्वाचीन । उनमें पर और अपर रूपकी व्याख्या पहले की गयी । (१) वाङ्मनसागम्य पररूप (२) जगदुदयरक्षाप्रलयकारी गुणभिन्नतनु व्यस्त शिव, सदाशिवादि अपररूप (३) कैलासवासी पार्वतीपति अर्वाचीनरूप अभी व्याख्यातव्य है) इनमें परापररूप स्तुतिका औचित्य पहले सिद्ध किया । अव अष्टमसे अर्वाचीन पद उपस्थित कर उसकी स्तुतिका औचित्य नवममें वताने जा रहे हैं । क्योंकि ध्रुवाध्रुवादि जगत् सम्बन्ध अर्वाचीन पदसे है । वाङ्मनसातीत परतत्त्वसे नहीं है । यद्यपि अपररूप ध्रुवाध्रुव विकल्पवाले जगत्के स्रष्टृत्वादिको लेकर ही है । तथापि पूर्वग्रन्थमें मुख्य तो पररूप प्रतिपादन ही है ॥ ७–१० ॥

यत्त्वत्र निर्गुणं रूपं प्राग्ग्रन्थेन निरूपितम् ।
प्रस्तूयतेऽधुना रूपं सगुणं यत्स्तवोऽग्रतः ॥ ११ ॥
स्तुतिप्रकारकथनं नवमेन विधास्यते ।
दशमादौ स्तुतिरिति किंचित्तत्र तु चिन्त्यते ॥ १२ ॥

कुछ मनीषियोंका कहना है कि पूर्वग्रन्थमें निर्गुणरूपका वर्णन किया गया, अब सगुणरूपको प्रस्तुत करते हैं, जिसकी आगे स्तुति करेंगे । नवम श्लोकसे स्तुति प्रकार कथन है । दशमादिमें स्तुति है । इस व्याख्याका थोड़ा विमर्श करना उचित है ॥ ११–१२ ॥

मधुवागादिनिर्माता गुणभिन्नतनुस्थितः ।
अधिष्ठाता भवविध्नैर्निर्गुणस्तु कथं भवेत् ॥ १३ ॥
अतद्व्यावृत्तिनिर्देश्यमनुमेयं कथं तथा ।
अर्थान्तरन्यासयुतस्तुतिरत्र स्फुटापि च ॥ १४ ॥
महोक्षादियुतस्यैव स्तुतिर्नाग्रे करिष्यते ।
ततः स्तवार्थं सगुणप्रस्तावः कथसाञ्जसः ॥ १५ ॥

"मधुस्फीता वाचः" इस श्लोकमें मधुवाङ्निर्माताके रूपमें, "व्यस्तं तितृषु गुणभिन्नासु तनुषु"में गुणभिन्नशरीरस्थितके रूपमें, "अधिष्ठातारं किं" इत्यादिसे संसारनिर्माणाधिष्ठाताके रूपमें जिसका वर्णन पूर्वमें आया वह निर्गुण कैसे होगा ? "अतद्व्यावृत्या यं" इत्यादिसे जिसको श्रुति भी अन्यव्यावृत्तिद्वारा निर्देश्य वताया वही "अजन्मानो लोकाः" इत्यादिरूपेण अनुमेय कैसे बन गया ? आगे दसवें श्लोकसे महोक्ष खट्वाङ्गादि धारीकी स्तुति है यह भी युक्त नहीं है। "तवैश्वर्यं यत्नात्" में ही ज्योतिर्लिंगादि स्वरूप वर्णन है। अतः अग्रिम स्तुत्यनुरूप सगुणरूपका यह उपस्थापन है यह बात कैसे संगत होगी ? आगे जैसे अर्थान्तरन्यासके साथ स्तुति है वैसे इस श्लोकमें भी है। अतः यह स्तुत्यरूपका प्रस्ताव नहीं किन्तु स्तुति ही है ॥ १३-१५ ॥

अग्निहोत्रं जुहोतीति यवागूं पचतीति च।
श्रुतेऽर्थक्रमद् व्याख्या कार्या व्यत्यस्य वा बुधैः ॥ १६ ॥

अथवा "अग्निहोत्रं जुहोति", "यवागूं पचति" (अग्निहोत्र करते हैं, लपसी राँधते हैं) इस वैदिकस्थलमें पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान् होनेसे यवागूपाक पहले और अग्निहोत्र होम बादमें होता है, वैसे यहाँ भी अर्थक्रम बलवान् होनेसे प्रथम नवम श्लोक व्याख्या समझो और बादमें अष्टम श्लोक व्याख्या ॥ १६ ॥

वस्तुतस्तु कथं स्तुत्यमर्वाचीनं पदं हरः।
इन्द्रादिवद्भावनीयो यज्ञाद्यैर्देवतात्मकः ॥ १७ ॥
न च तत्त्वं परं हीदं सोपाधीत्यपि सांप्रतम्।
तत्किमिन्द्रादयो नैव परतत्त्वमुपाधिमत् ॥ १८ ॥
समानत्वाच्च विष्णवाद्यैः शङ्करे कस्तवाग्रहः।
इत्येवमुत्थितां शङ्कां मुनिरत्र परास्यति ॥ १९ ॥

वस्तुतः इस श्लोकका उत्थान बीज यह है कि अर्वाचीनपद शङ्कर स्तुत्य किस प्रकार ? शङ्कर भी इन्द्रादिके समान एक देवता है। यज्ञादिसे शङ्करकी भी भावना करना उचित है। यह कहें कि शङ्कर उपाधिविशिष्ट परतत्त्व परब्रह्म ही है, अतः स्तुत्य है, तो क्या इन्द्रादि देवता उपाधिविशिष्ट ब्रह्मरूप नहीं है ? कुछ आगे भी बढ़ें तो भी शङ्कर तो विष्णु आदिके समान हैं ही। तब शङ्करमें आपका विशेष आग्रह क्यों है ? इस प्रकार उत्पन्न शङ्काका यहाँ पुष्पदन्तमुनि निराकरण करते हैं ॥ १७-१९ ॥

तथा हीन्द्रादयो बद्धा भावनीयाश्च कर्मभिः ।
परस्परं भावयन्त इति गीतासु चोदितम् ॥ २० ॥
अविद्यासंयुताः सर्वे भवन्तीन्द्रादयः सुराः ।
मायोपाधिर्हरस्त्वेष नाविद्याबन्धसंयुतः ॥ २१ ॥
आत्मारामो ह्ययं तुच्छतन्त्रोपकरणेङ्गितः ।
आत्मारामास्तु संस्तुत्याः नराः किमुत शङ्करः ॥ २२ ॥
विष्ण्वादिभ्यश्च वैशेष्यमात्मारामत्वहेतुना ।
विद्यते खण्डपरशौ पक्षपातौचिती ततः ॥ २३ ॥
अल्पज्ञोऽप्यल्पशक्तिश्चैवात्मारामोऽपि मानवः ।
अविद्यालेशतो नैव शङ्करस्तु सुर्रद्धिदः ॥ २४ ॥
अर्वाचीनपदस्यापि स्तुत्यत्वमत एव हि ।
तदेतदाह श्लोकेन तत्स्तुत्यत्वसमर्थिना ॥ २५ ॥

इसी बातको स्पष्ट करते हैं---इन्द्रादि देवता तो बन्धनवाले हैं। वे यज्ञादि कर्मोंसे भावनीय हैं। "परस्परं भावयन्तः" इत्यादि शब्दोंमें गीतामें भी उसका प्रतिपादन है। अतएव इन्द्रादि सभी अविद्यायुक्त हैं। (अन्यथा इन्द्रादिको मनुष्यकृत भावनाकी अपेक्षा क्यों है?) भगवान् शङ्कर मायोपाधिक हैं, अविद्याबन्धन शङ्करमें नहीं है, तथा आत्माराम भी हैं। यही महोक्ष, खट्वाङ्ग आदि तुच्छ तन्त्रोपकरणोंसे इंगित किया जाता है। आत्मारामत्व ही विष्णु आदिकी अपेक्षा विशिष्टता होनेमें हेतु है। (विष्णु आदि आत्माराम होते तो वैकुण्ठवैभवादिकी अपेक्षा उन्हें भी क्यों होती ?) अतएव शङ्करके प्रति पक्षपातका औचित्य भी है। आत्माराम मनुष्य भी स्तवनीय है तो शङ्करकी बात ही क्या ? शङ्कर मनुष्य समान नहीं है। क्योंकि मनुष्य भले आत्माराम हो फिर भी उसमें लेशाविद्या रहती है। अतएव वह प्रारब्धशरीरपर्यन्त अल्पज्ञ अल्पशक्तिवाला ही रहता है। शङ्करमें अविद्यालेश भी नहीं है। अतएव सर्वज्ञ सर्वशक्त हैं। इसमें प्रमाण है "सुरास्तां तामृद्धिं"। अर्थात् देवताओंका उचित सर्वर्द्धिप्रद हैं। फलतः आत्माराम मनुष्यापेक्षया सर्वज्ञसर्वशक्तिमत्ता और विष्णु आदिकी अपेक्षा आत्मारामता अधिक होनेसे अर्वाचीनपद भी शङ्कर स्तुत्य है। यही बात स्तुत्यत्वसमर्थनपरक इस श्लोकसे पुष्पदन्ताचार्य बता रहे हैं॥ २०-२५ ॥

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम् ।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ।। ८।।

हे वरद ! बूढ़ा बैल, खट्वाङ्ग, फरसा, मृगचर्म, भस्म, सर्प और कपाल इतनी ही आपके पास कुटुम्ब चलानेकी सामग्री है। किन्तु देवता आपके इशारे मात्रसे सम्पन्न हुई उन-उन समृद्धियोंके मालिक बने हैं। सत्य है कि आत्माराम पुरुषको विषयरूपी मृगतृष्णा भ्रमित नहीं करती ।। ८ ।।

गृहस्थो भगवान् शम्भुर्लोकसंग्रहतोऽभवत् ।
विरक्तो गिरिकैलावसासी चित्रचरित्रवान् ।। २६ ।।

कैलासस्तु गृहं तस्य पार्वत्यर्धाङ्गिनी शिवा ।
पुत्रावभवतां द्वौ च षडाननगजाननौ ।। २७ ।।

एवं गार्हस्थ्यसंपन्नो विरज्यन्नेष तिष्ठति ।
तपस्यति समाधत्ते कैलासशिखराश्रितः ।। २८ ।।

गृहस्थोऽपि तपः कुर्यात्समादध्याद्विरक्तधीः ।
अन्येषां का कथेत्येतद्दर्शयत्यम्बिकापतिः ।। २९ ।।

लोकसंग्रहार्थ ही भगवान् शङ्कर गृहस्थ हुए और विरक्तरूपेण गिरिकैलासवासी विचित्रचरित्रयुक्त हुए। कैलास उनका गृह है। गृहिणी अर्धांगिनी पार्वती है। षडानन, गजानन दो पुत्र हुए। ऐसे गार्हस्थ्यसम्पन्न होकर भी विरागी रहते हैं। कैलासशिखरमें तप करते हैं, समाधि लगाते हैं। गृहस्थको मनसे विरक्त हो तप करना चाहिये, समाधि लगाना चाहिये, दूसरोंकी बात ही क्या ? यही वे दिखाते हैं ।। २६-२९ ।।

स एष किल पूर्वेषामप्यभूत् परमो गुरुः ।
विरागेण भवेत्सिद्धिरिति लोकान् प्रशिक्षयन् ।। ३० ।।

तस्यानुकरणं चक्रुः पूर्वजाता महर्षयः ।
गोत्रप्रवर्तकास्तेपुस्तपो गिरिवनादिषु ।। ३१ ।।

लोकसंग्रह क्यों करने लगे ? इसलिये कि वे ही पूर्वजोंके भी परम गुरु थे। विरागसे सिद्धि होती है यह शिक्षा लोगोंको दे रहे हैं। उनका अनुकरण हमारे पूर्वज गोत्रप्रवर्तक महर्षियोंने किया। वे भी जंगलोंमें तप करते रहे ।। ३०-३१ ।।

मार्कण्डेयादयोऽभूवन्नृषयो ब्रह्मचारिणः।
वसिष्ठकश्यपाद्याश्च बभूवुर्गृहधर्मिणः॥ ३२॥

कण्वादयः समभवन् वानप्रस्थाश्रमस्थिताः।
नारदारुणिदुर्वासऋभ्वाद्या न्यासिनोऽभवन्॥ ३३॥

सर्वेऽपि च तपश्चक्रुः सर्वेऽपि च समादधुः।
जग्मुश्च सिद्धिं परमां विरूपाक्षानुशिक्षिताः॥ ३४॥

गृहस्थ भी तप करें, अन्य की क्या बात—इस शिक्षाका ही परिणाम यह हुआ कि सर्व आश्रमी ऋषि तपस्वी हुए। मार्कण्डेयादि ब्रह्मचारी, वशिष्ठ कश्यपादि गृहस्थ, कण्व आदि वानप्रस्थ, नारद, आरुणि, दुर्वासा ऋभु आदि संन्यासी ऋषि हुए। सबने तप किया, समाधि लगायी और परमसिद्धि प्राप्त की। ये सभी ज्ञानप्रदाता शंकरसे अनुशिक्षित थे ॥३२-३४॥

नन्वेवं दक्षिणामूर्तिस्वरूपं स कुतोऽबिभः।
कर्तुं सद् यच्छ्रुतिः प्राह न्यास एवात्यरेचयत्॥ ३५॥

इतनेसे ही शिक्षा संभव थी तो दक्षिणामूर्ति संन्यासी किसलिये बने? संन्यास सर्वश्रेष्ठ है इस श्रौत अर्थको सिद्ध करनेके लिये॥ ३५॥

महोक्षः

न पुष्पकविमानादि महोक्षस्तस्य वाहनम्।
कदाचिदुपयोगी स्याद् गृहस्थे क्षेत्रकर्षणे॥ ३६॥

विरक्त हैं शंकर। वाहन पुष्पक विमानादि नहीं, बैल है। इसलिये कि शायद कभी खेतीके काममें भी आ जाय॥ ३६॥

खट्वाङ्गं

खठ्वाङ्गमायुधं तस्य शत्रूणामपसारणे।
खट्वापाद्वप्रभङ्गे स्यादुपयोगि कदाचन॥ ३७॥

शत्रुओंको हटानेके लिये खठ्वाङ्ग नामका आयुध है। शायद खटियाका पांव टूटनेपर वहां लगानेके काममें भी आ जाय॥ ३७॥

परशुः

परशुस्त्वपरं शस्त्रं शत्रूणामुपमर्दने।
यदि भोजननिर्माणे काष्ठस्फालनकार्यपि॥ ३८॥

शत्रुमर्दनार्थ दूसरा शस्त्र फरसा है। शायद भोजननिर्माणकालमें लकड़ी फाड़नेके काममें भी आ जाय ॥ ३८ ॥

अजिनं

अजिनं वसनं शुद्धं शैत्यवृष्ट्यादिवारणम् ।
शय्यायां परिधाने चाप्यासनेऽप्युपयोगि यत् ॥ ३९ ॥

वस्त्र तो मृगमर्च है। नित्य शुद्ध होनेसे धोनेकी झंझट नहीं। ठंढीमें गरम, बारिषसे भी बचावे। लेटनेके विस्तरेके काममें भी आवे, पहननेके काममें भी आवे, आसन भी हो जाय ॥ ३९ ॥

भस्म

पुण्यं शैत्यहरं भस्म क्वचित्पात्रप्रधावनम् ।
शरीरगौरतावृद्धि-हेतुचूर्णभिदापि यत् ॥ ४० ॥

भस्मका तो कहना ही क्या ! तिलक लगाओ। उद्धूलन करनेसे ठंढी नहीं लगती। कभी बरतन मांजनेके काममें भी आवे। मुखादिको गोरा बनानेवाला पाऊडर भी वह हो सकता है ॥ ४० ॥

फणिनः

फणिभूषः स नागेन्द्रहारो न सुमहारधृक् ।
कटिवस्त्रं स्वयं बध्नन् कूपाम्बूद्धरणक्षमः ॥ ४१ ॥

लम्बा सर्प भूषण है। पुष्पहार नहीं, जो एक दिनमें सूखकर बेकार होता है। यह नाग तो कटिवस्त्र पाजामा आदिको स्वयं बांधकर बेल्टका काम देता है। कभी जरूरत पड़े तो कुँएसे पानी निकालनेके काममें भी आ जाय ॥ ४१ ॥

कपालं

खर्परश्चौरभीशून्यो नाम्लादिपरिभावभाक् ।
मस्तके टोपिकातुल्यो वातवृष्ट्यातपावनः ॥ ४२ ॥

खप्परकी तो बात ही क्या ? यह ऐसा बरतन है कि चोरका भय नहीं, खट्टे दही आदिसे कसाता नहीं और मस्तकपर रखो तो टोपी बन जाय और हवा, वृष्टि और धूपसे मस्तकको बचावे ॥ ४२ ॥

ऋद्धि०

हन्त दारिद्र्यमेतद्धि मैवं वैराग्यमीशितुः ।
सुराः समृद्धिं दधति निजभ्रूस्पन्दनोत्थिताम् ॥ ४३ ॥

यह महोक्षादि तो दरिद्रताका लक्षण हुआ। नहीं। यही प्रभुका वैराग्यलक्षण है। क्योंकि अपनी भ्रुकुटी चालन मात्रसे उत्पादित अनेक ऋद्धियोंको ही देवता भी धारण करते हैं॥ ४३॥

कुबेरस्त्वत्कृपालेशात् कुबेरत्वमपद्यत।
अन्येषां किल का वार्ता सर्वसिद्ध्यृद्धिदायिनि॥ ४४॥

शंकरकी लेशकृपासे ही कुवेर धनपति बना। दूसरोंका फिर कहना क्या? समस्त ऋद्धिसिद्धि भगवान शंकर देते हैं॥ ४४॥

नन्वेवं न कथं द्युम्नं स्वयं नैव दधात्यसौ।
मृगतृष्णोपमाः सर्वे यतो हि विषया इमे॥ ४५॥

तन्त्रोपकरणार्थं हि येषामपरिहार्यता।
तेषां द्विधोपयोगार्थं क्रियते तु परिग्रहः॥ ४६॥

तब स्वयं धनादि संग्रह क्यों नहीं किया? चूंकि ये सभी विषय मृगतृष्णोपम हैं। कुटुम्बभरणार्थ जिनकी अपरिहार्यता है उतनेका संग्रह किया जाता है॥ ४५-४६॥

सत्यां क्षौ किं कशिपुना किं बाहावुपबर्हणैः।
अञ्जलावन्नपात्र्या किं दुकूलैः किं दिगम्बरे॥ ४७॥

नामस्वर्थो भवेद्यावान् प्रमादी तत्र नो भवेत्।
यत्नवांस्तत्र न भवेदन्यथार्थे प्रसिध्यति॥ ४८॥

इति भागवताद्युक्तं लोकान् समनुकारयन्।
निःस्पृहः सन् गृहस्थोऽपि जगत्पतिरवर्तत॥ ४९॥

काम निकलना चाहिये। अतएव भागवतमें कहा कि जमीनपर लेट सकते हैं तो विस्तरा किसलिये? बाहुसे काम चलेगा तो तकियेका क्या काम? अंजलिसे काम हो गया तो बरतन क्यों रखें? दिगम्बरसे काम चला तो वस्त्र किसलिये? नामात्मक जगत्में जितनी उपयोगिता है उनमें प्रमादी मत बनो। सरल प्रकारसे काम चलता है तो इन नामसंग्रहके पीछे मत लगो। इसीका अनुकरण कराते हुए शंकर गृहस्थ होनेपर भी, जगत्पति होते हुए भी निःस्पृह होकर रहे॥ ४७-४९॥

स्वात्मारामं०

आत्मा तु परमानन्दः संप्लुतोदकसंनिभः।
तदारामो न विषयानन्दखाताम्बुलोलुपः॥ ५०॥

विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः।
आत्मानन्दस्य किं भोगैर्मृगतृष्णोपमैरिति ॥ ५१ ॥

लबलबाते सागर सरोवरादि सदृश आत्मा परमानन्द परिपूर्ण है। उसमें रमनेवाला विषयानन्दरूपी गढ़्ढेके जलमें क्यों लोलुप होगा ? अमृतसागरमें खेलनेवालेको खातकोदकसे क्या मतलब ? आत्मानन्दरतिको मृगतृष्णासदृश भोगोंसे क्या सरोकार ? ॥ ५०-५१ ॥

यथाश्रुतार्थं तमिममभिधायाधुना वयम्।
व्यङ्ग्यार्थमस्य श्लोकस्य दर्शयामोऽत्र लेशतः॥ ५२॥

यह हमने श्लोकका यथाश्रुत अर्थ बताया। अभिव्यङ्ग्य अर्थ भी अब हम थोड़ा सा दिखाते हैं ॥ ५२ ॥

महोक्षः

धर्मो हि भगवान् साक्षाद्वृषरूपेण संस्थितः।
तपः शौचं दया सत्यं तस्य पादाः कृते स्थिताः ॥ ५३ ॥
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।
महोक्षत्वं ततः प्राह स्वात्मारामत्वमेव च ॥ ५४ ॥

भगवान धर्म ही वृषभरूपमें स्थित है। उसके तप, शौच, दया और सत्य चार पाद हैं इत्यादि भागवतमें बताया है। यही परमधर्म है जो कि योग द्वारा आत्मदर्शन करते हैं। उस पर स्थिति महोक्षवाहनता और स्वात्मारामता है ॥ ५३-५४ ॥

खट्वाङ्गं

खट्वा चतुष्पाद्भवति तदेतत्सार्वलौकिकम्।
चतुष्पादेव च ब्रह्म माण्डूक्यश्रुतिविश्रुतम् ॥ ५५ ॥

तदङ्गं च तुरीयाख्यं तत्त्वं धारयतीत्यतः।
खट्वाङ्गधारी भगवान् गीयते प्रमथाधिपः॥ ५६ ॥

काङ्क्षचमाणाङ्गताहेतोरप्यर्थोऽयं हि लभ्यते।
खटचते पुरुषार्थत्वात् काङ्क्षचते पुरुषैरिति ॥ ५७ ॥

खटिया चार पादवाली होती है। ब्रह्म भी चतुष्पात् है। उसके अङ्गसदृश चतुर्थपाद तुरीयतत्त्वको शंकर धारण करते हैं। 'खट काङ्क्षायां' इस धात्वर्थानुगमसे भी पुरुषार्थतत्वलाभ होता है। पुरुषार्थ होने से पुरुष द्वारा कांक्षित होता है ॥ ५५-५७ ॥

परशुः

परमन्यं शृणात्येष परशुर्द्वैतखण्डनः।
दृढेनासङ्गशस्त्रेण छित्तेऽश्वत्थं विरागवान् ॥ ५८ ॥

पर अर्थात् द्वितीयको जो शृणाति-समाप्त करता है वह असंग शस्त्र द्वैतविदारक है। यही गीतामें 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा'से बताया ॥ ५८ ॥

अजिनं

गजासुराजिनं धत्ते न खल्वसुरमेव सः।
आसुरीं संपदं मा गा त्वचं बाह्यां तु धारय ॥ ५९ ॥
जानन्नपि च मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्।
अज्ञानीव क्वचित्क्रोधीवाभिमानीव संसृतौ ॥ ६० ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ ६१ ॥
जिनश्चावैदिकस्तस्माद्भिन्नं धत्ते महेश्वरः।
वैदिकान् भक्तियुक्तांश्च ततोऽजिनधरो हरः ॥ ६२ ॥

गजासुरकी बाह्य त्वचा धारण करते हैं। आसुरी संपदाको नहीं, उसके बाह्याकारको धारण करते हैं। जानते हुए भी मेधावी जड़ समान बरतते हैं, अज्ञानी जैसे, क्रोधी जैसे, अभिमानी जैसे। गीतामें भी कहा—अविद्वान आसक्तिपूर्वक कर्म करते हैं। विद्वान् अनासक्त होकर वैसे ही कर्म करते हैं। 'जिन' अवैदिक मत वाला है। उससे भिन्न वैदिकमतवालों और भक्तोंको धारण करते हैं इसलिये भी शिव अजिनधर हैं ॥ ५९-६२ ॥

भस्म

संसारदाहे सति यः सारो भस्म तदीरितम्।
स्पष्टं शैवपुराणादावेतदेव निरूपितम् ॥ ६३ ॥

मुक्ताभस्मादिकं तावत् तत्सारो नैव संशयः।
अस्ति भाति प्रियमिति सारो बाधे हि संसृतेः ॥ ६४ ॥

नामरूपजगद्बाधे दग्धे ज्ञानमहाग्निना।
शिष्यते भासनाद्भस्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥ ६५ ॥

संसारदाह होनेपर जो सार बचता है उसे शिवपुराणादिमें भस्म बताया है। जैसे मोतीका भस्म सार ही है वैसे अस्ति, भाति, प्रिय

संसारबाधोत्तर सार है। ज्ञानाग्निसे नामरूप जगद्बाध होनेपर बचनेवाला सच्चिदानन्द ही भस्म है ॥ ६३-६५ ॥

फणिनः

संसारबाधे सति च शिष्यते शेषसंज्ञितः।
फणी स सच्चिदानन्दस्त्रिफणस्त्रिगतिर्हि सः ॥ ६६ ॥

यद्यप्यर्थसमानत्वं स्याद्भस्मफणिनोरिह।
दाहप्रधान्यतो भस्म शेषप्राधान्यतः फणी ॥ ६७ ॥

संसारबाधोत्तर जो शेष रहे वही शेषनाग और फणी है। सत्, चित्, आनन्द ये तीन फण हैं। "फण गतौ"। तीन गति है। इस प्रकार भस्म और फणीमें भेद नहीं रहता। तथापि दाहकी प्रधानतासे भस्म और अवशेषकी प्रधानतासे फणी समझना चाहिये ॥ ६६-६७ ॥

कपालं

कं सुखं पालयेद्यस्तु कपालः स तु कीर्तितः।
आनन्दरक्षाहेतुश्च ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ॥ ६८ ॥

उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥ ६९ ॥

कपाल शब्दमें क=सुखका पाल=जो पालन करे ऐसी व्युत्पत्ति है। "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" इत्यादिमें कथित अद्वेष्टृत्वादि गुण ही कपाल है। ज्ञानियोंके वे स्वतः उत्पन्न होते हैं ॥ ६८-६९ ॥

तन्त्रोपकरणम्

तन्त्रं कुटुम्बे ज्ञाने च ज्ञानोपकरणं त्विदम्।
ज्ञानोपकरणान्येव ज्ञानं वा शंभुना धृतम् ॥ ७० ॥

तन्त्रका ज्ञान भी अर्थ है। उनका उपकरण या ज्ञान ही शंकरजीने धारण किया है ॥ ७० ॥

तां तां ऋद्धिं

तां तामृद्धिं जगत्यस्मिन् दध्युर्विषयलक्षणाम्।
तदैक्षतेति श्रुत्युक्तत्वद्भ्रूप्रणिहितां सुराः ॥ ७१ ॥

"तदैक्षत बहु स्यां" इस ईक्षणसे उत्पन्नको ही यहां 'भवद्भ्रूप्रणिहितां'से बताया। ऐसी विषयरूप ऋद्धिको देवता पाते हैं ॥ ७१ ॥

पुरुषस्तु महोक्षः सन् खट्वाङ्गं प्रकृतिः सती।
महत्तत्त्वं च परशुरहङ्कारोऽजिनं तथा ॥ ७२ ॥
भस्मैव पञ्चतन्मात्रा फणिनस्त्विन्द्रियाण्यपि।
कपालं पञ्चभूतानि भूत्वा हरमुपासते ॥ ७३ ॥
इत्यागमप्रसिद्धार्थं मधुसूदनयोगिनः।
दर्शयामासुरत्रैव सकलागमकोविदाः ॥ ७४ ॥

पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चातन्मात्रा, इन्द्रिय और पंचमहाभूत ये सात क्रमशः महोक्ष, खट्वाङ्ग, परशु, अजिन, भस्म, फणी और कपाल बनकर गुप्तरूपसे शंकरकी उपासना करते हैं ऐसा सकलागमविशारद श्रीमन्मधुसूदन सरस्वतीने आगमप्रसिद्ध अर्थके रूपमें यहांपर व्याख्या की है ॥ ७२-७४ ॥

महोक्षादिधरं शंभुं देवानां सकलर्द्धिदम्।
स्वात्मारामं च विषयवितृष्णं निर्भ्रमं स्तुवे ॥ ७५ ॥

महोक्षादिधारी, देवोंके सर्वसंपत्प्रदाता, स्वात्माराम, विषयवितृष्ण, शंभुकी (स्तुत्य होनेसे) मैं स्तुति करता हूँ ॥ ७५ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ स्पन्दोऽयं निर्गतोऽष्टमः ॥ ८ ॥





नवमः श्लोकः

स्तुतिः स्तुत्यगतोत्कर्षबोधकं वाक्यमुच्यते ।
उत्कर्षोऽनुग्रहदया-ज्ञानकामक्रियादिभिः ॥ १ ॥
सर्वे सविषयास्ताव-दनुग्रहदयादयः ।
दुर्निरूपाणि विषयफलादीनि सदात्मना ॥ २ ॥
ध्रौव्याध्रौव्यादिकं तेषां विवादास्पदमीक्ष्यते ।
ततः कथं स्तुतिर्युक्ताऽज्ञातरूपैर्दयादिभिः ॥ ३ ॥
काचमुक्तामणिभिदां यथैवाजानतः स्तुतिः ।
काचहारसुशोभीति निन्दैवातत्त्ववेदिनः ॥ ४ ॥

स्तुत्य व्यक्तिके उत्कर्षको बतलानेवाला वाक्य स्तुति कहलाती है। अनुग्रह, दया, ज्ञान, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति आदिको लेकर उत्कर्ष होता है। अनुग्रह, दया आदि सभी सविषय होते हैं। विषय, विषयी एवं फल ये सभी दुर्निरूप अनिर्वचनीय हैं। क्योंकि ये सब ध्रुव हैं या अध्रुव इत्यादि विवादास्पद हैं। तब अज्ञातस्वरूप दया आदिको लेकर स्तुति करना कैसे संभव है? कांच और मोतीको एक समझनेवाला कोई आदमी स्तुतिरूपमें बोलता है—अहा! कैसे कांचहारसे यह शोभायमान हो रहा है। किंतु अनभिज्ञकृत यह स्तुति नहीं निन्दा ही है ॥ १-४ ॥

किं चोत्कर्षो निरूप्योऽयमपकर्षेण केनचित् ।
गुरुज्येष्ठपितृत्वाद्याः शिष्यभावादिभिर्यथा ॥ ५ ॥
दुर्विज्ञेयं जगदिदमपकृष्टतया मतम् ।
ध्रुवाध्रुवादिबहुल-विकल्पपरिकल्पितम् ॥ ६ ॥
सृजतीशो नभ इति श्रुत्वा वैशेषिको हसेत् ।
महेशाज्जगदुत्पन्नं श्रुत्वा सांख्यो विडम्बयेत् ॥ ७ ॥

अपकर्ष निरूपित होनेपर ही उत्कर्ष समझमें आयेगा। गुरु, ज्येष्ठ, पिता आदि शिष्य, कनिष्ठ और पुत्रादिसे निरूपित होता है। अपकृष्टरूपसे अभिमत इतर प्रपञ्चको समझना पहले कठिन है। क्योंकि ध्रुव-अध्रुवादि विकल्पपीडित है। ईश्वरने आकाशको बनाया सुनकर वैशेषिक हँसेगा। परमात्मासे जगत् उत्पन्न हो गया सुनकर सांख्य कहेगा यह क्या विडंबना

हो रही है। तब जब अपकर्षज्ञान ही नहीं, तो उत्कर्षबोधक स्तुति किस प्रकार ? ॥ ५-७ ॥

अत्रोच्यते स्तुतिं कर्तुं प्रवृत्तस्य निरागसः।
जगत्तत्त्वानभिज्ञत्वचिन्ता नास्त्येव मे हृदि॥ ८॥

अवनिं तु समुद्दिश्य तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि वा।
यथाकथंचिदपि वा क्षिप्तो भुवि पतेद् दृषत्॥ ९॥

तथोत्कर्षवचः कामं यथाकथमपीरितम्।
भगवत्येव पतति सर्वोत्कर्षाश्रये हरे॥ १०॥

सदर्था वाऽसदर्था वा भाषा किं तेन मे भवेत्।
उत्कर्षस्तु सदर्थोऽयं महेशस्य विवक्षितः॥ ११॥

असदर्थवदाभातु स्ववपोत्खेदगीरिव।
प्रशस्तत्वं पुनर्नासत् यत्तावत्स्वविवक्षितम्॥ १२॥

उक्त पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि मैं तो स्तुति करनेके किये प्रवृत्त हूँ, किसीके खण्डनमण्डन या अपराध करनेके लिये नहीं। और न पाण्डित्य दिखानेके लिये ही। तब जगत्तत्वकी अनभिज्ञताकी चिन्ता मुझे क्यों होगी ? पृथ्वीको लक्ष्य रखकर ऊपर, नीचे अगल, बगल जैसे तैसे भी पत्थर फेंको वह पृथ्वीपर ही पड़ेगा। वैसे स्तुतिवचन जैसा तैसा भी बोलें सर्वोत्कर्षाश्रय भगवानमें ही पहुँचेगा। भाषा चाहे वाच्यार्थतया सदर्थ हो या असदर्थ। उससे क्या होगा ? पर, महेश्वरका उत्कर्ष जो विवक्षितार्थ है वह तो असत् नहीं है। "प्रजापतिर्वपामुदखिदत्" यह स्ववपोत्खेदनवचन असदर्थके समान भले भासे, किन्तु विवक्षित याग की प्रशस्तता असत् तो नहीं है। (वैसे शिवस्तुति सुनते समय असंभवार्थ किसीको लगे, किन्तु विवक्षित उत्कर्ष तो असत् नहीं है॥ ८-१२॥

विवक्षितं तदुत्कर्षमप्यसन्तं परो यदि।
प्रसाधयेत्तदाप्येव न मे चिन्ता प्रवर्तते॥ १३॥

स्वस्वसिद्धान्तसम्यक्त्वस्थापकाः स्थापयन्तु तत्।
न किंचित्स्थापनीयं मे स्तुतिमात्रं चिकीर्षतः॥ १४॥

परो मामाक्षिपेदत्र तद्विरुद्धार्थकीर्तनात्।
इत्यप्येव न चिन्तास्ति धृष्टस्य मुखरस्य मे॥ १५॥

परस्परविरुद्धं हि नानामतमवेक्ष्यते।
विरोधचिन्ता मामेव कुत आविशतूर्जिता॥ १६॥

यदि कोई वादी परमेश्वरके विवक्षित उत्कर्षको भी असत् सिद्ध करना चाहता है तो भी मुझे चिन्ता नहीं है। क्योंकि वे अपना सिद्धान्त स्थापित करनेके फिकरमें हैं। मुझे कुछ स्थापना करनी ही नहीं है। मुझे केवल स्तुति करनी है। स्तुति करते समय कुछ लोग स्वविरुद्ध अर्थ कहनेका आक्षेप मुझपर लगायेंगे यह भी चिन्ता मुझे नहीं है। क्योंकि मैं एक वाचाल हूँ, अतएव धृष्टता भी रखता हूँ। वे अपनी बात करेंगे। मैं अपनी बात करता रहूँगा। वादियोंके नानामत परस्पर विरुद्ध हैं, तब एक दूसरेके विरोधकी चिन्ता क्यों नहीं करते हैं ? जब उन लोगोंको विरोधकी चिन्ता नहीं है तो यह बलवती पिशाचिनी बनकर मुझमें ही क्यों घुसने लगी ? ॥ १३-१६ ॥

ध्रुवं कश्चित् सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं

परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये ।

समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव

स्तुवञ्जिह्रेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥ ९ ॥

कोई इस प्रपञ्चको शाश्वत सत्य कहता है, दूसरा उससे विपरीत अध्रुव कहता है। तीसरा कुछ ध्रुव है और कुछ अध्रुव है ऐसा व्यस्तरूपसे कहता है, और समस्त विषयमें ध्रुव-अध्रुव सिद्धान्त भी है। इन सब मतमतान्तरोंसे मैं विस्मित सा होकर भी स्तुति करता हुआ लज्जित नहीं होता। क्योंकि वाचालता बड़ी ढीठ होती है ॥ ९ ॥

ध्रुवं कश्चित्

तथा हि सकलं कश्चिद् विश्वं ध्रुवमवोचत ।

ध्रुवं नित्यं ध्रुवं सत्यं सांख्या नित्यमचक्षत ॥ १७ ॥

सत्कार्यवादिनः सांख्याः कार्यं सत्कारणे सदा ।

अभिव्यक्तिस्तदुत्पत्तिर्नाशश्चाभिभवो मतः ॥ १८ ॥

वादियोंका परस्पर विरुद्ध मत इस प्रकार है कि कुछ लोग विश्वको सर्वथा ध्रुव कहते हैं। ध्रुवका नित्य और सत्य दोनों अर्थ हैं। सांख्यवाले नित्य कहते हैं, वे सत्कार्यवादी हैं। कारणमें कार्य हमेशा रहता है। उत्पत्ति केवल अभिव्यक्ति है और नाश अभिभवमात्र है यही सत्कार्यवाद है ॥ १७-१८ ॥

तैलं तिलेऽङ्कुरो बीजे सर्पिर्दध्न्यनलोऽरणौ ।
प्रागेव सद् व्यज्यते तु पश्चान्निष्पीडनादिभिः ॥ १९ ॥

तिलमें तेल पहलेसे ही है । बीजमें अंकुर, दहीमें माखन, अरणि (लकड़ी) में अग्नि पहलेसे हैं । पेलने, उगाने आदिसे केवल प्रकट होते हैं ॥ १९ ॥

सुवर्णं कुण्डलं जातं द्रावितं कनकं पुनः ।
किं तत्र जातं किं नष्टं व्यञ्जनाभिभवादृते ॥ २० ॥

सोनेका कुण्डल बनाया, गलानेपर फिर सोना हो गया । वहां अभिव्यक्ति और अभिभवके सिवाय क्या उत्पन्न हुआ क्या नष्ट हुआ ॥ २० ॥

न किंचित्प्रज्ज्वलत्सिक्थवर्त्तिकाया विनश्यति ।
पुनस्ताद्रूप्यमागच्छेत्तद्धूमः संध्रियेत चेत् ॥ २१ ॥

मोमकी बत्ती जलायी तो क्या जलकर नष्ट हुआ ? कुछ नहीं । उसका धुआं (वाष्प) तरीकेसे पकड़ा जाय तो फिर वह मोम बनेगा ॥ २१ ॥

क्वथितं सलिलं नश्यदिव लोकैः प्रतीयते ।
बाष्पभावागतं तच्च जलमापद्यते पुनः ॥ २२ ॥

पानी उबला तो लोगोंको लगेगा कि उबलकर पानी सूख गया, नष्ट हो गया । लेकिन क्या नष्ट हुआ ? वह भाप बना । फिरसे वह पानी ही बनेगा ॥ २२ ॥

सहस्रवारं क्रियतां काञ्चीकङ्कणकुण्डलम् ।
हेम्नः किं तेन भवति नाशे वा किं नु हीयते ॥ २३ ॥

तथाभिव्यज्यते विश्वं बहुधा प्रकृतेरिदम् ।
तथैवाभिभवत्येतत् कल्पान्ते प्रलये सति ॥ २४ ॥

तथा चाह श्रुतिर्धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
धातेति प्रकृतिः सा हि व्यनक्तीदं यथा पुरा ॥ २५ ॥

हजार बार कंगन, कुण्डल आदि बना लो, गला लो उससे सोनेका क्या बनता बिगड़ता है ? वैसे ही प्रकृतिसे यह जगत् अभिव्यक्त होता है, कल्पान्त प्रलयमें अभिभूत होता है । यही "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इस श्रुतिमें भी बताया । धाता माने प्रकृतिने पहले जैसे फिर इन जगतको प्रकट किया ॥ २३-२५ ॥

अन्ये ध्रुवं सत्यमिति विशिष्टाद्वैतवादिनः ।
विश्वं सत्यमिति प्राह श्रुतिर्भगवती स्वयम् ॥ २६ ॥
नन्वसत्यं हि शुक्त्यादौ रजतादि प्रतीयते ।
तदसद् रूप्यमत्रास्ति पञ्चीकरणकारणात् ॥ २७ ॥
मरीचिकायां सलिलं पञ्चीकरणतोऽस्ति हि ।
वैशेष्याद् व्यवहारस्तु भवेदेषा मरीचिका ॥ २८ ॥
दोषदूषितदृष्टेः स्याद् दृश्यं रूप्यजलादिकम् ।
दृश्यते दोषविरहे मुक्तास्फोटातपादिकम् ॥ २९ ॥

विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि समस्त जगत् ध्रुव अर्थात् सत्य है। "विश्वं सत्यं" यह श्रुतिवचन है। क्या शुक्तिमें रजत दीखे तो वह भी सत्य है? जी हां। पञ्चीकरण प्रक्रियासे वहां भी रजतावयव हैं। मरुमरीचिकामें जलावयव हैं। विशेषता शुक्ति आदि के अवयवों की है। अतः उन्हें शुक्ति आदि कहा जाता है। दोषदूषित दृष्टिको रजत, पानी आदि नजर आते हैं। दोष न हो तो सीप, धूप आदि ॥ २६-२९ ॥

ननु स्थाणौ पुमान् किं नु पञ्चीकरणतोऽस्ति ते ।
यद् बालुकायां कनकं दोषदृष्ट्या तदीक्ष्यताम् ॥ ३० ॥

पूर्वपक्ष :—जहां स्थाणुमें पुरुष दीखता है वहां आपके मतमें पंचीकरणके कारण स्थाणुमें पुरुष भी छिपा होगा। जिस बालूमें सोना है, बाहरसे नहीं दीखता, वहां आप दोषदूषित दृष्टिसे देख डालिये और सोना निकाल लीजिये ॥ ३० ॥

मैवं भो नातिशङ्कात्र कार्या तत्त्वबुभुत्सुना ।
श्रद्धत्स्व सोम्येत्येवं हि श्रुतिः शास्ति स्वयं यतः ॥ ३१ ॥

इस पूर्वपक्षपर कहना यही है कि तत्त्वजिज्ञासुको अतिशंका नहीं करनी चाहिये। श्रुति स्वयं कहती है कि जो गुरु बोलते हैं उसपर श्रद्धा रखा करो ॥ ३१ ॥

अपरस्त्वध्रुवं

अध्रुवं चाखिलं प्राहाऽनित्यं वाऽसत्यमेव वा ।
वैभाषिकोऽखिलं ब्रूते प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरम् ॥ ३२ ॥
शतवर्षेण जीर्यद्धि वर्ष्मवस्त्रगृहादिकम् ।
नैकस्मिन् हायने नो वा दिने किन्तु क्षणे क्षणे ॥ ३३ ॥
आत्मापि क्षणिको नास्ति किंचिदेव भुवि स्थिरम् ।
ज्ञानं जातं हतं चेति सर्वप्रत्ययगोचरम् ॥ ३४ ॥

कुछलोग जगत्को अध्रुव मानते हैं। उनमें भी कोई अनित्य और असत्य मानते हैं। वैभाषिक अनित्य मानते हैं। सौ वर्षमें शरीर, वस्त्र, गृहादि जीर्ण होते हैं तो क्या अन्तिम एक वर्णमें जीर्ण हुए? प्रतिदिन ही नहीं बल्कि प्रतिक्षण जीर्ण होता गया है। आत्मा भी क्षणिक है। ज्ञान उत्पन्न हो गया नष्ट हो गया ऐसी सबको प्रतीति होती है ॥ ३२-३४ ॥

बुद्ध्यानुमेयः स्यादर्थः सर्वोऽपि क्षणभङ्गुरः।
इति सौत्रान्तिकमतेऽप्यध्रुवत्वं यथोदितम् ॥ ३५ ॥

सौत्रान्तिक मतमें फरक इतना ही है कि घटादि ज्ञान हो रहा है अतः विषय अवश्य होना चाहिये इसप्रकार अर्थ अनुमेय होता है। प्रत्यक्ष नहीं। ऐसा वे निरूपण करते हैं। क्षणभंगुरतारूपी अध्रुवत्व समान ही है ॥ ३५ ॥

मुख्यो माध्यमिकः सर्वमसत्यं जगदब्रवीत्।
शून्यं तत्त्वं जगच्छून्यविवर्तोऽसत्य एव हि ॥ ३६ ॥

बौद्धोंमें मुख्य माध्यमिक है। वह सारे जगतको असत्य कहता है। शून्य ही तत्त्व है। यह जगत् शून्यका ही विवर्त है। अतएव असत्य है। यह असत्यतारूपी अध्रुवता है ॥ ३६ ॥

योगाचारमते ज्ञानाकृतिरेवार्थ इष्यते।
ज्ञानं सत्यमसन्नर्थस्तथापि क्षणिकं तु तत् ॥ ३७ ॥

योगाचार मतमें ज्ञानकी ही आकृति अर्थ है। ज्ञान उनके मतमें सत्य है। अर्थ असत्य है। फिर भी ज्ञान तो क्षणिक है ही ॥ ३७ ॥

परो ध्रौव्याध्रौव्ये

वैशेषिकादयः किंचिद् ध्रुवं किंचित्तथाऽध्रुवम्।
इत्येवं व्यस्तविधया जगदेतत् प्रचक्षते ॥ ३८ ॥

वैशेषिकादि ध्रुवाध्रुववादी हैं। अर्थात् व्यस्तरूपसे कुछको ध्रुव और कुछको वे अध्रुव मानते हैं ॥ ३८ ॥

व्योमाद्या विभवो नित्यास्तथैव परमाणवः।
कार्यात्मकास्तथाऽनित्या भवन्ति द्व्यणुकादयः ॥ ३९ ॥

आकाशादि विभु नित्य हैं। परमाणु नित्य हैं। कार्यरूपी द्व्यणुक त्र्यणुक एवं घटादि अनित्य हैं ॥ ३९ ॥

आकाशात् प्राक्किमासीद्वो भवेदाकाश एव प्राक्।
नावकाशः क्वचिद्याति नायात्येवं च नित्यता ॥ ४० ॥

आकाशादि कैसे नित्य ? सुनिये। यदि वह जन्य हो तो आकाशसे पहले क्या था ? आकाश ही। अवकाश कहीं न आता है और न जाता है। अतः नित्य है ॥ ४० ॥

नारम्भकाः अवयवाः विभागः कस्य वा भवेत्।
नारभ्यन्ते न नश्यन्ति ततश्च गगनादयः ॥ ४१ ॥

अवयवोंसे अवयवी द्रव्य उत्पन्न होता है। आकाशके आरंभक अवयव नहीं। तब विभाग भी किसका हो ? अतएव आकाशादि न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं ॥ ४१ ॥

अणवो यदि भज्येरन् भज्येरंस्तत्कणा अपि।
अनन्तावयवत्वे तु को महान् कोऽणुरुच्यताम् ॥ ४२ ॥
दृश्यतेऽणुर्महांश्चैव नानन्तावयवास्ततः।
योऽवधिः परमाणुः स नित्यो नैव विनश्यति ॥ ४३ ॥

आकाशादिके समान परमाणु भी नित्य हैं। परमाणुका यदि विभाग होता तो उसके कणोंका भी विभाग होगा। ऐसे टुकड़े यदि अनन्त हो जायं तो बड़ा-छोटा कोई नहीं रहेगा। किंतु दीखता है बड़ा-छोटा। अवयवोंकी न्यूनता और बहुलतासे ही छोटे-बड़े होते हैं। अणुको टूटनेवाला आप भले मानें, किन्तु जहां जाकर फिर नहीं टूटता, जो अवधि है, वही परमाणु है, वह नित्य है, नष्ट नहीं होता ॥ ४२-४३ ॥

सत्यासत्ये परे प्राहुः प्रव्यस्तविषये बुधाः।
स्वाप्निकाद्या असत्यार्थाः सत्यार्था जाग्रति स्थिताः ४४ ॥
वैधर्म्याच्च नहि स्वप्नदिवदित्याह सूत्रकृत्।
जाग्रत्स्वप्नार्थयोस्तस्मात्सत्यासत्यविवेचना ॥ ४५ ॥

व्यस्तविषयमें ही सत्य-असत्यरूप ध्रौव्याध्रौव्य भी कहते हैं। स्वप्नार्थ असत्य है। जाग्रदर्थ सत्य है। "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इस सूत्रसे अर्थ निकलता है कि स्वाप्नार्थ मिथ्या है ॥ ४४-४५ ॥

समस्तेऽपि

समस्तविषयेऽप्येव ध्रौव्याध्रौव्ये जगुर्बुधाः।
अपरः कश्चिदित्यादेरनुक्तेः स्वमतं त्विदम् ॥ ४६ ॥
एतस्मिन्निति दृश्येऽस्मिञ्जगतीत्येतदुच्यते।
तेन वाङ्मनसातीतकथा व्यावर्त्यते स्वयम् ॥ ४७ ॥

"समस्तेऽप्येतस्मिन्" समस्तविषयमें भी विद्वान लोग ध्रौव्य अध्रौव्य कहते हैं। यहांपर कश्चित् अपरः, परः आदि न कहनेसे यह स्वमत प्रतीत

होता है। "एतस्मिन्" का दृश्य जगत अर्थ है। अतः वाणी और मनसे परे जो तत्त्व है वह स्वयं व्यावृत्त होता है ॥ ४६-४७ ॥

जातिर्नित्या व्यक्तिरत्रानित्येत्युभयमेव नः।
जातिरेकैव सत्ताख्या सा चोपाधेरनेकधा ॥ ४८ ॥

सत्ता ब्रह्मस्वरूपेति तस्या नित्यत्वमिष्यते।
सत्यासत्यात्मकोऽयं च प्रपञ्चः सकलोऽप्यतः ॥ ४९ ॥

जाति नित्य है, व्यक्ति अनित्य है। अतः जगत् उभयरूप है। (जातिरूपेण नित्य और व्यक्तिरूपेण अनित्य है) जाति वस्तुतः एक ही है। उसे सत्ता कहते हैं। उपाधिवशात् वह नाना है। सत्ता ब्रह्मरूप ही है। अतः नित्य है। अतएव प्रपञ्च सत्य-असत्य उभयात्मक है यह भी कह सकते हैं ॥ ४८-४९ ॥

सत्यानृते च मिथुनीकृत्य व्यवहृतिर्भवेत्!
सर्वापि लौकिकीत्येवं भाष्यकारोऽप्यभाषत ॥ ५० ॥

अस्ति भाति प्रियं चैव नामरूपं च पञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम् ॥ ५१ ॥

एतत्पञ्चकरूपं हि जगदेतत्तथा ततः।
सर्वोऽपि व्यवहारोत्र दृश्यते क्रियतेऽपि च ॥ ५२ ॥

समस्तविषये तस्माद् ध्रौव्याध्रौव्यविनिश्चयः।
सर्ववेदान्तसिद्धान्तस्वीकृतोऽयं निजं मतम् ॥ ५३ ॥

समस्त लोकव्यवहार सत्य और अनृतका मिथुनीकरण करके ही होता है ऐसा भाष्यकारने भी बताया है। अस्ति (है), भाति (भासता है), प्रिय ये तीन और नाम (घट आदि) रूप (पृथुबुध्नोदरादि) ये दो मिलाकर पांच हैं। इनमें तीन ब्रह्मके रूप हैं। दो मायाके रूप हैं। यह पूरा जगत् उक्त पंचरूप है। उसीसे सभी व्यवहार होते दीखते हैं और किये भी जाते हैं। फलतः समस्त विषयमें भी ध्रौव्य-अध्रौव्यनिश्चय सर्ववेदान्तसिद्धान्त-संमत है। यही पुष्पदन्ताचार्य का अपना मत है ॥ ५०-५३ ॥

यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्याद्यत्रयविचारणात्।
नेति नेतीति यच्छास्त्रमन्त्यद्वयनिवारणात् ॥ ५४ ॥

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह जो श्रुति है वह अस्ति भाति प्रियको उपादानकर प्रवृत्त है। और "नेति नेति" यह जो श्रुति है वह नामरूपको निवारणकर प्रवृत्त है ॥ ५४ ॥

सर्वमिथ्यात्ववादस्तु नैव संगन्तुमर्हति ।
अधिष्ठानं विना नैवाऽसत्यारोपस्य संभवः ॥ ५५ ॥
निषेधश्च कथंकारं संभवेदवधिं विना ।
तस्मादवधिसत्यत्वमकामेनाप्युपेक्ष्यते ॥ ५६ ॥

सब मिथ्या ही है इस वादकी अर्थात् शून्यवादकी संगति नहीं हो सकती । क्योंकि बिना अधिष्ठान आरोप संभव नहीं है । और अवधिके बिना निषेध नहीं होगा । अतः अवधि सत्य मानना ही होगा ॥ ५५-५६ ॥

तैर्मतैर्विस्मित इव कथं वस्तुविकल्पना ।
अनेवमेवमिति हि नहि वस्तु विकल्प्यते ॥ ५७ ॥

इन मतोंसे मैं विस्मित सा हो गया हूँ कि यह वस्तुविकल्प कैसे ? एक वस्तुमें यह ऐसा नहीं, ऐसा ही, ऐसा विकल्प नहीं होता ॥ ५७ ॥

नीलोऽनीलश्च कलश इति नैव विकल्प्यते ।
न वा घटोऽघटश्चेति क्रियैव हि विकल्प्यते ॥ ५८ ॥

यह घट नील है अनील है, यह घट है अघट है इस प्रकार वस्तु-विकल्प नहीं होता है । क्रियाविकल्प होता है—करो न करो दोनों संभव है ॥ ५८ ॥

नाहं विस्मित एवास्मि शिवमाया हि दुर्गमा ।
तयाभिभूताः सुधियो वर्णयन्त्यन्यथान्यथा ॥ ५९ ॥
स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥ ६० ॥
अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च गौडाचार्यैर्निरूपितम् ॥ ६१ ॥
कल्पयन्त्येव सर्वेऽपि ध्रौव्याध्रौव्यादिकं ध्रुवम् ।
यतो वस्तुविकल्पोऽयमसंभव उदीरितः ॥ ६२ ॥
कल्पनायां विकल्पस्तु सर्वकोविदसंमतः ।
सर्पो मालाऽम्बुधारेति रज्जौ वैकल्प्यदर्शनात् ॥ ६३ ॥
मिलित्वा वादिनो द्वैतकल्पनां साधयन्त्यतः ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥ ६४ ॥
शिवमायावशीभूताः कल्पयन्त्यन्यथान्यथा ।
तत्र को विस्मयो नाम सा च प्रोक्ता दुरत्यया ॥ ६५ ॥

"विस्मित इव" विस्मित जैसा हूँ, न कि विस्मित ही । क्योंकि शिवमाया दुर्गम है । उससे ज्ञानी भी अभिभूत होते हैं और अन्यथा वर्णन

करते हैं (ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती०) अपने सिद्धान्तानुसारी व्यवस्थामें द्वैतवादी निश्चित हैं। अतएव वे परस्पर विरुद्ध हैं। उनके साथ हमारा विरोध नहीं है। "यह संगरहित ब्रह्मरूपी योग सर्वसुखकारी हितकारी है। यहां कोई विवाद नहीं, विरोध नहीं" ऐसे गौडपादाचार्यने वर्णन किया है। ध्रुव अध्रुव यह सब अपनी-अपनी कल्पना है। क्योंकि वस्तु-विकल्प नहीं हो सकता यह बता चुके हैं। हां, जैसे क्रियामें विकल्प होता है वैसे कल्पना में भी विकल्प हो सकता है। रज्जुमें यह सर्प है, यह माला है, यह जलधारा है ऐसा कल्पनाविकल्प होता है। फलतः पूरे वादी मिलकर द्वैतकी कल्पना ही सिद्ध करते हैं। तब उनसे हम विवाद क्यों करें ? हमारा अविवाद ही है। शिवमायाके वशीभूत होकर लोग अन्यथा अन्यथा कल्पना कर रहे हैं। इसमें हमें कोई विस्मय नहीं है। क्योंकि शिवमायाको पार करना कठिन है ॥ ५९-६५ ॥

शिवमायां तु वीक्ष्यैवमाश्चर्यचकितोऽस्म्यहम् ।
अहो कथमियं लोकान्नर्तयत्येव यन्त्रवत् ॥ ६६ ॥

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥ ६७ ॥

मायिकं त्विदमादाय कथं स्तौषीति चेच्छृणु ।
मुखरत्वं तत्र हेतुं वक्ष्यामोऽनुपदं वयम् ॥ ६८ ॥

हां, यह बात जरूर है कि ऐसे नानामतविरोधके हेतु शिवमायाको देखकर मैं आश्चर्यचकित ही होता हूँ। अहो ! यह माया लोगोंको कैसे नचा रही है। यह वचन सत्य है जो शास्त्रोंमें उक्त है "वह भगवती महामाया ज्ञानियोंके चित्तको भी बलात् खींचकर मोहमें डालती है।" यह सारा जगत यदि मायिक है, वास्तविक नहीं, तो इनसे आप कैसे स्तुति करेंगे ? इसका उत्तर अभी हम देंगे कि मैं मुखर हूँ ॥ ६६-६८ ॥

यद्वा विरुद्धरूपत्वादेतन्मिथ्यात्वनिश्चये ।
मिथ्याभूतैर्हि तैः सत्यमुपलक्ष्यास्मि विस्मितः ॥ ६९ ॥

कश्चिदाश्चर्यवत्पश्यत्याचष्टेऽन्यस्तथैव च ।
शृणोत्याश्चर्यवच्चान्य इत्येवं स्मृतिषूदितम् ॥ ७० ॥

अथवा "तैर्विस्मित इव" का अर्थ—तैर्विरुद्धैरत एव मिथ्याभूतैरुपलक्षितं सत्यं वीक्ष्य विस्मितः। अर्थात् ये मत परस्पर विरुद्ध होनेसे जगत् मिथ्या कल्पना है यह सिद्ध होता है। तब सत्य कोई और है ऐसा निश्चय-

कर सत्य की खोज हुई। उसे देखा तो आश्चर्य सा लगने लगा। गीतामें कहा है—कोई उसे आश्चर्यवत देखता है, कोई आश्चर्यवत बोलता है, कोई आश्चर्यवत् सुनता है ॥ ६९-७० ॥

विस्मितोऽस्म्यद्भुताकारे नितरां परमेश्वरे।
सोऽहमेतैर्मतैः कुर्वे स्तोत्रमित्यन्वयोऽथवा ॥ ७१ ॥
नैव तात्पर्यमेष्वस्ति शिवतत्परचेतसः।
उदयं च लयं चैव सांख्यवत्प्रब्रवीम्यहम् ॥ ७२ ॥
क्रतुध्वंसं वदन् क्वापि वच्मि नैयायिकादिवत्।
न वेद्मि तत्त्वं यन्न त्वमिति वेदान्तिवद् ब्रुवे ॥ ७३ ॥
पौराणिककथा वच्मि सर्वसत्यत्ववादिवत्।
एतैरतो मतैः स्तोत्रं वदामि भवतः प्रभो ॥ ७४ ॥

विस्मित इव तैर्मतैः स्तुवन् ऐसा भी अन्वय हो सकता है। अर्थात् परमात्माके विषयमें मैं विस्मित हूँ। मैं इन्हीं पूर्वोक्त विरुद्ध मतोंको लेकर स्तुति करता हूँ। इनमें मेरा कोई तात्पर्य नहीं। 'जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्" यहां प्रलय शब्दसे सांख्यमतानुसार बोलता हूँ। "क्रतुध्वंसस्त्वत्तः" यहां ध्वंस पदसे नैयायिकमतानुसार बोलता हूँ। "न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं" यहां वेदान्तीके शब्दोंमें बोलता हूँ। और "तवैश्वर्यं यत्नात्" इत्यादि पौराणिक कथाख्यानमें सर्वसत्यत्ववादी जैसा बोलता हूँ। इस प्रकार इन्हीं मतोंको लेकर ही भगवत्स्तुति कर रहा हूँ ॥ ७१ ७४ ॥

एवमन्वयपक्षस्तु सम्यङ् न घटतेतराम्।
सकलाऽध्रौव्यपक्षेण स्तुतेरत्रानवेक्षणात् ॥ ७५ ॥

परन्तु ऐसा अन्वय बहुत ठीक तो नहीं लगता है। क्योंकि "सकलमपरस्त्वध्रुवं" इस बौद्धपक्षको लेकर यहांपर स्तुति देखनेमें नहीं आ रही है ॥ ७५ ॥

समस्तपक्षो यदि च तुरीयो नात्र गण्यते।
समस्त इति सर्वस्मिन् युक्ता ह्रीर्भेददर्शनात् ॥ ७६ ॥
तथापि नाहं जिह्रेमीत्येवमन्वय इष्यते।
इदंकारास्पदं सर्वमध्रुवं श्रुतिसंमतम् ॥ ७७ ॥
न तु बौद्धमताख्यानमत्र श्लोके तु विद्यते।
यत्तीर्णंविकृतीत्यग्रे बाधितद्वैततत्परम् ॥ ७८ ॥
एवं मतत्रयेणात्र स्तुतिः स्पष्टा विलोक्यते।
इत्युच्यते तदा प्रोक्तोऽप्यन्वयोऽत्र तु संभवेत् ॥ ७९ ॥

यदि "समस्तेऽप्येतस्मिन्" यह चतुर्थ पक्ष नहीं है। समस्तेऽप्येतस्मिन् न जिह्रेमि ऐसा अन्वय है। अर्थात् ये सभी मत परस्पर भिन्न हैं, इन सबको लेकर स्तुति करना लज्जास्पद है, पर मुखर होनेसे मैं लज्जाका अनुभव नहीं करता ऐसा मतलब है (लगभग इसी प्रकार मधुसूदन सरस्वतीकी व्याख्या है) सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं यह वेदान्तपक्षकथन है। इदंसे इदंकारास्पद दृश्य जगत् लेना चाहिये। वह अनित्य और असत्य है। (दृक् असत्य नहीं) यहां बौद्धमतका वर्णन नहीं है (आचार्योंने बोद्धवर्णन किया है किन्तु वह अग्राह्य है) सकलाध्रुवमतकी झलक "त्रयीं तिस्रो वृत्तीः" इस श्लोकमें तीर्णविकृतिसे मिलती है। क्योंकि तीर्णविकृतिका बाधित द्वैत संसार अर्थ है। फलतः तीन मतोंको लेकर ही पूरी स्तुति है ऐसी व्याख्या करेंगे तो तैर्मतैः स्तुवन् उक्त तीन मतोंसे स्तोत्र करता हूँ यह अन्वय भी यहां संभव है ॥ ७६–७९ ॥

अन्यान्यमतबाधेन कल्पितं सकलं मतम्।
तद्बहिर्भावविरहात् कल्पितं चाखिलं जगत् ॥ ८० ॥

एतत्स्फुटयितुं बौद्धमतमप्यत्र दर्शितम्।
न पुनस्तन्मतेनापि स्तुतिरत्र विवक्षिता ॥ ८१ ॥
तैरित्यनेन च पुनर्बौद्धवर्जैस्त्रिभिर्मतैः।
स्तुवन्निति यदा व्याख्या साप्यत्र घटतेतराम् ॥ ८२ ॥

यदि ऐसी व्याख्या की जाय कि परस्पर मतबाध होनेसे सभी मत कल्पित हैं। मत कल्पित हैं तो मतविषय जगत भी कल्पित ही है। इस बातको स्पष्टतर करने मात्रके लिये बोद्धमतोपन्यास किया, न कि उस मतसे भी स्तुति यहां विवक्षित है। "तैः स्तुवन्" का बौद्धेतर तीन मतोंसे स्तुति करते हुए ऐसी व्याख्या करो। तब जिस व्याख्याकी सम्यक् घटना नहीं है ऐसा पहले बताया वह व्याख्या भी संगत हो जायेगी ॥ ८०–८२ ॥

ननु सर्वं मतमिदं वाचैव प्रतिपाद्यते।
तदा वाग्विषयस्यैव कल्पितत्वं समागतम् ॥ ८३ ॥
तदा च स्तुतिरप्येषा वाग्रूपा कल्पितं वदेत्।
स्तुतिश्च कल्पितार्थेन लज्जयेत् किं न मानवम् ॥ ८४ ॥
उच्यते नास्ति मे लज्जा मुखरोऽस्मि स्तुतौ यतः।
मुखरस्य च धृष्टत्वं लज्जा धृष्टस्य का भवेत् ॥ ८५ ॥

पूर्वपक्षः—"जगति गदति" के अनुसार ये सभी मत वाणीसे प्रतिपादित होते हैं। ये सब कल्पित हैं तो उसका मतलब है वाग्विषयमात्र

कल्पित हैं। तब आपकी यह स्तुति भी वाणी होनेसे उसका विषय भी कल्पित हुआ। कल्पितार्थसे स्तुति करना तो लज्जाका विषय है। (जैसे मूर्खमें विद्याकी कल्पना कर उसे विद्वान कहना) समाधान यह है कि मुझे कोई लज्जा नहीं है। क्योंकि मैं वाचाल हूँ। वाचाल धृष्ट होता है। धृष्टकी भला क्या लज्जा हो ॥ ८३-८५ ॥

दुर्लभो यस्य काचोऽपि स्वबुद्ध्या स्तौत्यसौ नृपम्।
काचहारसुशोभीति निन्दा तद्दृष्टितो न सा ॥ ८६ ॥
विस्मितः काचदौर्लभ्यान्मुखरो जायते यथा।
अविचिन्त्यैव तद्दोषगुणौ स्तौत्यप्यतो नृपम् ॥ ८७ ॥
अविचिन्त्य जगद्ध्रौव्याध्रौव्यादिकमहं तथा।
वीक्षितेन महत्त्वेन भगवन्तं स्तवीमि हि ॥ ८८ ॥

जिसके लिये कांच भी दुर्लभ है उसकी दृष्टिमें कांचकी भी महत्ता है। कांचके हारसे यह राजा चमक रहा है वैसा वह कहेगा। उसकी दृष्टिमें वह निन्दा नहीं है। कांचकी दुर्लभतासे उसे देखनेपर खुश होकर जो मुखर हो उठता है, वह कांचके गुणदोषको क्यों सोचने लगेगा ? वैसे मैं भी ध्रौव्य अध्रौव्यादिकी ओर ध्यान न देकर प्रत्यक्ष महत्त्वसे भगवत्स्तुति करता हूँ ॥ ८६-८८ ॥

अयं भावो हरोत्कर्षतात्पर्यं केवलं मम।
असदर्थमुपादायाप्युत्कर्षो वर्ण्यते बुधैः ॥ ८९ ॥
यथा वपामुदखिदत्प्रजापतिरितीरितम्।
असदर्थमपि स्पष्टं वच उत्कर्षमानयेत् ॥ ९० ॥
उत्कर्षश्च महेशान्न भिद्यते तेन सोऽप्यसन्।
कुतो नेति तु शङ्कात्र जायते नैव धीमताम् ॥ ९१ ॥
तस्मात्सर्वं मम वचः स्तुत्यर्थं युज्यतेतराम्।
तदेतदाह न खलु जिह्लेमीत्यादिना मुनिः ॥ ९२ ॥

यहां भावार्थ यह है कि स्तुतिवचनोंमें शंकर भगवानका उत्कर्षमात्र तात्पर्यविषय है। वाच्यार्थ असत् होनेपर भी उत्कर्षवर्णन हो सकता है। जैसे "प्रजापतिर्वपामुदखिदत्" यहां पहले बताया। यह शंका करें कि उत्कर्ष भी तो असत् है तो उत्तर है—नहीं। उत्कर्ष महेश्वरसे अभिन्न होनेसे असत् नहीं है। अतः उत्कर्षवर्णनार्थ मेरा सभी स्तुतिवचन युक्त ही है। युक्तमें फिर लज्जाकी बात कहां रह जाती है ? यही "स्तुवञ्जिह्लेमि त्वां न खलु" इत्यादिसे पुष्पदन्त मुनि बता रहे हैं ॥ ८९-९२ ॥

यस्मिन् विकल्पितं लोकैः यथाबुद्धयखिलं जगत् ।
तस्मै नमोऽस्तु कस्मैचित् परस्मै परमात्मने ॥ ९३ ॥

अपनी बुद्धिके अनुसार लोगोंने जिसमें समस्त जगत्‌की कल्पना की उस वाचामगोचर पर परमात्माको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ९३ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ स्पन्दोऽयं नवमो गतः ॥ ८ ॥

ॐ

दशमः श्लोकः

अतद्व्यावर्तनद्वारा शक्यस्तवन ईश्वरः ।
अर्वाचीनपदद्वाराप्येवमेव महेश्वरः ॥ १ ॥

अतद्व्यावृत्ति करते हुए परमेश्वर का स्तवन संभव है । और अर्वाचीनपदके द्वारा भी भगवानकी स्तुति करना शक्य है ॥ १ ॥

अर्वाचीनपदं नाम तस्यैव परमेशितुः ।
स्वेच्छागृहीतरूपेण युक्तमौपाधिकं पदम् ॥ २ ॥

तदेतत् स्तवनीयं चेत् सुतरां तु त्रिपात्पदम् ।
स्तवनीयं भवेत्तेन द्वारा रूपेण निर्गुणम् ॥ ३ ॥

अर्वाचीन पदका मतलब है उसी परमेश्वरका स्वेच्छागृहीत औपाधिक स्वरूप । वह यदि स्तवनीय है तो उसी रूपके द्वारा त्रिपात रूपी निर्गुण पद भी सुतरां स्तवनीय होगा ॥ २-३ ॥

यश्चायं महिमाऽर्वाचीनपदेऽनादेस्तु स प्रभोः ।
तत्स्तवे परमस्यैव स्तुतिः शंभोः स्वभावतः ॥ ४ ॥

मिष्टान्ने यदि माधुर्यं स्वादुरूपेण चेत्स्तुतम् ।
शर्करायास्तु माधुर्यं स्वयमेव स्तुतं भवेत् ॥ ५ ॥

और यह भी बात है कि अर्वाचीन पदमें जो महिमा है वह अनादि प्रभुकी ही महिमा है। अतः अर्वाचीनकी स्तुति से अनादि तत्त्वकी स्तुति अपने आप हो जाती है। मिठाईका माधुर्य सरसरूपमें यदि बखाना गया तो शक्करके माधुर्यकी बखान अपनेआप हो जाती है ॥ ४-५ ॥

महिमानं प्रथयितुं निजं परममङ्गलम् ।
धत्ते स भगवानेतदर्वाचीनपदं तथा ॥ ६ ॥

और भी बात यह है कि अपनी परममंगल महिमाको प्रथित करनेके लिये ही परमेश्वर अर्वाचीन पद ग्रहण करते हैं। फलतः अर्वाचीनपद द्वारा मूल महिमाका ज्ञान होता है तो अर्वाचीन पदस्तुतिद्वारा मूलपदस्तुति स्वतःसिद्ध है ॥ ६ ॥

यथा ह्यतद्व्यावृत्त्यैवा कथंचित्प्राह मां श्रुतिः ।
कथं तथा च जानीयुः सर्वे सुकृतिनो हि माम् ॥ ७ ॥

अविज्ञातपदाः सन्तः सन्तोऽपि न च मामियुः ।
उपासनाद्यैः प्रकृतिलयान्तं तु फलं मतम् ॥ ८ ॥

प्रकृतिप्रविलीनाश्च परमानन्दवर्जिताः ।
पुरुषार्थच्युता जीवा भविष्यन्ति न संशयः ॥ ९ ॥

पशूनां हन्त जीवानां पतिरेषोऽस्मि पालकः ।
अतः पालयितव्यास्त इति व्यवसितो हरः ॥ १० ॥

अर्वाचीनपदं धत्ते सन्तस्तद्वीक्ष्य चाद्भुतम् ।
महिमानं समन्विष्य मूलं जानन्ति तत्पदम् ॥ ११ ॥

इसको कुछ और स्पष्ट समझिये—भगवान शंकरने देखा कि मुझे श्रुति भी अतद् व्यावृत्तिसे यथाकथंचित् कहती है। ऐसी स्थितिमें ये सब पुण्यात्मा कैसे मुझे जान पायेंगे ? मुझे न जाननेपर बड़े-बड़े सन्त भी मुझे प्राप्त नहीं होंगे। सामान्य उपासनाओंसे वे केवल प्रकृतिलीन होंगे। प्रकृतिलीन होनेपर परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होगी। इसप्रकार ये जीव पुरुषार्थच्युत होंगे। जीवरूपी पशुओंका मैं पति ठहरा। अतः इनका पालन मुझे अवश्य करना चाहिये। भगवान शंकरका यही निश्चय था। तदनुसार शंकरने अर्वाचीन पद धारण किया। सन्त पुरुष उस अद्भुत अर्वाचीन पदको देखकर मूल महिमाका अन्वेषण करते हुए उसे भी जानने लगे ॥ ७-११ ॥

अर्वाचीनपदस्यातो मूलपर्यन्तगामिनी ।
पारम्पर्येण भवति स्तुतिरित्येष निश्चयः ॥ १२ ॥

अतः अर्वाचीन पदकी स्तुति परम्परया मूलपदगामिनी है यह निश्चित होता है ॥ १२ ॥

अतः पौराणिकीभिस्तन्महिमानं प्रभाषते ।
श्मशानश्लोकपर्यन्तमर्वाचीनं कथादिभिः ॥ १३ ॥
प्रसङ्गतः क्वचित् साक्षादिव चापि न्यारूपयत् ।
क्रतुसुप्तिप्रवचनप्रभृताविति बुध्यताम् ॥ १४ ॥

अतः पुष्पदन्ताचार्य 'श्मशानेष्वाक्रीड़ा' श्लोकतक पौराणिककथाओंसे अर्वाचीनमहिमागान करते हैं। प्रसङ्गतः 'क्रतौ सुप्ते' इत्यादिमें साक्षात् जैसा भी मूलमहिमानिरूपण है ॥ १३-१४ ॥

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेतुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ १० ॥

हे गिरिश ! आपके ऐश्वर्यकी सीमा देखनेके लिये यत्नके साथ ब्रह्मा और विष्णु आपके ज्योतिर्लिङ्गके ऊपर और नीचेकी ओर चले। किन्तु वे असफल हुए। वे फिर अतिशय भक्ति और श्रद्धाके साथ जो स्तुति करने लगे थे, उसीसे फिर आपने उनके संमुख अपने स्वरूपको प्रकाशित किया। आपकी ऐसी सेवा क्या क्या फल नहीं देती ? ॥ १० ॥

तवैश्वर्यं

तवैश्वर्यं यत्तदिति प्रागत्रैव समागतम् ।
तुल्यशब्दद्वयावृत्तिरैश्वर्यैक्यविवक्षया ॥ १५ ॥
त्रयीवस्तु यदैश्वर्यं त्रिपाद्ब्रह्मात्मकं परम् ।
अर्वाचीनपदद्वारा तदेवात्र निरूप्यते ॥ १६ ॥

'तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदय' इत्यादि पहले आया है। यहां तवैश्वर्य यह समानपद दोनों जगह ऐश्वर्य एक ही है यह बतानेके लिये है। अर्थात् जो त्रयी वस्तु त्रिपाद् ब्रह्मरूप परम ऐश्वर्य है, जिसका प्रतिपादन पहले हुआ, उसीको यहां अर्वाचीनपदके निरूपणके द्वारा निरूपित किया जा रहा है ॥ १५-१६ ॥

यदुपरि०

तवैश्वर्यं परिच्छेत्तुं ज्ञानेन क्रिययापि च ।
उपर्यधो ब्रह्मविष्णू जग्मतुः प्रभुमानिनौ ॥ १७ ॥

आपके ऐश्वर्यका ज्ञान और क्रियासे परिच्छेद करनेके लिये अपनेको प्रभु माननेवाले ब्रह्मा और विष्णु ऊपर और नीचे चले ॥ १७ ॥

अनलस्कन्ध०

रुद्रो वा एष खल्वग्निरित्येवं श्रुतिषु श्रुतम् ।
स्कन्धो वृक्षस्य मूलोर्ध्वभागो यो दीर्घवर्तुलः ॥ १८ ॥
स्कन्धाकारं वपुर्दीर्घशिवलिङ्गमिहोच्यते ।
अनलो ज्तोतिरर्थोऽपि ज्योतिर्लिङ्गं विवक्षितम् ॥ १९ ॥

"रुद्रो वा एष यदग्निः" ऐसी श्रुति है। उस अग्निका स्कन्ध अनलस्कन्ध है। लंबे गोल-गोल वृक्षके थड़को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्धाकारमें प्रज्वलित अग्नि शंकरका शरीर है। अनलका अर्थ ज्योति भी है। अतः ज्योतिर्लिङ्ग अर्थ विवक्षित है ॥ १८-१९ ॥

स्कन्धः समुदयेऽपीति कोशात् पुञ्जार्थवाचकः ।
ज्योतिःपुञ्जवपुः सोऽपि ज्योतिर्लिङ्गस्वरूपधृक् ॥ २० ॥

"स्कन्धः समुदयेऽपि स्यात्" ऐसा कोशमें बताया है । समुदय=समुदाय अर्थात् पुञ्ज । ज्योतिःपुञ्जशरीरका मतलव है—ज्योतिर्लिङ्गस्वरूपधारी ॥ २० ॥

ज्योतिर्लिङ्गं पञ्चमुखं शिवतत्त्वमिहोच्यते ।
किं वा पूर्णं परशिवतत्त्वमेव विवक्षितम् ॥ २१ ॥

ज्योतिर्लिङ्गका अर्थ है पचमुख शिवतत्त्व । अथवा पूर्ण शिवतत्त्व ही यहां ज्योतिर्लिङ्गका मतलब है ॥ २१ ॥

अनलम्

अनलं तावपर्याप्तौ परिच्छेत्तुं बभूवतुः ।
न शेकाते परिच्छेत्तु शैवं ब्रह्मविधी पदम् ॥ २२ ॥

किन्तु वे अनल हुए अर्थात् शिवलिङ्ग परिच्छेद करनेमें अपर्याप्त हुए । ब्रह्मा और विष्णु शिवलिङ्गको परिच्छेद नहीं कर सके ॥ २२ ॥

ब्रह्मा कदाचिदगमत् क्षीरसागरशायिनम् ।
शयानं तं विलोक्याह कस्मात्स्वपिषि पुत्रक ॥ २३ ॥

आगच्छन्नभिनन्द्यः स्यादभ्युत्थानादिभिः सुतैः ।
गुरुरेषा श्रवेच्छास्त्रमर्यादा तां स्मरात्मज ॥ २४ ॥

एक समय ब्रह्माजी विष्णुके पास गये । विष्णु क्षीरसागरमें शेष-शय्यापर लेटे हुए थे । वैसे उनको देखकर ब्रह्माजी बोले—बेटा, कैसे लेटा हुआ है ? पिता जब आते हैं तो पुत्रका कर्तव्य है कि वह उठकर वन्दन करे । यही शास्त्रमर्यादा है । उसको स्मरण कर ॥ २३-२४ ॥

विष्णुः—हन्त पुत्रक भो ब्रह्मन् वेदान् विस्मरसि स्वयम् ।
वन्द्यं वन्दस्व मां तातं पादस्पर्शादिभिर्हरिम् ॥ २५ ॥

स्तब्ध एषि कथं मां त्वं प्राज्ञमानी जगत्पतिम् ।
अशिक्षयमहं प्राक् त्वा स्मर सम्यक् समाहितः ॥ २६ ॥

विष्णुने कहा—हाय ! पुत्र ब्रह्मन् ! कैसे तुम वेदोंको ही भूल रहे हो ? वन्दनीय मुझ हरिकी चरणस्पर्शादिसे वन्दना करो । तुम अपनेको पण्डित जैसे समझते हुए स्तब्ध होकर जगत्पति मेरे पास आये हो । यह भला कैसे ? मैंने तुमको पहले ही वेदोंकी शिक्षा दी थी । समाहितचित्त होकर उसका स्मरण करो ॥ २५-२६ ॥

ब्रह्मा :—कथं त्वं मम तातोऽसि तातोऽहं विश्वसृड् यतः ।
विश्वं सृजंस्त्वां चाहं पितामह इतीरितः ॥ २७ ॥
जगत्पतिर्भवेः कामं पालयेथा जगत्त्रयम् ।
कथं पालयितुर्नाम स्रष्टृत्वं समुपागतम् ॥ २८ ॥

ब्रह्मा बोले—तुम मेरे पिता कैसे हो ? मेरा नाम विश्वसृट् है । सारे विश्व को मैंने बनाया, जिस विश्वमें तुम भी आ जाते हो । इसलिये मेरा नाम पितामह भी है । तुम जगत्पति हो उसका कौन निषेध करता है ? जगत्का पालन करो । किन्तु पालक स्रष्टा कहांसे बना ? ॥ २७-२८ ॥

विष्णुः—अहो मूढ न जानासि मन्नाभेस्त्वत्समुद्भवम् ।
सृज विश्वं परं त्वां तु सृजाम्यहमिति स्थितिः ॥ २९ ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ ३० ॥

नाभिवादयते यस्तु वृद्धान्नैव च सेवते ।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ ३१ ॥

तदद्य तेऽविनीतस्य गतमायुर्निबोध मे ।
चक्रेणाद्य शिरस्ते तु छिन्द्यीक्षस्व तत्क्षणात् ।। ३२ ।।

विष्णु बोले— अरे मूढ ! मेरी नाभिसे तुम पैदा हुए यह क्या नहीं जानते ? तुम जगतकी सृष्टि करो किन्तु तुम्हारी उत्पत्ति करनेवाला मैं हूँ। अभिवादनशील वृद्धसेवारत पुरुषके आयु, विद्या, यश और बल ये चार यदि बढ़ते हैं तो जो अभिवादन और सेवा नहीं करता उसके वे ही चार— आयु-विद्या-यश-बल नष्ट भी होते हैं। आज तुम्हारी आयु समाप्त हो गयी समझ लो। इस चक्र से तुम्हारे देखते ही सिर काट गिराता हूँ ।। २९-३२ ।।

ब्रह्माः— स्रष्टा स्वयंभुव इति वक्तुर्बालिशता स्फुटा ।
कस्ते सावयवस्यास्ति स्रष्टान्यो मद्दते वद ।। ३३ ।।
वेदमार्गविहन्तारं हन्त हन्तास्मि संप्रति ।
ब्रह्मास्त्रं पश्य मेऽत्युग्रं स्मरणीयं स्मराधुना ।। ३४ ।।

ब्रह्माजी बोले—मेरा नाम स्वयंभू है। स्वयंभूका स्रष्टा मैं हूँ कहनेवालेकी मूर्खता स्पष्ट है। तुम सावयव हो। सावयव होनेसे उत्पन्न हो। तुम्हारा स्रष्टा मेरे सिवाय कौन होगा ? वेदमार्गका उल्लंघन करनेवाले तुम्हारा आज मैं हनन करूँगा। मेरा यह अत्युग्र ब्रह्मास्त्र देख लो और अन्त समयमें स्मरणीयका स्मरण कर लो ।। ३३-३४ ।।

इत्येवं प्रवदन्तौ तावारभेतां महारणम् ।
हाहाकारो महानासीत्तदा देवासुरादिषु ।। ३५ ।।
ब्रह्मास्त्रं प्राक्षिपद् ब्रह्मा चक्रं च प्राहिणोद्धरिः ।
तत्संघट्टसमुत्थाग्निज्वाला विश्वमजज्वलत् ।। ३६ ।।

इस प्रकार कहते हुए सचमुच दोनोंने महायुद्ध ही प्रारम्भ किया ! देवासुरादिमें उस समय बड़ा हाहाकार मचा। ब्रह्माजीने ब्रह्मास्त्र छोड़ा, चक्रपाणि हरिने चक्र छोड़ा। दोनोंकी टक्करसे जो अग्निज्वाला पैदा हुई वह सारे विश्वको जलाने लगी ।। ३५-३६ ।।

देवासुरादयः सर्वे निर्भरं भयविह्वला ।
तुष्टुवुः परमेशानं रक्षरक्षेति वादिनः ।। ३७ ।।
तदा तयोरन्तराले ज्योतिर्लिङ्गं परात्परम् ।
अनाद्यनन्तं सहसा प्रादुरासीत्प्रयुध्यतोः ।। ३८ ।।
ब्राह्ममस्त्रं तदा तस्मिन् वैष्णवं चक्रमेव च ।
ज्योतिर्लिङ्गेऽभ्यलीयेतां तदद्भुतमिवाभवत् ।। ३९ ।।

देवासुरादि सभी भयविह्वल होकर रक्ष रक्ष कहते हुए भगवान शङ्करकी स्तुति करने लगे। तब ब्रह्मा और विष्णु दोनोंके मध्यमें अनादि अनन्त ज्योतिर्लिङ्ग सहसा प्रगट हो गया। और सामने ही देखते देखते ब्रह्मास्त्र और वैष्णव चक्र दोनों ही उस ज्यतिर्लिङ्गमें लीन हो गये। यह बड़ा आश्चर्यकारी रहा ॥ ३७-३९ ॥

हन्तावयोर्विवादस्य ज्योतिर्लिङ्गं निवृत्तये।
इदमागात्तस्य पारद्रष्टा यः स गुरुः पिता ॥ ४० ॥

हंसारूढस्तदा ब्रह्मा वराहाकृतिरच्युतः।
ऊर्ध्वं चाधश्च तत्पारं दिदृक्षू त्वरितं गतौ ॥ ४१ ॥

अलब्ध्वा माधवोऽधस्तात्पारं ध्वस्तमदस्ततः।
न्यवृतत् स्वीयशिष्यत्वशङ्कया विमना इव ॥ ४२ ॥

दोनों बोल—देखो, देखो हमारे विवादका निपटारा करनेके लिये मध्यमें यह ज्योतिर्लिङ्ग आया। इसका जो पारद्रष्टा होगा वही गुरु या पिता होगा। ब्रह्मा हंसारूढ़ होकर ऊपरकी ओर चले। विष्णु वराहरूप धारणकर नीचेकी ओर चले। विष्णु लम्बे समय तक जाकर नीचे पार न पाकर नष्टगर्व होकर छोटे बननेकी शङ्कासे हताश जैसे वापिस लौटे ॥ ४०-४२ ॥

अदृष्टपारोऽपि विधिः शिष्यत्वभयविह्वलः।
ऊर्ध्वं पश्यन्नवैक्षिष्ट केतकीं धेनुमेव च ॥ ४३ ॥

कृत्वा ते शापभीते स तथैव वरलोभिते।
अकरोत्कूटसाक्षिण्यौ तज्ज्योतिःपारदर्शने ॥ ४४ ॥

ऊपर जाते जाते ब्रह्मा भी पार नहीं पा सके। लेकिन छोटे बन जानेके भयसे ऊपर देखते रहे। इतनेमें वहाँसे केतकी और कामधेनुको नीचेकी ओर आते हुए देखा। उनको कहा कि तुम दोनों मेरे कूट साक्षी बनो। विष्णुको मैं कहूँगा कि मैंने ज्योतिका पार देखा। असत्य बोलनेमें प्रथम दोनों हिचकिचाने लगी। ब्रह्माने कहा ऐसा न कहोगी तो मैं तुम दोनोंको शाप दूंगा। मैं ब्रह्मा हूं। और वैसा करोगी तो तुम्हें संसारमें सर्वोत्तम होनेका वरदान दूंगा। आखिर दोनोंने मान लिया ॥ ४३-४४ ॥

प्रसन्नमिव तं दृष्ट्वा ब्रह्माणं विमना हरिः।
पप्रच्छ पारमैक्षिष्ठाः किं साक्षी चात्र को वद ॥ ४५ ॥

अहमैक्षिषि तत्पारं पृच्छेमौ साक्षिणौ पुरः।
द्व्यर्थत्वेऽचालयद्धेनुः शिरः सौगन्ध्यतोऽपरा ॥ ४६ ॥

यावत्प्रणन्तुमुत्तिष्ठत्यच्युतस्तावदेव हि ।
रुद्र आविर्बभौ घोरो वीक्ष्य शिष्टेऽनृतं हरः ॥ ४७ ॥

नखेन पञ्चमं धातुः शिरोऽच्छैत्सीदसत्यवाक् ।
शशाप धेनुकेतक्यावपूज्यत्वाय शङ्करः ॥ ४८ ॥

अदृश्यमभवज्ज्योतिर्लिङ्गं सद्योऽतिविस्मयम् ।
रुद्रः कपाली निरगादटन् भिक्षां च काशिकाम् ॥ ४९ ॥

विष्णुने निराश होकर प्रसन्नमुख जैसे ब्रह्माको देखा और पूछा आपने ज्योतिका पार देखा ? यदि देखा तो साक्षी कौन ? ब्रह्माने कहा—हाँ, मैंने देखा, ये दो साक्षी हैं, पूछ लो। पूछनेपर कामधेनुने सिर हिलाया जिसका हाँ और नहीं दोनों अर्थ हो सकते थे। किन्तु विष्णुने समझा—हाँ। केतकीने सुगन्धि फैलाकर मानो सूचित किया—हाँ देखा। तब विष्णु अपनेको ब्रह्मासे छोटा समझकर प्रणाम करने उठे। शिष्ट पुरुषमें यह अनृत देखकर भगवान् शङ्कर रुद्ररूपसे प्रकट हुए और झूठ बोलनेवाले ब्रह्माके पाँचवें मस्तकको नाखूनसे काट गिराया। कामधेनु और केतकी दोनोंको शाप दिया कि आधी झूठ बोलनेसे दोनों ही अपूज्य बनो। ज्योतिर्लिङ्ग अदृश्य हो गया। ब्रह्मवधप्रयुक्तपापनिवृत्यर्थ कपालधारी हो भिक्षाटन करते हुए रुद्र भगवान काशी गये। जहाँ वे पापमुक्त हुए ॥ ४५-४९ ॥

ततो भक्तिश्रद्धा०

ततश्च भक्तिश्रद्धाभ्यामगृणीतामुभावपि ।
पूजाद्यैरन्ववर्त्तेतां शिवं गलितविस्मयौ ॥ ५० ॥

सैव भक्तिरिति ख्याता यतस्तद् भक्तिलक्षणम् ।
पूजादिष्वनुरागं हि पाराशर्यो जगाद यत् ॥ ५१ ॥

भक्तिस्तु परमप्रेमलक्षणा नारदेरिता ।
तयोपलक्ष्यते पूजाप्रभृतिर्भक्तिलक्षणम् ॥ ५२ ॥

तथा च भज सेवायामित्यूचे पाणिनिर्मुनिः ।
अग्रेऽनुवृत्तिकथनमतः सङ्गच्छते मुनेः ॥ ५३ ॥

इसके बाद भक्ति और श्रद्धासे ब्रह्मा और विष्णु दोनोंने भगवानकी स्तुति की। गर्व छोड़कर पूजा आदिसे शिवकी सेवा की। यही यहाँ भक्ति पदार्थ है। क्योंकि पूजादि भक्तिलक्षण है। "पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः" इस प्रकार नारदीय भक्तिसूत्रमें पाराशर्य (व्यास) मतसे पूजादि अनुराग-को भक्तिलक्षण बताया है। भक्ति तो परमप्रेमको कहते हैं। यहाँ वह भी

अर्थ है। उससे पूजादिका उपलक्षण भी है। अतएव "भज सेवायां" ऐसा पाणिनि ऋषिने सेवा अर्थ बताया। इतने श्रमसे पूजादि अर्थ क्यों करना ? इसलिये कि आगे इसका अनुवाद अनुवृत्तिपदसे करेंगे—तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ ५०-५३ ॥

श्रद्धा त्वास्तिक्यबुद्धिः स्याच्छ्रत् सत्यं धत्त इत्यतः ।
नास्त्यन्यः परमात्मेति पूर्वं यौ प्रभुमानिनौ ॥ ५४ ॥

अस्तीति तावमन्येतां सा श्रद्धा हरिवेधसोः ।
उत्कर्षवत्त्वबुद्धिर्वा शङ्करेऽपारतेजसि ॥ ५५ ॥

मानसश्च प्रणामादिरत्र चोत्कर्षधीभवः ।
विवक्षितो मानसानुवृत्तिश्चैतेन लभ्यते ॥ ५६ ॥

श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिको कहते हैं। श्रत् सत्यं दधातीति श्रद्धा ऐसा यहाँ विग्रह है। सत्यधारणा ही आस्तिकता है। प्रथम ब्रह्मा और विष्णु अपनेको ही प्रभु मान रहे थे। अन्य परमात्माका अस्तित्व नहीं मानते रहे। संप्रति वे मानने लगे कि हमसे परे परमात्मा है। अथवा उत्कर्षवत्त्वबुद्धि श्रद्धा है। उत्कर्षबोधानुकूल व्यापार प्रणामादि भी यहाँपर विवक्षित है। कायिक प्रणामादि तो भक्तिसे गतार्थ है। अतः मानस प्रणामादि ग्राह्य है। इस मानसानुवृत्तिका भी इससे लाभ है ॥ ५४-५६ ॥

भरगुरु०

यथोक्तभक्तिश्रद्धाभ्यां भृशं गुरु यथा तथा ।
सगौरवं सुस्थिरं चाप्यगृणीतां महेश्वरम् ॥ ५७ ॥

गिरणं स्तुतिरेवात्र सा सेवा वाचिकी मता ।
अनुवृत्तिरियं चापि भवेद् भगवतः स्तुतिः ॥ ५८ ॥

पूर्वोक्त भक्ति और श्रद्धासे भर अर्थात् अतिशयरूप गुरु भूत अर्थात् गौरवस्थिरताके साथ दोनोंने महेश्वरकी स्तुति की। गॄ धातुसे गृणद्ध्यां शब्द है। गिरण स्तुतिको कहते हैं। स्तुति वाचिक सेवा है। अतः यह स्तुति भगवानकी वाचिकी अनुवृत्ति मानी जायेगी ॥ ५७-५८ ॥

स्वयं तस्थे०

चिरं तथाऽगृणीतां तौ भगवन्तं महेश्वरम् ।
ततः प्रसन्नः समभूदनुवृत्त्या स च प्रभुः ॥ ५९ ॥

स्वयं तस्थे ततस्ताभ्यां प्रीतः शिवतनुः शिवः ।
प्रकाशयन्निजं रूपं पञ्चवक्त्रं त्रियम्बकम् ॥ ६० ॥

इस प्रकार दीर्घकालतक दोनोंने शङ्कर की स्तुति की। उस अनुवृत्ति से शङ्कर प्रसन्न हुए और शिवतनु होकर शिव अपना पञ्चवक्त्र त्र्यम्बक स्वरूप प्रकाशित करते हुए उनके सम्मुख स्थित हुए ॥ ५९-६० ॥

प्रेमाश्रुकलिलाक्षौ चापततां तौ प्रभोः पदोः ।
उत्थाप्य स्वार्पितात्मानावनुजग्राह शङ्करः ॥ ६१ ॥
पटेन समपावृत्योपादिशत्कर्णयोस्तयोः ।
पञ्चाक्षरं सप्रणवं महामन्त्रं प्रबोधयन् ॥ ६२ ॥

शङ्करके दर्शनसे ब्रह्मा विष्णु दोनोंकी आखोंमें आंसू भर आये। दोनों प्रभुके चरणोंमें पड़ गये। इस प्रकार समर्पितात्मा उन दोनोंको उठाकर शङ्करने उनपर अनुग्रह किया। वस्त्रसे पड़दा लगाकर दोनोंके कानोंमें प्रणवसहित पञ्चाक्षर महामन्त्रका उपदेश किया और प्रबोध कराया ॥ ६१-६२ ॥

ॐकारः पञ्चमात्रः स्यान्मात्राश्चाकारसंयुताः ।
उकारश्च मकारश्च बिन्दुर्नादश्च पञ्च ताः ॥ ६३ ॥
नमः शिवाय मन्त्रस्थैस्ता हि पञ्चभिरक्षरैः ।
व्याख्यायन्ते ततः सूक्ष्मस्थूलरूपावुभौ मतौ ॥ ६४ ॥

ॐकार पाँच मात्रा वाला है। अ, उ, म, बिन्दु, नाद ये पाँच मात्रायें हैं। नमः शिवाय मन्त्रमें स्थित पाँच अक्षरोंसे उन्हीं मात्राओंकी व्याख्या होती है। पाँच मात्रायें सूक्ष्मरूप हैं, पाँच अक्षर स्थूलरूप हैं, यही फरक है ॥ ६३-६४ ॥

उदक् प्रत्यगवाक् प्राक् च शिरांस्यूर्ध्वं च पञ्चभिः ।
उच्यन्ते पञ्चकृत्यस्य मम मात्राभिरक्षरैः ॥ ६५ ॥
सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तिरोधानमनुग्रहः ।
एतानि पञ्चकृत्यानि मम पञ्चमुखैः क्रमात् ॥ ६६ ॥

उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व और ऊर्ध्व इस प्रकार मेरे पाँच मस्तक हैं। मैं पञ्चकृत्यवाला हूँ। पाँच मात्राओंसे व अक्षरोंसे इन मस्तकोंका निरूपण है। पाँच कृत्य हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह। इन कृत्योंको मैं पाँच मुखोंसे करता हूँ ॥ ६५-६६ ॥

मा कृषातामभिमतिं सृष्ट्यादौ तु कदाचन ।
तीर्त्वाभिमानं कर्तव्यं कुर्वतो न हि बन्धनम् ॥ ६७ ॥

सृष्ट्याद्यभिमतेरेव कलहो युवयोरभूत् ।
ततस्तां सर्वथा त्यक्त्वा कुरुतं जपमुत्तमम् ॥ ६८ ॥
जप्येनैव हि सिध्येतां युवां नैवास्ति संशयः ।
मत्स्वरूपं ततो ज्ञात्वा विमुक्तौ विहरिष्यथः ॥ ६९ ॥

सृष्टि आदि पाँच कृत्य मेरे हैं । अतः उनमें तुम अभिमान न करो । अभिमान छोड़कर कर्तव्य करनेवालेको बन्धन नहीं होता । सृष्टि आदिमें अभिमान होनेसे ही आप दोनोंमें अभी अभी परस्पर कलह हुआ । अतः उस अभिमानको छोड़कर पञ्चाक्षर मन्त्र जप करो । जपसे आपको सिद्धि प्राप्त होगी । इससे मेरा परमार्थस्वरूप जानकर मुक्त हो विहार करोगे ॥ ६७-६९ ॥

ब्रह्मा पूज्यः पुष्करे स्यात् पुच्छे गोः पूजयिष्यते ।
केतकी स्वतृतीयायां तिथौ पूजार्हतां व्रजेत् ॥ ७० ॥
इत्युक्त्वा च हरः प्रीत्या तत्रैवान्तर्दधे प्रभुः ।
मुमुदाते परां लब्ध्वा सिद्धिं द्रुहिणमाधवौ ॥ ७१ ॥
ब्रह्माक्षमालया नित्यं वर्तते जपतत्परः ।
हरेः कमलसाहस्रपूजां वक्ष्यामहेऽग्रतः ॥ ७२ ॥
ईश्वरत्वमपद्येतामुभौ पूज्यावुभावपि ।
तवानुवृत्तिर्हि फलं किं न दद्याज्जगत्त्रये ॥ ७३ ॥

ब्रह्मा पुष्करराजमें पूजित होंगे । गायकी पूँछकी पूजा होगी । केवड़ा तृतीयाको केवड़ापूजन होगा । ऐसा कहकर शङ्कर भगवान अन्तर्धान हो गये । परम सिद्धिको प्राप्तकर ब्रह्मा और विष्णु मुदित हुए । अक्षमाला लेकर ब्रह्मा आज भी पञ्चाक्षर जप करते हैं । विष्णुकी कमलसहस्रपूजा आगे बतायेंगे । दोनों ईश्वरत्वको प्राप्त हो गये । शङ्करपूजन त्रिलोकमें क्या फल नहीं देता ? ॥ ७०-७३ ॥

विरिञ्चाद्यपरिच्छेद्यमनाद्यन्तं कृपानिधिम् ।
अशेषफलदातारं चिदानन्दं शिवं भजे ॥ ७४ ॥

जो विरिञ्च आदिके अगम्य है, अनादिअनन्त है, कृपानिधान है, सकल फलदाता है, ऐसे आनन्दस्वरूप ज्योतिस्वरूप शिवका मैं भजन करता हूँ ॥ ७४ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नःस्तोत्रविवृतौ स्पन्दोऽयं दशमो गतः ॥ १० ॥

ॐ

एकादशः श्लोकः

उत्कृष्टाः सात्त्विका एव विष्ण्वाद्याः यान्ति किं फलम् ।
तथा चेदस्मदादीनां वृथा भक्तिर्भविष्यति ।। १ ।।
नैवं दशाननाद्याश्च तामसा लेभिरे फलम् ।
सुतरां लभ्यमस्माभिः फलमित्युच्यतेऽधुना ।। २ ।।

"तव किमनुवृत्तिर्न फलति" बताया। उदाहरणरूपेण ब्रह्मा और विष्णुको प्रस्तुत किया। तब प्रश्न हुआ कि ब्रह्मा विष्णु जैसे उत्कृष्ट, परम सात्त्विक उपासक ही फल पाते हैं क्या ? यदि ऐसा है तो अस्मदादिकी भक्ति वृथा होगी। इसका समाधान यहाँ दिया जा रहा है कि ब्रह्मादि एकदेशोदाहरणमात्र है। रावण जैसे तामस व्यक्ति भी भगवद्भक्तिसे फल पा चुके हैं। हमें तो सुतरां फल प्राप्त होगा। क्योंकि हम उतने अधिक तामस तो नहीं हैं, जैसे रावणदि हैं ।। १-२ ।।

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान् ।
शिरः पद्म श्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ।।११।।

अनायास ही त्रिभुवनको प्रतिद्वन्द्वीरहित बनाकर रावण युद्धकी खुजलीवाली अपनी बाहुओंसे परेशान जो हुआ, वह हे त्रिपुरारी शङ्कर ! आपके चरणोंमें पद्मवत् अपने मस्तकसमूह चढ़ाते हुए की हुई उसकी अपनी स्थिर भक्तिका ही टङ्कार था ।। ११ ।।

मातुः शयानः स क्रोडे विमानं गगनेचरम् ।
किंकिणीरावमधुरमपश्यद्रावणः शिशुः ।। ३ ।।
किमेतत्कस्य वा मातरित्युक्ता सा जगाद तम् ।
भ्राता तवास्त्यैडविडो विमानस्तस्य खल्वयम् ।। ४ ।।
पद्मस्तथा महापद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वाश्च निधयो नव ।। ५ ।।

निधीनां पतिरेतेषां स शङ्करकृपावशात् ।
धनाधिपः स भुवने विमानं तस्य पुष्पकम् ॥ ६ ॥
त्वं चैधस्व कृपां तस्य प्राप्य कैलासवासिनः ।
धूनीहि व्यथिताया मे व्यथां तन्मातृसंपदा ॥ ७ ॥

एक दिनकी बात है—शिशु रावण अपनी माँकी गोदमें लेटा था । ऊपरसे किङ्किणीकी आवाजसे युक्त गगनगामी एक विमान उसने देखा । यह क्या उड़ रहा है, किसका है ? ऐसा रावणने पूछा तो माताने कहा—तुम्हारे सौतेले भाई कुबेरका यह विमान है । वह शङ्करकृपासे पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, खर्व ऐसे नौ निधियोंका पति है, संसारमें धनपति है । उसके इसी विमानको पुष्पक विमान कहते हैं । मेरे वत्स ! तुम भी कभी शङ्करकृपा प्राप्त कर आगे बढ़ो और कुबेरकी माताकी सम्पत्ति देखकर व्यथित मेरे हृदयकी व्यथा दूर करो ॥ ३-७ ॥

मातुर्गिराऽभवत्तस्य प्रीतिः सा पौर्विकी हरे ।
भृङ्गी भृङ्गी रावणश्च कुम्भकर्णश्च यत्स्मृतौ ॥ ८ ॥
नारदेन प्रशप्तौ तौ राक्षसत्वमुपेयतुः ।
देवर्षेः कपिवक्त्रत्वं दृष्ट्वा जहसतुर्हि यौ ॥ ९ ॥

माताके मुखसे शङ्करभगवानकी बात सुनते ही रावणके पूर्वजन्मीय शङ्करप्रीति जागृत हुई । क्योंकि रावण और कुम्भकर्ण पूर्वजन्मके शिवगण भृङ्गी भृङ्गी ही तो थे । नारदजीके शापसे वे राक्षस बन गये थे । देवर्षिके बानरमुखको देखकर जो हँसे थे जिससे उनको शाप मिला था ॥ ८-९ ॥

पितामहात् पुलस्त्यात् स लब्ध्वा पञ्चाक्षरं मनुम् ।
तपोऽतिदारुणं तेपे रावणो लोकरावणः ॥ १० ॥

अपने पितामह पुलस्त्यसे लोकरोदनकारी रावणने पंचाक्षर मन्त्र प्राप्तकर घोर तप किया ॥ १० ॥

चिरं तप्त्वापि स तपो न लेभे शिवदर्शनम् ।
अतिरुद्रमतो यज्ञमकरोद्वेदसम्मतम् ॥ ११ ॥
यज्ञे कृतेऽपि विधिवन्नालोकिष्ट महेश्वरम् ।
ततोऽतिदुःखितश्चिन्तां दुरन्तामाप रावणः ॥ १२ ॥
किं करोमि शिवः किं न प्रसादं मयि धास्यति ।
ततो दध्यावस्तवीच्चापूजयच्च मुहुर्मुहुः ॥ १३ ॥

दीर्घकाल तप करनेपर भी शिवदर्शन नहीं हुआ तो रावणने अतिरुद्र यज्ञ किया । यज्ञके बाद भी दर्शन प्राप्त नहीं हुआ । रावण दुःखी

एवं चिन्तित हुआ । क्या भगवान शिव मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे ऐसा सोचकर बारबार ध्यान, स्तुति पूजा आदि की ॥११-१३ ॥

तपो हि हृदयं शंभोः तपः परमसाधनम् ।
तेनापि चेदप्रसन्न शिवो मे जीवनं वृथा ॥ १४ ॥
इत्यालोच्य दशास्योऽपि खड्गं हस्ते व्यदीधरत् ।
समर्प्य स्वशिरः शम्भुं प्रसिषादयिषुर्दृढः ॥ १५ ॥
निकृत्यैकं शिरस्तस्मिन् कृत्वासौ पद्मभावनाम् ।
अग्नौ रुद्रपदाम्भोजभावनां चाजुहोदद‍ः ॥ १६ ॥
ततो द्वितीयं संछिद्य तथैवाग्नावजोहवीत् ।
तृतीयं च चतुर्थं च पञ्चमादि च रावणः ॥ १७ ॥

तप भगवान शंकरका हृदय है । तप परमसाधन है । उससे भी भगवान प्रसन्न न हुए तो जीवन वृथा है । ऐसा सोचकर रावणने हाथमें तलवार ली । उसने सोचा कि मस्तक समर्पणकर भगवानको प्रसन्न करूं । एक मस्तक काटा । उसमें पद्मभावना की और अग्निमें शिवचरण भावना की और होम किया । इसप्रकार दूसरा, तीसरा आदि मस्तक भी काटकर हवन किया ॥ १४-१७ ॥

अन्तेऽवशिष्टं दशमं वीक्ष्यासौ समचिन्तयत् ।
मा भूदस्मिन् भवे प्रीतो भविष्यति भवान्तरे ॥ १८ ॥
अथ कर्तयितुं शीर्षं दशमं खड्गमादधात् ।
तावत्प्रसन्नो भगवानभ्येत्यास्य करेऽग्रहीत् ॥ १९ ॥
मा साहसं भवान् कार्षीत् शीर्षसंछेदनेऽनघ ।
वरं वरय भद्रं ते नादेयं किंचिदस्ति मे ॥ २० ॥

अन्तमें दसवां सिर अवशिष्ट रहा । रावणने सोचा कि इसे काटनेपर मैं मरूंगा । भले मरूं । दूसरे जन्ममें तो भगवान प्रसन्न होंगे कि इसने पूर्वजन्म में सर्वसमर्पण किया था । सिर काटनेके लिये ज्योंही तलवार उठायी इतनेमें शंकर भगवानने प्रगट होकर हाथ पकड़ लिया और बोले कि दशम मस्तक काटनेका साहस मत करो । अभीष्ट वरदान मांगो । तुम्हारे निमित्त कुछ भी अदेय मेरे लिये नहीं रहा ॥ १८-२० ॥

शक्तिं लोकाधिकां देहि मा देवा मां प्रमीमरन् ।
न मर्त्येभ्यो भयं मेऽस्ति विश्वनाथ नमोऽस्तु ते ॥ २१ ॥
तथास्त्विति वरं दत्वा कृत्वा शीर्षाणि पूर्ववत् ।
तत्रैवान्तर्दधे शंभुः स्वगृहान् रावणोऽभ्यगात् ॥ २२ ॥

हे भगवन् मुझे लोकोत्तर शक्ति प्रदान करें। देवता मुझे न मारें। मनुष्योंसे तो मुझे भय है ही नहीं। आपके चरणोंमें मेरा प्रणाम हो। शंकर भगवानने तथास्तु कहकर वरदान दिया। रावणके मस्तक पूर्ववत् कर दिये और वहीं अन्तर्धान हो गये। रावण अपना घर वापिस आया। (क्योंकि भक्तिका ताजा प्रभाव था अतः सीधे युद्धार्थ नहीं गया) ॥ २१-२२ ॥

एवं भक्त्या शिरःपद्मश्रेणीबल्येशपादयोः ।
स्थिरया लब्धशक्तिः स त्रिलोकीमजयद् बलात् ॥ २३ ॥
नष्टवैरं त्रिभुवनमयत्नादेव सोऽकरोत् ।
रणकण्डूपरवशान् बाहूनभृत विंशतिम् ॥ २४ ॥

इसप्रकार मस्तकरूपी पद्मोंकी श्रेणीसे बलिपूजा करना जिस भक्तिका परिणाम है उस स्थिर शंभुचरण भक्तिसे महान शक्ति पाकर रावणने तीनों लोकोंको जीता। वैरियोंको समाप्त किया। तो वैर भी अनायास नष्ट हो गया। बादमें तो युद्ध करनेवालेके न रहनेसे युद्ध करनेकी खुजली उसके हाथोंको मानो परेशान करती रही ॥ २३-२४ ॥

अत्रेदं चिन्त्यमेतस्याः कथायाः किं प्रयोजनम् ।
नास्माभिः शक्यते कर्तुं शिरश्छित्वा निवेदनम् ॥ २५ ॥
केचिदग्निं प्रविविशुर्हरिभक्तिपरायणाः ।
शिरश्छित्वाऽपरे भक्ता भद्रकाल्यै समार्पयन् ॥ २६ ॥
कृत्तबाह्वादयश्चार्धदग्धाः केचित्तु दुःखिताः ।
भगवद्दर्शनं नैव ह्यद्यत्वे तेन लभ्यते ॥ २७ ॥
रावणादिकृतं कार्यं नैवान्यः कर्तुमर्हति ।
ततः कैमुतिकन्यायो नात्र कश्चित्प्रवर्तते ॥ २८ ॥
न लोकसंग्रहः कश्चिच्चरित्रेऽस्मिस्तु दृश्यते ।
तामसानुग्रहकथा तत एवात्र निष्फला ॥ २९ ॥

यहां यह विचार उपस्थित होता है कि इस कथाका क्या प्रयोजन है ? कहें कि तामस रावणपर अनुग्रह हुआ, अतः हमपर भी हो सकता है। यही प्रयोजन है। किन्तु रावणके समान सिर काटकर हम निवेदन कहां कर सकते हैं ? ऐसी ऐसी कथा वांचकर कुछ लोगोंने होमकुंडमें अपनेको होमा। कुछ लोगोंने भद्रकालीको अपना सिर काटकर चढ़ाया और मर गये। कुछलोग आधे जल गये। हाथपांव काटकर चढ़ानेवाले अंगविकल

हो गये। किन्तु भगवानका दर्शन आजकल किसीको नहीं मिला। अतएव रावण जैसे नीचपर अनुग्रह हुआ तो सुतरां हम पर भी होगा यह कैमुतिकन्याय भी यहां घटता नहीं है। क्योंकि रावणके समान शिरोहोम करे तब तो कैमुतिकन्यायकी बात है। विना कार्य ही कैमुतिकन्याय लगावे तो रावण जैसा दुष्ट आज कोई नहीं है तो सबको भगवानका दर्शन विना होमादि होना चाहिये। इस चरित्रमें कोई लोकसंग्रहकी भी बात नहीं है। अतः तामसोंपर अनुग्रहकी यह कथा निष्फल है ॥ २५-२९ ॥

न चोमावल्लभोत्कर्षमात्रमत्र विवक्षितम्।
उत्कर्षोक्तिश्चैव च स्तोत्रं सम्पद्येतेति सांप्रतम् ॥ ३० ॥

शिरोऽर्पणोज्ज्वलद्भक्तिफलत्वोक्तिस्तदा वृथा।
अशक्ययत्नसाध्यत्वादुत्कर्षश्च कथं स्फुटः ॥ ३१ ॥

यदि कहें कि यहांपर उमावल्लभ शंकरका उत्कर्षमात्र विवक्षित है। कोई आदर्श प्रस्तुत करना नहीं है। उत्कर्षकथनमात्रसे उत्कर्षोक्तिरूप स्तुति संपन्न होती है। तो इसपर हमारा वक्तव्य यही है कि तब शिवोत्कर्ष बतानेके लिये मस्तकसमर्पणसहित उज्ज्वल भक्तिका फल बताना वृथा नहीं होगा ? मानवोंके लिये अशक्य मस्तकसमर्पणादि से रावणने उक्त फल पाया इस कथनसे बल्कि रावण का उत्कर्ष ध्वनित होता है। शिवोत्कर्ष यहां स्पष्ट नहीं है ॥३०-३१ ॥

अत्रोच्यते कथास्तावल्लोकोत्तरविधा यदि।
युगानुरूपं व्याख्येयं तासां तत्पर्यमिष्यते ॥ ३२ ॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥ ३३ ॥

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात् ॥ ३४ ॥

इत्यादिवचनव्रातैरेतदेव हि सूच्यते।
कलावनधिकायासोपलभ्यो भगवानिति ॥ ३५ ॥

सहस्रवत्सरतपः शास्त्रेषु बहुधेक्ष्यते।
सहस्रदिनसंपाद्यं व्याख्येयं तत्कलौ युगे ॥ ३६ ॥

श्रुतिरप्यस्त्यहोरात्रे संवत्सर इतीदृशी।
व्याख्या तावदियं बोध्या शक्तिर्नात्र पदस्य तु ॥ ३७ ॥

दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमचीकरत् ।
चतुर्दश च वर्षाणि वनवासं तथाकरोत् ।। ३८ ।।
आद्यं यथाश्रुतं वर्षं दिनार्थकमुतेष्यताम् ।
हायनार्थकमेवान्त्यं व्याख्या तेन यथोचिता ।। ३९ ।।

इस आक्षेपका समाधान यह है कि अलौकिक कथाओंकी युगानुरूप व्याख्या करनी चाहिये । क्योंकि युगपरिस्थिति पृथक् पृथक् होती है । शास्त्रोंमें कहा है—सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें सेवापूजादिसे जो फल मिलता है कलियुगमें वह केवल हरिकीर्तनसे प्राप्त होता है । जो फल सत्यादि युगमें तप, योग और समाधिसे प्राप्त नहीं होता वह कलियुगमें केशवकीर्तनसे मिलता है । ऐसे ऐसे वचनोंसे सूचित होता है कि कलिमें भगवान अल्पायासलभ्य हैं । पहले जमानेमें हजारों वर्ष तक तप करते थे । कलियुगमें उसकी व्याख्या हजारों दिन करना चाहिये । क्योंकि आज कोई हजार वर्ष तक जिंदा ही नहीं रहता । इसीलिये "अहोरात्रे वै संवत्सरः" ऐसी श्रुति है । संवत्सरपदकी यह आवश्यक व्याख्या है । न कि वाच्यार्थ । रामने दस हजार वर्ष राज्य किया, चौदह वर्ष वनवास किया । यहाँ दस हजार वर्षमें वर्ष साल भी हो सकता है, दिन भी हो सकता है । लेकिन चौदह वर्ष में तो वर्ष साल ही है, दिन नहीं ।। ३२-३९ ।।

क्वचिदल्पं क्वचित्तुल्यमिति ज्ञेयमनेकधा ।
तदत्र तुल्यविधया व्याख्यास्यामोऽधुना वयम् ।। ४० ।।

सत्यादि युगमें दुर्गम तप आदि बताया उसे कलियुगमें कहीं अल्प-रूपसे और कहीं तत्सदृशरूपसे व्याख्येय है । अतः हम तत्समरूपसे यहाँ अब व्याख्या दिखाते हैं ।। ४० ।।

मुहुर्मुहुर्नमस्काराः शिरः कृत्वा पदाब्जयोः ।
शक्याः कर्त्तुं शिरःपद्मश्रेणीबलिरयं हि नः ।। ४१ ।।

शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलि—यह हमारे लिये होगा बार-बार भगवानके चरणोंमें मस्तक रखकर नमस्कार करना । ऐसी बलि हमारे लिये भी शक्य है ।। ४१ ।।

भक्तस्य वैररहितं विश्वं भक्तिप्रभावतः ।
तदवैरव्यतिकरं न पुनर्बाहुयुद्धतः ।। ४२ ।।

भक्तिके प्रभावसे सारा विश्व भक्तके लिये वैररहित हो जाता है यही 'त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं'का अर्थ है । न कि बाहुयुद्धसे परास्त कर वैररहित बनाना ।। ४२ ।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्त इत्याह केशवः ॥ ४३ ॥

गीतामें भी कहा है—लोग जिससे उद्विग्न नहीं होते और लोगोंसे जो उद्विग्न नहीं होता, हर्षादिरहित वही भक्त है ॥ ४३ ॥

न भृता रणकण्डूयैः परेशस्य वशांस्तु तान् ।
बाहूनापाद्य भक्तास्तु मोदन्ते शम्भुना भृताः ॥ ४४ ॥

"अभृतरणकण्डूपरवशान्" यह एक ही शब्द है । न भृता धारिता रणकण्डूयैस्ते च ते परस्य परमात्मनो वशास्तान् बाहून् ऐसा विग्रह करके 'आपाद्य' इस क्रियाकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये । अर्थात् युद्धकी खुजली जिन्होंने कभी प्राप्त नहीं किया ऐसे परमात्मवश बाहुओंको बना लिया । 'आपाद्य' के बाद मोदन्ते या स्थिता इत्यादि क्रियासामान्यका अध्याहार करना चाहिये ॥ ४४ ॥

यद्वाऽऽदर्शचरित्रत्वं स्यादत्राध्यात्मिकार्थतः ।
मनो दशेन्द्रियमुखं मुखं च द्वारमुच्यते ॥ ४५ ॥
वृत्तयस्त्विन्द्रियद्वारैर्याः स्युर्दशविधा हि ताः ।
उच्यन्तेऽत्र शिरांसीति वृत्तिमन्तीन्द्रियाणि वा ॥ ४६ ॥
वृत्तयः प्रतिभासन्ते भगवच्चरणार्पिताः ।
पद्मश्रेणीव कर्णादेः सा पूजा परमा मता ॥ ४७ ॥
तत्कथाश्रवणे श्रोत्रे तद्भक्तस्पर्शने त्वचम् ।
तन्मूर्त्यादीक्षणे नेत्रे रसज्ञा च तदर्पिते ॥ ४८ ॥
घ्राणं प्रसादसौरभ्ये करौ मूर्त्यादिपूजने ।
पादौ तत्क्षेत्रगमने वाचं तद्गुणकीर्तने ॥ ४९ ॥
पुत्रादयोऽपि तत्सेवारताः सन्त्वित्युपस्थकम् ।
कुण्डल्युत्थापनेनेशध्याने पायुं तथैव च ॥ ५० ॥
विनियोजयतः प्रोक्तं दशद्वारसमर्पणम् ।
एवं विदधतः पूजा बलिः सर्वोत्तमा भवेत् ॥ ५१ ॥

अथवा आध्यामित्क अर्थ लेकर इस कथाको आदर्श चरित्र बनाया जा सकता है । यह मन प्रायः रावणके समान रुलानेवाला तो है ही । उसके दस मुख दस-द्वार इन्द्रियाँ हैं । उनके द्वारा वृत्तियां भी दस प्रकारकी होती हैं । वे वृत्तियां या वृत्तियुक्त इन्द्रियां भी दस प्रकारकी होती हैं । वे वृत्तियां या वृत्तियुक्त इन्द्रियां यहांपर दस मस्तक हैं । भगवच्चरणोंमें उन दसको समर्पण करते हैं तो वे कमलसमान शोभायमान होते हैं । यही

उत्तम पूजा है। यथा-भगवत्कथाश्रवणमें श्रोत्रको लगाया। भगवद्भक्तचरण-स्पर्शमें त्वगिन्द्रियको लगाया। भगवन्मूर्तिदर्शनादिमें नेत्रको लगाया। रसनाको भगवदर्पित भोगादि आस्वादनमें लगाया। घ्राणको भगवदर्पित पुष्पादिसौगन्ध्यमें लगाया। हाथोंको मूर्तिपूजन, मन्दिरमार्जनादिमें लगाया। पादोंको भगवत्क्षेत्रादिगमनमें लगाया। वाणीको भगवद्गुणकीर्तनमें लगाया। उपस्थको जो पुत्रादि होंगे वे भी भगवत्सेवा करें इस निमित्त विनियुक्त किया। पायुको कुण्डलिनी उत्थापनपूर्वक ईशध्यानप्रयोजकतया लगाया। इसप्रकार दस इन्द्रियोंका विनियोजन ही दशद्वारसमर्पण है। इसप्रकार करनेवालोंकी ही वलि=पूजा सर्वोत्तम है ॥ ४५-५१ ॥

तद्वृत्तिधारासंजातस्थिरभक्तेरिदं फलम्।
भवेद् वैरव्यतिकररहितं भुवनत्रयम् ॥ ५२ ॥
स्वर्गभूतलपाताललक्षणं भुवनत्रयम्।
जाग्रत स्वप्नः सुषुप्तिर्वा त्रिधाम भुवनत्रयम् ॥ ५३ ॥
वैरं स्वप्नेऽपि नैवास्य सुषुप्तौ तु कुतस्तराम्।
तत्र तामसदुःखेऽपि नास्य द्वेषसमुद्भवः ॥ ५४ ॥
कामक्रोधादयः सर्वे क्रियन्ते कृत्तिवाससि।
कामादयो वैरिणः स्युस्ते मित्राण्यस्य सर्वथा ॥ ५५ ॥

इन्द्रियोंकी वृत्तिधारासे उत्पन्न स्थिर भक्तिका फल है कि त्रिभुवन वैरमिश्रणरहित हुआ। स्वर्ग, भूतल, पाताल यह त्रिभुवन है। अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति ये तीन धाम त्रिभुवन है। इसे त्रिधाम भी बताया है। स्वप्नमें वैर नहीं तो सुषुप्तिमें नितरां नहीं। सुषुप्ति कभी तामसी हो तो 'दुःखमहमस्वाप्सं' ऐसा भी होता है। यह योग भाष्यादिमें बताया है। उससे भी द्वेष नहीं। क्योंकि भगवान जैसा रखे उसीमें भक्त राजी है। कामक्रोधादि सभी भगवानके प्रति ही भक्त करता है। जिसे गीतामें शत्रु बताया--'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं'। उसे तो भक्तने मित्र बनाया ॥५२-५५॥

वैराग्ये यतमाना च व्यतिरेका तथैव च।
एकेन्द्रिया वशीकारा चतुःसंज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥ ५६ ॥
जायतेऽस्त्येधते पूर्णभावमाप्नोति चैकशः।
संज्ञान्तराय विपरिणामं च प्रतिपद्यते ॥ ५७ ॥
इत्थं पञ्चविधास्तासां तथा ता एव विंशतिः।
ता एव बाहव इव युध्यन्ति विषयैः सह ॥ ५८ ॥

वशीकारे पञ्चमे तु परापरविभागतः ।
अपरातः पराभावापत्तिरेव निबोध्यताम् ॥ ५९ ॥
भक्तस्यायत्नतो वैरिकामादिविजयोत्तरम् ।
यतमानादिसंज्ञानां रणकण्डूर्हि शिष्यते ॥ ६० ॥

वैराग्यमें यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकार संज्ञा ये चार अवस्थायें हैं। उत्पत्ति, अस्तितता वृद्धि, पूर्णता और संज्ञान्तरार्थ विपरिणाम ये पांच अवस्थायें एक-एक की हैं। सब मिलाकर बीस होती हैं। ये ही बीस बाहु हैं। वशीकारमें उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, पूर्णता ये चार ठीक हैं, विपरिणाम क्या है ? ऐसा यदि पूछेंगे तो उत्तर है, वशीकार संज्ञा अपरा और पराभेदसे दो हैं। परभावको प्राप्त होना ही विपरिणाम है। इन वैराग्यावस्थारूपी बाहुओंसे विषयोंके साथ युद्ध होता है। भक्त अनायास ही कामवैरी या विषयवैरियोंको जीत लेते हैं तो यतमानादि संज्ञाके लिये योद्धव्य कोई रह नहीं जाता। तब रणकी खुजली ही अवशेष रहती है ॥ ५६-६० ॥

यद्वा मानसपूजायां मुहुः शिर्षनतिर्भवेत् ।
नामं नामं हिं वस्तूनि भक्तोऽर्पयति शंभवे ॥ ६१ ॥
सा बलिस्तत्र च श्रेणी नैरन्तर्यं विलोक्यताम् ।
निरन्तरं नमत्येष शीर्षावनतितो हरम् ॥ ६२ ॥
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूकता ।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि महेशानं न चानमेत् ॥ ६३ ॥

अथवा शिरःपद्मश्रेणी इत्यादिकी व्याख्या ऐसी कीजिये :— मानस-पूजामें बार-बार शिरोनमन होता है। प्रणाम करते वस्तु अर्पण मानसपूजामें होता है, यही मस्तकपद्मसमर्पण है। उसमें श्रेणी का अर्थ है नैरन्तर्य। संसारमें वही हानि है, महान् छिद्र है, अन्धता, जडता एवं मूढता है कि एक मुहूर्त या एक क्षण ही भगवतनमनके बिना जो बीत रहा है ॥ ६१-६३ ॥

मनो रावणरूपं हि यतो रोदनकारि तत् ।
रावणो नान्यथा जातः क्रियते त्वन्यथा मनः ॥ ६४ ॥

यह मन रावण जैसा तो है ही। क्योंकि यह रुलाता रहता है। दुःख संसारमें डालता है। हां, फरक इतना है कि रावण जीवन भर अन्यथा नहीं हुआ। किन्तु मनरूपी रावणको अन्यथा करना है। और किया जाता है ॥ ६४ ॥

त्रिपुरहर

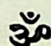
पुरत्रये क्रीडतीति श्रुतेस्तज्जाग्रदादिकम् ।
त्रिपुरं हरते यस्माद्धरश्चिन्तात्र कास्तु नः ॥ ६५ ॥

"पुनत्रये क्रीडति" ऐसी श्रुति आती है। वहां जाग्रदादि तीन पुर अर्थ है। उस त्रिपुरको हर शंकर हर लेते हैं। तब अवस्थात्रयातीत होऊँगा। मनोविजय हो जायेगा। अतः हमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं ॥ ६५ ॥

विषयासक्तिनिर्मुक्तिः परवैराग्ययेमेव च ।
यद्भक्त्या जायते नौमि तमीशं कृत्तिवाससम् ॥ ६६ ॥

जिस भगवानकी भक्तिसे विषयासक्तिसे मुक्ति और परवैराग्य की प्राप्ति होती है उस भगवान कृत्तिवासा शंकरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६६ ॥

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नःस्तोत्रविवृतौ स्पन्द एकादशो गतः ॥ ११ ॥



द्वादशः श्लोकः

तवैश्वर्यमिति श्लोके ब्रह्मविष्ण्वोः कृपां जगौ ।
यत्स्वप्रकाशनं नाम सृष्टिपालनकारणम् ॥ १ ॥
शास्ति "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" स्थात्मनेपदम् ।
स्वयं तस्थे स्वरूपस्याऽकरोत्तभ्यां प्रकाशनम् ॥ २ ॥

'तवैश्वर्यं यत्नात्' इस श्लोकमें ब्रह्मा और विष्णुपर शंकरकी कृपा बतायी। कौनसी कृपा ? अपना ही प्रकाशन—जो सृष्टि और पालनका कारण है। यह अर्थ कैसे निकला ? "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" इस सूत्रमें स्था धातुसे प्रकाशन अर्थ होनेपर आत्मनेपद बताया है। "स्वयं तस्थे" का अर्थ है अपने स्वरूपका प्रकाशन ब्रह्मा विष्णुके लिये किया। भगवत्ज्ञानके बिना सृष्टि और रक्षा करना संभव नहीं है ॥ १-२ ॥

नन्वेवमनुगृह्यन्ते विष्णवाद्या एव केवलाः ।
युक्तं चैतत् सात्त्विकत्वाद्विष्ण्वादीनां हि योग्यता ॥ ३ ॥
मैवं कृपाकटाक्षस्तु शंभोः सर्वेषु देहिषु ।
भक्तिस्तद्ग्राहिणीत्युक्तमयत्नादिति पद्यतः ॥ ४ ॥

तवैश्वर्यं श्लोकसे लगा कि इस प्रकार विष्णु आदिपर ही शंकर अनुग्रह करते हैं, उचित भी है, सात्त्विक होनेके कारण विष्णु आदिमें ही योग्यता है। उसका उत्तर पूर्वश्लोकमें मिला कि शंभुका कृपाकटाक्ष सर्वप्राणिसाधारण है। हां, उस कृपाका ग्रहण भक्ति ही कर सकती है। यही अयत्नादापाद्यसे कहा ॥ ३-४ ॥

ननु व्याख्यान्तरं तत्र विहितं भवतेति चेत् ।
मैवं यथाश्रुतार्थस्तु कृतादौ गृह्यते बुधैः ॥ ५ ॥
अर्थं कीदृशमादाय लप्स्यते तत्फलं कलौ ।
इत्यत्र दर्शितं तस्य योग्यं व्याख्यान्तरं मया ॥ ६ ॥

अयत्नादापाद्य श्लोककी व्याख्या आपने बदल दी थी। तव भगवान रावणादि जैसे तामस व्यक्तिपर भी कृपा करते हैं यह अर्थ कैसे निकलेगा? सुनो। सत्य, त्रेता आदिके अनुसार श्लोकका यथाश्रुत अर्थ ही लिया जायेगा। सत्ययुगमें जैसा फल मिलता है वैसा कलियुगमें कैसे मिलेगा? इसके लिये योग्य व्याख्या हमने दिखाई थी। अर्थात् सत्यादियुगमें मस्तक काटकर समर्पणकी जगह कलियुगमें मस्तक झुकाना ही पर्याप्त और उचित है ॥ ५-६ ॥

नन्वेवं सात्त्विकत्वस्य वृथा संपादनं भवेत् ।
विनापि सात्त्विकं भावं भक्त्यानुग्रहसंभवात् ॥ ७ ॥
न चोद्भवेत् कथं भक्तिः सत्त्वहीनेति सांप्रतम् ।
निर्गुणाया गुणायोगाद् रावणे भक्तिदर्शनात् ॥ ८ ॥
सत्त्वादिनिरपेक्षं हि स्वतन्त्रं स्वप्रभं परम् ।
प्रेमेति भक्ताः प्रह्लादविभीषणशुकादयः ॥ ९ ॥
सत्यां भक्तौ भगवतोऽनुग्रहो दुर्लभः कथम् ।
सत्त्वानुसरणं तस्माद् व्यर्थमेवेति चेन्न तत् ॥ १० ॥

यदि सभी प्राणियोंमें भगवत्कृपावृष्टि है, भक्ति उसकी संग्राहिका है, तो सात्त्विक भावका संपादन व्यर्थ होगा। यह कहें कि सत्त्वगुणके बिना भक्ति होगी ही कैसे तो जवाब यह है कि प्रेमभक्ति निर्गुण होती है। यदि

सत्त्वगुणसापेक्ष होती तो रावण में भक्ति होती कैसे ? गुणनिरपेक्ष, स्वतन्त्र, स्वयंप्रकाश भक्ति होती है; ऐसा प्रह्लाद, विभीषण, शुकदेव आदिका सिद्धान्त है। भक्ति हो तो भगवदनुग्रह भी अवश्यंभावी है। तब सत्त्वगुणानुसरण व्यर्थ ही होगा। इस पूर्वपक्षपर कहते हैं ॥ ७-१० ॥

अनुग्रहप्रकाशो हि भावकाचाभिसंहतः ।
हृदये प्रविशेत्तेन तत्स्वरूपं प्रभिद्यते ॥ ११ ॥
सत्त्वभावाहता त्वेषा कृपादृष्टिप्रभेशितुः ।
निर्मलैव प्रविशति हृदये मङ्गलैककृत् ॥ १२ ॥

अनुग्रहका प्रकाश भावरूपी कांचपर अभिहत होकर हृदयमें प्रविष्ट होता है। अतः उसके स्वरूपका भेद हो जाता है। सात्त्विक भावपर वह प्रकाश अभिहत होता है तो निर्मल ही रहेगा, मंगलकारी होगा ॥११-१२॥

रजोभावहता सैषा नानाभोगफलप्रदा ।
तमोभावहता चैषा गर्वमोहादिपातिनी ॥ १३ ॥
रावणो मोहमापन्नस्तमस्वित्वात् स्वभावतः ।
यत्नेन तु वयं कर्तुं सत्त्वभावं मनः क्षमाः ॥ १४ ॥
अतस्तु भावः संपाद्यः सात्त्विको मङ्गलेप्सुना ।
सत्यां भक्तावपीत्येतदमुष्येत्यादिनोच्यते ॥ १५ ॥

कृपादृष्टिप्रकाश रजोभावाभिहत होनेपर नानाभोग फलदायी होता है। तमोभावाभिहत होनेपर गर्वमोहादिमें गिरा देता है। रावण तमोभाव-वाला होनेसे मोहको प्राप्त हो गया। हम यदि यत्न करें तो सात्त्विकभाव संपादन कर सकते हैं। अतः भक्ति होनेपर भी सत्त्वभाव संपादनार्थ यत्न करना चाहिये यह बात 'अमुष्य त्वत्सेवा' इत्यादि श्लोकसे कहने जा रहे हैं ॥ १३-१५ ॥

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलितांगुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥

हे भगवन् ? आपकी सेवासे बलप्राप्त अपनी जंगल सदृश भुजाओंको बलपूर्वक आपके निवासस्थान कैलासमें पराक्रमित करनेवाले उस रावणकी स्थिति पातालमें भी बदतर तब हो गयी थी जब आपने अंगुष्ठाग्रहको धीरेसे दबाया था। खलपुरुष संपदासे अविवेकी बन जाता है ॥ १२ ॥

अमुष्य

तदस्येत्येव वक्तव्येऽमुष्येति कुत उच्यते ।
रणकण्डूपरवशबाह्वमिन्नत्वमुच्यताम् ॥ १६ ॥
सत्यं खलत्वहेतोस्तं दूरादेवोत्सिसृक्षति ।
दूरयातमिवाचष्टे रावणं ह्यदसा मुनिः ॥ १७ ॥
शकटं पञ्चहस्तेन दशहस्तेन वाजिनम् ।
हस्ती हस्तसहस्रेण देशत्यागेन दुर्जनम् ॥ १८ ॥

श्लोकमें 'अमुष्यके स्थानमें' 'तदस्य' ऐसा कहना चाहिये था । अर्थ होगा-रावणका वह रणकण्डुपरवश बाहुरूप भुजवन । ऐसा क्यों नहीं कहा ? कारण यही कि अदस् शब्द अत्यन्त परोक्षमें कहा जाता है । खल होनेके कारण उसे दूर ही रखना पुष्पदन्ताचार्यने पसंद किया । गाड़ीसे पांच हाथ दूर रहो । घोड़ा हो तो दस हाथ दूर रहो । हाथी हो तो सौ हाथ दूर रहो । दुर्जन हो तो उस देशको ही त्यागो ऐसा नीति वचन है ॥१६-१८॥

समधिगतसारं

सारो बलं तदीशस्य सर्वप्राणिषु वर्तते ।
को ह्येवान्यादिति प्राह ततोऽस्याधिगमं श्रुतिः ॥ १९ ॥
तत्सेवया किमाधिक्यमतः समुपसर्जनम् ।
सम्यक् साराधिगमनं तत्सेवाफलमुच्यते ॥ २० ॥

'समधिगतसारं' में सारका बल अर्थ है । वह बल सब प्राणियोंमें ईश्वरका ही है । 'को ह्येवान्यात्' इस श्रुतिमें क्रियाशक्तिरूप उस बलकी प्राप्ति परमेश्वरसे होती है ऐसा बताया है । तब 'त्वत्सेवासमधिगत' कहना निरर्थक हुआ । सेवा विना भी तो परमेश्वरसे ही सार सबको प्राप्त होता है । अतः 'सम्' यह उपसर्ग जोड़ा । सम्यक् बल प्राप्ति भगवत्सेवाफल है यह तात्पर्य है ॥ १९-२० ॥

गुणभिन्नासु तिसृषु तनुषु व्यस्तमप्यदः ।
अनुवृत्त्या विशेषेण ब्रह्मविष्ण्वोः प्रकाशितम् ॥ २१ ॥
तथैवास्मासु यः सारः पारमेश्वर एव सः ।
विशेषेण त्वधिगमस्तत्सेवाफलमिष्यते ॥ २२ ॥

सत्त्वादिगुणभिन्न तीन शरीरोंमें सार व्यस्त है ऐसा पहले कहा था । फिर भी स्फुट अभिव्यक्त नहीं था । जब ब्रह्मा और विष्णु नेअनुवृत्तिरूपी भक्ति की तब उनमें वह सार अभिव्यक्त हुआ । ऐसा भी सूचित

किया। उसी प्रकार हम सबमें परमेश्वरका ही सार है। तथापि उसकी अभिव्यक्ति पूरी तरहसे भगवत्सेवासे ही होती है ॥ २१-२२ ॥

बलात् कैलासे०

तत्सेवाप्राप्तसारांश्च विंशतिं वनसंनिभान्।
कैलासेऽपि तदावासे भुजान् व्यक्रमयत् पुरा ॥ २३ ॥

भगवत्सेवासे प्राप्तबल वनोपम बीस भुजाओंको रावणने भगवदावास कैलासमें विक्रमित किया ॥ २३ ॥

रावणः शिवभक्तोऽभूच्छिवपूजनतत्परः।
कैलासमगमन्नित्यं पूजार्थं धाम शांकरम् ॥ २४ ॥
प्रातरुत्थाय स ब्राह्मे मुहूर्ते कृतनित्यकः।
आसूर्योदयमागच्छत् कैलासमतिवेगवान् ॥ २५ ॥
भूकैलासोऽधिवसतिरधिष्ठाय स्थितो यतः।
हरस्तत्र तमेवातः शिवलिङ्गं विदुर्बुधाः ॥ २६ ॥
पद्माकाराश्च गिरयः परि द्वादश दीप्यते।
पद्ममध्यस्थितं लिङ्गं रावणोऽपूजयत्पुरा ॥ २७ ॥

रावण शिवभक्त था, शिवपूजापरायण था। पूजार्थ रोज कैलास पर्वत जाता था। प्रातः उठकर ब्राह्ममुहूर्तमें नित्यक्रिया कर सूर्योदय होनेतक अतिवेगसे कैलास पहुंच जाता था। भूकैलासमें शंकरभगवान अधिष्ठातारूपमें स्थित हैं। अतः उसीको विद्वान शिवलिंग मानते हैं। पद्माकारमें चारों ओर बारह छोटे पर्वत है उसपर मध्यस्थित लिंगकी पूजा रावण करता था ॥ २४-२७ ॥

एकदाऽचिन्तयत् कस्मात्प्रत्यहं याम्यहं गिरिम्।
इममुत्पाट्य लङ्कायां नेष्येऽर्चिष्यामि तत्र तम् ॥ २८ ॥
प्रातः प्रातः समुत्थाने निद्रानन्दो विहन्यते।
अनन्तकालपर्यन्तं तदेतत्तु कथं सहे ॥ २९ ॥
इत्थं व्यवसितः सोऽपि कैलासमुपयातवान्।
उत्पाट्य रजताद्रिं च स्वपाणावुदतोलयत् ॥ ३० ॥

एकबार रावणने सोचा कि यह रोज रोज यहां क्यों आना ? इस पर्वतको उखाड़कर लंका क्यों न ले जाऊं और पूजा करूँ ? सुबह सुबह उठनेमें नींद का आनन्द मारा जाता है। एक दो दिन हो तो बात अलग। अनन्तकालतक इस सुखसे वंचित रहना पड़े तो कैसे सहन करूंगा ?

ऐसा सोच कर वह कैलास पहुंच गया और रजतपर्वतको उखाड़कर अपने हाथ में उठाया ॥ २८-३० ॥

गङ्गां कदाचिदालोक्य पार्वती हरमस्तके ।
मानिनी रोषतः प्राह केयं शीर्षणि धार्यते ॥ ३१ ॥

कथं जटासु लीनेयं गूढा तिष्ठति मामहो ।
वञ्चयन्ती चतुरिका स्फुरत्कमललोचना ॥ ३२ ॥

एक बार पर्वती शंकरके मस्तकमें गंगाको देखकर मानवती होकर रोषसे बोली कि यह कौन है जिसको सरपर चढ़ा रखे हो ? यह कैसी चतुर है कि जटामें छिपकर गूढरूपसे बैठी है और मेरी वंचना कर रही है ? खिले कमल ही इसके सुंदर नयन हैं ॥ ३१-३२ ॥

आह शंभुः पुरात्युग्रं तपस्तेपे भगीरथः ।
पूर्वजोद्धृतये गङ्गामानेतुं भुवि यत्नतः ॥ ३३ ॥
तद्याच्ञामुररीकृत्य मूर्ध्नाऽऽवहमहं प्रिये ।
त्वं च जानासि तदिदं वृत्तं किमिति कुप्यसि ॥ ३४ ॥

शंकरजीने कहा—पहले समयमें भगीरथने अपने पूर्वजोंके उद्धरार्थ पृथवीपर गंगा लानेके लिये अत्यन्त यत्नसे तप किया । उसकी प्रार्थनाको स्वीकार कर मैंने हे प्रिये ! गंगाको मस्तकसे धारण किया । यह बात तुम भी जानती हो, क्यों रुष्ट हो रही हो ? ॥ ३३-३४ ॥

सत्यं धृता स्वमूर्ध्नेयं वेगभङ्गाय जाह्नवी ।
भग्ने वेगे कुतो नैषा संत्यक्ता सर्वथा भुवि ॥ ३५ ॥

इत्युक्त्वोमा गृहं त्यक्तुं यावद् गोपुरमागता ।
दशवक्त्रस्तावदेत्य कैलासमुदतोलयत् ॥ ३६ ॥

पार्वती बोली—ठीक है, गंगावेगको भग्न करनेके लिये आपने मस्तकसे उसे धारण किया । किन्तु वेग भंग हो गया तो फिर इसे सर्वथा भूतलपर क्यों नहीं छोड़ा ? ऐसा कहकर पार्वती घर छोड़कर अन्यत्र जाने के लिये जब गोपुर पहुंची इतनेमें ही रावणने कैलासको ऊपर उठाया ॥ ३५-३६ ॥

कुतो भूः कम्पत इति भीता संधाव्य शङ्करम् ।
वीतमाना समाश्लिष्य वेपमाना व्यवास्थित ॥ ३७ ॥

हाय ! यह भूकंप कैसा हो रहा है कहकर भयभीत पर्वती मान छोड़कर कांपती हुई वापिस दौड़ आयी और शंकरसे लिपट गयी ॥ ३७ ॥

अलभ्या पातले०

ज्ञात्वा रावणकृत्यं तज्जहास भगवान् भवः ।
मन्दमङ्गुष्ठशिरसाऽऽपीडयच्च शिलोच्चयम् ॥ ३८ ॥

अङ्गुष्ठाग्रं ह्यलसवदेवं चलयतीश्वरे ।
प्रतिष्ठा रावणस्यासीत्पातालेऽपि सुदुर्लभा ॥ ३९ ॥

उत्खातखातपतितः पातालं रावणोऽगमत् ।
बृहच्छिलावृतश्चैव बहिर्निर्गन्तुमप्रभुः ॥ ४० ॥

इसे रावणकी करतूत जानकर भगवान शंकर हँसे और धीरेसे अंगूठेके अग्रभागसे पर्वतको दबाया । अलसवत् अपने चरणांगुष्ठको इसप्रकार हिलाया तो रावणकी स्थिति पातालमें भी गंभीर हो गयी । पर्वतके उखाड़नेसे बनी खाईमें पड़कर और दबकर रावण पाताल पहुंचा । वहां चारों ओरसे बड़ी बड़ी शिलाओंसे, जिनका पर्वतके बोझके कारण हटाना शक्य नहीं था, घिर गया, बाहर निकलनेमें असमर्थ हुआ ॥ ३८-४० ॥

एकदा पर्यटंस्तत्र देवर्षिनरिदोऽगमत् ।
कथं भो बन्धनगत इति पृष्टश्च रावणः ॥ ४१ ॥

सर्वां संश्रावयमास निजमौढ्यकथां मुनिम् ।
तेन पृष्टस्तथाचष्ट मुक्त्युपायमृषीश्वरः ॥ ४२ ॥

मद्वत् त्वं क्वणयन् वीणां स्तुवीथ्व करुणानिधिम् ।
आशुतोषं शिवं गायन्नेवं मुक्तो भविष्यसि ॥ ४३ ॥

एक समय पर्यटन करते हुए देवर्षि नारदजी वहां पहुंचे । अरे, तुम कैसे फंस गये हो, पूछनेपर रावणने अपनी बेवकूफीकी सारी कथा सुनायी । 'यहांसे मैं कैसे मुक्त होऊं' पूछनेपर नारदजी बोले मेरे जैसे वीणा बजाकर दयालु आशुतोषकी गीतयुक्त स्तुति बोलो तो मुक्त होगे ॥ ४१-४३ ॥

नास्ति मे भगवन् वीणा बद्धोऽस्मि कुत आनये ।
इत्युक्तः पुनरेवाह नारदो देवदर्शनः ॥ ४४ ॥

एकं मस्तकमाहृत्य हस्तं तेनैकमायुहि ।
हस्तान्तरस्नाविरैश्च तन्त्रीः संपादय स्वयम् ॥ ४५ ॥

एवं संपादितां वीणां क्वणयन् सुसमाहितः ।
ताण्डवं गास्यति यदा तदा सिद्धिर्भविष्यति ॥ ४६ ॥

भगवन् ! मेरे पास वीणा नहीं है। और फँसा हूँ। इसलिये कहीं जाकर वीणा लाऊँ भी कैसे ? इस प्रकार रावणके कहनेपर नारदजी बोले —क्या चिन्ता करते हो ? तुम्हारे दस दस सिर हैं। एक सिर निकालो और एक हाथ निकालकर उसपर जोड़ो तो वीणा ही गयी। दूसरे हाथकी नाड़ियोंको उसपर कस दो, तन्त्री (तार) तैयार। उस वीणाको बजाते हुए समाहित होकर ताण्डवगीत गाना। तुम्हारा काम पूरा हो जाएगा ।। ४४-४६ ।।

नारदे निर्गते सोऽपि सर्वमेव तथाकरोत् ।
अगायद् भक्तितः सोऽपि शिवताण्डवमद्भुतम् ।। ४७ ।।

नारदजीके जानेपर रावणने सब कुछ वैसा ही किया जैसे नारदजीने बताया था। वीणा बजाते हुए भक्तिपूर्वक रावण अद्भुत शिवताण्डवस्तोत्र गाया ।। ४७ ।।

जटाकटाहपरिसंभ्रमभ्रमणवेगया ।
निलिम्पनिर्झरिण्या संविराजन्तं शिवं भजे ।। ४८ ।।

इत्येवाकर्ण्य परममङ्गलध्वनिमञ्जुलम् ।
प्रसन्ना चकिता शब्दं गङ्गा तुष्यति रावणे ।। ४९ ।।

जटारूपी कढ़ाईमें चारों ओरसे संभ्रमके साथ भ्रमण करती हुई स्वर्गगङ्गासे विराजमान शङ्कर भगवानका भजन करता हूँ। इतना ही परम मङ्गल ध्वनिसे मनोहर शब्द सुनकर चकित एवं प्रसन्न गङ्गामाता रावणपर प्रसन्न हुई। (क्योंकि इसमें गङ्गाचरित्र आ जाता है) ।।४८-४९।।

धराधरेन्द्रतनयादृगन्ताह्लादिमानसे ।
कृपाकटाक्षविधुतापदि मेऽस्तु रतिस्सदा ।। ५० ।।

इति प्रेष्ठपरप्रेमपरिद्योतिवचस्तथा ।
समाकर्ण्य भवानी च प्रसन्ना रावणेऽभवत् ।। ५१ ।।

इसके बाद ही "धराधरेन्द्रनन्दिनी" इत्यादिसे पार्वतीके मधुरावलोकनसे अह्लादित हृदय एवं कृपाकटाक्षसे आपदाओंको नष्ट करनेवाले शङ्करमें मेरी रति हो ऐसी जब स्तुति बोला तो अपने प्रियतम शङ्करके प्रेमको द्योतित करनेवाले उस वाक्यसे भवानी अम्बा माता भी रावणपर प्रसन्न हो गयी ।। ५०-५१ ।।

कदा निलिम्पझरिणीपूततीरे वसन्नहम् ।
ललाटललामगिरिजाभालमन्त्रं शिवं स्तुवे ।। ५२ ।।

इति श्रुत्वा पावनत्वं गाङ्गं स्वीयं च गौरवम् ।
गौरी संत्यक्तविद्वेषा प्रशान्ता प्रासदद् भृशम् ।। ५३ ।।

अहा ! स्वर्गगङ्गामे पवित्र तीरस्थलमें रहकर ललनाओंमें सिरमौर गिरिजाके भालगत (मस्तकमें निरन्तर जप्यमान) मन्त्र शिव की स्तुति कब मैं कर पाऊँगा ? इतना सुननेपर गङ्गाकी पवित्रता और अपनी महत्ताकी बातसे गौरी गङ्गाके प्रति जो पहले अपना विद्वेष था उसे छोड़कर शान्त हो गयी और अत्यन्त प्रसन्न हो गयी ।। ५२-५३ ।।

सतालगीतवाद्योत्थमधुरध्वनिहर्षितः ।
गङ्गागौरीमिथोहार्दवीक्षणानन्दनन्दितः ।। ५४ ।।

ताण्डवस्तुतिसंगीतलहरीप्रमदान्वितः ।
भगवान् शम्भुरुत्थाय चक्रे ताण्डवमद्भुतम् ।। ५५ ।।

तदाङ्गुष्ठे विशिथिले किंचित्कैलास उद्गतः ।
विमुक्तो रावणस्तस्मात्कृच्छ्राच्च प्रशमं ययौ ।। ५६ ।।

तालसहित गीतावाद्यसे उत्पन्न मधुर ध्वनिसे हर्षित हुए गङ्गा और गौरीके परस्पर प्रेमको देखकर आनन्दित हुए और शिवताण्डवस्तुतिलहरीके आनन्दसे प्रेरित हुए भगवान शङ्कर उस समय उठकर ताण्डवस्तुतिके अनुरूप ही ताण्डवनृत्य करने लगे। उस समय पहले जो अंगुष्ठ दबा रखा था वह शिथिल हो गया, कैलास थोड़ा ऊपरको उठा तो रावण भी महासङ्कटसे छूटकर शान्तमानस हो गया ।। ५४-५६ ।।

ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः

तामसत्वाद्दशास्यस्य मोहोऽयमुदगाद्धृदि ।
येनावगणयेन्मर्त्यो मूलमेव कृतघ्नवत् ।। ५७ ।।

खलत्वं हेयमेवेशकृपासदुपयुक्तये ।
दण्ड एवान्यथा लब्धसंपदोऽपि विधीयते ।। ५८ ।।

तामसी होनेसे रावणके मनमें यह मोह उत्पन्न हुआ। जिस (मोह) से मनुष्य कृतघ्नके समान मूलकी ही अवगणना करने लगता है। भगवत्कृपाका सदुपयोग होना चाहिये। तदर्थ खलत्व त्यागना परमावश्यक है। ऐसा न होनेपर, सम्पदा प्राप्त होनेपर भी दण्ड ही मिलता है ।। ५७-५८ ।।

खलत्वं किञ्चन त्यक्तं रावणेन स्वतो यदा ।
तदाभूदुद्धृतिस्तस्य तथा चाह स एव हि ।। ५९ ।।

कदा निलिम्पनिर्झर्या निवसन् कुञ्जकोटरे ।
विमुक्तदुर्मतिर्मन्त्रं शिवेत्येवं जपाम्यहम् ॥ ६० ॥

स्वदुर्मतिपरित्यागाभिलाषोद्गममात्रतः ।
महासंकटगर्तात् स प्रापोद्धारं दशाननः ॥ ६१ ॥

पतनं ते भवेदेवमित्येवं सूचितोऽपि सः ।
उदग्रखलभावत्वात् सर्वथा तन्न संजहौ ॥ ६२ ॥

खलत्वपरिणामोऽयं रामेण निहतो युधि ।
तामसत्वं ततो हेयं यत्नेनैव मुमुक्षुभिः ॥ ६३ ॥

जब रावणने थोड़ा खलत्व त्यागा तब उसका उद्धार हुआ । रावणका ही वचन देखिये—"कदा निलिम्पनिर्झरीनिकुञ्जकोटरे वसन् विमुक्तदुर्मतिः सदा शिरस्थमञ्जलिं वहन्··· शिवेति मन्त्रमुच्चरन्" इत्यादि । वहाँ उसने दुर्मतित्यागकी अभिलाषामात्र व्यक्त की । उतनेसे वह महासङ्कटसे बच गया । इस प्रकार शङ्करभगवानने खलभावका परिणाम पतन सूचित किया । किन्तु भयङ्कर खल होनेसे सर्वथा उसे त्याग न सका । परिणाम यही हुआ कि रामने युद्धमें रावणको मारा । अतः प्रयत्नपूर्वक तामसभावको त्यागना ही चाहिये । भक्तिसे सब कुछ होगा, इस भरोसेपर ही रहनेकी अपेक्षा तामसभाव त्याग करनेका प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर है ॥ ५९-६३ ॥

भक्तानां संपदाधात्रे खलानामुपमर्दिने ।
नमः समस्तभूतानां पालयित्रे कपर्दिने ॥ ६४ ॥

भक्तोंकी उन्नति सम्पादन करनेवाले, खलोंका उपमर्दन करनेवाले समस्त भूतोंका पालन करनेवाले, जटाजूटधारी, शङ्कर भगवानको हम प्रणाम करते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नःस्तोत्रविवृतौ स्पन्दोऽयं द्वादशो गतः ॥ १२ ॥





त्रयोदशः श्लोकः

विष्णवादिभ्यः सात्त्विकेभ्यः शक्तिं राति यथा तथा ।

तामसेभ्योऽप्यसौ दाति दशास्याय यथैव हि ॥ १ ॥

किन्त्वृद्धिं देवताभ्यो हि सात्त्विकेभ्यो ददात्यसौ ।

तथा चोक्तं सुरास्तां तामृद्धिं दधति तावकीम् ॥ २ ॥

नैवमृद्धिं च गिरिशोऽसात्त्विकेभ्योऽपि यच्छति ।

अत्रोदाहरणं तावद् बाणासुर इतीर्यते ॥ ३ ॥

"तवैश्वर्यं यत्नात्" में सात्त्विक विष्णु आदिको शंकर शक्ति देते हैं बताया । "अयत्नादापाद्य" इत्यादि दो श्लोकोंमें तामसोंको भी शक्ति देते हैं, जैसे रावणको, यह कहा । परंतु ऋद्धि तो सात्त्विक देवताओंको ही देते होंगे । "सुरास्तां तामृद्धिं" में यही तो बताया । इस पूर्वपक्षपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है । ऋद्धि भी शंकरभगवान तामसोंको भी देते हैं (अतः हमें भी प्राप्त हो सकती है) इसमें उदाहरण बाणासुर है, इस बातको त्रयोदश श्लोकसे कहते हैं ॥ १-३ ॥

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सतीं-

मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः ।

न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-

र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥ १३ ॥

हे वरद परमेश्वर ! अत्यन्त समुन्नत भी इन्द्रसमृद्धिको बाणासुरने तीनों भुवनोंको सेवक बनाकर जो नीचा दिखाया वह आपके चरण-कमलसेवी बाणके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । भला आपके चरणोंमें मस्तकावनति किस उन्नतिका कारण नहीं है ? सबका कारण है ॥ १३ ॥

इन्द्रस्यैरावतो हस्ती वाजी चोच्चैःश्रवा महान् ।

कामधेनुः कल्पतरुश्चिन्तामण्यप्सरोगणः ॥ ४ ॥

एते सागरसंभूता अमृतं च तथाविधम् ।

एवमृद्धिर्महेन्द्रस्य परमोच्चैरुदीरिता ॥ ५ ॥

एतामृद्धिमधश्चक्रे बाणनामासुराधिपः।
एधमानः परिजनविधेयभुवनत्रयः॥ ६॥

भृत्यः परिजनस्तद्वद्विधेयं विनयान्वितम्।
भुवनत्रितयं यस्य स तथाविधि उच्यते॥ ७॥

स्वभृत्यानामपि भवेद्विधेयं भुवनत्रयम्।
इत्यप्यन्ये विगृह्णन्ति महीयस्त्वविवक्षया॥ ८॥

इन्द्रकी समृद्धि अत्यंत ऊंची है—ऐरावत हाथी, उच्चेःश्रवा घोड़ा, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तमणि, अप्सरागण, अमृत ये सभी असाधारण हैं, सागरोद्भूत हैं। ऐसी परम उन्नत समृद्धिको भी बाणासुरने नीचा कर दिखाया क्योंकि उसने तीन भुवनोंको भृत्य समान विनयी बना दिया था। त्रिभुवन उसके लिये भृत्यवत् विनयग्राही या उसके भृत्योंके भी विनयग्राही थे। (द्वितीय अर्थमें बाणकी अधिक महत्ता सूचित होती है)॥ ४-८॥

भृत्यः परिजनस्तस्य धनं स्वामिधनं स्मृतम्।
स्वधनं चाधिकं तेन बाणर्द्धिः सकलोत्तरा॥ ९॥

परिजन माने भृत्य। भृत्यका जो धन है वह स्वामीका ही धन है, ऐसा स्मृतियों में बताया है। तब भृत्यरूप त्रिभुवनका धन और अपना स्वतन्त्र धन दोनों जोड़नेपर बाणकी सर्वाधिकता तो होगी ही॥ ९॥

तदासीच्छोणितपुरं स्वर्गाधिकसमृद्धिमत्।
अधश्चकार शक्रर्द्धिमिति सामान्ययोजना॥ १०॥

तीनों भुवनको जीतकर एकत्रित की हुई संपदासे बाणासुर का स्थान शोणितपुर उस समय स्वर्गसे अधिक ससृद्धिशाली बन गया था। अतएव उसने इन्द्रसमृद्धिको तुच्छ कर दिया। ऐसा यहांपर सामान्यरूपसे पदयोजना है। (विशेष अर्थ जो पहले दिखाया उसे समझ लेना चाहिये)॥ १०॥

स जाबालपुरे बाणः पावने नर्मदातटे।
वरिवस्यां व्यधाच्छम्भोर्विदधत् पार्थिवेश्वरम्॥ ११॥

बाणासुर जबलपुरमें पवित्र नर्मदा तटपर पार्थिवेश्वर बनाकर शंकरकी पूजा करता था॥ ११॥

नर्मदामृत्तिकां धृत्वा कृत्वासौ पार्थिवेश्वरम्।
उपचारैः षोडशभिरर्चयामास नित्यशः॥ १२॥

आवाहनासने पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ।
स्नानं वस्त्रं गन्धपुष्पे धूपो दीपस्थैव च ॥ १३ ॥
नैवेद्यं दक्षिणा चारार्त्तिक्यं पुष्पाञ्जलिस्तथा ।
विसर्जनं चेति सर्वोपचारः पार्थिवेश्वरे ॥ १४ ॥
आवाहयामि गिरिशं स्थापयामि नमः प्रभुम् ।
इत्येवं सनमस्कारा उपचारा निरूपिताः ॥ १५ ॥

बाणासुर नर्मदाजीसे मृत्तिका लेकर पार्थिवेश्वर बनाता था। षोडश उपचारोसे नित्य पूजा करता था। आवाहन आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, दक्षिणा, आरती, पुष्पाञ्जलि, विसर्जन ये सभी उपचार पार्थिवेश्वरमें होते हैं। गिरिशं प्रभुमावाहयामि, स्थापयामि, नमः इत्यादि रीति नमस्कारपूर्वक उपचारोंका निरूपण शास्त्रोंमें किया गया है ॥ १२-१५ ॥

सपादलक्षसंख्यानि श्रावणे बलिनन्दनः ।
पार्थिवेश्वरलिङ्गानि नित्यं कृत्वा किलार्चयत् ॥ १६ ॥

श्रावणमासमें बलिपुत्र वाण सवा लाख शिवलिङ्ग नित्य बनाकर पूजता था ॥ १६ ॥

विसृष्टशिवलिङ्गानि स्वात्मसात्कुरुते स्म सा ।
नर्मदा बाणलिङ्गानि पूतान्यद्यापि तान्यतः ॥ १७ ॥

बाणद्वारा विसर्जित शिवलिङ्गोंको नर्मदा माता आत्मसात् कर लेती थी। अतः बाणलिङ्ग आज भी पवित्र माने जाते हैं ॥ १७ ॥

सप्रतिष्ठाप्रतिष्ठानि बाणलिङ्गान्युपावृतन् ।
विना प्रतिष्ठां पूजा स्यात्प्रतिष्ठाप्याथवा भवेत् ॥ १८ ॥
बाणप्रतिष्ठापनतः सप्रतिष्ठानि वा जगुः ।
रेवातोयविसृष्टत्वादप्रतिष्ठानि वा जगुः ॥ १९ ॥

बाणलिङ्ग सप्रतिष्ठ तथा अप्रतिष्ठ हैं। अर्थात् बिना प्रतिष्ठा किये पूजा जा सकता है, प्रतिष्ठा करके भी किया जा सकता है। बाणासुरप्रतिष्ठापित होनेसे सप्रतिष्ठ है। रेवाजलमें विसृष्ट होनेसे अप्रतिष्ठ भी हैं ॥ १८-१९ ॥

न बाणलिङ्गनैवेद्यग्राह्याग्राह्यविचारणा ।
सर्वंग्राह्यमगृह्णंस्तु नरके पच्यते चिरम् ॥ २० ॥
शैवदीक्षायुतः सर्वलिङ्गनैवेद्यमाहरेत् ।
अन्यस्तु नर्मदेशस्य ज्योतिर्लिङ्गस्य चाहरेत् ॥ २१ ॥

बाणलिङ्गके भोगमें ग्राह्य अग्राह्य विचार नहीं है। सभी उसे ग्रहण करें। और ग्रहण न करें तो शिवनैवेद्यापराधसे करोड़ों वर्ष नरकमें पड़ेंगे। शिवदीक्षा प्राप्त व्यक्ति सभी शिवलिङ्गोंका प्रसाद ग्रहण करें। दूसरे लोग नर्मदेश्वर और ज्योतिर्लिङ्गका भोग ग्रहण करें ॥ २०-२१ ॥

वरिवस्याप्रसन्नश्च वरान् वरयितुं शिवः ।
उवाच तदभीष्टं च श्रुत्वा तं समवोचत ॥ २२ ॥
द्विसहस्रं करास्ते स्युरजेया अमराधिपैः ।
असमोर्द्धां समृद्धिं च परमेष्टामवाप्नुहि ॥ २३ ॥

पूजासे प्रसन्न भगवान शंकरने वाणासुरकी इच्छाके अनुसार इन्द्रादिसे भी अजेय दो हजार भुजायें और अपार समृद्धि प्रदान की ॥ २२-२३ ॥

वदन्ति षोडशग्रन्थप्रभृतौ वैष्णवा अपि ।
सर्वसंपत्प्रदः शंभुर्विष्णुर्मोक्षप्रदस्तथा ॥ २४ ॥
विरक्तः शंकरो भोगं प्राथिभ्यः संप्रयच्छति ।
लक्ष्म्यासक्तो हरिर्भक्तधनं समपकर्षति ॥ २५ ॥
यस्य यद्धि प्रियं तन्न परेभ्यः प्रददाति सः ।
(शाटीप्रिया नवां शाटीं याचकाय न दाति हि ॥
कथायामागतां शाटीं प्रसादविधया यतिः ।
प्रददाति तदाथिन्यै न कस्मैचित्कमण्डलुम् ॥
संन्यासी याचमानायाप्यहो दद्यान्न पुस्तकम्)
अयं च मोहमहिमा नैवाभिभवतीश्वरम् ॥ २६ ॥
न च मोक्षप्रियो नेशो दद्यात्तमिति सांप्रतम् ।
न्यौन्याभावाददेयत्वात्स्वस्वरूपस्थितेरपि ॥ २७ ॥

वैष्णवलोग भी षोडश ग्रन्थादिमें कहते हैं—शंकर सर्वसंपत्तिसमृद्धि-दाता हैं। विष्णु मोक्षदाता हैं। क्यों ? शंकर विरक्त हैं। अतः धनेच्छा न होनेसे प्रार्थियोंको दे देते हैं। विष्णु लक्ष्मीमें आसक्त हैं। अतः उलटा भक्तोंका धन भी खींच लेते हैं। जिसको जो प्रिय है, वह उसे दूसरेको नहीं देता। जैसे जिसको साड़ी अति प्यारी है वह नारी दूसरेको नयी सुंन्दर साड़ी सहसा नहीं देती। पर शंकरको यह मोह अभिभूत नहीं करता। कहो, फिर शंकर मोक्षप्रिय होनेसे किसीको मोक्ष नहीं देते। सो गलत है। मोक्ष दिया तो क्या वह अपने पास घट जायेगा ? फिर मोक्ष कोई देनेका पदार्थ नहीं है। वह तो स्वरूपस्थिति है। उसे आवरण-निवृत्तिसे प्राप्त करना है। अपनेसे निकालकर देना नहीं है ॥ २४-२७ ॥

नन्वेते ब्राह्मणाः कस्माद्दरिद्राः शंभुपूजकाः ।
विष्णुपूजापराश्चैव दृश्यन्ते धनिनो विशः ॥ २८ ॥
सत्यं सरस्वतीमेते ब्राह्मणाः परिवृण्वते ।
सरस्वत्याश्च लक्ष्म्याश्च विरोधोऽनादिकालतः ॥ २९ ॥
वेदाधीतेर्विवेकेन वैराग्याल्लक्ष्म्युपेक्ष्यते ।
उपेक्षिता न चायाति प्रार्थितापि पुना रमा ॥ ३० ॥

यदि ऐसी बात है तो शंकरभक्त ये ब्राह्मण दरिद्र क्यों बने ? और विष्णुभक्त वैश्यादि धनी क्यों हुए ? सुनिये । ब्राह्मण सरस्वतीकी उपासना करते हैं । लक्ष्मी और सरस्वतीका विरोध अनादिकालसे है । वेदाध्ययनसे विवेक होता है । तब कुछ वैराग्य भी हो ही जाता है । उस समय वे लक्ष्मीकी उपेक्षा करते हैं, और एकबार उपेक्षित होनेपर फिर लक्ष्मी प्रार्थना करने पर भी नहीं आती ॥ २८-३० ॥

यदि शैवा इमे विप्रा हेडित्वा हंसवाहिनीम् ।
उलूकवाहिनीमीयुः पश्य तद्धनवैभवम् ॥ ३१ ॥
पूर्वजन्मन्यमी वैश्या बाणासुरवदीश्वरम् ।
शंकरं भेजिरे तेन लेभिरे धनमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

यदि ये शैव ब्राह्मण हंसवाहिनी सरस्वतीका तिरस्कार कर उलूकवाहिनी लक्ष्मीके पीछे लग जायं तो देखो उनका धनवैभव कैसा होता है । पूर्वजन्ममें इन वैश्योंने बाणासुरके समान शंकरोपासना की थी । अतः उन्हें इस जन्ममें पुष्कल धन प्राप्त हुआ ॥ ३१-३२ ॥

अत्र चार्थान्तरन्यासः चतुर्थे कथयिष्यते ।
पादे न कस्या उन्नत्यै तेनान्याप्युन्नतिर्मता ॥ ३३ ॥
बाणे दृष्टा बहुतरा बहुधान्येषु चोन्नतीः ।
आदाय कस्या उन्नत्या इत्याह मुनितल्लजः ॥ ३४ ॥
अतस्तस्य कथाः किंचिद्विस्तरात्प्रब्रवीम्यहम् ।
येन शक्याः परिज्ञातुं बाणस्योन्नतयोऽद्भुताः ॥ ३५ ॥

यहां श्लोकके चतुर्थपादमें अर्थान्तरन्यास कहेंगे—"न कस्या उन्नत्यै" इत्यादि । अर्थात् आपके चरणोंमें प्रणति किस उन्नतिका कारण नहीं है ! अतएव केवल देवाधिकसंपत्प्राप्तिरूपी उन्नति ही नहीं, अपितु अन्य भी उन्नति विवक्षित प्रतीत होती है । बाणासुरमें बहुत सारी उन्नतियां दीखीं । अन्य भी अनेक उन्नतियां हैं । उन सबको लेकर अर्थान्तरन्यास है— "न कस्या उन्नत्यै" । बाणासुरमें कुछ अद्भुत उन्नतियां हुईं । तब

प्रश्न हुआ कि क्या इतनी उन्नति शंकरपूजनसे होती है ? उसका उत्तर है - इतनी तो क्या ? किस उन्नतिका कारण शंकरपूजन नहीं है ? वह सर्वोन्नतिकारण है । अतएव बाणकी उन अद्‌भुत उन्नतियोके परिज्ञानार्थ हम थोड़ा विस्तारकर बाणासुरकथा प्रस्तुत करते हैं ।। ३३-३५ ।

जित्वा त्रिभुवनं बाणो राज्यं सर्वसमृद्धिमत् ।
चकार शोणितपुरे भक्त्या भेजे पुनर्हरम् ।। ३६ ।।

प्रसन्नं पुरमायातं वरदानोद्यतं शिवम् ।
प्राह नित्यं मद्भुवने भवद्दर्शनमस्तु मे ।। ३७ ।।

रक्ष चास्मान् महादेव स्थितोऽत्रैव सदा विभो ।
तथाऽस्त्विति वदन् शंभुरभवद् द्वारपालवत् ।। ३८ ।।

कैलासाच्छोणितपुरं नयपालोपवर्तने ।
समीपं तत्र वसति प्रायोऽभ्येत्य वृषध्वजः ।। ३९ ।।

तत्र प्रायो भगवती क्रीडत्यागत्य पार्वती ।
उषा बाणसुता तां च सखीं स्वामकरोत् प्रियाम् ।। ४० ।।

बाणासुरने त्रिभुवन जीतकर शोणितपुरमें अपना सर्वसमृद्धियुक्त राज्य किया, और फिरसे शंकरोपासना की । प्रसन्न होकर पुनः शंकर आये और वरदान मांगने के लिये बोले, तो बाण बोला—आपका दर्शन हमारे घरमें हमेशा हो, आप हमारे रक्षक हों । तथास्तु कहकर शंकर भगवान द्वारपालके समान रक्षक हो गये । नेपालदेशमें स्थित शोणितपुर कैलास से नजदीक था । अतः प्रायः शंकर वहां आकर रहने लगे । प्रायः पार्वती भी शिवजीके साथ आकर क्रीड़ा करने लगी । उन्हें बाणपुत्री उषाने अपनी प्रिय सखी बना लिया था ।। ३६-४० ।।

एकदा ताण्डवं नृत्यं कर्तुमिच्छन्महेश्वरः ।
पार्वत्याः प्राहिणोद् दूतीं क्रीडन्त्या खात ऊषया ।। ४१ ।।

उद्‌गत्य लीलाभृङ्गारभूषावेषविधारणे ।
जातो विलम्बः शर्वण्यास्तावत्तत्राभ्यगादुषा ।। ४२ ।।

निजरूपं समास्थाय नृत्यन्तीं शम्भुना सह ।
वीक्ष्योषां कुपिता देवी गौरी तामशपद्रुषा ।। ४३ ।।

सतीत्वं खण्डितं ते स्यादचिराद् दुष्टमानसे ।
यन्मद्रूपमुपादाय पत्या मे नृत्यसीदृशम् ।। ४४ ।।

तच्छ्रुत्वातिभयाक्रान्ता पतित्वोमापदाब्जयोः ।
आह क्षमस्व मां मातः खेलयैवं मया कृतम् ।। ४५ ।।

शान्ता प्राहाम्बिका स्वप्ने खण्डितं तद्भविष्यति ।
सतीत्वं खण्डनस्ते तु पतिः पश्चाद् भविष्यति ॥ ४६ ॥

एकबार ताण्डव नृत्य करनेके इच्छुक भगवान शङ्करने पार्वतीके पास दूतीको भेजा, जब वे उषाके साथ बावडीमें क्रीड़ा कर रही थीं । बावड़ीसे बाहर आकर वे नृत्योचित शृङ्गार करने लगीं, तो बिलम्ब हुआ । इतनेमें पार्वतीका रूप धारणकर उषा वहाँ पहुँच गयी । अपना रूप धारणकर शङ्करके साथ नृत्य करनेमें सम्बद्ध उषाको देखकर रोषमे पार्वतीने शाप दिया, अरी दुष्टे ! थोड़े समयमें तेरा सतीत्व खण्डित होगा । उषा घबरायी, पार्वतीके चरणोंमें पड़ी, और बोली मैंने मजाकमें ऐसा किया था, क्षमा करो । अम्बिका शान्त होकर बोलीं कि स्वप्नमें तुम्हारा सतीत्व खण्डन होगा और जो वह खण्डित करनेवाला होगा वही आगे तुम्हारा पति होगा ॥ ४१-४६ ॥

अन्येद्युरसुरः शंभोः पादौ संवाहयन् शनैः ।
बाणो जगाद गिरिशमविनीतो विनीतवत् ॥ ४७ ॥

दत्ता मे भवता नाथ द्विसहस्रभुजाटवी ।
कण्डूर्मे जायते तत्र प्रतियोद्धुरभावतः ॥ ४८ ॥

अतो विधातुमिच्छामि भवतैव समं प्रभो ।
मुष्टियुद्धं यतः कण्डूरियं प्रशममेष्यति ॥ ४९ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रःक्रुद्धोऽप्याधान्न किञ्चन ।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ॥ ५० ॥
आह चारे दुरात्मंस्ते कण्डूं प्रशमयिष्यति ।
मत्समो ध्वजपातं तु प्रतीक्षस्वास्य सूचकम् ॥ ५१ ॥
अन्तर्धानगतोऽभूच्च भगवान् प्रमथाधिपः ।
बाणः प्रसन्नोऽसुरधीर्ध्वजपातं प्रतीक्षते ॥ ५२ ॥

एक समय बाणासुर शङ्कर भगवानके पाँव धीरे-धीरे दबाते हुए अविनयके साथ ही विनीत जैसा बोलने लगा--नाथ ! आपने मुझे दो हजार हाथ दिये । किन्तु प्रतियोद्धा न होने से उनमें खुजली सी होने लगी है । उसे मिटानेके लिये, आपके साथ मुष्टियुद्ध करना ही उपाय रह गया है । यह सुनकर रुद्र भगवानको क्रोध आया । किन्तु यह सोचकर कुछ किया नहीं कि विषवृक्षको भी उगाकर स्वयं काटना उचित नहीं । किन्तु बोले--अरे दुष्ट ! मेरे समान ही कोई होगा जो तुम्हारी इस खुजलीको मिटायेगा । जिस रोज तुम्हारा ध्वज स्वयं गिरेगा तो उसके आगमनकी वह सूचना

समझ लो। भगवान शङ्कर अन्तर्धान हो गये। बाण तो असुर ही था, वह प्रसन्न हो गया और ध्वजपातकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ ४७-५२ ॥

कदाचिद्रममाणोषा स्वप्ने प्राद्युम्निना सह।
प्रबुद्धा तमनालोक्य विललापाकुला सती ॥ ५३ ॥
चित्रलेखा सखी तस्याः कुम्भाण्डतनया प्रिया।
जाग्रती ज्ञातवृत्तान्ता सान्त्वयन्ती जगाद ताम् ॥ ५४ ॥
यदि त्रिभुवने सोऽस्ति नूनं त्वामानयामि तम्।
चित्राणि रचयाम्यद्य स्वयं परिचिनुष्व तम् ॥ ५५ ॥
देवगन्धर्वयक्षाणां राजन्यानां च लक्षशः।
दृष्ट्वा न्यषेधच्चित्राणि नासौ नासाविति ह्युषा ॥ ५६ ॥
प्रद्युम्नचित्रमालोक्य सलज्जा मुखमप्यधात्।
तुष्टानिरुद्धमालोक्य प्राह चासावसाविति ॥ ५७ ॥
अयं मम सतीत्वं च मनश्चैवाऽहरद् बलात्।
कथं नु धारये प्राणान् विनानेनाद्य हा हता ॥ ५८ ॥

एक समयकी बात है—उषाने सपनेमें प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्धको अपने साथ रतिक्रीड़ा करते हुए देखा। जगनेपर उसे न देखकर विलाप करने लगी। मन्त्री कुम्भाण्डकी पुत्री चित्रलेखा उसकी सहेली थी। वह जग गयी। विलाप करनेका कारण पूछा तो उषाने सभी वृत्तान्त बताया। चित्रलेखा सान्त्वना देती हुई बोली यदि त्रिभुवनमें वह व्यक्ति है तो उसे तुझे मैं ला दूंगी। मैं चित्र बनाती हूँ, तू पहचान ले। देव, गन्धर्व, यक्षोंमें और राजाओंमें जो मुख्य मुख्य थे उनके लाखों चित्र बनाकर उसने दिखाया। यह नहीं, यह नहीं कहती हुई उषाने सबका निषेध किया। यदु-वंशमें प्रद्युम्नका चित्र बनाया तो उषा लजाकर आँचलसे मुँह ढकने लगी। अनिरुद्धका चित्र बनाया तो उसे देखकर वह प्रसन्न हो गयी और बोली कि बस, यही है, यही है। इसीने मेरा सतीत्व और मन दोनोंका हरण किया। हाय! इसके बिना मैं कैसे प्राण धारण करूँ? आज मैं बुरी तरहसे मारी जा रही हूँ ॥ ५३-५८ ॥

मा भैषीरानयाम्येनं योगिनी योगमार्गतः।
इत्युक्त्वा सा गता चित्रलेखा द्वारावतीं पुरीम् ॥ ५९ ॥
तत्र सुप्तं महावीरं रात्रावन्तःपुरे द्रुतम्।
अवतीर्य व्योममार्गादनिरुद्धं निनाय सा ॥ ६० ॥
अवाप परमं मोदं संप्राप्योषा प्रियं पतिम्।
ज्ञात्वा वृत्तम् स चोषां तां रमयामास यादवः ॥ ६१ ॥

घबराओ मत, मैं योगिनी हूँ, योगमार्गसे उसे तुझे ला देती हूँ, कह-कर चित्ररेखा द्वारिका गयी। रातको अन्तःपुरमें सोये हुए अनिरुद्धको वहाँ उतरकर द्रुतिगतिसे उसने उठाया और शोणितपुर पहुँचाया। अपने प्रिय पतिको पाकर उषा परम मुदित हुई। जगनेपर अनिरुद्धने सारा वृत्तान्त जाना और उषाको आनन्दित किया ॥५९-६१॥

लक्षयित्वा प्रहरिणः कौमार्याहतिलक्षणम्।
राज्ञे निवेदयामासुर्बुद्धितुर्भयविह्वलाः ॥ ६२ ॥
तच्छ्रुत्वा कोपताम्राक्षः कन्यान्तःपुरमाययौ।
तत्रावैक्षत प्राद्युम्निं दीव्यन्तं प्रियया सह ॥ ६३ ॥
चकितः कुपितश्चैव वीरं तं वीक्ष्य सोऽभवत्।
उदतिष्ठच्च सहसाऽनिरुद्धः सधनुःशरः ॥ ६४ ॥
तयोः समभवद्युद्धमन्योन्यं विजयैषिणोः।
न चाभिभवितुं प्राभूद् बाणस्तं बाणवृष्टिभिः ॥ ६५ ॥
नागपाशेन स त्वन्ते बबन्ध यदुपुङ्गवम्।
संशयानः कोऽयमिति कारागारे न्यरूरुधत् ॥ ६६ ॥

प्रहरियोंने उषाके कौमार्यनाशका लक्षण पाया। उन्होंने डरकर राजा बाणको निवेदन किया। क्रुद्ध होकर वाण कन्यान्तःपुरमें आया तो वहाँ प्रिया उषाके साथ अक्षक्रीड़ा करते हुए अनिरुद्धको देखा। वह चकित हो रहा था, क्रोधित भी। इतनेमें अनिरुद्ध भी हाथमें धनुषबाण लेकर उठ खड़ा हो गया। दोनोंका बड़ा भारी युद्ध हुआ। किन्तु वाण शरवर्षासे भी अनिरुद्धको अभिभूत नहीं कर सका। अन्तमें उसने अनिरुद्धकी नागपाशसे बाँधा। आखिर यह वीर कौन है ऐसा संशय करता हुआ उसे कारागारमें अवरुद्ध कर दिया॥ ६२-६६॥

द्वारिकावासिनः सर्वे वर्षामासचतुष्टयम्।
अनिरुद्धमलब्ध्वैव व्याकुलत्वं प्रपेदिरे ॥ ६७ ॥
अथान्येद्युरुपायातो देवर्षिर्ब्रह्मसंभवः।
पृष्टः स यदुभिः सर्वं वृत्तं तेभ्यो न्यवेदयत् ॥ ६८ ॥

वर्षाकालके पूरे चार मास अनिरुद्धको न पाकर सभी द्वारिकावासी व्याकुल हो गये। चातुर्मास्योत्तर देवर्षि नारदजी वहाँ पहुँचे। द्वारिका-वासियोंने उनसे समाचार पूछा तो नारदजीने शोणितपुरमें अनिरुद्धके निरुद्ध होनेका सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥ ६७-६८॥

तदा न्यरूरुधत् सेना यदूनां सागरोपमा ।
तरसा शोणितपुरं भग्नस्तावद् ध्वजः पुरे ॥ ६९ ॥
शङ्कितो वीक्षते यावद् बाणस्तु परितः पुरीम् ।
स्वपुरीं स निरुन्धानां चमूं पश्यति यादवीम् ॥ ७० ॥
सस्मार शङ्करं बाणः सगणस्त्वभ्यगाद्धरः ।
महद् युद्धं प्रववृते उभयोस्तत्र सेनयोः ॥ ७१ ॥

तब सागरोपम यादवसेनाने तुरन्त जाकर शोणितपुरको घेरा। इतनेमें राजधानीका ध्वज टूट गिरा। बाणासुरको शङ्का हो गयी। चारों ओर देखा तो अपनी पुरीको घेरे हुए यादवसेनाको देखा। बाणने भगवान शङ्करका स्मरण किया। भगवान शङ्कर भी अपने गणोंके साथ उपस्थित हुए और दोनों सेनाओंमें अति महान् युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ ६९-७१ ॥

श्रीकृष्णः शम्भुना साकं प्रद्युम्नः शरजन्मना ।
बाणः सात्यकिना सार्धमित्ययुध्यन् क्रमेण ते ॥ ७२ ॥
माहेश्वरो ज्वरोऽत्युग्रस्तत्रोद्भूतोऽप्ययूयुधत् ।
वैष्णवेन ज्वरेणेति लोकोत्तरमभूद्रणम् ॥ ७३ ॥
मा भूदनन्तकालान्तं रणमीश्वरयोरिदम् ।
इत्यतो जृम्भणास्त्रं श्रीकृष्णः शम्भावुदैरिरत् ॥ ७४ ॥
जृम्भमाणे हरे क्षिप्रं बाणं प्रतिययौ हरिः ।
तयोर्युद्धमभूद् घोरमन्योन्यं परमाद्भुतम् ॥ ७५ ॥
सुदर्शनेन चक्रेण करानेकैकशो हरिः ।
अच्छिनत्तस्य बाणस्य ह्यवशिष्टं करद्वयम् ॥ ७६ ॥

श्रीकृष्ण शङ्कर भगवानके साथ, प्रद्युम्न कार्तिकस्वामीके साथ, सात्यकिके साथ बाणासुर इस क्रमसे युद्ध आरम्भ हुआ। वहाँपर उत्पन्न माहेश्वर ज्वर भी वैष्णव ज्वरके साथ भिड़ पड़ा। यह युद्ध तो लोकोत्तर हो रहा था। यह ईश्वरोंका युद्ध अनन्तकालतक न चलता रहे इसलिये श्रीकृष्णने शङ्करपर जृम्भणास्त्र छोड़ा। शङ्कर जंभाई लेने लगे तो तुरत वे बाणासुरकी ओर पहुँचे और सुदर्शनचक्रसे एक एक कर उसके हाथ काट गिराने लगे। शेष दो ही हाथ रह गये थे ॥ ७२-७६ ॥

तावदागत्य भगवान् गिरिशो न्यरुणद्धरिम् ।
भक्तं मे मा वधीरेवं मा भूद्युद्धमतः परम् ॥ ७७ ॥
समाधापयदन्योन्यं कृष्णबाणौ महेश्वरः ।
उवाच च हरिः शंभुं प्रणमन्नम्रभावतः ॥ ७८ ॥

संहारे रुद्ररूपं त्वां नमस्यामो वयं सदा ।
को नु तिष्ठद्रणे देव त्वयात्र भुवनत्रये ॥ ७९ ॥

भवतैव प्रशप्तोऽयं करकण्डूविमर्दनः ।
उपैष्यतीति तत्तेऽहमादेशं पर्यपालयम् ॥ ८० ॥

इतनेमें शङ्करभगवान आ पहुँचे और श्रीकृष्णको रोका। बोले कि मेरे भक्तका वध मत करो। यह युद्ध यहाँ समाप्त हो। शङ्करजीने श्रीकृष्ण और बाणासुरमें परस्पर समाधान कराया। श्रीकृष्ण शङ्करको प्रणाम करते हुए बोलने लगे, संहारकालमें रुद्ररूपको धारण करनेवाले आपको हम नमस्कार करते हैं। तीनों भुवनमें ऐसा कौन है जो आपके साथ युद्ध कर सके। तथापि आपने ही इस बाणासुरको शाप दिया था कि तुम्हारे भुजाओं-की खुजली मिटानेवाला आयेगा। सो मैंने आपके ही आदेशका पालन किया ॥ ७७-८० ॥

अथ बाणः सुतां स्वीयामनिरुद्धाय सन्मतिः ।
विधिवत्परिणीयादात् पारिबर्हैः सहादरात् ॥ ८१ ॥

इत्थं शङ्करतः प्राप्तशक्तिः संप्राप्तरक्षणः ।
अवृतच्छोणितपुरे बलिसूनुर्निरामयः ॥ ८२ ॥

इसके बाद बाणासुरने अपनी पुत्री उषाको विधिवत् विवाहकर आदरके साथ दहेजके साथ अनिरुद्धको दिया। इस प्रकार शङ्करसे शक्ति प्राप्तकर और रक्षण प्राप्तकर बलिपुत्र बाण निरामय हो शोणितपुरमें रहा ॥ ८१-८२ ॥

त्वत्पदावननिर्ध्वस्त उन्नति हि विरुद्धवत् ।
सेयं कस्यै न चोन्नत्यै सर्वस्यै नैव संशयः ॥ ८३ ॥

रक्षत्यसौ द्वारपवद् युद्धे रक्षति मृत्युतः ।
सखीव पार्वती पुत्र्याः किमतः परमुन्नतिः ॥ ८४ ॥

आपके चरणमें अवनति उन्नति करती है, यह विरुद्ध सा लगता है, किन्तु विरुद्ध नहीं है। यह अवनति किस उन्नतिका कारण नहीं ? सभी उन्नतिका कारण है। शङ्कर भगवान द्वारपाल जैसे रक्षा करने लगे। युद्धमें मृत्युसे बचाते रहे। पार्वती तो पुत्रीकी सखी जैसी हो गयी। इससे बढ़कर उन्नति क्या हो ? ॥ ८३-८४ ॥

पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः ।
वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासना ॥ ८५ ॥

इति कोशोक्तितो नैव वरिवस्या नतिर्भवेत् ।
अपि चाहामरः श्रीमांस्त्वन्ताद्यादि न पूर्वभाक् ।। ८६ ।।

सत्यं तथापि मुख्यत्वादुपास्तौ तामिहाग्रहीत् ।
किं च प्रत्युपचारं हि नतिः संदर्शिता मया ।। ८७ ।।

"पूजा नमस्या" इत्यादि कोशश्लोकमें नमस्या और वरिवस्याको अलग बताया है । 'वरिवस्या तु' यहाँ 'तु' शब्द पूर्वसे भिन्नताका द्योतक है । फिर भी उपासनारूपी वरिवस्यामें नमस्कारकी मुख्यता होनेसे अवनति शब्दसे उसका यहाँ ग्रहण किया । और पहले षोडशोपचारदिग्दर्शनमें 'आवाहयाम्मि नमः' इत्यादि रीति नमस्कार सहित ही प्रत्येक उपचार होता है यह हमने दिखाया । अतः सभी उपचार नतिसहित होनेसे अवनति पदसे उपचारोपलक्षण समझा जा सकता है ।। ८५-८७ ।।

अथवा नम्रतामुख्या परिचर्येति विश्रुता ।
तां जगावहि तन्मुख्यशुश्रूषाग्रहणार्थतः ।। ८८ ।।

अथवा 'वारिवसितरि' में वरिवस्याका शुश्रूषा अर्थ है । शुश्रूषामें नम्रताकी मुख्यता है । उस नम्रताको ही अवनतिपदसे यहांपर कहा । वह भी नम्रता जिसमें मुख्य है उस वरिवस्या (शुश्रूषा) के उपलक्षणार्थ कहा ऐसा समझना चाहिये ।। ८८ ।।

ध्रुवं मुह्यत्युपचितः खल इत्युपभाषितम् ।
पूर्वश्लोकादत्र चानुवर्त्यं संगतिसत्त्वतः ।। ८९ ।।

"ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः" इस पूर्वश्लोकोक्त अर्थकी यहां संगति होनेसे उसकी अनुवृत्ति भी यहां कर लेना चाहिये ।। ८९ ।।

बाणोऽप्यमुह्यत्समुपचितो युद्धाय शंकरम् ।
यदाह्वयत् परं त्वत्र मुनिर्न स्पष्टमब्रवीत् ।। ९० ।।

न सर्वथा विनाशोऽभूद् बाणस्य दशवक्त्रवत् ।
न तद्वत् परदारादिवाञ्छास्याभूत्कदाचन ।। ९१ ।।

मूढ होकर बाणासुरने युद्धार्थ शंकरका आवाहन किया । किंतु उसका उल्लेख पुष्पदन्ताचार्यने प्रकटरूपसे नहीं किया । क्यों ? रावणके समान बाणासुरका सर्वथा नाश नहीं हुआ । रावणके समान परदाराभिलाषादि बाणासुरको कभी नहीं हुई ।। ९०-९१ ।।

तस्मान्न्यदर्शयत्तस्योन्नतिमात्रं महामुनिः ।
अर्थान्तरन्यासतश्च तावन्मात्रं समर्थितम् ।। ९२ ।।

अतएव महामुनि कात्यायनने यहां बाणकी उन्नतिमात्रको दिखाया। और अर्थान्तरन्याससे भी उन्नतिमात्रका समर्थन किया ॥ ९२ ॥

उन्नतिः का च नामेयमृद्धयाविरुपदर्शिता।
प्रयच्छेन्मोक्षपर्यन्तां तामुमापत्युपासना ॥ ९३ ॥

और पूर्वोक्त उन्नति तो क्या चीज है? मोक्षपर्यन्त सभी उन्नति उमापति भगवान शंकरकी उपासना प्रदान करती है ॥ ९३ ॥

मोक्षपर्यन्तमखिलं यदुपास्तिः प्रयच्छति।
नमश्चरणयोस्तस्य कुर्मो नित्यमुमापतेः ॥ ९४ ॥

जिसकी उपासना मोक्षपर्यन्त सब कुछ प्रदान करती है ब्रह्मविद्या-स्वरूप उमाके पति उस शंकर भगवानके चरणोंमें मेरा प्रणाम है ॥ ९४ ॥

इति श्री काशिज्ञानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
महिम्नःस्तोत्रविवृतौ गतः स्पन्दस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥



चतुर्दशः श्लोकः

सुरास्तां तामिति प्रोक्तमृद्धिदत्वं दिवौकसाम्।
बाणोदाहरणाच्चैव दर्शितं तत्सुरद्विषाम् ॥ १ ॥

"सुरास्तां तामृद्धिं" इत्यादिसे देवताओंको ऋद्धि प्रदान करनेवाले शंकर हैं यह बताया। और बाणासुरके उदाहरणसे असुरोंको भी ऋद्धि प्रदान करते हैं यह दिखाया ॥ १ ॥

इत्थं सात्त्विकमात्रेषु कृपादृष्टिः पिनाकिनः।
नास्मास्विति च शङ्केयं निरस्ता मुनिना स्फुटम् ॥ २ ॥

इसप्रकार सात्त्विकोंपर ही शंकरकी कृपा दृष्टि होती है, हम जैसों-पर नहीं, इस शंकाका निवारण पुष्पदन्ताचार्यने किया ॥ २ ॥

पृथक् पृथक् कृपादृष्टिः प्रागुक्ता देवदैत्ययोः ।
अधुनैकपदेऽपक्षपातित्वायोच्यते हि सा ॥ ३ ॥

पहले देव और दैत्योंपर कृपादृष्टि अलग-अलग बतायी । अब पक्ष-पाताभावप्रदर्शनार्थ एक साथ उसे दिखाते हैं ॥ ३ ॥

कृपासागरता चैव तस्यासाधरणीयते ।
लये संहर्तुरपि च सृष्टौ संहारतोऽवनम् ॥ ४ ॥

तमोगुणप्रधानत्वं तथा च प्रलये भवेत् ।
सृष्टौ तु परमं तस्य सात्त्विकत्वं प्रसिध्यति ॥ ५ ॥

अनितरसाधारण कृपासागरता भी यहां बतायी जा रही है । (क्योंकि विष्णु आदि सभी देव हालाहलसे पीछे हट गये थे ।) इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रलयकालमें भले संहारकर्ता हो, किन्तु सृष्टिकालमें शंकर संहारसे बचाते हैं । अतएव यह भी सिद्ध होता है कि प्रलयार्थ तमोगुण प्रधान भले हो किन्तु सृष्टिकालमें अनन्यसाधारण परम सात्त्विकता ही भगवान शंकरमें है । ॥ ४-५ ॥

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः ।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ॥१४॥

असमय ही ब्रह्माण्डका क्षय होते देखकर भयभीत हुए देव एवं असुरों-पर कृपापरवश आपने हे त्रिनयन ! जो हालाहल विषका भक्षण किया उससे आयी हुई आपके कण्ठकी कालिमा भद्दी दीखने लगी हो, शोभावृद्धि न कर रही हो, ऐसी बात नहीं, उसने शोभावृद्धि ही की । वस्तुतः जगत्के दुःख-भयादिको नष्ट करनेके व्यसनीकी विकृतियां भी श्लाघनीय ही होतीं हैं ॥ १४ ॥

तिरस्क्रियामपि कृतां विस्मरन्नेव शंकरः ।
प्रपन्नान् पाति शरणमित्यर्थे वच्म्यहं कथाम् ॥ ६ ॥

दुर्वाससं हि परममृषिमीशांशसंभवम् ।
तिरश्चक्रुः सुरास्तस्य फलं दुःखपरम्परा ॥ ७ ॥

शंकरेणानुकम्पायां कृतायां साऽस्तमागता ।
अमृतं स्वाधिकारं चालभन्त विबुधोत्तमाः ॥ ८ ॥

भगवान शंकर इतरकृत तिरस्कारको भी भूलकर शरणापन्नकी रक्षा करते हैं इस अर्थके लिये प्रकृतश्लोकसे सम्बद्ध मूलकथा मैं कहता हूं। शंकरके ही अंशसे उत्पन्न महर्षि दुर्वासाका तिरस्कार इन्द्रादि देवोंने किया। उसका फल एकके बाद दूसरा दुःख ऐसी दुःखपरम्परा हुआ। उसीका अन्त शंकरकृपासे हुआ और वे देवता, अमृत और स्वाधिकारको प्राप्त हो गये ॥ ६-८ ॥

आदाय दिव्यकमलहारं वैकुण्ठतः पुरा।
प्रसादरूपं सर्वश्रीकलितं विष्णुनार्पितम् ॥ ९ ॥
दुर्वासाः समवातारीत् स्वर्गं भारतमाव्रजन्।
जनोपकारो वैकुण्ठश्रियास्त्विति च चिन्तयन् ॥ १० ॥
सुरैः सार्धमयं शक्रो राजायं लोकपालकः।
दास्याम्यस्मा इति मुनिर्हारं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ११ ॥
मत्तः स च मदोन्मत्तहस्तिशीर्षण्यवासृजत्।
हस्ती सुगन्धरसिकैः भ्रमरैः पर्यवार्यत ॥ १२ ॥
गजाधिपः स हारं तं शुण्डेनोत्थाप्य पादयोः।
हसतीन्द्रादिकेऽमृद्नादकुप्यदृषिरप्यतः ॥ १३ ॥
अरे दुष्ट यया मत्तो हारं मां चावहेलसे।
सा श्रीस्तवापसरतु मा भूरेवंविधः पुनः ॥ १४ ॥

एकबार वैकुण्ठसे विष्णुप्रदत्त सर्वश्रीसम्पन्न प्रसादरूप दिव्य कमलहार लेकर दुर्वासा ऋषि भारतवर्ष आते हुए स्वर्गमें उतरे। सोच रहे थे वैकुण्ठश्रीसे जनोपकार कैसे होगा। इतनेमें देवताओंके साथ इन्द्र दीख पड़ा। यह राजा है, लोकपालक है। इसे हार दूंगा तो अभीष्ट सिद्ध होगा, सोचकर उसे वह हार दिया। उन्मत्त इन्द्रने उस हारको मदमत्त हाथीके मस्तकपर डाला। इतनेमें सुगन्धरसिक भ्रमरोंने आकर हाथीको घेरा। गुस्सेमें हाथीने सूंड़से उठाकर हारको पांवतले कुचल दिया। इन्द्रादिको हंसी आयी। किन्तु ऋषिको क्रोध आया। बोले अरे दुष्ट ! जिस वैभवश्रीसे उन्मत्त होकर हारका और मेरा तिरस्कार कर रहे हो वह तुम्हारी श्री नष्ट होगी। आगेके लिये तुम याद करोगे ॥ ९-१४ ॥

नष्टश्रीः स्वर्गराज्याच्च भ्रष्टोऽसुरविमर्दितः।
इतस्ततः सुरैः सार्धं पर्यभ्राम्यच्चिरं स्वराट् ॥ १५ ॥
अगाद् ब्रह्मसभां सोऽपि कदाचिदमरैः सह।
तस्मै न्यवेदयत्सर्वं विष्णुमस्तौत्तदा विधिः ॥ १६ ॥

आगत्य हरिरूचे तानुदन्वन्मन्थनात् पुनः ।
लप्स्यध्वेऽमृतमन्यानि रत्नानि श्रियमेव च ॥ १७ ॥
सन्धध्वमसुरैः सार्धं नान्यथा मन्थनक्षमाः ।
भविष्यथास्मत्कृपया यूयं ह्यमृतभागिनः ॥ १८ ॥

उसी समय असुरोंने देवताओंपर चढ़ाई की । परिणामतः देवताओं-की श्री नष्ट हुई, स्वर्गराज्यसे वे भ्रष्ट हो गये । इधर-उधर भटकने लगे । एकबार देवताओंके साथ इन्द्रने ब्रह्मसभामें जाकर सब वृत्तान्त कह सुनाया । ब्रह्माजीने विष्णुकी स्तुति की । भगवान हरि प्रगट होकर बोले कि समुद्र मन्थन करोगे तो अमृत, अन्य रत्न एवं श्रीको प्राप्त होगे । तदर्थ असुरोंसे सन्धि करो । अकेले समुद्र मन्थन सम्भव नहीं है । हमारी कृपासे तुम अमृतके भागी बनोगे ॥ १५-१८ ॥

अथ देवाः समायाता राजानं सकला बलिम् ।
सुधाभागप्रदानेन संधिं चाकुर्वताऽसुरैः ॥ १९ ॥
मन्दराद्रिं समुत्पाट्य सोत्साहं ते सुरासुराः ।
आनिन्युरम्बुधिं रज्जुं वासुकिं समकल्पयन् ॥ २० ॥
ज्येष्ठा श्रेष्ठाश्च न वयं वासुकेः पुच्छधारिणः ।
इति वक्त्रमगृह्णंस्तेऽसुराः पुच्छं तु देवताः ॥ २१ ॥
तप्यतो वासुकेर्वक्त्राद्विषधारा यदाऽपतत् ।
तया तप्ता दितिसुताः पश्चात्तापं ययुर्भृशम् ॥ २२ ॥
मथ्नत्सु गिरिणाम्भोधिं श्रान्तास्तेऽजितमभ्ययुः ।
विशालमूर्तिरजितो ममन्थ तरसा स्वयम् ॥ २३ ॥
कदाचिदजितोऽमथ्नात् कदाचिच्च सुरासुराः ।
एवं संमथ्यमानाब्धेरुद्भूतं विषमुल्बणम् ॥ २४ ॥

इसके बाद सभी देवता राजा बलिके पास आये और अमृतके भाग-प्रदानकी शर्तसे असुरोंके साथ सन्धि की । फिर देव और असुर दोनों मिलकर मन्दराचल उखाड़ लाये । वासुकिको रज्जु बनाया । 'हम ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं अतः वासुकिकी पूंछ नहीं पकड़ेंगे' कहकर असुरोंने मुंह पकड़ा । पूंछ देवताओंने पकड़ी । पर मथते समय वासुकिका शरीर तप गया और मुंहसे विषधारा गिरने लगी तो असुर पछताते रह गये । मथते-मथते देव और असुर थके तो अजित भगवान (विष्णु) की शरणमें गये । अकेले विष्णुने विशाल रूप धारणकर स्वयं मंथन किया । कभी अजित कभी

देवासुर इसप्रकार मंथन कर रहे थे। उसी समय सागरसे भयंकर विष प्रादुर्भूत हुआ ॥ १९-२४ ॥

हालाहलं तदुद्भूतं ज्वालया व्याप्य रोदसी।
प्रदग्धुं जगदारेभे सर्वे भीतास्तदाभवन् ॥ २५ ॥

न देवा नासुरा नैवाजितो नान्यश्च कश्चन।
हालाहलं शमयितुं प्राभवन्नतिदारुणम् ॥ २६ ॥

सर्वे कैलासमाजग्मुर्महेशं गिरिजापतिम्।
रक्ष रक्षेति जल्पन्तो विलपन्तश्च भीतितः ॥ २७ ॥

वह उद्भूत हालाहल अपनी ज्वालासे पृथिवी और आकाशमें व्याप्त हुआ और उसने समस्त जगतको जलाना शुरू किया, सबके सब तब भयभीत हो गये। देव क्या, असुर क्या, अजित क्या, कोई भी उस दारुण हालाहलको शान्त नहीं कर सके। सभी कैलासमें पहुंचे और भगवान शंकर-से यह बोलते हुए भयसे विलाप करने लगे कि बचाओ ॥ २५-२७ ॥

विश्वनाथ नमस्तुभ्यं विश्वरूप महेश्वर।
मुखमग्निः क्षितिः पादौ नभो नाभिस्तवेश्वर ॥ २८ ॥

चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ ते मनः सोमो दिशः श्रुती।
द्यौः शिरश्चैव पातालं तव पादतलं प्रभो ॥ २९ ॥

अध्यात्मा हृदयं धर्मः स्वयंज्योतिस्त्वमीश्वर।
अष्टमूर्ते जगन्मूर्ते नमस्ते जगदीश्वर ॥ ३० ॥

प्रणश्यत्यखिलं नाथ ब्रह्माण्डमधुनाऽचिरात्।
विश्वमूर्तिस्त्वमेवैको विश्वसंरक्षणक्षमः ॥ ३१ ॥

त्वदंशहेडनादेषा जाता भयपरंपरा।
महासंकटतो ह्यस्मादस्मान् पाहि दयानिधे ॥ ३२ ॥

सर्वं कर्तुमकर्तुं वान्यथाकर्तुं भवान् प्रभुः।
कुर्वन्नपि जगत्सर्वं निर्विकारो विराजसे ॥ ३३ ॥

पासि त्वं शरणापन्नानपि भूरिकृतागसः।
इयं हि करुणासिन्धोः करुणासिन्धुता तव ॥ ३४ ॥

नमः परमकल्याण नमः परमपावन।
उमानाथ गिरांनाथ विश्वनाथ नमो नमः ॥ ३५ ॥

इत्थं स्तुतः स भगवान् समुद्रान्तिकमाययौ।
सार्धं गिरिजया तत्र हालाहलमलोकत ॥ ३६ ॥

हे विश्वनाथ ! हे विश्वरूप महेश्वर ! आपको हम प्रणाम करते हैं। आपका मुख अग्नि है, पाद क्षिति है, नाभि नभ है, चक्षु चन्द्रसूर्य है, मन सोम है, श्रोत्र दिशायें हैं, सिर द्युलोक है, पाद पाताल है, तीन वेद आत्मा है, हृदय धर्म है, आप स्वयंज्योतिस्वरूप हैं। हे अष्टमूर्ते, हे जगन्मूर्ते, हे जगदीश्वर ! आपको हम प्रणाम करते हैं। सारा ब्रह्माण्ड अभी नष्ट होगा। विश्वमूर्ति आप ही एकमात्र रक्षक हैं। आपके अंशस्वरूप दुर्वासाके तिरस्कारसे ही हमारी यह भयपरंपरा प्रारंभ हुई है। अबकी बार तो सर्वाधिक महासंकट उपस्थित हुआ है। इससे रक्षा करो। आप सबकुछ करने या न करने या अन्यथा करनेमें समर्थ हैं। और सबकुछ करते हुए भी निर्विकार हैं। हम अपराधी हैं। फिर भी शरणागत हैं। अतः हमारी रक्षा करो। यही दयासागर आपकी दयासागरता है। परमकल्याणस्वरूप आपको हम प्रणाम करते हैं। परमपवित्र आपको हम प्रणाम करते हैं। हे उमा (ब्रह्मविधा) के नाथ ! हे वाणी (वेदवाणी) के नाथ ! हे विश्वनाथ ! बारंबार आपको हम प्रणाम करते हैं। इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान शंकर पार्वतीके साथ समुद्रतट पर आये और हालाहलको देखा ॥ २८-३६ ॥

अकाण्डब्रह्माण्ड०

अकाण्डमेव ब्रह्माण्डक्षयेण चकितान् भृशम्।
वीक्ष्य देवासुरानीशः कृपापरवशोऽभवत् ॥ ३७ ॥
विश्वरूपं समास्थाय स विशालाञ्जलौ विषम्।
आधाय लग्धुमारेभेऽनालोक्यान्यत्र संहृतिम् ॥ ३८ ॥
तद्विषं कण्ठपर्यन्तमागत्यापच्यतोल्बणम्।
कल्माषः सोऽपि कण्ठेऽस्य नीलरूपो व्यराजत ॥ ३९ ॥
श्रियं स परमां चक्रे प्रस्फुरद्गौरवर्ष्मण:।
नीलकण्ठाख्यया सर्वे तुष्टुवुर्गिरिशं प्रभुम् ॥ ४० ॥

अनवसरमें ही होनेवाले ब्रह्माण्डक्षयसे भयभीत देवासुरोंको देखकर शंकर कृपापराधीन हुए। विश्वरूप धारण कर अंजलिमें उस विषको लिया और पान करना शुरू किया। क्योंकि अन्यत्र उसका नाश संभव नहीं था। वह विष कण्ठतक आते ही पच गया और पचा शेष नीलरूपमें कण्ठमें शोभित होने लगा। गौर शरीरमें वह नीलिमा चमकने लगी। सभी नीलकण्ठ बोलकर स्तुति करने लगे ॥ ३७-४० ॥

विकारोऽपि०

अयुक्तं स्वामिनो युक्तं युक्तं नीचस्य दूषणम् ।
अमृतं राहवे मृत्युर्विषं शंकरभूषणम् ।। ४१ ।।
लोकानां व्यसनं यस्य केवलं भयभञ्जनम् ।
विकारोऽपि भवेत्तस्य श्लाघनीयो मनीषिणाम् ।। ४२ ।।

महापुरुषके लिये अयुक्त भी युक्त होता है। नीचके लिये युक्त भी दूषण होता है। अमृत राहुके मृत्युका कारण बना। विष भी शंकरका भूषण बना। लोगोंका भय भंजन करना एकमात्र व्यसन है जिसका उस व्यक्ति की ऐसे व्यसन से होनेवाली विकृति भी श्लाघनीय हो जाती है ।। ४१-४२ ।।

इत्थं संरक्ष्य भुवनं सदेवासुरपन्नगम् ।
अमृतं प्रापयामास रत्नानि च चतुर्दश ।। ४३ ।।

इस प्रकार देव, असुर पन्नगादिसहित भुवनकी रक्षाकर शंकरभगवानने अमृत एवं चौदह रत्न प्राप्त कराया ।। ४३ ।।

एतत्पठन्ति ये स्तोत्रं स्फुरदीश्वरवैभवम् ।
संसारविषभीरेषां न कदाचित्प्रजायते ।। ४४ ।।

शास्त्रान्तरोक्त संक्षेपात्मक पूर्वोक्त स्तोत्रको, जिसमें शंकरभगवानकी विभुता स्पष्ट है, जो पढ़ते हैं, उनको संसार विषभय कभी नहीं हो सकता ।। ४४ ।।

परोक्षविधया चार्थः कश्चिदत्र निरूपितः ।
दैव्यासुरीभ्यां संपद्भ्यां संसाराम्बुधिमन्थनम् ।। ४५ ।।
नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ।। ४६ ।।
अपेक्षितः क्वचित्क्रोधो बालकेषु विमार्गिषु ।
पारुष्यमलसादीनामुत्थापनविधिक्षमम् ।। ४७ ।।
दम्भादिरञ्जजनत सन्मार्गनयनो यदि ।
तदा तस्याप्यपेक्षा स्यादज्ञानं च निशा भवे ।। ४८ ।।
स्वकार्यं साधयेद्धीमानासुरीभिर्हि वृत्तिभिः ।
न तु ते सर्वथा ग्राह्यास्त्याज्या एवान्ततः स्फुटम् ।। ४९ ।।

यहां कुछ परोक्षार्थनिरूपण भी किया है। दैवी संपदा और आसुरी संपदा मिलनेपर संसारसागर मन्थन होता है। अतिसरलतासे काम नहीं

चलता। जंगलमें सरल वृक्ष काटे जाते हैं। ठेढ़े खड़े रह जाते हैं। बालक कुमार्गगामी हो तो क्रोध करना पड़ सकता है। आलसोंके लिये पारुष्य चाहिये। ठाटबाट देखकर लोग अगर सन्मार्गगामी बनते हैं तो उस दंभको भी थोड़ा करना होगा। संसारका अज्ञान आवश्यक है। आसुरी वृत्तिसे कार्यसिद्धि होती हो तो अल्प ग्रहणीय है। सर्वथा ग्राह्य नहीं है, अन्तमें त्याज्य ही है ॥ ४५-४९ ॥

मदि स्तुत्यादिके तत्राचलता मन्दराचलः।
स्तुत्याद्यावर्तनं स्थैर्यान्मन्दराचलमन्थनम् ॥ ५० ॥

"मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु" ऐसा धातुपाठ है। स्तुति आदि साधनामें स्थिरता मन्दराचल है। स्थिरताके साथ स्तुति आदिका आवर्तन करना यही मन्दराचलमन्थन है ॥ ५० ॥

संसारमन्थनादेव भोगमोक्षौ प्रसिध्यतः।
सच्चित्सुखामृतपृथक्करणं तु विशिष्यते ॥ ५१ ॥
ध्यानमिर्मंथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्।
इत्येवं श्रुतिरप्येनमर्थं सूचयति स्वयम् ॥ ५२ ॥

संसारके मन्थनसे ही भोग तथा मोक्ष दोनोंकी सिद्धि होती है। सत्, चित्, आनन्दरूपी अमृतका पृथक्करण, मोक्षपक्षमें विशिष्ट है। 'ध्यानरूपी मन्थन बारबार करनेपर निगूढस्थित देवका दर्शन होता है' कहकर श्रुति भी इस अर्थको सूचित करती है ॥ ५१-५२ ॥

क्षुरधारास्वरूपत्वात्फलमाद्यं विषोपमम्।
आदौ सन्तश्च भक्ताश्च क्लेशानन्वभवन्निह ॥ ५३ ॥

यह मार्ग क्षुरधारा है। प्रथम फल हालाहल समान होता है। सन्तोंने, भक्तोंने प्रथम क्लेशोंका बहुधा अनुभव किया है ॥ ५३ ॥

सर्वत्र भगवान् शम्भू रक्षिष्यति न संशयः।
तदीयशरणापन्ना दुःखं तीर्त्वाऽमृतं ययुः ॥ ५४ ॥

भगवान शंकर सर्वत्र रक्षक हैं। जो उनकी शरणमें गये वे दुःख पार कर अमृत को प्राप्त हो गये ॥ ५४ ॥

भुवनं द्वैतसंसारं भयरूपं भनक्त्यसौ।
व्यसानी तत्र भुवनभयभङ्गव्यसन्यसौ ॥ ५५ ॥
द्वैताख्यभुवनाद्वा यद् भयं तद्भङ्ग ईर्यते।
द्वितीयाद्वै भयं स्यादित्येवमाह यतः श्रुतिः ॥ ५६ ॥

भुवनका द्वैतसंसार अर्थ है। वह भयरूप है। उसका भंग करनेमें व्यसनी होनेसे शंकरको भुवनभयभङ्गव्यसनी कहा। अथवा पंचमीसमास करो। द्वैतरूपी भुवनसे जो भय है उसका भंग यहां बताया गया है। श्रुतिमें भी कहा है—द्वितीयसे भय होता है ॥ ५५-५६ ॥

रागद्वेषादिविषविषयहारिणि शंकरे।
निन्दन्ति केचिदबुधा मोहान्धतमसावृताः ॥ ५७ ॥
व्युप्तकेशाय च नम इत्येवमगदीच्छ्रुतिः।
जायते शंकराचार्यप्रभृत्याकारधार्यसौ ॥ ५८ ॥
एष बन्धूनकार्षीन्नो भिक्षुकानशुभात्मनः।
इत्येवं शंकराचार्यरूपं निन्दन्ति केचन ॥ ५९ ॥
शशाप दक्षो देवर्षिं हर्यश्वादीन् हि भैक्षवे।
धर्मे योजितवन्तं तद्वरेऽप्यज्ञस्य युज्यते ॥ ६० ॥
परं तु सोऽयं कल्माषो महेशस्य विभूषणम्।
न हि मोक्षप्रदातुः स्याद् दूषणं भुवने क्वचित् ॥ ६१ ॥

रागद्वेषादि विषय दोषोंका हरण करनेवाले शंकरकी भी कुछ अज्ञानी मोहावृत व्यक्ति निन्दा करते हैं। व्युप्तकेशके रूपमें (मुण्डितकेश-के रूपमें) श्रुतिमें शंकरस्तुति आयी है। शिरोवपन भी विकार ही है। शंकराचार्यप्रभृति आकारस्थित शंकर ही व्युप्तकेश हैं। लोग निन्दा करते हैं कि इन आचार्यों ने हमारे बन्धुओंको संन्यासी बनाकर अशुभ किया। जैसे दक्ष प्रजापति ने अपने पुत्र हर्यश्वादिको भिक्षुधर्म (संन्यास) में लगाने के कारण नारदजी को शाप दिया था। परंतु यह निन्दादिरूप कल्मष शंकर भगवानके लिये दूषण नहीं भूषण है। मोक्ष प्रदान करना कभी भी दूषण नहीं हो सकता ॥ ५७-६१ ॥

करुणासारिणे लोकभयमोहविदारिणे।
पिनाकिने नमस्तस्मै नीलकण्ठाय तायिने ॥ ६२ ॥

करुणादृष्टि करनेवाले, लोकभयमोह विदारण करनेवाले पिनाक-धारी नीलकण्ठ भगवानको हम प्रणाम करते हैं जो लोकरक्षण करनेमें तत्पर हैं (तायृ सन्तानपालनयोः) ॥ ६२ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ गतः स्पन्दश्चतुर्दशः ॥ १५ ॥

ॐ

पञ्चदशः श्लोकः

अतिसात्त्विकविष्ण्वादावनुग्रह उदीरितः ।
ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः सुरत्वात्सात्त्विको मतः ॥ १ ॥
सृष्टयर्थं रज आदत्ते नत्वसौ राजसो मतः ।
यथा रुद्रस्तमो धत्ते प्रलये समुपस्थिते ॥ २ ॥
अतितामसपौलस्त्यरावणादौ ततः परम् ।
दर्शितोऽनुग्रहः सर्वानुग्राहित्वविवक्षया ॥ ३ ॥

अत्यन्त सात्त्विक विष्णु आदि पर प्रथम अनुग्रह बताया। ब्रह्मा भी अति सात्त्विक ही हैं। क्योंकि उनके नामों में सुरज्येष्ठ शब्द आता है। देवता सात्त्विक हैं तो देवताओंमें ज्येष्ठ अत्यन्त सात्त्विक स्वत सिद्ध हैं। सृष्टिके लिये रजोगुणको गहण करते हैं। किन्तु ब्रह्मा राजस नहीं हैं। जैसे रुद्रभगवान प्रलय-समय उपस्थित होनेपर तमोगुणको धारण करते हैं, फिर भी तामस नहीं हैं। इसके बाद अत्यन्त तामस पुलस्त्यपुत्र रावणादिपर भगवदनुग्रह बताया। इसलिये कि भगवान शंकर सर्वानुग्रहकारी हैं यह दिखाना है ॥ १-३ ॥

सामान्यसात्त्विकानां च देवानामृद्धिदो हरः ।
सामान्यतामसानां च बाणादीनां प्रदर्शितः ॥ ४ ॥
राक्षसा घोरतमसः सामान्यतमसोऽसुराः ।
राक्षसीमासुरीं चेति पृथक् प्रकृतिवर्णनात् ॥ ५ ॥

पूर्वमें सामान्य सात्त्विक देवताओंके ऋद्धिप्रदाताके रूपमें भगवान् शंकर को दिखाया। और फिर सामान्य तामस बाणादिके ऋद्धिप्रदाताके रूपमें। राक्षस घोर तमोगुणी होते हैं। असुर सामान्य तमोगुणी होते हैं। अतएव गीतामें "राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं" इसप्रकार दोंनोंका पृथक् वर्णन है ॥ ४-५ ॥

देवासुरेष्वेकपदे कृपाऽनुपदमीरिता ।
प्रतीपवर्तिनां दण्डप्रदातृत्वमथोच्यते ॥ ६ ॥
प्रतीपमाचरत् कामो भगवत्कोपभाजनम् ।
भूत्वा नष्टस्ततो नैव तत्प्रतीपं समाचरेत् ॥ ७ ॥

देवता तथा असुर दोनोंके प्रति समानरूपसे एक साथ कृपाका वर्णन पूर्वश्लोकमें किया। यहांनक अनुवृत्तिवाले अनुकूलवर्तियोंकी बात हुई। अब प्रतीपवर्तियोंके प्रति दण्डदाताके रूपमें वर्णन करने जा रहे हैं। कामदेवने भगवानके प्रति प्रतीपाचरण किया। फल यही हुआ कि वह नष्ट हो गया। अतः शंकर भगवानके प्रति कोई प्रतिकूल आचरण न करें ॥ ६-७ ॥

अपि च क्वाप्यकामस्य क्रिया काचन नेक्ष्यते।
सर्वे कामवशा लोके सर्वं कामस्य चेष्टितन् ॥ ८ ॥

विष्णवाद्यनुग्रहश्चैव किंचित्कामवशाद्यदि।
तदा तु क्रोधमोहादिक्रमान्नाशोऽपि शङ्क्यते ॥ ९ ॥

न कामो विद्यते शंभावागतोऽपि स निर्धुतः।
अहैतुककृपाहेतोः कृतो विष्णवाद्यनुग्रहः ॥ १० ॥

वशीकृतेन्द्रियो नैव पुरुषः परिभूयते।
जित्वा दुरासदं कामं निष्कामः स हि जायते ॥ ११ ॥

आप्तकामो भवेदेष आत्मकामश्च केवलः।
विमुक्तः स पुमाँल्लोके भवतीत्यपि सूच्यते ॥ १२ ॥

यह भी बात है कि अकाम कोई क्रिया नहीं करता। सभी कामवश हैं, सभी चेष्टा कामकी है, तो क्या विष्णु आदिपर शंकरने जो अनुग्रह किया वह भी किसी स्वार्थकामनासे ? यदि ऐसा ही है, तो फिर कामसे क्रोध संमोहादिके क्रमसे नाशकी भी आशंका रहती है। इस पर कहा जाता है कि भगवान शंकरमें काम नहीं है। उन्होंने आये हुए कामको भी ध्वस्त कर दिया। अतएव विष्णु आदिपर एवं समस्त जगत्पर उनका अनुग्रह अहैतुककृपाप्रयुक्त है। इन्द्रियवशी कभी परिभूत नहीं होता। वह दुर्धर्ष कामको जीतकर निष्काम होगा। आप्तकाम होकर आत्मकाम रहेगा। वही पुरुष विमुक्त होता है। यह भी सूचित किया गया है ॥८-१२॥

सर्वानभिभवन्तं यः कामं निरधुनात्प्रभुः।
उदग्रवीर्यता तस्य स्तूयते चात्र भक्तितः ॥ १३ ॥

सबको अभिभून करनेवाले कामको जिस प्रभुने निर्धूत किया उसकी अपारवीर्यताकी स्तुति भी सभक्ति यहां की जा रही है ॥ १३ ॥

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥१५॥

विजयशील जिसके बाण देव, असुर, नर आदिमें कहीं भी विफल होकर निवृत्त नहीं होते वह कामदेव आपको अन्य देवताओंके समान देखने लगा, परिणाम हुआ कि वह स्मरणावशेष हो गया । उससे सिद्ध हो गया कि वशी इन्द्रियविजयी महापुरुषोंका अनादर हितकारी नहीं होता है ॥ १५ ॥

जयीति प्रोच्यते कामो नित्ययोगेऽतिशायने ।
भूम्नि वा मतुबर्थेनिस्तदुक्तं शाब्दिकैर्बुधैः ॥ १४ ॥
भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १५ ॥

"जयिनो यस्य विशिखाः" यहां जय शब्दसे मतुबर्थमे इन् प्रत्यय है । उसका यहां नित्ययोग, अतिशय या भूमा अर्थ है । वैयाकरणोने भूमा, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशय, सम्बन्ध और अस्तित्व इनकी विविक्षामें मतुप्, इनि आदि प्रत्ययोंको माना है ॥ १४-१५ ॥

भूमत्वं तु क्वचिदपीत्येतेनात्र प्रदर्शितम् ।
असिद्धार्था नेति तस्य चातिशायनमुच्यते ॥ १६ ॥
नित्यमित्युक्तितस्तस्य नित्ययोगो निगद्यते ।
सदेवेत्यादिना तस्य प्रशस्तिश्च प्रतीयते ॥ १७ ॥

'क्वचिदपि' से भूमता-व्यापकता बतायी । "असिद्धार्था न" से अतिशय जय बताया । 'नित्यं" से जयका नित्ययोग बताया । 'सदेवासुरनरे" से प्रशस्त जय भी प्रतीत होता है ॥ १६-१७ ॥

व्यापकं तस्य साम्राज्यं कुण्ठितप्रसरो न सः ।
कदाचिद्वा क्वचिद्वापि नैव तस्य पराजयः ॥ १८ ॥
हतं च हन्ति मदनो वृद्धं च विलुठत्यसौ ।
का रात्रिः किं दिनं तस्य का निद्रा जागृतिश्च का ॥ १९ ॥
करोति यः प्रतिद्वन्द्वं देवो वा मानवोऽथ वा ।
समलकाषं कषति पिनष्टि प्रणिघर्षति ॥ २० ॥

शुष्यत्येको दहत्यन्यो जडत्येकोऽश्रुमान् परः।
वायुः किन्वनलः किं नु पृथ्वी किं न्वम्बु किं न्वयम् ॥ २१ ॥

कामका साम्राज्य है। उसके प्रसारमें कुन्ठा नहीं है। कभी कहीं भी उसकी हार नहीं होती। मरेको भी मारता है, वृद्धको भी बेबस करता है। उसके लिये रात क्या, दिन क्या, नींद क्या, जागृति क्या, सब बराबर है। जो मुकाबला करे वह देव हो, मानव हो उसे मूलसे उखाड़ देता है, पीस डालता है, घसीटता है। कामसे कोई सूख रहा है, कोई जल रहा है, कोई जड़ हो रहा है, कोई नेत्रसे पानी बहा रहा है अतएव वह वायु है ? या अग्नि है ? या पृथ्वी है ? या जल है ? यह भी कहना कठिन है ॥ १८-२१ ॥

अग्रभागः शिखा येषां विशिष्टा विशिखास्तु ते।
विलक्षणास्त्वत्र बोध्या विगता वा स्मरस्य तु ॥ २२ ॥

विशिख बाणको कहते हैं। विशिष्ट शिखा-अग्रभाग होनेसे विशिख नाम पड़ा। किन्तु कामबाणमें विलक्षण शिखा या विगतशिखा अर्थ समझना होगा ॥ २२ ॥

बाणानां पुष्परूपाणां का हि नाम शिखा भवेत्।
बहवस्तेऽस्य तेनैव बहुत्वोक्तिरिहाञ्जसी ॥ २३ ॥

पुष्परूप बाणोंकी क्या नोक होगी ! अतः विगतशिखा अर्थ उचित है। बाण अनेक होनेसे विशिखाः यह बहुवचन है ॥ २३ ॥

अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥ २४ ॥

अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिका, नीलोत्पल ये पांच कामदेवके बाण हैं ॥ २४ ॥

अमी बाणा निवर्तन्ते प्रहिताः पुष्पधन्वनः।
कृतार्था न त्वसिद्धार्था यत्रापि जगतीतले ॥ २५ ॥
सह देवासुरनरैर्वर्तमाने बलान्वितैः।
पशुपक्षिभुजङ्गादिलक्षणे जगतीतले ॥ २६ ॥

कामके ये बाण छोड़नेपर कार्य करके ही निवृत्त होते हैं। बिना कार्य किये नहीं। चाहे जहां भी हो, देव, असुर, नर एवं पशुपक्षीसर्पादियुक्त जगत्में सर्वत्र सफल ही होते हैं ॥ २५-२६ ॥

युक्तं तस्य जयित्वं च बजीयस्त्वं च सर्वथा।
अन्यथा तु कथंकारं सृष्टिरेषा प्रवर्तताम् ॥ २७ ॥

सर्वे निवृत्तकामाः स्युर्भवेयुश्चोर्ध्वरेतसः ।
ज्ञानिनस्तत्र मुक्ताः स्युरन्ये लयगताः सदा ॥ २८ ॥
तत्र तत्राजनित्वा चाऽभुक्त्वा भोगाननेकधा ।
कथं कर्मोपशमनं मानुष्यं च कथं भवेत् ॥ २९ ॥
पशुपक्ष्यादिषु ततो युक्तं कामविजृम्भणम् ।
तथा नरेषु तन्नो चेज्जायन्तां मानवाः कथम् ॥ ३० ॥
ये चानुशयिनो जीवाः सन्ति व्रीहियवादिषु ।
रेतःसिग्योगमाप्यैव भवेत्तेषां समुद्धृतिः ॥ ३१ ॥
देवेषु पुण्यक्षपणं कामभोगनिबन्धनम् ।
ततोऽनुशयिनो भूत्वा नरत्वं प्राप्नुयुः सुराः ॥ ३२ ॥
ब्राह्मी चेन्मानसी सृष्टिः केवलैषा प्रवर्तते ।
मुच्येरन् कतिचिन्मग्ना भवेयुरितरे भवे ॥ ३३ ॥
मानुष्यं प्राप्य पश्वाद्यास्तथा देवासुरादयः ।
उत्पाद्य तनयान्मोक्षमार्गमर्हन्ति देहिनः ॥ ३४ ॥
अत एव समाचष्ट गीतासु भगवानपि ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ३५ ॥

कुछ अंशमें कामदेवकी जयशीलता और बलशालिता उचित भी है । अन्यथा सृष्टि ही कैसे चलेगी ? सभी निवृत्तकाम होकर उर्ध्वरेता बनेंगे तो उनमें ज्ञानी मुक्त होंगे, बाकी संसार लयमें पड़े रहेंगे । पशुपक्षी आदिमें जन्म न लेनेपर कर्मशान्ति कैसे होगी ? मानवजन्म बादमें कैसे प्राप्त होगा ? अतः पशुपक्षी आदिमें कामप्रसार उचित ही है । और मनुष्यमें काम न हो तो मनुष्यसे मनुष्य कैसे पैदा होंगे ? अनुशयी जीव व्रीहियवादिसे तभी ऊपर आते हैं जब रेतःसेक्ताका योग प्राप्त होता है ऐसा ब्रह्मसूत्रमें कहा है । देवताओंका कर्मक्षय कामोपभोगसे होगा । तब वे अनुशयी होकर मानव बनेंगे । यदि ब्रह्माकी मानसी सृष्टि ही चलती होती तो थोड़ेसे जीवात्मा मुक्त होते बाकी भवसागरमें डूबे पड़े रहते । अतः देव, पशु आदि सभी मानवजन्म पाकर पुत्रोत्पादन कर मोक्षमार्गी हो, यही युक्त है । अतएव धर्मसे अविरुद्ध कामको गीतामें भगवानने अपना रूप कहा ॥ २७-३५ ॥

युक्तमेतावदवधि प्रथनं पञ्चधन्वनः ।
धर्माविरुद्धमंशं स किन्तूल्लङ्घ्याऽग्रतोऽवृधत् ॥ ३६ ॥
ज्ञात्वापि तदिदं नैनं पराभावयितुं नराः ।
प्राभवन् यत्नवन्तोऽपि तथा चाख्यान्ति कामिनः ॥ ३७ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि यदि सत्यानि भामिनि ।
आवयोस्तर्हि संयोगः कुम्भीपाके भविष्यति ।। ३८ ।।
किं चास्तु मानवोत्पत्तिः कामादेवेति निश्चयः ।
भवन्तु पञ्चषाः पुत्राः शेषभोगस्तु किंफलः ।। ३९ ।।
अपुत्रजननो भोगो बन्धनैकनिबन्धनम् ।
तस्यौचित्यं समर्थ्येत कामिभिः केवलं नृभिः ।। ४० ।।
निजायुषि च तावन्तः पञ्चषाभिर्हि रात्रिभिः ।
संपद्यन्ते ततोऽन्यासु मृत्योराह्वयनं हि तत् ।। ४१ ।।
अपाघ्नन् ब्रह्मचर्येण मृत्युमित्यब्रवीच्छ्रुतिः ।
ब्रह्मचर्येण विन्दन्ति ब्रह्मलोकमितीतरा ।। ४२ ।।
रक्षणीयं ततः सर्वैर्ब्रह्मचर्यं प्रयत्नतः ।
किन्तु कामो दुरन्तोऽयं लोकानां तदलुलूठत् ।। ४३ ।।

परन्तु यहांतक तो ठीक है—धर्माविरुद्ध स्वीयदारगमनपर्यन्त उचित है, किन्तु धर्माविरुद्ध अंशको लांघकर काम आगे बढ़ा। जानते हुए भी लोग उसको पराभूत नहीं कर सके। कामियोंका वचन है—(जारस्त्रीके प्रति) हे भामिनि शास्त्र यदि सत्य है तो अब हम दोनोंका संयोग कुंभी-पाक नरकमें होगा। (क्योंकि राजा प्राणदण्ड देनेवाला है।) अन्य भी बात है–माना कि मानवजन्म कामसे होता है। अतः काम प्रशस्त है। परन्तु एक मनुष्यके पाँच छःही तो पुत्र होते हैं। उसके लिये जीवनमें आगे-पीछे छः रात्रियोंमें ही तो कामसेवन आवश्यक है। उससे अतिरिक्त धर्मविरुद्ध कहलानेवाले कामका भी क्या प्रयोजन है ? बस, मृत्युको आमन्त्रण देना। श्रुति कहती है—ब्रह्मचर्यसे ज्ञानी देवोने मृत्युको मार हटाया। दूसरी श्रुति कहती है– ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। अतः ब्रह्मचर्यपालन परमधर्म है। (मृत्युका आमन्त्रक धर्म है या अधर्म स्वयं विचार करें) किन्तु यह काम ऐसा है कि उसने लोगोंके ब्रह्मचर्य धनको तो लूट ही लिया ।। ३६-४३ ।।

तस्याभिमानो ववृधोऽधर्मे लोकानयूयुजत् ।
क्लिश्नतामाखुमार्जारक्लेशं वीक्ष्य हसन्नसौ ।। ४४ ।।
विमानयायिनां सर्वं नीचैर्दृश्यं समं यथा ।
प्रासादो वा कुटिरं वा तरुर्वा तृणमेव वा ।। ४५ ।।
तथा कामोऽपि सकलं समं दभ्रमवैक्षत ।
असुरं वा पन्नगं वा नरं वा देवमेव वा ।। ४६ ।।

अविवेकोऽयमस्यामूदधिमूल्यो यदर्थतः ।
समर्पणीयाः संजाताः प्राणा मूल्यात्मनैकदा ॥ ४७ ॥
अवैक्षिष्टायमितरदेवसाधारणं हरम् ।
स्मर्तव्यात्माभवत्तेनाऽपथ्यो वशिषु दर्पिता ॥ ४८ ॥

कामका कहीं प्रतिरोध नहीं हो रहा था। परिणाम यह हुआ कि उसका अभिमान बढ़ा। अधर्ममें लोगोंको जोड़ने लगा। बिल्लीचूहेकी जैसी दशा देखकर उसे आनन्द आने लगा। जैसे विमानमें जानेवाले नीचेकी वस्तु एक बराबर देखते हैं चाहे वह महल हो. झोंपड़ी हो. वृक्ष हो या तृण हो वैसे काम भी असुर, पन्नग, नर, देव सबको एकबराबर तुच्छ देखने लगा। उसका यह अविवेक एकबार महंगा पड़ा, मूल्यरूप प्राण देना पड़ा। उसने शंकरको अन्य देवके समान देखा और स्मरणावशेष हो गया। महापुरुषोंके सामने दर्प करना पथ्य नहीं है ॥ ४४-४८ ॥

सुदारुणं तपस्तेपे ब्रह्मणस्तारकासुरः ।
ययाचेऽमरतां सोऽपि प्रसन्ने हंसवाहने ॥ ४९ ॥
निमित्तमृत्युतां ब्रूहि न मर्त्यस्य ह्यमर्त्यता ।
इत्युक्तस्तारको मृत्युवञ्चनं समचिन्तयत् ॥ ५० ॥
विरक्तः शङ्करो नास्य पुत्रसंभावना ततः ।
तत्पुत्रान्मरणं वच्मीत्येवमेव स कं जगौ ॥ ५१ ॥
लब्ध्वा वरं त्रिभुवनं विजिग्ये तारकासुरः ।
स्वर्गाद्देवानपास्यत् स ते चारण्येषु बभ्रमुः ॥ ५२ ॥
चिक्लिशुश्च सहस्राब्दमशक्तास्तत्परासने ।
अन्यत्र शंभुतनयाददृष्ट्वा वधकारिणम् ॥ ५३ ॥
कथं स्याच्छंकरसुतः सती नष्टास्य वल्लभा ।
नान्यां विरक्तो वृणुते तपस्तपति दारुणम् । ५४ ॥

तारकासुरने ब्रह्माकी घोर तपस्या की। ब्रह्मा प्रसन्न हुए, और वरदान मांगने कहा, तो उनसे अमरताका वरदान मांगा। मर्त्य कभी अमर नहीं हो सकता, अतः निमित्तमृत्यु मांगो कहनेपर तारक मृत्युसे बचनेका उपाय सोचने लगा। शंकर भगवान विरक्त हैं। उनके पुत्रकी सम्भावना नहीं। उनके पुत्रसे मरण होनेका वर मागूंगा तो बच जाऊँगा। ऐसा निश्चय कर वही वरदान मांगा। उसे पाकर उसने त्रिभुवनको जीता। स्वर्गसे देवताओं-को हटाया। देवता जंगलोंमें भटकने लगे। तारकासुर को पराभूत करनेमें असमर्थ होनेसे बड़ा क्लेश उन्होंने पाया। देवताओं ने सोचा—शंकरपुत्रसे

अन्य कोई इसे मार नहीं सकता। पर शंकरका पुत्र कैसे हो? उनकी प्रियपत्नी सती तो जल मरी। दूसरी किसीसे ये विवाह नहीं करते। घोर तपश्चर्यामें लगे हुए हैं ॥ ४९-५४ ॥

स पश्यन्०

अस्त्युत्तरस्यां हि दिशि देवतात्मा हिमालयः।
प्रासादोऽप्यस्य तत्रैव मानवाकारवर्ष्मणः ॥ ५५ ॥

तस्य मेना भगवती वर्ततेऽर्धाङ्गिनी शुभा।
जाता तद्गर्भतः पूर्वसती संप्रति पार्वती ॥ ५६ ॥

वरीष्यति हरोऽनन्यरूपां तां यदि यत्यते।
इत्याहूय सुराः कामं तत्कार्याय समादिशन् ॥ ५७ ॥

कामस्तु सान्त्वयन्नाह पुरुहूतं सुरानपि।
मा चिन्तामिन्द्र कार्षीस्त्वमहं सर्वजगत्प्रभुः ॥ ५८ ॥

त्वामकार्षमहल्याया जारं स्मरसि तन्न किम्।
पितामहं विधातारं तनयामन्वधावयम् ॥ ५९ ॥

तुलसीजारमकृषि नारायणमकल्मषम्।
समागमयमिन्दुं च गुरुपत्नीमहं बलात् ॥ ६० ॥

को ब्रह्मा कश्च वैकुण्ठः के देवाः के च मानवाः।
अवशिष्टः शङ्करोऽयं को वा मद्वाणसन्निधौ ॥ ६१ ॥

उत्तरदिशामें देवतास्वरूप हिमालय विद्यमान है। मानवाकारशरीरधारी उस हिमालयका महल भी हिमालयपर्वतमें ही है। उनकी अर्धाङ्गिनी मेनाकी पुत्री पार्वती पूर्वजन्मकी सती ही है। सतीस्वरूप होनेसे यदि प्रयास करे तो शंकर पार्वतीसे विवाह कर सकते हैं। ऐसा सोचकर देवता और इन्द्रने कामदेवको बुलाकर उस कार्यके लिये आदेश दिया। कामदेवने सांत्वना देते हुए कहा हे इन्द्र, आप चिन्ता न करें। मैं सारे जगतका प्रभु हूं। मैंने आप (इन्द्र) को अहल्याजार बनाया। ब्रह्माको अपनी पुत्रीके पीछे दौड़ाया। नारायणको तुलसीका जार बनाया। चन्द्रको गुरुपत्नीगमन कराया। मेरे बाणके सामने ब्रह्मा कौन? विष्णु कौन? कौन मनुष्य कौन देवता? एक अवशिष्ट शंकर रह गये हैं। ये भी मेरे बाणके सामने कौन हैं? ॥ ५५-६१ ॥

अन्येद्युर्नारदोऽगच्छद्धिमालयगृहे मुनिः।
पूजयामासतुर्मेनाहिमाद्री दम्पती मुदा ॥ ६२ ॥

अपि प्राणमयत्पुत्रीमाहूय शुभहेतवे ।
नारदो लक्षणं वीक्ष्य जगाद गिरिभूपतिम् ॥ ६३ ॥

अस्याः पतिस्तु भविता शङ्करो यस्तपस्यति ।
त्वद्राज्ये निवसन् पूर्वसतीं जानीहि चात्मजाम् ॥ ६४ ॥

सेवतामियमीशानं प्रसन्नः सेवया हरः ।
वरीष्यतीमां नोपायोऽस्त्यन्यस्तस्मिंस्तपस्यति ॥ ६५ ॥

एकदिन नारदजी हिमालय गृहमें गये । मेना और हिमालयने उनकी पूजाकी और अपनी पुत्रीको बुलाकर नमस्कार करवाया । नारदजीने लक्षण देखकर कहा—इसका पति तो तपस्वी शंकर ही होंगे, जो आपके देशमें रह रहे हैं । यह आपकी पुत्री पूर्वजन्मकी सती है । यह शंकरकी सेवा करे तो उससे प्रसन्न होकर वे इसका पाणिग्रहण करेंगे । तपस्यारत शंकरके विषयमें अन्य कोई उपाय नहीं है ॥ ६२-६५ ॥

निर्गते नारदे भूपः सह पुत्र्याऽगमद्धरम् ।
न्यवेदयच्च सेवार्थं जगाद च हरस्तदा ॥ ६६ ॥

आगन्तव्यं प्रतिदिनं कर्तुं सेवां हिमालय ।
एषा योषा न चानेया भवानेकः समेतु माम् ॥ ६७ ॥

नारदजीके जानेके बाद हिमालय पुत्रीके साथ शंकरके पास गये और सेवार्थ निवेदन किया । शंकर बोले हे हिमालय ! सेवार्थ आप प्रतिदिन आवें । किन्तु इस नारीको साथमें न लावें । आप अकेले आया करें ॥६६-६७॥

पार्वती—किं नास्त्यात्मा स्त्रियां देव सेवायोग्या न किं वधूः ।
पापयोनिरुत स्त्री स्यात् किं निषिध्यसि मां प्रभो ॥ ६८ ॥

पार्वती बोली हे देव ! क्या स्त्रियोंमें आत्मा नहीं होता ? या स्त्री सेवायोग्य नहीं होती ? अथवा स्त्री पापयोनि होती है ? हे प्रभो आप क्यों मेरा निषेध करते हैं ॥ ६८ ॥

शङ्करः—अस्त्यात्मा योग्यता चास्ति न स्त्रियाःपापयोनिता ।
तथापि न स्त्रियो योगो युज्यते हि तपस्विनः ॥ ६९ ॥

शंकर बोले स्त्रीमें आत्मा है, योग्यता भी है और स्त्री पापयोनि नहीं है; फिर भी तपस्वियोंके लिये स्त्रियोंका सम्पर्क युक्त नहीं होता ॥६९॥

पार्वती—केयं समदृशः स्त्रीपुंभिदा हि भवतोऽनघ ।
कुतः संयमिनां भीतिरबलाभ्यो भवादृशाम् ॥ ७० ॥

प्रमत्तस्य वनेऽपि स्याद् भयं तु सहषड्रिपोः।
जितात्मनस्तु सांनिध्यं स्त्रियाः किं नु करिष्यति ॥ ७१ ॥

एकान्तः कामिनां शान्तोऽप्यतिकामस्य कारणम्।
अनेकान्तोऽपि यमिनां भवेन्मोक्षस्य कारणम् ॥ ७२ ॥

किं न पुण्यं लभेयाहं भवत्सेवापरायणा।
दीनोद्धरणदक्षस्य निरनुक्रोशता कुतः ॥ ७३ ॥

पार्वती कहने लगी समदर्शी आपकी दृष्टिमें यह स्त्रीपुरुष भेदबुद्धि कैसी ? आप जैसे संयमियोंको स्त्रियोंसे भय क्यों होने लगा ? प्रमादीको वनमें भी भय होता है। क्योंकि छः शत्रु साथमें हैं। किन्तु जितात्माका स्त्रीसांनिध्य क्या बिगाड़ेगा ? कामियोंके लिये एकान्त अतिकाम का कारण होता है। किन्तु सयमीके लिये अनेकान्त भी मोक्षकारण होता है। आपकी सेवाकर मैं भी पुण्यकी भागी क्यों न बनूँ ? दीनोद्धार करनेवाले आपके मनमें यह निरनुकम्पा क्यों हो रही है ? ॥ ७०-७३ ॥

शंकर :—आयाहि तर्हि त्वमपि सेवितुं देवि मा खिदः।
यथाकालं तथैवास्तु भद्रं ते वरवर्णिनि ॥ ७४ ॥

शंकर भगवानने कहा—ऐसा है तो तुम भी यथा काल सेवा करने आओ। खेद न करो। हे देवि तुम्हारा मंगल हो ॥ ७४ ॥

संवाद एवमवृत्तत् पार्वतीपरमेशयोः।
प्रत्यहं समुपायाति सा च सेवापरायणा ॥ ७५ ॥

इस प्रकार पार्वती और शंकरका संवाद हुआ। सेवापरायण पार्वती अब प्रतिदिन सेवार्थ आती है ॥ ७५ ॥

अथ कामो वसन्तेन सख्या सह समागतः।
शीर्णानि जीर्णपत्राणि मञ्जर्यस्तरुषूदगुः ॥ ७६ ॥

कुसुमानि प्रफुल्लानि ववौ मलयमारुतः।
मदनो मार्गणान् स्वीयान प्राहिणोच्च शनैः शनैः ॥ ७७ ॥

अब कामदेव सखा बसन्तके साथ धीरे-धीरे पहुंचा। जीर्ण पत्र पेड़ोंसे गिरने लगे। नये कोंपल आने लगे। फूल खिलने लगे। मलयानिल चलने लगा। कामदेव अपने बाण धीरे-धीरे छोड़ने लगा ॥ ७६-७७ ॥

सर्वेऽपि मुनयस्तत्र काममार्गणविह्वलाः।
त्यक्त्वा तपः प्रधावन्ति विग्नाः सीमन्तिनीरभि ॥ ७८ ॥

मृगा मृगीभिः संयुज्य यान्ति तिष्ठन्ति शेरते ।
हृष्यन्त्यन्योन्यसंश्लिष्टाः पतगभ्रमरादयः ॥ ७९ ॥
कूजन्ति कोकिलाः साधु नृत्यन्ति मृदु बर्हिणः ।
आप्याययन्दिवाङ्गानि शम्भोः सुरभिमारुतः ॥ ८० ॥

कामदेवके बाणोंसे विद्ध होकर सभी ऋषिमुनि तप छोड़कर पत्नियोंकी खोजमें भागने लगे मृग। मृगियोंसे सटकर चल रहे हैं, खड़े हो रहे हैं, लेट रहे हैं। परस्पर जुड़कर पक्षी भ्रमरादि हृष्ट हो रहे हैं। कोयल कूज रही है। मयूर नाच रहे हैं। सुगन्धित पवन शंकरजीके अगोंको आप्यायित कर रहा है ॥ ७८-८० ॥

किमेतदिति नेत्रे स समुन्मील्यावलोकते ।
तावच्च प्राहिणोत् पञ्च बाणानेकैकशः स्मरः ॥ ८१ ॥

यह क्या हो रहा है—शंकरजी नेत्र खोलकर देखने लगे। इतनेमें एक-एककर पांच बाणोंको कामदेवने छोड़ा ॥ ८१ ॥

सभावं समलोकिष्ट वामदेवं नागात्मजा ।
अकालिकं विलोक्येदमखिलं विस्मितो हरः ॥ ८२ ॥
परितः पर्यचष्टेशस्तावत्पञ्चशरः शरान् ।
पञ्चापि युगपत् पौष्पे समधाद्धनुषि द्रुतम् ॥ ८३ ॥
उन्मादनं तापनं च शोषणं स्तम्भनं तथा ।
संमोहनं च पञ्चापि समधत्तैकदा शरान् ॥ ८४ ॥
तादृशे दुर्विनीताय पार्श्वस्थाय महेश्वरः ।
चुक्रोध भगवान् नेत्रं तृतीयं चोदमीलयत् ॥ ८५ ॥
चुक्रुशुर्देवताः क्रोधं प्रभो संहर संहर ।
तावद् भस्मावशेषं स नेत्रोत्थाग्निः स्मरं व्यधात् ॥ ८६ ॥

भावके साथ पार्वती शंकरको देखने लगी। असमयमें इन सबको देखकर शंकर विस्मित हुए। चारों ओर देखने लगे। तबतक कामदेवने एकसाथ पांच बाणोंको पुष्पधनुषपर चढ़ाया। उन्मादन, तापन, शोषण, स्तंभन, संमोहन इन पांचों बाणोंको एकसाथ संधान किया। बगलमें इस प्रकार अविनय कर रहे कामदेवके प्रति शंकरजीका क्रोध उमड़ गया और उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोला। देवता घबराकर आक्रोश करने लगे—प्रभो ! क्रोध न करो, क्रोध न करो। लेकिन तबतक उस नेत्रोत्पन्न अग्निने कामदेव को भस्मावशेष कर दिया ॥ ८२-८६ ॥

वनं सर्वमभूत् स्तब्धं मूर्च्छित्वा पतिता शिवा ।
नीरवं तदभूत् स्थानं शंकरश्च विनिर्गतः ॥ ८७ ॥
न वै परिभवः पथ्यः वशिष्वद्धा जितात्मसु ।
भगवत्यास्तपस्यां तु वक्ष्यामोऽग्रे तदादिमाम् ॥ ८८ ॥

पूरा वन स्तब्ध हो गया । पार्वती मूर्छित हो गिर पड़ी । वह स्थान नीरव हो गया । और शंकर भी वहांसे निकलकर चले गये । जितात्मा इन्द्रियविजयियोंका परिभव हितकारी नहीं होता । भगवती पार्वतीकी तपस्याके बारेमें, जो एक अभूतपूर्व (सर्वप्रथम) है हम आगे वर्णन करेंगे ॥ ८७-८८ ॥

देवदेवाय　　कन्दर्पदर्पविध्वंसकारिणे ।
त्रिलोचनाय शान्तायाप्युग्राय वशिने नमः ॥ ८९ ।

इतरसुरसाधारण नहीं किन्तु जो देवोंके भी देव हैं, जो कामदेवके दर्पको नष्ट करनेवाले हैं, क्योंकि ज्ञानरूपी तृतीयनेत्र सहित हैं, अतएव त्रिलोचन हैं, तपस्यापरायण होनेसे शान्त होनेपर भी अपराधियोंके प्रति उग्र भी हैं, मूलतः वशी जितेन्द्रिय हैं उन त्रिलोचन उग्र शङ्करको हम प्रणाम करते हैं ॥ ८९ ॥

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नःस्तोत्रविवृतौ स्पन्दः पञ्चदशो गतः ॥ १५ ॥

ॐ

षोडशः श्लोकः

समूलोन्मूलनं किं नु जगतोऽस्य चिकीर्षितम् ।
दर्पकं दहतः शंभोर्मैवं तत्परिरक्षणम् ॥ १ ॥
असंकुचत्प्रसारे हि मर्त्यानां पुष्पधन्वनः ।
वर्णसांकर्यतः सर्वा लुप्येरन् वैदिकक्रियाः ॥ २ ॥
जगद्रक्षणमेवातो धर्मकर्मव्यवस्थितेः ।
अभीष्टं गिरिजाजानेरित्येतद्विदुषां मतम् ॥ ३ ॥

निगूढमेवमाकूतं ताण्डवेऽपि विलोकितम् ।
जगद्रक्षैकदीक्षस्य ताण्डवं प्रस्तवीत्यतः ॥ ४ ॥

कामदेव प्राणिजन्मका मूल है। उसे जलानेमें शङ्करका क्या आशय ? क्या जगतका समूल नाश करना ? नहीं । जगतकी रक्षा करना ही शङ्करको अभीष्ट है । कामदेवका स्वच्छन्द प्रसार यदि होने लगा तो वर्णसांकर्य होने लगेगा और समस्त वैदिक क्रिया ध्वस्त होगी । कामनियन्त्रणसे धर्मव्यवस्था एवं कर्मव्यवस्था होगी । फल जगतकी रक्षा ही है । अन्यथा पार्वतीके साथ विवाह (और उस समय कामदेवको वरदानादि) कैसे संगत होता, यही विद्वानोंका मत है। शङ्करजीका यह निगूढ़ रहस्याभिप्राय ताण्डवमें भी देखनेमें आता है । ताण्डव तो बाहरसे ऐसा लगता था कि प्रलय उपस्थित हो गया । किन्तु उसका आन्तरिक रहस्य जगतरक्षा ही था । अतएव पुष्पदन्ताचार्य अब ताण्डवनृत्यको प्रस्तुत कर रहे हैं ॥ १-४ ॥

प्रतीपवर्तिनां दण्डं साफल्यं चानुवर्तिनाम् ।
एतावतोक्त्वा तस्याथ जगद्रक्षणमीर्यते ॥ ५ ॥

सुप्रसन्नो यदा लोकस्तदा नृत्यति गायति ।
तथा च सुप्रसन्नत्वं जगद्रक्षितुरिङ्ग्यते ॥ ६ ॥
अण्डसृष्टिस्थितिलयकार्यं तस्य महेशितुः ।
स्थूलसृष्टयादि धात्रादेर्गुणभिन्नतनुस्थितेः ॥ ७ ॥
अण्डोर्ध्वं तस्य रक्षा तु स्वकार्यावनतः स्वतः ।
संहारस्त्वन्तकालेऽतो रुद्रो रिक्त इवाधुना ॥ ८ ॥

कृतकार्यः सुप्रसन्नो महेशानो विशेषतः ।
कुरुते ताण्डवं नृत्यं जगद्रक्षाविधानतः ॥ ९ ॥

प्रतीप चलनेवालोंको कामदेवोदाहरणसे दण्डदाता और अनुवर्तियोंको ब्रह्मादि उदाहरणसे सुफलदाता शङ्करको यहाँतक निरूपित किया । अब शङ्करको जगत रक्षणकर्ता बताने जा रहे हैं । लोकमें देखा गया है कि जब लोग खूब प्रसन्न होते हैं तब नाचने गाने लगते हैं । जगद्रक्षणहेतु नृत्यादिसे शङ्करकी सुप्रसन्नता सूचित होती है । अण्डसृष्टिस्थितिलय ये शङ्करके कार्य हैं । क्योंकि ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो तब उसमें ब्रह्माविष्णुरुद्र प्रकट हो । हाँ, अण्डसृष्टिके बाद लोकादिकी सृष्टि, रक्षा एवं संहार रजोगुण, अत्त्वगुण और तमोगुण युक्त शरीरस्थित ब्रह्माविष्णुरुद्र करेंगे । अतः अण्डोत्तर सृष्टि आदिका प्रयत्न शङ्करको करना नहीं है । अण्डसृष्टि तो हो गयी । अब शङ्करजीका क्या काम रहा ? क्योंकि संहार तो प्रलयकाल आनेपर करना

है। यह कहें कि अण्डकी रक्षा करनेका काम है। नहीं। अण्डरक्षण तो स्वयं होगा। उस अण्डसे प्रकट भूरादिलोकरक्षा होती रहेगी तो अण्डरक्षा भी होगी। तन्तु जल जाय और कपड़ा सुरक्षित हो ऐसा नहीं होता। अतः शङ्करजी तो इस समयमें जो करना है उसमें कृतकार्य होनेसे खाली बैठे हैं। कार्य कुछ है नहीं, प्रसन्नावस्था भी है। तब नाचेंगे नहीं तो क्या करेंगे? हाँ, अण्डरक्षामें प्रयोजक भूरादि कार्यलोकरक्षामें ध्यान जरूर देना चाहिये। परन्तु वह तो इस ताण्डवनृत्यसे ही सम्पन्न होगी। जगद्रक्षणार्थ उस ताण्डवनृत्यका अब वर्णन कर रहे हैं ॥ ५-९ ॥

महीपादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् ।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥१६॥

ताण्डवमें पैरोंकी ठोकरोंसे पृथिवी कहीं फट न जाय ऐसा संशय होने लगता है। घूमते हुए भुजारूपी परिघसे टूटते हुए ग्रहगणयुक्त अन्तरिक्षकी भी वही स्थिति होने लगती है। खुली जटाके तटताड़नसे स्वर्लोक भी बुरी स्थितिको प्राप्त होने लगता है। लगता है सर्वध्वंस होगा। किन्तु जगद्रक्षणार्थ इस प्रकार शङ्करका नृत्य हो रहा है। भगवानकी लीला विलक्षण होती है ॥ १६ ॥

नटसि

नटसीति हि सामान्यपदं नाट्यकृदर्थकम् ।
तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम् ॥ १० ॥

चतुर्थपादमें 'नटसि' ऐसा सामान्य पद आया है। "नटस्येदं नाट्यं" नाट्य करनेवाला ऐसा उसका अर्थ होगा। कोशमें बताया है नृत्य, गीत, वाद्य ये तीन नाट्यपदार्थ हैं ॥ १० ॥

देवरुच्या प्रतीतो यस्तालमानरसाश्रयः ।
सविलासोऽङ्गविक्षेपो नृत्यमित्युच्यते बुधैः ॥ ११ ॥
ताण्डवं च तथा लास्यं द्विविध नृत्यमुच्यते ।
पेवलिर्बहुरूपं च ताण्डवं द्विविधं मतम् ॥ १२ ॥
अङ्गविक्षेपबाहुल्यं तथाभिनयशून्यता ।
यत्र सा पेवलिस्तस्याः कदाचिदुपयोगिता ॥ १३ ॥

छेदनं भेदनं यत्र बहुरूपा मुखावली ।
ताण्डवं बहुरूपं तद् वारुणागलमुद्धतम् ॥ १४ ॥
छुरितं यौवतं चेति लास्यं द्विविधमीरितम् ।
आद्यं भावादिबहुलं लीलादिबहुलं परम् ॥ १५ ॥

देवरुचिसे प्रतीत; ताल, मान एवं रसका आश्रय; विलाससहित अंगविक्षेप नृत्य कहालता हैं। नृत्य दो प्रकारका है। एक ताण्डव और दूसग लास्य। ताण्डव भी पेवलि और बहुरूपभेदसे दो प्रकार का है। अंगविक्षेप अधिक हो, अभिनय न हो तो पेवलि ताण्डव है। कभी उसका उपयोग होता है। छेदन भेदन जहां हो, नानामुखाक्रांत हो वह बहुरूप ताण्डव है। लास्य भी छुरित यौवतभेदसे दो है। भावादि अधिक हो तो छुरित और लीला अधिक हो तो यौवत है ॥ ११-१५ ॥

शंकरस्ताण्डवं नृत्यं करोति द्विविधं स्फुटम् ।
लास्यं तु पार्वती कुर्याद्यदा प्रेरयतीश्वरः ॥ १६ ॥

भगवान शंकर दोनों प्रकारका ताण्डव नृत्य करते हैं। और पार्वती शंकर ईशारा करते हैं तो लास्य करती हैं ॥ १६ ॥

यदि वा नटसीत्येतन्नृत्यमात्रार्थकं भवेत् ।
तथापि गीतवाद्यादिरर्थादर्थोऽत्र लभ्यते ॥ १७ ॥
गेयादुत्तिष्ठते वाद्यं वाद्यादुत्तिष्ठते लयः ।
लयतालसमारब्धं ततो नृत्यं प्रवर्तते ॥ १८ ॥
इति गान्धर्वशास्त्रेषु स्पष्टमेव समीरितम् ।
गीतावाद्यादिकं तस्मान्नृत्यादेवात्र लभ्यते ॥ १९ ॥

यदि 'नटसि' का नृत्यसि' 'नृत्य करते हो' इतना ही अर्थ है, नाटच अर्थ नहीं है ऐसा कहोगे तो भी गीतवाद्यादिका लाभ नृत्य कहनेसे ही होगा। क्योंकि गान्धर्वशास्त्रमें कहा है—गेयसे वाद्य उठता है। वाद्यसे लय होता है। लय और तालसे प्रारंभकर नृत्य होता है ॥ १७-१९ ॥

सौम्यं रौद्रमिति द्वेधा ताण्डवं बुधसंमतम् ।
विलम्बितं द्रुतं चैव गीतं द्वेधा यथा भवेत् ॥ २० ॥
दाण्डरासादिके चैतल्लोकेष्वपि विलोक्यते ।
विलम्बिसौम्ये प्रारम्भे द्रुतरौद्रे तथान्ततः ॥ २१ ॥
ताण्डवे सौम्यरौद्रे द्वे रूपे चेशस्य संमते ।
प्रथमं सौम्यरूपं स्याद् विराड्रूपं तथान्ततः ॥ २२ ॥

महीपादेति पद्येऽस्मिन् विराड्रूपं निरूपितम् ।
सौम्योपलक्षणं तच्च सौम्यपूर्वत्वनिश्चयात् ॥ २३ ॥
गीतवाद्यादिपूर्वत्वं नृत्यस्येति प्रदर्शितम् ।
नृत्यवर्णनतश्चात्र तदप्यत्रोपलक्ष्यताम् ॥ २४ ॥
स्थूलं च सूक्ष्मपूर्वं स्यादतस्तच्चोपलक्ष्यते ।
परा वाक् च परिस्पन्दश्चोभयं गीतनृत्यवत् ॥ २५ ॥
आरभ्येते गीतनृत्ये सूक्ष्मसूचनपूर्वकम् ।
तानस्वरेण सर्वत्र मन्दस्पन्देन लौकिकैः ॥ २६ ॥

ताण्डव सौम्य तथा रौद्रभेदसे दो प्रकार है। जैसे गीत विलम्बित और द्रुत भेदसे द्विधा होता है। दांडिया रासादिमें यह लोकमें भी देखनेमें आता है। प्रारंभमें गीत विलम्बित होगा और नृत्य सौम्य होगा। आखिर आखिरमें गीत द्रुत होता है और दौड दौडकर रौद्र नृत्य करने लगते हैं। शंकरके ताण्डव नृत्यमें एक विशेषता अधिक है। वह यही कि शंकरका रूप भी प्रथम सौम्य तथा आखिर आखिर रौद्र अर्थात् विराट् रूप हो जाता है। "महीपादाघातात्" इस श्लोकमें यद्यपि विराट्रूपका वर्णन है। किन्तु वह सौम्यरूपपूर्वक होनेसे सौम्यरूपका भी उपलक्षण है। पहले हम कह आये हैं कि नृत्य गीतवाद्यपूर्वक है। नृत्यका वर्णन किया तो वह गीत और वाद्यका भी उपलक्षण हो जायेगा। स्थूल हमेशा सौम्यपूर्वक होता है। अतः स्थूलगीतसे परावाणी और नृत्यसे परिस्पन्दका भी लाभ होता है। अतएव सूक्ष्मके रूपमें लोकमें भी गीत तानस्वरसे और नृत्य मन्दस्पन्दसे प्रारंभ किया जाता है ॥ २०-२६ ॥

तानस्वरालापमाद्यं चकारोंकारतो भवः ।
अवादयच्च डमरुं पादावस्पन्दयच्च सः ॥ २७ ॥

अब शंकरका ताण्डवक्रम देखिये। प्रथम तानस्वरालाप उन्होंने ओंकारसे किया। डमरूको तब लेश बजाया और पदका मन्द स्पस्द किया ॥ २७ ॥

तदा प्रमथनाथस्य भैरवाद्या महात्मनः ।
वदनेभ्यस्तु पञ्चभ्यः पञ्चरागाः समुद्बभुः ॥ २८ ॥
एको रागस्तु पार्वत्या मुखपद्माद्विनिःसृतः ।
निरूपितं तदेतच्च रागशास्त्रविशारदैः ॥ २९ ॥
शिवशक्तिसमायोगाद्रागाणां संभवो भवेत् ।
पञ्चास्यात्पञ्च रागाः स्युः षष्ठस्तु गिरिजामुखात् ॥ ३० ॥

सद्योवक्त्रात्तु श्रीरागो वामदेवाद्वसन्तकः ।
अघोराद्भैरवोऽभूत्तत्पुरुषात्पञ्चमोऽभवत् ॥ ३१ ॥

ईशानाख्यान्मेघरागो नाट्यारम्भे शिवादभूत्
गिरिजाया मुखाल्लास्ये नट्टनारायणोऽभवत् ॥ ३२ ॥

उसी समय परमात्मा भगवान शंकरके पांच मुखोंसे पांच राग प्रगट हो गये । और एक राग पार्वतीके मुखसे । यह बात संगीतशास्त्रमें बतायी है ।—शिव शक्ति समायोगसे रागोत्पत्ति हुई, पांच राग शंकर मुखसे छट्ठा पार्वतीमुखसे । सद्योजात मुखसे श्रीराग, वामदेवमुखसे वसन्तराग, अघोरसे भैरव, तत्पुरुषसे पञ्चमराग ईशानसे मेघराग, इस प्रकार ताण्डवके अरंभमें प्रकट हुए और पार्वतीके मुखसे नट्टनारायणराग प्रकट हुआ ॥ २८-३२ ॥

आदौ मालवरागेन्द्रस्ततो मल्लारसंज्ञितः ।
श्रीरागश्च ततः पश्चाद्वसन्तस्तदनन्तरम् ॥ ३३ ॥

हिन्दोलश्चाथ कर्णाट एते रागाः षडेव हि ।
इत्येवमपरे प्राहू रागनामानि पण्डिताः ॥ ३४ ॥

मालव, मल्लार, श्रीराग, वसन्त, हिन्दोल, कर्णाट इस क्रमसे दूसरे पण्डित रागोंके नाम कहते हैं ॥ ३३-३४ ॥

षट् षट् चैषां हि रागिण्यस्तथा च भगवद्वचः ।
षट्त्रिंशद्रागिणीस्तत्र क्रमशः कथिता मया ॥ ३५ ॥

एक एक रागकी छः छः रागिणियां हैं । इसप्रकार छत्तीस रागिणियां हैं, ऐसा भगवद्वचन है ॥ ३५ ॥

मालश्रीः त्रिवणी गौरी केदारी मधुमाधवी ।
ततः पाहाडिका ज्ञेयाः श्रीरागस्य वराङ्गनाः ॥ ३६ ॥

देशी देवगिरी चैव वराटी तोडिका तथा ।
ललिता चाथ हिन्दोली वसन्तस्य वराङ्गनाः ॥ ३७ ॥

भैरवी गुर्जरी रामकिरी गुणकिरी तथा ।
वाङ्गाली सैन्धवी चैव भैरवस्य वराङ्गनाः ॥ ३८ ॥
विभाषा चाथ भूपाली कर्णाटी वडहंसिका ।
मालवी पटमञ्जर्या सहैताः पञ्चमाङ्गनाः ॥ ३९ ॥
मल्लारी सौरटी चैव सावेरी कौशिकी तथा ।
गान्धारी हरश्रृङ्गारा मेघरागस्य योषितः ॥ ४० ॥

कामदी चैव कल्याणी आभीरी नाटिका तथा ।
नारङ्गी नट्टहम्बीरा नट्टनारायणाङ्गनाः ॥ ४१ ॥

मालवादिक्रमोक्तेषु रागिण्यो भिन्नवत्मना ।
गणितास्तस्य विवृतिस्तत्तद्ग्रन्थेषु वीक्ष्यते ॥ ४२ ॥

एतेषां पुत्रपौत्रादिपारम्पर्यात् सहस्रशः ।
रागाणां विस्तरश्चैव पूर्वाचार्यैर्निरूपितः ॥ ४३ ॥

इत्थं ताण्डववेलायां प्रादुरासीन्महेश्वरात् ।
संगीतविद्या सकला रमन्ते यत्र देहिनः ॥ ४४ ॥

मालश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी, पाहाडिका ये श्रीरागकी रागिणियां हैं। देशी, देवगिरि, वराटी, टोडिका, ललिता, हिंदोली ये वसन्तकी रागिणियां हैं। भैरवी, गुर्जरी, रामकिरी, गुणकिरी, वांगाली, सैन्धवी ये भैरवकी रागिणियां हैं। विभाषा, भूपाली, कर्णाटी वडहंसिका, मालवी, पटमंजरी ये पंचमकी रागिणियां हैं। मल्लारी, सौरटी, सावेरी, कौशिकी, गांधारी, हरश्रृंगारा ये मेघरागकी रागिणियां हैं। कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, नारंगी, नट्टहंवीरा ये नट्टनारायणकी रागिणियां हैं। मालव, मल्लार आदि क्रमसे जो छः राग नाम गिनाये उनकी रागिणियों का भिन्न तरीकेसे वर्णन तत्तदग्रन्थोंमें है। इन राग-रागिणियोंकी पुत्रपौत्रादिपरम्परासे हजारों रागरागिणियोंका वर्णन पूर्वाचार्यों-ने किया हैं। इसप्रकार ताण्डव समयमें शंकरजीसे समग्र संगीतविद्या प्रकट हुई, जहां समस्त प्राणी आनन्दानुभव करते हैं ॥ ३६-४४ ॥

जगद्रक्षार्थं

तथा स्तुतश्च भगवान् प्रसन्नः क्रमतो नृणाम् ।
स्वर्गापवर्गफलद इत्येवं शास्त्रवर्णितम् ॥ ४५ ॥

जपकोटिगुणं ध्यानं ध्यानकोटिगुणो लयः ।
लयकोटिगुणं गानं गानात्परतरं न हि ॥ ४६ ॥

मार्गदेशीविभागेन संगीतं द्विविधं मतम् ।
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च ॥ ४७ ॥

महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम् ।
तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्याल्लोकानुरञ्जनम् ॥ ४८ ॥
देशे देशे तु संगीतं तद्देशीत्यभिधीयते ।
न स्वर्गो नापवर्गो वा तेन लोकानुरञ्जनम् ॥ ४९ ॥

गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम्।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा सह तेनैव मोदते ॥ ५० ॥

संगीतविद्यासे स्तुति बोलनेपर भगवान प्रसन्न होकर स्वर्ग अपवर्ग प्रदान करते हैं। देखिये शास्त्रवचन :—"जपसे करोड़गुना श्रेष्ठ ध्यान है, ध्यानसे करोड़गुना श्रेष्ठ लय, लयसे करोड़गुना श्रेष्ठ गान है। गानसे आगे कुछ नहीं।" मार्ग तथा देशी विभागसे संगीत दो प्रकार का है। शंकरजीके सामने ब्रह्माजीने और भरतने जो गाया वह मार्ग है। वह मोक्षदायी है। देश-देशकी रीतिसे जो गाया जाता है (जैसे सेनमा रागादि) वह देशी है। केवल लोकानुरञ्जन उसका फल है। स्वर्ग, मोक्षादि नहीं। गीतज्ञ गीतसे कदाचित् मोक्ष न भी पावे तो भी वह शंकरानुचर होकर शंकरके साथ प्रमुदित होगा। ॥ ४५–५० ॥

नृत्यस्यापि फलं शास्त्रेष्वेवमेव प्रकीर्तितम्।
उक्तं चाग्निपुराणादावेतद्देवर्षिणा स्फुटम् ॥ ५१ ॥

दृष्ट्वा संपूजितं देवं नृत्यमानोऽनुमोदयेत्।
असंशयमतिः शुद्धः परं ब्रह्म स गच्छति ॥ ५२ ॥
यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहु सुभक्तितः।
स निर्दहति पापानि जन्मान्तरशतेष्वपि ॥ ५३ ॥
नृत्यं दत्वा तथाप्नोति रुद्रलोकमसंशयम्।
स्वयं नृत्येन संपूज्य तस्यैवानुचरो भवेत् ॥ ५४ ॥
तस्माद्गीतं च नृत्यं च लोकानुपदिशन् हरः।
विदधाति जगद्रक्षामित्यस्मिन्नास्ति संशयः ॥ ५५ ॥

इसीप्रकार अग्निपुराणादि शास्त्रोंमें नृत्यफल भी बताया है। पूजोत्तर भगवद्दर्शन कर संदेह रहित एवं शुद्ध होकर नृत्य करते हुए मुदित हो। भाव एवं हर्षसे एवं भक्तिसे नृत्य करनेसे सैकडों जन्मोंके पापोंको मनुष्य जला देता है। आजीविकार्थ नृत्य देनेवाला भी रुद्रलोक जाता है। स्वयं नृत्य करे तो रुद्रका अनुचर ही बन जाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि शंकरने ताण्डव शुरूकर गीत और नृत्यकी शिक्षा देकर स्वर्गापवर्गादिरूप लोकरक्षा संपन्न की ॥ ५१-५५ ॥

स्वरभङ्गादिकं नैव कर्तव्यं गातृभिर्बुधैः।
ततो हि रागरागिण्यः सीदन्तीति जनश्रुतिः ॥ ५६ ॥
एकदा नारदो वीणां विरणन्प्रव्रजन् पथि।
भग्नपादकरान् देवान् देवोऽप्रैक्षत तादृशीः ॥ ५७ ॥

के यूयं कथमेषा च दशेत्युक्तास्तु तेऽब्रवन् ।
वयं हि रागरागिण्यस्त्वामेतत्प्रार्थयामहे ॥ ५८ ॥
यदि क्वचन लभ्येत नारदो नाम दुर्मतिः ।
ब्रूहि तं मा वधी रागान् वराकी रागिणीरपि ॥ ५९ ॥
विधाय स्वरभङ्गं स भक्तंमन्यः प्रगायति ।
त्वमस्माकं रक्षयिता दृष्टः सौम्यवपुर्मुने ॥ ६० ॥

स्वरभंगादि न करना चाहिये । उससे रागरागिणी देवताओंको क्लेश होता है । एकबार नारदजी वीणा बजाते हुए जा रहे थे तो रास्तेमें कुछ देवदेवियोंको देखा. जिनके हाथपांव टूटे हुए थे । तुम कौन हो, तुम्हारी यह दशा कैसे हुई ? पूछने पर वे बोले कि हम रागरागिणी हैं, आपसे प्रार्थना है कि यदि वह दुर्मति नारद कहीं मिले तो अवश्य कहें कि बेचारे रागरागिगियोंको इस तरह मत मारो । वह अपनेको भक्त जताता है और स्वरभंग कर गाता है । मुने ! आप सौम्य दीख रहे हैं, अवश्य हमारी रक्षा करेंगे ॥ ५८-६० ॥

नारद :—हा हन्त नारदः सोऽहमपराधी भवामि वः ।
कथं स्यादङ्गसाकल्यं भवतामनुशिष्ट माम् ॥ ६१ ॥

नारदजी बोले—हाय ! वह अपराधी तो मैं ही हूं । आपके अंगोंकी सम्पूर्णता अब कैसे होगी सो आप ही हमें आदेश दें ॥ ६१ ॥

राग०—भगवन्तं महेशानं प्रपद्यस्व महामते ।
स ताण्डवे प्रगीयास्मानुद्धरिष्यत्यसंशयम् ॥ ६२ ॥

आप ज्ञानी महात्मा हैं आप भगवान शंकरकी शरण जायं । शंकर भगवान ताण्डवमें ठीक गाकर हमारा उद्धार करेंगे ॥ ६२ ॥

उद्धारमकरोत्तेषां नारदप्रार्थितः प्रभुः ।
ताण्डवे सर्वसाकल्यसंपादनपुरःसरम् ॥ ६३ ॥

नारदजीकी प्रार्थनापर शंकर भगवानने ताण्डवमें गीतोका अंगसाकल्य सम्पादनकर उनका उद्धार किया ॥ ६३ ॥

ननूक्तं ताण्डवे रागप्रादुर्भावोऽधुना पुनः ।
प्रागुद्भूताङ्गसाकल्यं ताण्डवे कथमुच्यते ॥ ६४ ॥
प्रथमं त्वल्परागादिप्रादुर्भावो हरादभूत् ।
तदङ्गभङ्गो मध्ये तु तत्साकल्यं च ताण्डवे ॥ ६५ ॥
शिष्टानां चैव सर्वेषां प्रादुर्भावोऽत्र ताण्डवे ।
इत्थं संगीतविद्यायास्तत्प्रवर्तनसंगतिः ॥ ६६ ॥

उपवेदाश्च वेदाश्च चत्वारः कथिताः स्मृतौ ।
तत्रोपवेदो गान्धर्वः शिवेनोक्तः स्वयंभुवे ॥ ६७ ॥
तेनापि भरतायोक्तस्तेन मर्त्ये प्रचारितः ।
शिवाब्जयोनिभरतास्तस्मावस्य प्रयोजकाः ॥ ६८ ॥
संगतं तेन संगीतदामोदरवचस्त्विदम् ।
प्रथमं ह्यु पदेशेन ताण्डवेन ततः परम् ॥ ६९ ॥

पहले आपने बताया कि ताण्डवमें संगीतका प्रादुर्भाव हुआ । किन्तु नारदकथासे उससेभी पहले रागप्रादुर्भाव प्रतीत होता है । ताण्डवमें उनके टूटे अंगोंका जोड़ना मात्र सिद्ध होता है । इस प्रश्नका उत्तर यह है कि प्रथम रागोंका अल्पप्रादुर्भाव हुआ । फिर अंगभंग । और ताण्डवमें अंग-साकल्य तथा पूर्णप्रदुर्भाव हुआ । इसप्रकार शिवजीके द्वारा संगीतविद्याके प्रवर्तनकी संगति है । अतएव संगीत दामोदर ग्रन्थमें उपवेदोंमें गान्धर्ववेद प्रथम शंकरने ब्रह्माको, ब्रह्माने भरतको और भरतने सभी लोगोंको बताया यह परम्परावर्णन संगत होता है । प्रथम उपदेशसे शंकरजीने परोक्षतः प्रादुर्भाव किया । पश्चात् ताण्डवमें प्रत्यक्षतः प्रादुर्भाव किया ॥ ६४-६९ ॥

देवीभागवते तूक्तं गोलोकेऽगायदीश्वरः ।
राधाकृष्णावलीयेतामासातां जलरूपतः ॥ ७० ॥
उद्दधार ततः शंभू राधाकृष्णौ जलान्ततः ।
शिष्टं जलमभूद्गङ्गा यैषा त्रिपथगामिनी ॥ ७१ ॥

देवी भागवतमें तो ऐसा बताया है कि भगवान शंकरने एकबार गोलोकमें गीत गाया । जिससे राधा और कृष्ण पानी-पानी होकर लीन हो गये और जलरूपसे रह गये । बादमें शंकरजीने जलसे राधाकृष्णका उद्धार किया । शेषजल त्रिपथगा गङ्गा हुई ॥ ७०-७१ ॥

अथ क्रमादभूद्रौद्रं ताण्डवं द्रुतगीतकम् ।
तद्व्याख्यास्याम्यनुपदं वक्ष्म्युत्तरकथामिह ॥ ७२ ॥

प्रथम सौम्य बिलम्बित नृत्यगीत शुरू हुआ यह बताया । क्रमशः ताण्डव रौद्र एवं गीत द्रुत होने लगा । उसकी व्याख्या हम बादमें करेंगे । ताण्डवके अन्तमें जो कथा हुई उसे प्रथम कहता हूं ॥ ७२ ॥

जगद्रक्षायै

नृत्तावसाने भगवानुद्धर्तुं सनकादिकान् ।
ढक्कां ननाद स, चतुर्दशवारं महेश्वरः ॥ ७३ ॥

ताण्डवके अन्तमें भगवान शंकरने सनकादिका उद्धार करनेके लिये चौदह बार डमरू बजाया। ("नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारं" इत्यादि प्रसिद्ध है) ॥ ७३ ॥

प्रादुर्बभूवुरेतस्मान्महाविद्याश्चतुर्दश ।
वेदा अङ्गानि शास्त्राणि तान्येतानि चतुर्दश ॥ ७४ ॥
ऋग्यजुःसामनामानो वेदाः साथर्वसंज्ञकाः ।
डमरोर्व्यक्तिमापन्ना वाद्यमानाद्धि शंभना ॥ ७५ ॥
अपौरुषेयताद्धेतोर्व्यज्यन्ते केवलं त्विमे ।
संजज्ञिरे तूपवेदा गण्यन्ते ते समुद्भवे ॥ ७६ ॥
गन्धर्वायुर्धनुर्वेदा अर्थशास्त्रं च ते मताः ।
ग्रथितास्ते पुनर्नानामुनिभिः संप्रदायतः ॥ ७७ ॥
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च ।
ज्योतिषं चाविरभवन् वेदाङ्गानि पराणि षट् ॥ ७८ ॥
पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राण्युपाङ्गतः ।
प्रसिद्धानि ततो विद्याश्चतुर्दश निरूपिताः ॥ ७९ ॥

भगवान शंकरने चौदह बार जो डमरू बजाया उससे चतुर्दश विद्या प्रकट हुई। वेद, वेदांग शास्त्र मिलाकर चौदह होते हैं। ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चार वेद हैं। ये डमरूके बजानेपर केवल व्यक्त हुए। अपौरुषेय होनेसे उत्पन्न नहीं हुए। उत्पन्नके रूपमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र ये चार समझना। जिनको बादमें नाना ऋषियोंने ग्रन्थरूपमें ग्रथित किया। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये वेदाङ्ग छ हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र ऐसे शास्त्र चार हैं। मिलनेपर चौदह होते हैं ॥ ७४-७९ ॥

हौत्रं ज्ञानं भवेदृक्षु यजुष्याध्वर्यवं तथा ।
औद्गात्रं सामवेदे च शेषं सर्वमथर्वणि ॥ ८० ॥
वेदोक्तो द्विविधो धर्मो जगतः स्थितिकारणम् ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च भाष्यकरै प्रदर्शितः ॥ ८१ ॥
वेदः शिवः शिवो वेद इत्येषा च श्रुतिः स्वयम् ।
जगद्रक्षणविज्ञानवेदरूपं शिवं जगौ ॥ ८२ ॥

होतासे सम्बन्धित सबका ज्ञान ऋग्वेदसे होता है। अध्वर्युसे सम्बन्धित सभीका ज्ञान यजुर्वेदसे होता है। उद्गातासे सम्बन्धित सबका ज्ञान सामवेदसे होता है। शेषका ज्ञान अथर्ववेदसे होता है। वेदोंमें बताये

प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दो धर्म जगतकी स्थिति (रक्षा) का कारण है यह भाष्यकार भगवान शंकरचार्यने दिखाया है। वेद ही शिव है इत्यादि श्रुति जगद्रक्षणविज्ञानरूप वेदरूपसे शिवकी स्तुति करती है। ताण्डवमें शिव स्वस्वरूपमें प्रकट हुए। अतः जगद्रक्षाहेतु सिद्ध होते हैं। उस वेदार्थ बोधार्थ ही अन्य चतुर्दश होने से वे भी जगद्रक्षाहेतु ही हैं ॥ ८०-८२ ॥

स्वरादिबोधः शिक्षातः विनियोगादि कल्पतः।
पदज्ञानं व्याकरणादर्थज्ञानं निरुक्ततः ॥ ८३ ॥
ज्योतिषात् कालविज्ञानं छन्दसश्छन्द एव च।
षडङ्गान्याविरभवन् डमरोर्वाद्यमानतः ॥ ८४ ॥
येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ८५ ॥
इत्यत्र तु विशेषेण सूत्राणि तु चतुर्दश।
वर्णितानि तदेतत्तु पश्चाद्भावीति दृश्यताम् ॥ ८६ ॥

स्वरव्यञ्जनाद्युच्चारणज्ञान शिक्षासे होता है, विनियोग, क्रम आदिका ज्ञान कल्पसूत्रोंसे होता है, पदज्ञान व्याकरणसे होता है। विशेषपदार्थज्ञान निरुक्तसे होता है। कालज्ञान ज्योतिषसे होता है। और छन्दका ज्ञान छन्दोग्रन्थोंसे होता है "येनाक्षरसमाम्नायं" इत्यादि श्लोकमें अ इ उण्. ऋ ऌ क् इत्यादि चौदह सूत्रोंकी निष्पत्ति जो बतायी वह बादकी बात है। क्योंकि पाणिनि बादमें हुए हैं। (सृष्टिके आरम्भकालमें ताण्डवनृत्यके अन्तमें शंकरजीने जो चतुर्दशवार डमरू बजाया उसे पाणिनिने तपस्याकृत प्रतिभज्ञानसे देखा तो चौदह सूत्ररूपमें दीख पड़ा, यही व्याकरण प्रसिद्धिकी संगति है ॥ ८३-८६ ॥

अष्टादशपुराणानि प्रादुर्भूतानि शंकरात्।
व्यासेनोपनिबद्धानि जगत्कल्याणहेतवे ॥ ८७ ॥
अत्रैवोपपुराणानामन्तर्भावोऽवबुध्यताम् ।
रामायणं भारतं च धर्मशास्त्रे परेऽत्र तु ॥ ८८ ॥
गौतमेन निबद्धं तु न्यायशास्त्रमुदीरितम्।
शंकरात्प्रकटीभूतं पदार्था यत्र षोडश ॥ ८९ ॥
काणादं शास्त्रमत्रैव बोध्यमन्तर्गतं बुधैः।
षट्पदार्थोवर्णनं हि विशेषेणात्र विश्रुतम् ॥ ९० ॥
मीमांसा तु द्विधा प्रोक्ता पूर्वोत्तरविभागतः।
तयोरुपनिबद्धारो जैमिनिर्व्यास एव च ॥ ९१ ॥

मन्वादिकथितान्याहुर्धर्मशास्त्राण्यनेकशः ।
सांख्ययोगौ तु तत्रैव द्वावन्तर्भावमर्हतः ॥ ९२ ॥
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।
इति धर्मविदां श्रेष्ठो याज्ञवल्क्यो निरब्रवीत् ॥ ९३ ॥
तत्र योगस्तु शब्दोक्तः सांख्यं स्यादात्मदर्शनम् ।
निरीश्वरमसत्सांख्यं सांख्यसाधनमेव वा ॥ ९४ ॥
योगः पतञ्जलिप्रोक्तः सांख्यं कपिलभाषितम् ।
उभे ते प्रथमं तावत् प्रादुर्भूते महेश्वरात् ॥ ९५ ॥

अठारह पुराण प्रथम शंकरसे प्रकट हुए। व्यासजीने जगत्कल्याणार्थं उन्हें ग्रथित किया। उपपुराणोंका इनमें अन्तर्भाव समझना चाहिये। रामायण और महाभारतको कुछ लोग पुराणोंमें और कुछ लोग धर्मशास्त्रमें गिनते हैं। शंकरसे प्रकट षोडशपदार्थयुक्त न्यायशास्त्र को गौतम ऋषिने ग्रथित किया। वैशेषिक दर्शन इसीके अन्तर्गत समझना, जहां षट्पदार्थवर्णन है। पूर्व मीमांसा उत्तर मीमांसा इस प्रकार मीमांसा दो हैं। जैमिनिने और व्यासने उन्हें ग्रथित किया। मन्वादि प्रणीत धर्मशास्त्र अनेक हैं। सांख्य और योगका इसीमें अन्तर्भाव है। योगसे आत्मदर्शन करना परमधर्म है ऐसा याज्ञवल्क्यवचन है। अतः योग धर्म है ही। आत्मदर्शनसे सांख्य विवक्षित है। निरीश्वर सांख्य तो असत्सांख्य है। अथवा वास्तविक सांख्यमें आनेका एक साधन है। योगशास्त्रको पतञ्जलिने और सांख्यशास्त्रको कपिलने ग्रथित किया ॥ ८७-९५ ॥

जग्रन्थतुर्मुनी आयुर्वेदं चरकसुश्रुतौ ।
विश्वामित्रो धनुर्वेदं गान्धर्वं भरतस्तथा ॥ ९६ ॥
अर्थशास्त्रं बहुविधं कौटिल्याद्यैर्निपितम् ।
एताश्चतुर्दशोत्पन्ना विद्या डमरुवादनात् ॥ ९७ ॥
वेदरूपः स्वयं शम्भुर्निजं व्यञ्जयति स्वयम् ।
अतश्चतुर्दशैवैताः चतुर्दशनिनादतः ॥ ९८ ॥
वेदार्थज्ञानबोधाय विद्याः सर्वा अपीतराः ।
जगद्रक्षानिदानत्वं तेषां चिन्त्यं न तत् पृथक् ॥ ९९ ॥
वेदोक्ताभ्यां हि धर्माभ्यां जगतः परिरक्षणम् ।
स्वयं प्रकाशयामास वेदरूपं नटन्नसौ ॥ १०० ॥
ताण्डवाङ्गतया चैवं कृत्वा डमरुवादनम् ।
विद्याः प्रकाश्य भगवान् ररक्ष सकलं जगत् ॥ १०१ ॥

सनकादीत्यादिपदान्मरिच्यादिश्च गृह्यते ।
तानुद्धर्तुं च तद्द्वारा जगदुद्धर्तुमीश्वरः ॥ १०२ ॥

चरक और सुश्रुतने आयुर्वेदको ग्रथित किया। विश्वामित्रने धनुर्वेद और भारतने गान्धर्ववेद प्रकट किया। कौटिल्यादिने अर्थशास्त्रका निरूपण किया। चौदह बार डमरू बजाकर इन चौदह (छः अंग शिक्षादि, चार उपवेद आयुर्वेदादि चार उपांग पुराणादि मिलाकर चौदह) विद्याओंको प्रकट किया। शंकर स्वयं वेदरूप हैं। यह पहले बताया। स्वस्वरूप वेदोंको ताण्डवमें प्रकट किया ही। चतुर्दशविद्य मात्र डमरुवादनसे प्रादुर्भूत किया। वेदार्थज्ञानप्राप्ति के लिये ही सभी अन्य विद्या हैं। अतः अन्यविद्यासे जगतरक्षा किसप्रकार यह सोचनेकी जरूरत नहीं है। वेदोक्त प्रवृत्ति निवृत्ति दो धर्मोंसे जगतकी रक्षा है। और स्वयं शिव वेद होनेसे नृत्य करते हुए अपनेको प्रकाशित किया ही। ताण्डवके अंगके रूपमें डमरू बजाकर विद्याप्रकाशन करते हुए भगवान शंकरने समस्त जगतकी रक्षा की। "उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान्" यहांपर और "उद्धर्तुं सनकादिकान्" (श्लो-७३) यहांपर आदि पदसे मरीचि आदि सभी ग्राह्य हैं। मरीचि आदिको प्रवृत्ति धर्म और सनकादिको निवृत्तिधर्म भगवान शंकरने वेदप्रकाशनके द्वारा किया। उनका उद्धार करनेका मतलब है उनके द्वारा जगतका उद्धार करना ॥ ९६-१०२ ॥

महीपादा....तटा

नटसीति च सामान्यमुपादायैतदीरितम् ।
विशेषरूपमधुना तस्य व्याख्यायते मया ॥ १०३ ॥
रौद्रनृत्ये तु भगवान् विराड्रूपेण नृत्यति ।
निघ्नन् पादेन पृथिवीं भ्राम्यन् शीर्षकरादिकम् ॥ १०४ ॥
पादाघातेन पृथिवी भिद्येतेत्येति संशयः ।
काष्ठमञ्चो यथा नृत्ये स्फुटयेतेत्युग्रनर्तने ॥ १०५ ॥
भ्राम्यमाणा भुजाः शम्भोर्दृढाः परिघनिष्ठुराः ।
तदाघातादन्तरिक्षं भग्नग्रहगणं बभौ ॥ १०६ ॥
नृत्यन्त्या घर्घरो यद्वच्छत्राकारो विघूर्णते ।
चक्राकारा जटास्तद्वच्छम्भोर्दिवमताडयत् ॥ १०७ ॥
असंवृत जटाकाण्डताडितप्रान्तमस्थिरम् ।
त्रिविष्टपमवापार्तिदुःस्थितिं मुहुरीशितुः ॥ १०८ ॥

'नटसि' इस सामान्य वचनसे प्राप्त नृत्य गीत वाद्यको लेकर यहां तक बताया। अब श्लोकमें जो विशेषरूप दरसाया है उसकी व्याख्या करते हैं।

रौद्रनृत्यमें भगवानका रूप भी विराट् हो जाता है। पादसे पृथ्वीपर ठोकर लगाते हुए मस्तक; हाथ आदि घुमाते हुए नृत्य करते हैं। पादाघातसे ऐसा लगता था कि पृथिवी फट जायेगी। जैसे काठके मंचपर रौद्रनृत्य से लगता कि अभी यह टूट गिरेगा। भगवान की भुजायें परिघके समान कठोर होकर जब घूमने लगती तो अंतरिक्षमें ग्रहगण टूटफूट गये ऐसा लगता था। जटा जब घूमने लगती तो चक्राकार होती थी जैसे नाचते समय घूमनेपर घाघरा छत्राकार होता है। उससे स्वर्गपर जब मार पड़ती थी तो वह चंचल होकर दुरवस्थाको प्राप्त होता था ॥ १०३-१०८ ॥

वामनस्य क्षितिस्थस्य विराड्रूपं प्रचक्षिरे।
क्षितिस्थत्वेऽपि भर्गस्य विराड्भावस्तथेक्ष्यताम् ॥ १०९ ॥

पृथिवीपर खड़े हैं तो विराट् रूप किस प्रकार? क्योंकि विराट्में पृथिवी आदि अन्तर्भूत होते हैं। इसका उत्तर यही है कि वामन भगवान पृथिवीस्थ होकर विराट् रूपधारी हो गये थे। जैसे वहां उपपत्ति वैसे यहां भी समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

स्वपादशक्त्याधानेन क्षितिं रक्षति जर्जराम्।
शीर्षगङ्गाजलकणैः सागरादि तथैव च ॥ ११० ॥
तृतीयाक्षस्फुलिङ्गैश्च सशक्तं कुरुतेऽनलम्।
श्वासप्रश्वासवेगेन वायुं शक्तयतीश्वरः ॥ १११ ॥
व्योमकेशः किलाकाशं पूर्णशक्ति दधात्यसौ।
जर्जरं जगदेवं हि शक्त्या रक्षति शंकरः ॥ ११२ ॥
आदौ शक्तिसमाधानात्कल्पान्तं वसुधादिकम्।
प्रतितिष्ठति यत्तद्धि प्रभोर्भुवनरक्षणम् ॥ ११३ ॥

भगवान शंकर अपनी चरणशक्तिके आधानसे चरणरूप क्षयशील जर्जर क्षितिकी रक्षा करते हैं। शिरस्थ गंगाजल कणोंसे सागरादिको परिपुष्ट कर रक्षा करते हैं। तृतीय नेत्र निःसृत अग्निकणोंसे अग्निको सशक्त कर रक्षित करते हैं। नृत्यकालीन श्वास प्रश्वासवेगसे वायुको सशक्त कर रक्षण करते है। व्योमकेश तो शंकर हैं ही। आकाशमें पूर्णशक्ति आधान करते हैं। इस प्रकार जर्जर जगतकी शंकर भगवान शक्ति आधान से रक्षा करते हैं। सृष्टि होने ही शक्तिका आधान किया इसीलिये पृथिवी आदि कल्पपर्यंन्त प्रतिष्ठित रहता है यही प्रभुका भुवनरक्षण है ॥ ११०-११३ ॥

ननु वामैव विभुता

वामैव विभुता शंभोर्घातयन्निव ताण्डवे ।
जगदेतद्धि सकलं हन्त रक्षति निर्भरम् ।। ११४ ।।

भगवानकी विभुता बड़ी विलक्षण है। विपरीत प्रतीत होती है। ताण्डव में शंकर जगतका घात करते हुए प्रतीत होते हैं। लेकिन वे जगतकी रक्षा करते हैं ।। ११४ ।।

विविधो भवतीत्यस्माद्विभुरित्युच्यते प्रभुः ।
क्वचित्प्रतीपः क्वचनानुरूपो वीक्ष्यते यतः ।। ११५ ।।

विविध रूपसे होते हैं अतः प्रभुको विभु बताया। कहीं अनुरूप और कहीं प्रतीप (विपरीत) यही विभुता है ।। ११५ ।।

पादन्यासैः प्रचिन्वन् क्षितिमनिलमनुप्राणयन् प्राणवेगै-
रर्णांस्यार्णिजानस्त्रिपथगतिजलैरग्निमक्षाग्निना च ।
स्वर्लोकादीन् जटासंहतिहतिभिरलंभावयन् भूतनाथो
विद्याविद्योतकारी जयति घनजटामण्डलस्ताण्डवस्थः ।।११६।।

पादविन्याससे क्षयशील क्षितिको उपचित करते हुए, प्राण वेगसे पवनको अनुप्राणित करते हुए, मस्तकगंगाकणोंसे सागरादिको पवित्रित करते हुए, तृतीय नेत्राग्निसे अग्निको प्रज्वलित करते हुए, जटाजूटघातसे स्वर्गलोकादिको पूर्ण करते हुए तथा समस्त विद्याओंको प्रकाशित करते हुए जटाजूटसे विराजमान ताण्डव नृत्यस्थ भूतनाथ भगवान शंकरकी जय हो ।। ११६ ।।

नमस्तस्मै भगवते ज्ञानविज्ञानदायिने ।
जगद्रक्षैकदीक्षायाऽखण्डताण्डवतायिने ।। ११७ ।।

ज्ञानविज्ञानदायी जगद्रक्षणदीक्षादीक्षित अखण्डताण्डवकारी भगवान शंकरको हम प्रणाम करते हैं ।। ११७ ।।

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ गतः स्पन्दस्तु षोडशः ।। १६ ।।





सप्तदश: श्लोक:

जगद्रक्षाप्रसङ्गेन गङ्गयाम्बुधिपूरणम् ।
जीवनं स्मरतोपास्यरूपं तेनैव वर्ण्यते ॥ १ ॥

"जगद्रक्षायै त्वं" ऐसा जगद्रक्षाका प्रसङ्ग चला । शङ्करजीने गङ्गाके द्वारा समुद्रपूरण किया था । वह भी जगद्रक्षाकारण ही है । क्योंकि समुद्रसे ही वाष्पद्वारा मेघोत्पत्ति और वृष्टि होती है जो जीवनकारण है । अतएव पानीका नाम भी जीवन पड़ा । उक्त (जगत् रक्षा) प्रसङ्गसे गङ्गावतरणादि स्मरणपथमें आया तो अब उसके द्वारा उपास्यरूपका वर्णन करने जा रहे हैं ॥ १ ॥

स्वयं तस्थे यदा ताभ्यामल्परूपमभूत्तदा ।
ततः पूर्वमनाद्यन्तं भूमलिङ्गमभून्महत् ॥ २ ॥
पूर्वश्लोके सौम्यपूर्वं विराड्रूपं निरूपितम् ।
तत्र तूपास्यता कस्येत्युदपद्यत संशयः ॥ ३ ॥
अर्वाचीनपदं किं वा त्रिपाद्रूपमुपास्यताम् ।
इत्येषोऽप्यस्ति सन्देहः एतावदवधारिते ॥ ४ ॥

"स्वयं तस्थे ताभ्यां" इस प्रकार जो पहले बताया वह स्वरूप परिच्छिन्न तथा अल्प था । किन्तु उससे पूर्व "यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः" से जो सूचित हुआ था वह भूमाका लिङ्ग महान था । क्योंकि उसका आदि अन्त नहीं था । "महीपादाघातात्" इस पूर्वश्लोकमें यद्यपि विराट्स्वरूपका इशारा है । फिर भी वह सौम्य अल्पस्वरूपपूर्वक होनेसे उभयका निरूपण था । इसपर संशय यह होता है कि अल्परूप उपास्य है या विराट्रूप उपास्य है । यहाँतक वर्णितस्वरूपमें मूलतः यह भी शङ्का होती है कि अर्वाचीनपद उपास्य है या त्रिपाद्रूप उपास्य है ॥ २-४ ॥

भूमलिङ्गं विराड्रूपं न त्रिपादुभयं मतम् ।
उभयत्र परिच्छेददर्शनादेकपात्स्थितेः ॥ ५ ॥

ध्यान रखनेकी बात है कि जो भूमलिङ्ग पहले कहा और जो विराट्रूप पूर्वश्लोकमें आया दोनों त्रिपाद्ब्रह्म नहीं हैं । ये दोनों परिच्छिन्न हैं । भले भूमलिङ्गका ऊपर नीचे आदि अन्त न मिला हो । फिर भी ब्रह्माविष्णुके

मध्यमात्रमें था अतः परिच्छिन्न है ही। वैसे पूर्वश्लोकोक्त विराट्‌रूप भी वड़ा आकार हो सकता है। अपरिच्छिन्न नहीं। अतः यह सब एकपाद्‌ ही है॥ ५॥

अल्परूपमहालिङ्गविराड्रूपत्रिपात्सु हि।
उपास्यं कतमद्रूपं तत्रेदं पूर्वपक्ष्यते॥ ६॥
अल्पस्याल्पफलं नूनं महतश्च महत् फलम्।
यत्क्रतुन्यायतः सिद्धं तथा च भगवानपि॥ ७॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ ८॥
अल्पे मेधा मतिर्येषां ते भवन्त्यल्पमेधसः।
परिच्छिन्नार्थविषयोपासकास्तेन दर्शिताः॥ ९॥
अल्पस्वरूपस्तवनमपि नातिप्रयोजनम्॥ १०॥
न च वाङ्मनसातीतं स्तोतव्यं न भवेदिति।
तर्ह्युपायान्तरं तत्र समन्विष्य विधीयताम्॥ ११॥

चार स्वरूप उपस्थिति हुए हैं। पद्मासनासीनादि अल्परूप, अनाद्यनन्त ज्योतिर्लिङ्ग, विराट्‌स्वरूप और त्रिपात्स्वरूप। इनमें उपास्यरूप कौनसा है ? पूर्वपक्ष यह है कि अल्पका अल्पफल होगा, महानका महाफल होगा। यह "यो यत्क्रतुर्भवति" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है। भगवान भी गीतामें कहते हैं कि अल्परूपोपासकोंका फल अन्तवाला होता है। देवपूजक देवोंको प्राप्त होंगे। मेरे पूजक मुझे प्राप्तहोंगे। अल्पमेधसःमें सप्तमीबहुव्रीहि है। अल्पमें जिसकी मेधा = मति = उपासना हो। अतः अल्पस्वरूपकी उपासनोपयोगी स्तुति यहाँ व्यर्थ है। बल्कि विराट्‌स्वरूपस्तुति भी उत्तम प्रयोजनयुक्त नहीं है। यदि कहो कि वाङ्मनसासीत त्रिपाद्रूप स्तोतव्य नहीं होता है तो दूसरा उपाय ढूंढ़कर उसे अपनाइए॥ ६-११॥

अत्रोच्यतेऽत्र नैवाल्पमहत्त्वादिविचारणा।
अल्पेन महता वापि तुरीयं गम्यते पदम्॥ १२॥
अस्थूलमनणुश्रुत्या विनिरूपितमक्षरम्।
स्थूलरूपेण न स्थूलमणुना नाणु तद्भवेत्॥ १३॥
स्थूलरूपाणुरूपाभ्यामुपलक्ष्य महेशितुः।
महिमा स्तूयते सोऽयं न स्थूलो नाप्यणुर्मतः॥ १४॥
अर्वाचीनपदं धत्ते तद्‌बोधाय महेश्वरः।
अल्पेऽपि पूर्णमेवेशरूपं तावत्प्रकाशते॥ १५॥

सुषिराद्वा गवाक्षाद् वा कपाटाद्वा बहिर्गृहाद् ।
दृश्यतां भास्करः किं स स्थूलाण्वादिर्भवेदतः ॥ १६ ॥

अर्वाचीनपदेनापि द्वारेणेशो विलोक्यते ।
अल्पेऽपि पूर्णमेवेशरूपं सत्यं प्रकाशते ॥ १७ ॥

सिद्धान्त यह है कि यहाँ अल्प या महानका विचार नहीं है। अल्प हो या महान हो उससे तुरीयपाद ही प्राप्य है। श्रुतिने अक्षरको अस्थूल और अनणु बताया है। वह स्थूलरूपसे स्थूल नहीं होता, सूक्ष्मरूपसे सूक्ष्म नहीं होता। स्थुलरूप हो या अणुरूप, उससे महेश्वरकी पूर्ण महिमा उपलक्षित कर भजा जाता है। वह महिमा स्थूल या अणु नहीं, किन्तु पूर्ण ही है। इसीके लिये भगवान अर्वाचीनरूप धारण करते हैं। अल्पमें भी पूर्ण ही ईशरूप प्रकाशित होता है। चाहे छेदसे देखो, चाहे खिड़कीसे देखो, चाहे दरवाजेसे, चाहे घरसे बाहर आकर देखो सूर्य तो सूर्य ही है। वह द्वारभेदसे स्थूल या अणु नहीं होता। वैसे अल्प अर्वाचीनपदसे ईशका ही ईक्षण होता है। अल्पमें भी पूर्ण सत्य का प्रकाश होता है ॥ १२-१७ ॥

नन्वस्य महिमा तादृग् घटादावपि विद्यते ।
उपास्यं कुत एवार्वाचीनमात्रमतो भवेत् ॥ १८ ॥

सत्यं तद्दर्शनस्थानमर्वाचीनपदं मतम् ।
तदर्थमेव तद्रूपग्रहणस्य निरूपणात् ॥ १९ ॥

यथैव ब्रह्मणः सर्वव्यापित्वेऽपि घटादिकम् ।
न वेश्म, पुण्डरीकं हि दहरं हृत्तथोच्यते ॥ २० ॥

रहस्यमेतद् भगवान् प्रतिबोधयितुं प्रभुः ।
अल्परूपे दधौ गङ्गामणुवद् व्यापिनीं दिवि ॥ २१ ॥

शङ्का होगी कि ऐसी व्यापक महिमा भगवानकी घटादिमें भी है, घटादिद्वारा भी उसको देख सकते हैं तो अर्वाचीनपद ही उपास्य क्यों ? उत्तर है—महिमादर्शनस्थान अर्वाचीनपद ही है। तदर्थ ही तो भगवानने उस रूपको धारण किया। जैसे ब्रह्म सर्वव्यापक है, फिर भी घटादि वेश्म (उपलब्धि स्थान) नहीं है। दहर हृत्पुण्डरीक ही ब्रह्मोपलब्धिका स्थान है। इस रहस्यको बोधित करनेके लिये व्यापक गङ्गाको अल्परूपमें अणु-समान ग्रहण किया ॥ १८-२१ ॥

अल्परूपेऽपि महिमा पूर्ण एवावतिष्ठते ।
तत्रैव वीक्ष्यते गङ्गा व्यापिन्यप्यणसंनिभा ॥ २२ ॥

परम शिवके अल्परूप पद्मासनासीन शङ्करमें पूर्ण ही महिमा स्थित है। उसी महिमामें अणुवत् व्यापक गङ्गा दीखती है ॥ २२ ॥

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते ।
जगद् द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥१७॥

आकाशमें व्यापक, तारागणोंसे जिसके उद्भूत फेनोंकी कांति कई गुनी बढ़ी हुई है, ऐसा (स्वर्गगङ्गाका) जलप्रवाह हे भगवन् ! आपके मस्तकमें एक बूँदके समान छोटा दीखने लगा, जिससे ही पृथिवी सप्तसमुद्रवलयित होकर द्वीपाकार बनी, इतनेसे ही पुर्णमहिमायुक्त आपके दिव्य शरीरका अनुमान किया जा सकता है ॥ १७ ॥

तदत्राह वियद्व्यापी प्रवाहोऽपां जटासु ते ।
दृष्टः पृषततुल्यो हि महिमोन्नीयतां ततः ॥ २३ ॥

यही बात यहाँ बतायी जा रही है कि गगनव्यापक गङ्गाजलप्रवाह आपकी जटाओंमें बिन्दुतुल्य दीख पड़ा। इतनेसे महिमाका अनुमान लगा लो ॥ २३ ॥

भगीरथोऽतपत्पूर्वं तपः परमदारुणम् ।
आनेतुकामः पृथिवीं गङ्गां निश्चलमानसः ॥ २४ ॥

तुष्टास्य तपसा गङ्गा प्रत्यक्षं समुपागता ।
पप्रच्छ पुत्र किमति तपो घोरं समास्थितः ॥ २५ ॥

गङ्गाको पृथिवीपर लानेके लिये भगीरथने घोर तप किया। प्रत्यक्ष सामने आकर प्रसन्न गङ्गा पूछने लगी, पुत्र ! क्यों तप कर रहे हो ? ॥२४-२५॥

भगीरथः—उद्दिधीर्षे जगन्मातः पूर्वजान् दुर्गतिं गतान् ।
न हि त्वदीयसंस्पर्शं विना तेषां समुद्धृतिः ॥ २६ ॥

एतच्च कपिलः प्राह पूर्वजं भगवानृषिः ।
ततश्च त्वत्प्रसादार्थं तपो घोरं करोम्यहम् ॥ २७ ॥

पुरा हि सगरो राजा पूर्वजो यतमानसः ।
शतं संपादयामास क्रतून् मोक्षपरीप्सया ॥ २८ ॥
यज्ञे शततमे शक्रः शातक्रतवशङ्कया ।
राज्ञो जहार तुरगं यज्ञियं न परे विदुः ॥ २९ ॥

बबन्ध तं समानीय तुरङ्गं कपिलाश्रमे।
स्वर्गं चागान्निजस्थानाऽऽच्छेदशङ्काविवर्जितः ॥ ३० ॥

भगीरथने कहा—हे माता ! दुर्गतिप्राप्त अपने पूर्वजोंका उद्धार करना चाहता हूँ। आपके स्पर्शके विना उनका उद्धार नहीं होगा। यह बात महर्षि कपिलने हमारे पितामहको कहा था। इसलिये मैं तप कर रहा हूँ। काफी वर्ष पहले की बात है। हमारे पूर्वज राजा सगरने मोक्षार्थ सौ यज्ञ संपादन किया। इन्द्र को भय हुआ कि यह सगर) शतक्रतु इन्द्र होगा अतः अन्तिम यज्ञमें अश्वापहरणकर कपिलाश्रममें ले जाकर बाँधा। किसीको पता नहीं लगा। स्वर्ग छिन जानेके भयसे मुक्त होकर इन्द्र भी स्वर्ग चला गया ॥ २६-३० ॥

पुत्रान् षष्टिसहस्राणि सुमत्यां जनितान्नृपः।
तुरङ्गमपथं ज्ञातुमानेतुं चादिदेश सः ॥ ३१ ॥

परितोऽनवलोक्याश्वं नीतं पातालमेव तम्।
संचिन्त्य चखनुः पृथिवीं वीरा दर्पसमन्विताः ॥ ३२ ॥

ब्रह्मभारतयोर्मध्ये गर्तोऽयं सागरोऽभवत्।
मृदा चोद्धृतया तस्मात् पर्वताः संप्रजज्ञिरे ॥ ३३ ॥

राजा सगरने सुमति नामकी पत्नीसे उत्पन्न अपने साठ हजार पुत्रोंको घोड़के रास्तेका पता लगाने और लानेका आदेश दिया। चारों ओर देखनेपर उन्हें लगा कि अश्वको अवश्य पाताल ही ले गये होंगे। और वे पृथिवी खोदने लगे। बर्मा और भारतकी सटी हुई भूमिको खोदकर उन लोगोंने सागर (बङ्गालकी खाड़ी) बनाया। वहाँसे उठी मृत्तिकासे पर्वत बन गये ॥ ३१-३३ ॥

चिन्वन्त एवं संप्राप्ता आश्रमं सगरात्मजाः।
कापिलं यत्र तेऽपश्यन् बद्धं ताततुरङ्गमम् ॥ ३४ ॥

निमीलिताक्षमालोक्य कपिलं ते परस्परम्।
उज्जगुर्हयचौरोऽयं भीतस्तिष्ठति साधुवत् ॥ ३५ ॥

हन्यतां हन्यतामेष न दयामयमर्हति।
एवं कोलाहले नेत्रे महर्षिरुदमीलयत् ॥ ३६ ॥

इसप्रकार ढूंढते हुए सगरपुत्र कपिलआश्रम पहुंचे तो वहां घोड़ेको बंधे देखा। आंख मुंदकर बैठे हुए कपिलको देखकर वे आपसमें बोलने लगे—देखो यही चोर है, अब भयके कारण साधु जैसा बैठा है। मारो-

मारो इसे। यह दयापात्र नहीं। उसी कोलाहलमें महर्षिने आंख खोल कर देखा॥ ३४-३६॥

तदीयक्रोधनिष्पन्नो दावोपममहानलः।
सर्वांस्तान् भस्मसाच्चक्रे दृप्तान् सगरसंभवान्॥ ३७॥
अनाञ्जसमिदं प्राह भगवान् बादरायणिः।
यतात्मनां कथं क्रोधो मुक्तानां भवितुं क्षमः॥ ३८॥
किन्तु पातकचिन्तापि विमुक्तान् प्रति पातकम्।
तत्पापेनैव ते दग्धाः स्वयमेवावलेपिनः॥ ३९॥

भगवान कपिलकी आंखोंसे क्रोधदावाग्नि प्रकट हुई। उसमें सभी सगरपुत्र भस्मीभूत हुए। शुकदेवजी कहते हैं कि क्रोधाग्निकी कथा अयुक्त है। जितेन्द्रिय युक्त पुरुषको क्रोध नहीं होता। वास्तविकता यह है कि मुक्तपुरुषके प्रति पाप सोचना भी पाप है। उसी पापसे अहंकारी सगरपुत्र स्वयं जल मरे॥ ३७-३९॥

असमञ्जसनामासीत्केशिन्यां सगरात्मजः।
विरज्य शिश्रियेऽरण्यं तत्पुत्रस्त्वंशुमान् स्मृतः॥ ४०॥
नाशं सगरपुत्राणां पितृव्याणां निशम्य सः
पितामहहिताशंसुर्यातोऽन्वेषयितुं हयम्॥ ४१॥

राजा सगरके ही केशिनी नामकी दूसरी पत्नीमें असमञ्जस नामक एक पुत्र हुआ था। वह विरक्त होकर जंगल गया। उसका पुत्र अंशुमान् हुआ। पितामह (सगर) का हित चाहते हुए अंशुमान् घोड़ा ढूंढने निकला॥ ४०-४१॥

पितृव्यखातमार्गेण सोऽन्वगात्कपिलाश्रमम्।
महावर्चसमालोक्य मुनिं स प्रणतः पदोः॥ ४२॥
नीयतां तुरगः शक्रहृत आधीयतां मखः।
इत्युक्तः कपिलेनेदमंशुमानाह सारवित्॥ ४३॥
वहामि शिरसाऽऽदेशं भवन्तं प्रार्थयामि च।
एषां मम पितृव्याणामुद्धाराय दयां कुरु॥ ४४॥
एतेषां पुनरुद्धारो गङ्गायाः स्पर्शतो भवेत्।
यत्नं तदर्थमाधेहीत्युक्त्वा मौनं मुनिः स्थितः॥ ४५॥

अपने पितृव्योंके खोदे गये मार्गसे अंशुमान कपिलाश्रम पहुंचा। महातेजस्वी ऋषिको प्रणाम किया। जब कपिलने कहा—घोड़ेको ले जाओ और यज्ञ पूर्ण करो तो सारवेत्ता अंशुमान बोला-भगवन्! आपका

आदेश मैं मस्तक पर धारण करता हूं, प्रार्थना इतनी है कि मेरे इन पितृव्योंके उद्धारके लिये दया करें। इनका उद्धार गंगाके स्पर्शसे होगा तदर्थ यत्न करो इतना कहकर ऋषि मौन हो गये ॥ ४२-४५ ॥

यतमानोऽप्यसिद्धार्थोंऽशुमान् कालवशं गतः।
तत्पुत्रो मज्जनयिता दिलीपोपि तथा गतः ॥ ४६ ॥
अहं तु भवतीं देवीमानेतुं कृतवान् तपः :
अवतीर्य भुवं गङ्गे पूर्वजान्नः समुद्धर ॥ ४७ ॥

प्रयत्न करनेपर भी असफल होकर अंशुमान कालकवलित हुए। तथा मेरे पिता दिलीप भी असफल ही रहे। मैंने आपको लानके लिये तप किया। अब हे गंगे ! आप हमारे पूर्वजोंका उद्धार करो ॥ ४६-४७ ॥

गङ्गाः—सत्यं राजन् द्वयमिदं चिन्तनीयं तु विद्यते।
पृथ्वीविदारणं वेगं मम को धारयिष्यति ॥ ४८ ॥
किं चामृजन्ति वृजिनं मयि पातकिनो निजम्।
तदघं मार्ज्मि कुत्राहं राजन्नेतद्विचिन्तय ॥ ४९ ॥

गंगा बोली हे राजन् ! दो बात यहां सोचनेकी है, एक यह कि पृथवीको फाड़ डालनेवाले मेरे वेगको कौन थामेगा ? दूसरी यह है कि पापी अपना पाप मुझमें धोकर गिरायेंगे उस पापको मैं कहां धोऊंगी ? ॥ ४८-४९ ॥

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरः ॥ ५० ॥
हर एव परं घोरं वेगं ते धारयिष्यति।
इत्युक्त्वा तां तपश्चक्रे हराय स भगीरथः ॥ ५१ ॥

शान्त ब्रह्मनिष्ठ संतसंन्यासी परमपवित्र होते हैं। अपने अंगसंससे वे आपके पापको जला देंगे। क्योंकि उनमें अघदाहकारी हर बैठे हैं। भगवात हर ही आपके घोर वेगको भी धारण करेंगे। इतना कहकर भगीरथने शंकरकी तपस्या की ॥५०-५१ ॥

तपसा भगवांस्तुष्टः प्रार्थितश्च महीक्षिता।
वेगं धारयितुं तस्याः स्वीचकार महेश्वरः ॥ ५२ ॥

तपसे शंकर भगवान संतुष्ट हुए और भगीरथकी प्रार्थनापर गंगावेगको धारण करनेके लिये भी राजी हो गये ॥ ५२ ॥

ज्ञात्वैनद् गर्विता गङ्गा कथं मां धारयत्यसौ ।
पृथ्वीमुत्पाट्य यास्यामि पातालममुना सह ॥ ५३ ॥
इति व्यवसिता घोरं वेगमास्थाय साऽपतत् ।
जटां कटाहसंकाशां विधायातिष्ठदीश्वरः ॥ ५४ ॥

यह जानकर गंगा गर्वसे बोली:—शंकर मेरे वेगको कैसे धारेंगे ? मैं पृथवीको फाड़कर शंकरके साथ पाताल जाऊंगी । ऐसा निश्चय कर अनिवेगसे वह नीचे की ओर चल पड़ी । शंकरजी भी कढाईके समान जटा बनाकर खड़े रहे ॥ ५३-५४ ॥

वियद्व्यापी०

सा वियद्व्यापिनी तारागणैर्द्विगुणितप्रभा ।
फेनोद्गमैस्तज्जटायां लघ्वी पृषतवत् स्थिता ॥ ५५ ॥
संभ्रमेण भ्रमन्ती च तरङ्गततिबन्धुरा ।
नावकाशं विनिर्गन्तुं गङ्गा लेभे जटान्तरात् ॥ ५६ ॥

आकाशव्यापिनी फेनबुद्बुदोंके उद्गमसे तारागणोंसे दुगुनी प्रभावाली वह गंगा शंकरजीकी जटामें एक छोटी बूंदके समान रह गयी । बाहर निकलनेके लिये संभ्रमके साथ जटामें घूम रही थी । लहरोंसे शोभायमान हो रही थी । किन्तु जटाके अंदरसे बाहर निकलनेके लिये उसे मार्ग नहीं मिला ॥ ५५-५६ ॥

तद् दृष्ट्वा हन्त पिष्टोऽहमेतत्कलहमध्यगः ।
नालप्सि गङ्गामिति स पुनरेव तपोऽतपत् ॥ ५७ ॥
तुष्टो भगीरथस्यैवं प्रयत्नेन महेश्वरः ।
का वाञ्छा तेऽधुना पुत्र तद्ददामीत्यवोचत ॥ ५८ ॥

यह देखकर भगीरथने कहा—हाय इन दोनोंके कलहके बीचमें मैं पिस गया । गंगा मुझे प्राप्त नहीं हुई । भगीरथने फिरसे तप किया । भगवान शंकर भगीरथपर पुनः प्रसन्न हुए । बोले कि हे भगीरथ ! अब तुम्हारे मनमें क्या इच्छा है उसे मैं देता हूं ॥ ५७-५८ ॥

प्रभो यदर्थं तप्तोऽहं गङ्गा लब्धा न सा मया ।
बिन्दुवत्त्वज्जटास्वेषा लीनेव परिदृश्यते ॥ ५९ ॥
तन्मे प्रसीद भगवन् समुद्धर्तुं स्वपूर्वजान् ।
इत्युक्तो व्यसृजल्लध्वीमेकां धारां महेश्वरः ॥ ६० ॥

भगीरथ बोला—प्रभो ! जिसके निमित्त मैंने तप किया वह गंगा मुझे प्राप्त नहीं हुई। वह तो बिन्दुके समान आपकी जटामें समायी हुई दीख रही है। अतः आप मुझ पर प्रसन्न हों जिससे मैं अपने पूर्वजोंका उद्धार करूं। इस प्रकार कहनेपर शंकर भगवानने अपने मस्तकसे गंगाकी एक छोटी धारा नीचेकी ओर छोड़ी ॥ ५९-६० ॥

तामादाय ततो गङ्गां गङ्गाद्वारादिमार्गतः।
कपिलाश्रममागात्स यत्र दग्धाः स्वपूर्वजाः ॥ ६१ ॥
प्लावितायां च तद्भूमौ तरसा सगरात्मजाः।
दिव्यान् देहान् समास्थाय स्वर्याता दिव्यवर्चसः ॥ ६२ ॥

एक धारारूपी उस गंगाको लेकर गंगाद्वार (हरिद्वार) आदि मार्गसे भगीरथ कपिल आश्रम पहुंचा, जहां उनके पूर्वज सगरपुत्र जल गये थे। जब वह भूमि गंगाजलसे प्लावित हुई उसी वक्त सगरपुत्र दिव्यशरीर धारणकर दिव्य तेजोयुक्त होकर स्वर्ग चले गये ॥ ६१ ६२ ॥

भागीरथ्या तया गर्ताः सगरात्मजखानिताः।
पूरिताः सकला एवागस्त्यपीताश्च वार्धयः ॥ ६३ ॥

उसी भागीरथीसे सगरपुत्रोंके खोदे गर्त भरकर सागर बने और अगस्त्यके द्वारा पीत जलहीन सभी समुद्र भी भर गये ॥ ६३ ॥

जगद् द्वीपाकारं

यदीयधारया लघ्व्या द्वीपाकारमिदं जगत्।
कृतं पयोधिवलयं सा धारा कीदृशी भवेत् ॥ ६४ ॥
सप्तद्वीपवती पृथ्वी सप्तसागरवेष्टिताः।
सप्तसागरतोयानि गङ्गाधारोद्भवानि यत् ॥ ६५ ॥

जिसकी एक छोटी धारासे यह पृथवी द्वीपाकार हुई मानो पृथवीने सागरका वलय पहन लिया, वह धारा कैसी, यह अंदाजा स्वयं लगा लो। सात सागरोंसे वेष्टित होनेसे यह पृथवी सप्तद्वीपवती कहलाती है और सात सागरका पानी गंगाकी उस धारासे उत्पन्न है। इस दृष्टिको रखकर अंदाजा करो ॥ ६४-६५ ॥

यदीया सा लघुर्धारा मूलगङ्गा कियत्यसौ।
या निनीषति पातालं सप्तद्वीपवतीं भुवम् ॥ ६६ ॥

जिसकी एक छोटी धारा सात समुद्र बनाती है वह मूलगंगा कितनी बड़ी होगी, यह सोच लो। यह ध्यानमें रखते हुए कि वहां गंगा सप्तद्वीपवती

पूरी पृथवीको (और शंकर को भी) पाताल ले जाने को सोच रही थी ॥ ६६ ॥

अनुक्तसिद्धा सा हि वियद्व्यापिनीति मनीषिणाम् ।
कथं प्लावयितुं पृथ्वीं प्रयतेतातथाविधा ॥ ६७ ॥

विना कहे ही गंगा वियद्व्यापी है यह बुद्धिमानोंके सामने सिद्ध होता है। अन्यथा वह पृथवीको डुबानेका प्रयत्न ही कैसे करती ? ॥ ६७ ॥

सा जटायां भगवतः शंभोः पृषतवत्स्थिता ।
वियतोऽप्यधिका सिद्धा जटाऽतोऽस्य भविष्यति ॥ ६८ ॥

वह गंगा शंकर भगवानकी जटामें बिन्दुके समान रह गयी। अतएव जटा आकाशसे भी अधिक सिद्ध होती है ॥ ६८ ॥

व्योमकेशो भवो भीम इति कोशेषु दर्शितम् ।
व्योम्नि गङ्गा जटायां चेज्जटा व्योमेति गम्यते ॥ ६९ ॥

शंकरजीके नामोंमें व्योमकेश नाम भी आता है। व्योम ही जिसका केश हो वही व्योमकेश है। ठीक है। व्योममें गंगा बतायी। इधर जटामें गंगा बतायी। तब व्योम और जटा एक सिद्ध हुए ॥ ६९ ॥

ननु च व्योमकेशैक्ये व्योमव्याप्ता सुरापगा ।
कथं दृष्टा पृषतवत् केशे तद्व्यापिकापि यत् ॥ ७० ॥
उच्यतेऽत्रान्तरिक्षं हि वियच्छब्दविवक्षितम् ।
पृथ्वीस्वर्गान्तरालस्थं व्योम तु व्यापकं नभः ॥ ७१ ॥

शंका होगी कि व्योम और शंकरकेश एक हैं तो व्योमव्यापक जो हो वह केशव्यापक होना चाहिये। तब जटारूपी केशमें बिन्दुके समान क्यों कह रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि वियद्व्यापीमें वियत् का अन्तरिक्ष अर्थ है। पृथवी और स्वर्गके मध्यस्थानको अन्तरिक्ष कहते हैं। व्योम व्यापक आकाशका नाम है ॥ ७०-७१ ॥

शिरो धारयते केशान् बिभर्तीशशिरो नभः ।
अम्बरान्तधृतेर्मूर्धाऽतोऽक्षरं कृत्तिवाससः ॥ ७२ ॥

मस्तक केशको धारण करता है। शंकर मस्तक व्योमरूपी केश धारण करता है। "अक्षरमम्बरान्तधृतेः" से शिवमस्तक अक्षरब्रह्म ही है ॥ ७२ ॥

अम्बरान्तधरं कस्मादल्पं स्याद् भगवद्वपुः ।
सिद्धं ततस्तद्वपुषा परिपूर्णमुपास्यत ॥ ७३ ॥

भक्त्यर्थमल्पवद् दृश्यमर्वाचीनपदं शिवः ।
प्रादुर्भावयते तुर्यप्राप्तये करुणानिधिः ॥ ७४ ॥

आकाशपर्यन्त सबको धारण करनेवाला शंकरका शरीर क्यों अल्प होगा ? अतः उस वपुसे परिपूर्णकी ही उपासना होती है। भक्तिके लिये अल्पवत् साकारवत् अपनेको अर्वाचीनरूपेण भगवान प्रादुर्भूत करते हैं । वे करुणासागर तुरीयकी प्राप्ति करानेके लिये ही ऐसा करते हैं ॥ ७३-७४ ॥

व्यापकं करुणासिन्धुमर्वाचीनपदस्थितम् ।
भक्तोद्धारैकनिरतं वन्दे गङ्गाधरं हरम् ॥ ७५ ॥

व्यापक होते हुए भी करुणानिधान भक्तोद्धारार्थ अर्वाचीन अल्परूपमें स्थित दीखते हैं । ऐसे गंगाधर शंकर भगवानकी हम वन्दना करते हैं ॥ ७५ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ स्पन्दः सप्तदशो गतः ॥ १७ ॥



ॐ

अष्टादशः श्लोकः

सर्वव्यापकतेशस्य पूर्वश्लोके प्रमापिता ।
गङ्गावृत्तान्ततः पुष्पदन्ताचार्येण गूढतः ॥ १ ॥
भूमैव दृश्यते प्राज्ञैरर्वाचीनपदात्मना ।
व्यापकत्वं पदे तस्मादर्वाचीनेऽपि गम्यते ॥ २ ॥
सर्वाधीश्वरता तस्मिन्नधुना प्रतिपाद्यते ।
सापि पूर्ववदेवास्मिन्नर्वाचीनेऽपि बुध्यते ॥ ३ ॥

पूर्व श्लोकमें गंगावृत्तान्तमे पुष्पदन्ताचार्यने शंकर भगवानकी सर्वव्यापकता प्रतिपादित की । अर्वाचीनरूपसे भूमाका ही दर्शन होता है । अतः अर्वाचीन पदमें भी व्यापकता अनुभूत होती है । अब इस श्लोकमें परमेश्वरकी सर्वाधीश्वरता बतायेंगे । वह भी अर्वाचीन पदमें भी पूर्ववत् ज्ञात होता है ॥ १-३ ॥

चक्रे रथादीन् क्षोण्याद्यैः सर्वस्यातो विधेयता ।
सर्वाधीश्वरता तेन शम्भोर्निगदभाषिता ॥ ४ ॥
रथादिकरणं क्षोण्यादिभिर्नान्यत्र दृश्यते ।
यथास्थितेरिति पुनस्तत्राप्याश्चर्यमूर्जितम् ॥ ५ ॥
क्षोण्यादींल्लेशतोऽप्येव देवोऽपरिणमय्य हि ।
रथादीन्निर्मिणोति स्म किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ६ ॥
लीलैव तदियं शम्भोस्तच्चाचार्येण भाषितम् ।
विधेयैः खलु क्रीडन्त्य इत्येवं वदता स्फुटम् ॥ ७ ॥
जगन्निर्माणमप्येवं लीलामात्रं महेशितुः ।
यथास्थिते ब्रह्मणीति तदप्येतेन सूचितम् ॥ ८ ॥
रथाद्याकारतो नैव क्षोण्याद्याः परिणेमिरे ।
ब्रह्मणः परिणामित्ववादोऽनेन निराकृतः ॥ ९ ॥

पृथवी आदिको रथ बनाया तो सिद्ध हुआ ये पृथवी आदि सभी शंकरके स्वाधीन हैं, अतः सर्वाधीश्वरता स्पष्टोक्त है। पृथवी आदिसे रथादि और किसीने नहीं बनाया। उसमें और विशेषता यह है कि रथादि बननेपर भी पृथिवी आदि जैसे थे वैसे ही रहे। पृथिवी आदिमें लोग

रहते थे। उससे कोई परिणामादि नहीं हुआ और रथादि बन गये। इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होना चाहिये। कहना पड़ेगा कि भगवानकी यह लीलामात्र है। यही बात "विधेयैः क्रीडन्त्य": से पुष्पदन्ताचार्यने कहा। विधेयपदसे स्वाधीनता सूचित होती है और क्रीडन्त्यःसे लीलामात्रता। वैसे ब्रह्ममें कोई परिणाम नहीं होता यह भी सूचित होता है। रथादिके रूपमें पृथवी आदिका परिणाम नहीं हुआ। अतएव ब्रह्मपरिणामवाद निरस्त होता है॥ ४-८॥

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि—
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः॥ १८॥

पृथवीको रथ, ब्रह्माको सारथि, सुमेरुको, धनुष, सूर्यचन्द्रको रथचक्र और विष्णुको बाण जो बनाया, त्रिपुररूपी तृणको जला डालनेका यह आडम्बर मात्र नहीं तो क्या ? हाँ, अपने स्वाधीन उपकरणों से लीला करनेवाली ईश्वरेच्छायें पराधीन नहीं होती॥ १८॥

तारकस्य सुतो ज्येष्ठस्तारकाक्षाभिधोऽभवत्।
अवरौ कमलाक्षश्च विद्युन्माली च तत्सुतौ॥ १०॥
तपस्यद्भ्यो विधिस्तेभ्यो विश्वकर्मविधापितान्।
प्रादाद्विमानान् सौवर्णराजतायसलक्षणान्॥ ११॥
एते वर्षसहस्रे हि संगच्छन्ते परस्परम्।
तदैकेनेषुणा भिन्द्यादसंभवरथस्थितः॥ १२॥
मध्याह्नाभिजिते काले पुष्यस्थेन्दौ पुराणि यः।
स मृत्युर्भवितास्माकं नान्यथेति महासुराः॥ १३॥
सर्वं त्रैलोक्यमुत्सार्य प्रविश्य नगराणि ते।
कुर्वन्ति स्म महद्राज्यं शिवमार्गपरायणाः॥ १४॥
तेषु सन्ति विमानेषु वाप्युद्यानवनादयः।
प्रासादनगरग्रामा विप्रादींस्ते न्यवासयन्॥ १५॥

तारकासुरके तीन पुत्र हुए। तारकाक्ष बड़ा था। कमलाक्ष तथा विद्युन्माली छोटे थे। अमरताके लिये उन्होंने ब्रह्माकी तपस्या की। किन्तु वह दुर्लभ होनेसे ब्रह्माने तीन विमान जो विश्वकर्माके द्वारा निर्मित थे उन्हें दिये। सुवर्णमय, रजतमय और लोहमय ऐसे तीन विमान थे। एक-हजार वर्षमें ये तीनों मिल जाते हैं (एक लाईनमें आ जाते हैं)। तब

मध्याह्नमें अभिजित मुहूर्तमें पौषमासमें असंभवरथमें स्थित होकर एक ही बाणसे तीनोंको जो तोड़ेगा वही हमें मारेगा यह वर प्राप्त हुआ। यह सोचकर तीनों लोकोंको किनारे कर (जीतकर) महान राज्य उन्होंने किया। साथ ही वे शिवपूजन भी करते रहे। उन विमानोंमें तलाव, बगीचे, जंगल, प्रासाद, नगर, ग्राम आदि सब थे। ब्रह्मणादि वर्णाश्रमवाले भी रहते थे ।। १०-१५ ।।

तपःपूतहृदोऽप्येते प्रथमं धर्मतत्पराः ।
शनैरसुरतामेव प्रापुर्देवादिमर्दिनीम् ।। १६ ।।
दुर्जनः साधुतां नैति शिक्ष्यमाणोपि सर्वथा ।
पयोघृतस्रुतो निम्बः कटुकत्वं न मुञ्चति ।। १७ ।।
अभिभूतस्वभावोऽपि पूर्वं भावं भजेत् पुनः ।
उष्णाम्भः शीततां याति स्वभावो दुरतिक्रमः ।। १८ ।।
अन्यथाकारितोऽप्येव याति स्वाभाविकीं गतिम् ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। १९ ।।

तपसे पवित्र हृदय होनेपर भी त्रिपुर धीरे धीरे असुरताको ही प्राप्त हुए। कितने ही शिक्षित करो फिर भी दुर्जन साधु नहीं हो सकता। दूध, घी सींचनेसे नीम कहीं मीठी होती है ? हां, कभी स्वभाव अभिभूत होगा। जैसे अग्निपर रखनेसे जलका। किन्तु फिर वह अपने आप ठंडा होता है। क्योंकि स्वभावका अतिक्रमण नहीं हो सकता। थोड़ी देरके लिये अन्यथा हो जाय, पर तुनः प्रकृतिको प्राप्त होगा। निग्रह व्यर्थ सा होगा ।। १६-१९ ।।

आसुरं भावमाश्रित्य चिक्षिपुस्तेऽसुराः सुरान् ।
मर्दितास्तेऽखिला देवा ब्रह्माणं शरणं ययुः ।। २० ।।
ते विष्णुमुपसंजग्मुर्देवाः सद्यः सवेधसः ।
असामर्थ्यं निजं तेषां भेदने विष्णुरब्रवीत् ।। २१ ।।
मिलित्वा ते समायाताः कैलासं धाम शूलिनः ।
तुष्टुवुश्चार्तनादेन रक्ष रक्षेति भाषिणः ।। २२ ।।

आसुर भावमें आकर उन लोगोंने देवताओंको उखाड़ फेंका। असुरों से मर्दित देवता ब्रह्माकी शरणमे गये। वे वहांसे विष्णुके पास गये। विष्णुने अपनी असमर्थता व्यक्त की तो शंकर भगवानके निवासस्थान कैलासम आकर वे स्तुति करने लगे और आर्तनादसे रक्ष रक्ष कहने लगे ।। २०-२२ ।।

तानाह भगवान् शंभुः सान्त्वयन्नखिलान् सुरान् ।
इमे लब्धवराः पुण्यलेशाज्जीवन्ति दानवाः ॥ २३ ॥

दौरात्म्यं ज्ञातमेतेषां त्रयाणां च सुरद्विषाम् ।
तेषां शान्ति करिष्यामि प्रतीक्षध्वमनेहसम् ॥ २४ ॥

अयं तु त्रिपुराध्यक्षः पुण्यवान् वर्ततेऽधुना ।
यत्र पुण्यं प्रवर्तेत न हन्तव्यो बुधैः क्वचित् ॥ २५ ॥

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।
धर्मे मयि च विद्वेषः सोऽयमाशु बिनश्यति ॥ २६ ॥

भगवान शङ्कर सांत्वना देते हुए बोले ये वरदानसे और लेश पुण्यसे जी रहे हैं, इनकी दुरात्मताको मैं जानता हूँ। शान्ति अवश्य करूँगा। किन्तु समयकी प्रतीक्षा करनी होगी। त्रिपुराध्यक्ष तारकाक्ष अभी पुण्यवान है। जिसमें पुण्य है उसका वध नहीं होता। जब देवताओंमें, वेदोंमें, गायोंमें, ब्राह्मणोंमें, साधुओंमें, धर्ममें और भगवानमें इनका द्वेष होगा तब शीघ्र-नाश होगा ॥ २३-२६ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हिते शंभौ देवा इदमचिन्तयन् ।
कथं त्रिपुरपुण्यान्तो भवेन्नाशो यतोऽस्य हि ॥ २७ ॥

विष्णुमासाद्य ते सर्वे वृत्तमेतन्न्यवेदयन् ।
किंचिद्विचिन्त्य विष्णुश्च तत्रोपायमसाधयत् ॥ २८ ॥

असृजन्मुण्डिनं म्लानवस्त्रं गुम्फिसमन्वितम् ।
दधानं पुञ्जिकां हस्ते चालयन्तं पदे पदे ॥ २९ ॥

इतना कहकर शङ्करभगवान अन्तर्धान हो गये, देवोंने सोचा त्रिपुरोंका पुण्यनाश कैसे होगा ? वे विष्णुके पास आकर समस्त वृत्तान्त बोले। भगवान विष्णुने कुछ सोचकर एक व्यक्तिको पैदा किया जो मुण्डी, मलिनाम्बर, गुम्फीपात्रधारी था। पुञ्जिका लेकर पद पदमें उसे हिलाता था ॥ २७-२९ ॥

तमाह भगवान् विष्णुररिहन्नामभाग् भव ।
मोहयेमान् दितिसुतान् सर्वांस्त्रिपुरवासिनः ॥ ३० ॥
पापभाक् स्यामहमिति मा शङ्किष्ठाः स्वचेतसि ।
हरं पापहरं नित्यं स्मर त्वं त्रिपुरान्तकम् ॥ ३१ ॥
अहिंसां परमं धर्मं लोकानुपदिशाखिलान् ।
निहते त्रिपुरे सर्वलोकश्चैव प्रसीदति ॥ ३२ ॥

इति धृत्वा हरेराज्ञां स ययौ त्रैपुरं पुरम् ।
मध्वालापेन तत्रत्यान् वशीचक्रे निवासिनः ॥ ३३ ॥

कर्णाकर्णिकया तस्य महित्वं त्रिपुरोऽश्रृणोत् ।
श्रोतुं तस्य कथां सोऽपि समागच्छत् कदाचन ॥ ३४ ॥

उस पुरुषको भगवान विष्णुने कहा–तुम्हारा नाम अरिहन् होगा। तुम इन त्रिपुरवासियोंको मोहित करो। मुझे पाप लगेगा ऐसी शंका न करो। त्रिपुरान्तकरूपमें हरस्मरण करो तुम्हें पाप नहीं लगेगा। अहिंसा परम धर्म है ऐसा उपदेश दो। त्रिपुरवधसे लोग प्रसन्न होंगे। वह भी पुण्य है। इस प्रकार विष्णुआज्ञा शिरोधार्यकर वह त्रिपुरमें आया। मधुरवचनोंसे सबको वशमें किया। उसकी महिमा धीरे धीरे त्रिपुरके कानमें भी पहुँची। एकबार वह भी कथा श्रवणार्थ आया ॥ ३०-३४ ॥

अहिंसा परमो धर्मो नास्ति किंचित्ततः परम् ।
हिंसां वेदोऽपि चेद् ब्रूयादधर्मः स परार्तिदः ॥ ३५ ॥

सुधामयवचोजालैरेवं स प्रत्यपादयत् ।
अधापयच्च सन्देहपदं वेदेषु लेशतः ॥ ३६ ॥

अहिंसा परम धर्म है। उससे बढ़कर कुछ नहीं। परदुःखकारी हिंसाको वेद भी यदि कहें तो भी अधर्म ही है। अमृतमयी वाणीसे इस प्रकार भाषणकर वेदोंमें थोड़ा सा संशय उसने कराया ॥ ३५-३६ ॥

प्रभावितो माध्यस्थिकैर्दीक्षां स त्रिपुरोऽग्रहीत् ।
शनैः शनैश्च वेदेभ्यो विमुखं त्रिपुरं व्यधात् ॥ ३७ ॥

अस्ति हिंसा क्वचिद्वेदे यज्ञादिकरणोचिता ।
तदप्रामाण्यमेव स्यात् प्राणिहिंसातिपातकम् ॥ ३८ ॥

मध्यस्थोंके द्वारा त्रिपुरको प्रभावित किया और उससे दीक्षा लिवाया। क्रमशः त्रिपुरको वेदविमुख किया। बोलने लगा—यज्ञार्थ वेदमें हिंसाका प्रतिपादन है। अतः वह अंश अप्रमाण ही है। क्योंकि प्राणिहिंसा अतिपातक है ॥ ३७-३८ ॥

वेदोक्तमखिलं कर्माप्यप्रमाणं सपातकम् ।
वेदोक्तकर्मरूपत्वाद् यथा हिंसा तथैव तत् ॥ ३९ ॥

इसके बाद वह और आगे बढ़ा—वेदोक्त सभी कर्म अप्रमाण हैं। क्योंकि वेदोक्त हैं। जैसे यज्ञहिंसा ॥ ३९ ॥

वेदोक्ताः सकला देवा अप्रमाणा असत्समाः ।
वेदोक्तत्वाद् यथा कर्म यज्ञहिंसादिलक्षणम् ॥ ४० ॥

न ब्रह्मा न हरिर्नैव शिवः प्रामाण्यमर्हति ।
साधुविप्रादयो नैव सप्रमाणाः श्रुतीरिताः ॥ ४१ ॥

इत्यादि बहुधा तस्य युक्त्याभाससमीरितम् ।
श्रुत्वा स भाषणं गीतमाधुर्यमधुरायितम् ॥ ४२ ॥

वैदिकं विजहौ धर्मं श्रद्धां पर्यत्यजद्धरे ।
क्रमेण चापतद् ध्वान्ते गतः श्वेताम्बरोऽप्यतः ॥ ४३ ॥

इसके बाद और आगे बढ़ा—वेदोक्त सभी देव अप्रामाणिक हैं, असत् हैं, क्योंकि वेदोक्त हैं। जैसे यज्ञहिंसादि कर्म। अतएव ब्रह्मा, विष्णु, शिव, साधु, ब्राह्मण आदि सभी अप्रामाणिक हैं। इस रीति कुयुक्तियोंसे नाना बातें और गीतमाधुर्ययुक्त भाषण सुनकर त्रिपुरने वैदिक धर्म छोड़ा और शङ्करमें श्रद्धा छोड़ी। कमशः वह घोर अंधकारमें पड़ा और श्वेताम्बर साधु भी वहाँसे चला गया ॥ ४०-४३ ॥

रथः क्षोणी····शर इति

अथ ता देवताः शंभुं समुपेत्य प्रणम्य च ।
अधर्मपरतां तेषां त्रिपुराणां व्यजिज्ञपन् ॥ ४४ ॥

तानूचे त्रिदशानीशो विधेर्लब्धवरानिमान् ।
हन्तुं विधयः संनाहस्स्वसंभवरथादिके ॥ ४५ ॥

संगच्छन्ते किलामूनि सहस्रे हायने सकृत् ।
यत्र कुत्रापि च स्थाने मेद्यानि स्युस्तदैव हि ॥ ४६ ॥

स्यन्दनं नीयते तत्र मुहूर्तः स टलिष्यति ।
तदा सहस्रवर्षीयप्रतीक्षा पुनरापतेत् ॥ ४७ ॥
तस्मात् क्षोणी भवत्वेषा सर्वत्र समुपस्थिता ।
रथोऽस्माकं दविष्ठं न भवेद्यत् पुरमेलनम् ॥ ४८ ॥
दुर्घटा तु रथस्य स्यात्तथाप्यभिमुखीकृतिः ।
सूर्यचन्द्रावतस्तस्य रथाङ्गे भवतामुभौ ॥ ४९ ॥
असाध्यमपरेषां स्याद् रथस्य परिवर्तनम् ।
अतः शतधृतिर्यन्ता भवत्वेष चतुर्मुखः ॥ ५० ॥
धनुर्दभ्रं न युज्येत कालस्तन्नयने व्रजेत् ।
अगेन्द्रोऽतः सुमेर्वाख्यो धनुर्दीर्घो भवत्वयम् ॥ ५१ ॥

कः शरः स्यादसंव्याप्तः कथं विध्येत् क्षणे परः ।
विष्णुर्व्यापक एषोऽस्तु शरस्तेन महारयः ॥ ५२ ॥

जब वे असुर धर्मविपरीत चलने लगे तो देवताओंने शङ्करको समाचार बताया। भगवान शङ्कर बोले—ब्रह्मासे वरप्राप्त इन्हें मारनेके लिये तैयारी करनी होगी। हजार वर्षोंमें एकबार ये तीनों मिलते हैं। तभी इनका भेदन करना चाहिये। इनका मिलन किसी भी स्थानमें हो सकता है। वहाँतक रथको ले जाते ले जाते मुहूर्त टल जायेगा। तब फिर हजार वर्षकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अतः यह पृथिवी ही रथ हो। जिससे लाने ले जानेकी खटपट न हो। वह सर्वत्र उपस्थित ही रहेगी। फिर जहाँ पुरत्रयमेलन होगा उस ओर रथको अभिमुख करना पड़ेगा। वह साधारण पहियोंसे सम्भव नहीं। अतः सूर्यचन्द्र ही रथचक्र हो। फिर इस रथको घुमाना साधारण व्यक्तिका काम नहीं। अतः ब्रह्मा ही सारथि हो। चतुर्मुख होनेसे झट उनको दिखाई पड़ेगा कहां पुरमेलन हो रहा है। छोटा धनुष हो तो फिर वही बात होगी कि इस किनारेसे उस किनारे ले जानेका विलम्ब होगा। अतः यह दीर्घ सुमेरु ही धनुष हो। लेकिन एकदेशस्थ बाणको त्रिपुर तक पहुँचनेमें देरी हुई तो ? अतः व्यापक विष्णु ही बाण ही ॥ ४४-५२ ॥

दिधक्षोः०

कोऽयमाडम्बरविधिर्दिधक्षोस्त्रिपुरं तृणम् ।
शतवषमलोकिष्टाप्येकदृष्टिरहो कुतः ॥ ५३ ॥
सत्यमेषा महीवेधःप्रभृतीनां महस्विनां ।
विधेयत्वं प्रदर्श्य स्वां प्रत्याययति भूमताम् ॥ ५४ ॥
प्राप्ते मुहूर्ते त्रिपुरे यावद्बाणं प्रमुञ्चति ।
तावत्तृतीयनेत्रोत्थस्त्रिपुरं पावकोऽदहत् ॥ ५५ ॥

त्रिपुरासुर तो तृण बराबर था उसे जलानेके लिये यह सब आडम्बर क्यों किया ? सौ वर्षतक क्यों एकटक देखते रहे ? बात सही है। किन्तु महातेजस्वी पृथिवी ब्रह्मा विष्णु आदिको क्रीडाके रूपमें रथादि बनाकर शंकरको अपना उत्कर्ष दूसरोंको जताना था। मुहूर्त ज्योंही आया शंकरजीने बाण छोड़ा। उसके पहुंचनेसे पहले ही तृतीयनेत्रोत्थ अग्निने त्रिपुरको भस्म कर डाला था। बाणने दग्धको ही दग्ध किया ॥ ५३-५५ ॥

परोक्षमपरोऽप्यर्थो बुधैराद्रियतेऽत्र हि ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यं पुरत्रयमुदीर्यते ॥ ५६ ॥

मायाविरचितत्वेन मयनिर्मितमुच्यते ।
आसुरीभावमापन्नो जीवः क्रीडति तेष्वसौ ॥ ५७ ॥

पुरत्रये क्रीडति यो जीव एष ततोऽखिलम् ।
विचित्रं सकलं जातमिति श्रुतिरवोचत ॥ ५८ ॥

विना त्रिपुरदाहं न जीवभावविनिर्हृतिः ।
युगपत्त्रयनाशः स्यादहंकारविनाशतः ॥ ५९ ॥

लयचिन्तादिकं तत्राडम्बरं क्रियते बुधैः ।
विज्ञानेनाग्निना दाहस्तेषामेकपदे भवेत् ॥ ६० ॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येतावज्ज्ञानमीरितम् ।
लौकिकास्तावता किं स्यादिति संशेरते जनाः ॥ ६१ ॥

तस्मात्सर्वोऽपि शास्त्रार्थस्तदर्थमुपयुज्यते ।
सर्वोऽप्याडम्बरविधिः सूच्यते कृत्तिवाससा ॥ ६२ ॥

यहां परोक्षरूपसे भी कुछ अर्थ विद्वत्सम्मत है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति यह पुरत्रय है। मयसम्बन्धी मायासे ये निर्मित हैं। असुरभाव (अहंकारादि) से जीव इनमें खेलता है। "पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवस्ततः सुजातं सकलं विचित्रं" ऐसी कैवल्य श्रुति है। जब तक तीन पुरोंका दाह नहीं होता। तब तक त्रिपुरनाश नहीं होता। तीनोंमें एकसाथ अहंकार नष्ट होगा तो जीवभाव नष्ट होगा। लयचिन्तनादि आडम्बर है। ज्ञानाग्निसे तीनोंका एकसाथ नाश होता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इतना ही ज्ञान है। किन्तु इतनेमें कैसे लोगोंको विश्वास होगा ? अतः शास्त्रार्थाडम्बर है। यहां सभी आडम्बर सूचित होता है ॥ ५६-६२ ॥

केचित् त्रिपुरनामानमामनन्त्येकमेव हि ।
अपरे त्रीञ्जगुर्दैत्यान् दर्शिताश्चात्र ते त्रयः ॥ ६३ ॥
जीवमेकं वदन्त्येके वेदशास्त्रार्थवेदिनः ।
प्राज्ञतैजसविश्वाख्यांस्त्रीनन्ये प्रतिपेदिरे ॥ ६४ ॥

श्रीमद्भागवतादिमें त्रिपुर नामके एक ही असुरका वर्णन है। शिवपुराणादिमें तीन असुर बताये हैं। जैसे हमने दिखाया भी है। जीव भी एक ही है ऐसा वेदवेत्ता मानते हैं। फिर भी विश्व तैजस प्राज्ञ भेदसे तीन भी मानते हैं ॥ ६३-६४ ॥

सामान्यानामपि धियः प्रभूणां न पराश्रिताः ।
परमोऽयं स्वतन्त्रस्तु भगवान् भूतभावनः ॥ ६५ ॥

अपोह्य जीवभावं स जगदुद्धरते प्रभुः ।
चोद्यं वा परिहारो वा तत्र नास्त्येव कश्चन ॥ ६६ ॥

सामान्य प्रभुकी भी बुद्धि स्वतन्त्र होती है। भूतभावन भगवान परम स्वतन्त्र हैं ही। जीवभाव मिटाकर वे जगदुद्धार करते हैं। उसमें आक्षेपपरिहारादिकी कोई गुंजाइश नहीं है ॥ ६५-६६ ॥

लीलाविलासिनो यस्य ब्रह्माद्या वशवर्तिनः ।
कैवल्यदाय शान्ताय नमस्तस्मै पिनाकिने ॥ ६७ ॥

लीलामात्रकारी जिसके वशमें सभी ब्रह्मादि हैं उस कैवल्यदायी शान्त भगवान शंकरको हम प्रणाम करते हैं ॥ ६७ ॥

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ स्पन्दश्चाष्टादशो गतः ॥ १८ ॥



एकोनविंशः श्लोकः

सर्वव्यापकतामूचे वियद्व्यापीत्यतो मुनिः ।
सर्वाधीश्वरतामेवं रथः क्षोणीत्यतः स्फुटम् ॥ १ ॥
इत्थं च सर्वकरणसामर्थ्यावगमे सति ।
भक्तानुग्राहितामाह परमोदारतामपि ॥ २ ॥

"वियद्व्यापी तारा" इत्यादिसे भगवानकी सर्वव्यापकता बतायी। "रथः क्षोणी यन्ता" से सर्वाधीश्वरता कही। तब सर्वत्र सबकुछ करनेमें सामर्थ्य अवगत हुआ तो अब अति उदारताके साथ भक्तोंपर अनुग्रह करनेकी बात बता रहे हैं ॥ १-२ ॥

तवैश्वर्यं परिच्छेत्तुमिति श्लोके हि यद्यपि ।
निजप्रकाशनं प्रोक्तं फलं स्वानुग्रहात्मकम् ॥ ३ ॥

किन्तु सामान्यरूपेण तदुक्तं न विशेषतः।
अत्रानुवृत्तेरुत्कर्षात् फलोत्कर्षो निगद्यते ॥ ४ ॥

यद्यपि "तवैश्वर्यं यत्नात्" इस श्लोकमें ही "स्वयं तस्थे" से स्वप्रकाशन रूपी स्वानुग्रह बताया। तथापि सामान्यरूपेण वहांपर कहा। "तव किमनुवृत्तिर्न फलति" यह सामान्यकथन है। निजप्रकाशन भी सामान्य है। अब विशेषरूपसे बताना है। अनुवृत्तिके उत्कर्षसे फलमें भी उत्कर्ष बता रहे हैं ॥ ३-४ ॥

प्रपञ्चं सृजति ब्रह्मा विष्णुस्तमभिरक्षति।
सृष्टिस्तु सरला तस्या रक्षा नामातिदुर्भरा ॥ ५ ॥

पुत्रोत्पादनमाञ्जस्याद् भवेन्नैव तु रक्षणम्।
तदर्थं जीवनं सर्वं जनकैर्विनियोज्यते ॥ ६ ॥

कुर्वन्ति पशवोऽप्येव तनयोत्पादनं बहु।
इयं तु महती सृष्टिप्रक्रियाऽसंशयं विधेः ॥ ७ ॥

ईशितुः प्रकृतौ सत्यां सामन्या स्यान्महत्यपि।
तथा च वैधसी सृष्टिर्नासामान्या भवेदियम् ॥ ८ ॥

अस्ति हि प्रकृतिस्तावच्छक्तिरूपा महेशितुः।
रक्षा तु प्रकृतौ सत्यामप्यसामान्यलक्षणा ॥ ९ ॥

ब्रह्माजी प्रपंचको रचते हैं। विष्णुभगवान रक्षा करते हैं। किन्तु सृष्टि सरल है। रक्षा दुर्भर है। सभी आसानीसे पुत्रोत्पादन करते हैं। किन्तु रक्षार्थ अपना पूरा जीवन लगाना पड़ता है। पशु भी पुत्रोत्पादन करने हैं। ब्रह्माजीकी सृष्टिप्रक्रिया बड़ी अवश्य है। किन्तु भगवानकी प्रकृति विद्यमान है। अतः वह भी कोई असामान्य नहीं मानी जा सकती। प्रकृतिके होनेपर भी रक्षा सामान्य कार्य नहीं होती ॥ ५-९ ॥

तथा हिं रक्षणं नाम नेष्यते मृत्युशून्यता।
जातानाममृतौ लोकस्थितिरेवाऽघटा भवेत् ॥ १० ॥

तस्माद्रक्षणमन्यद्धि जगतः स्थितिलक्षणम्।
पशवः किं न जीवन्तीत्यादि चोद्यमसत्ततः ॥ ११ ॥

रक्षण मरणाभावको नहीं कहते। उत्पन्न लोग मरेंगे नहीं तो लोकस्थित कठिन होगी। अतः रक्षण दूसरा है। जगतकी स्थिति रक्षा है। अतः पशु भी जी रहे हैं। रक्षा भी कौनसा बड़ा काम यह प्रश्न संगत नहीं है ॥ १०-११ ॥

द्विधावनं जगत्पारम्पर्यस्थानमिहादिमम् ।
तद्याथातथ्यतोऽर्थानां समाभ्यः स्याद्विभाजनात् ॥ १२ ॥
द्विप्रकारकधर्मस्य स्थापनाज्जगतः स्थितिः ।
द्वितीयमवनं प्रोक्तं कार्यमेतद् द्वयं हरेः ॥ १३ ॥

दो प्रकारसे जगद्रक्षण होता है । एक जगत्के प्रवाहको प्रलयपर्यन्त बनाये रखना । वह तभी संभव है जब संवत्सर प्रजापतियोंको यथायोग्य अर्थविभाजन करेंगे । (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः) प्रत्येक समयमें जिस वस्तुकी उपस्थिति आवश्यक है वह उपस्थित हो तो ही जगत्परम्परा चल सकती है । दूसरा जगत्रक्षण दो प्रकारके धर्मकी रक्षासे ही सभव है । यही कार्य विष्णुका है ॥ १२-१३ ॥

प्रवृतिश्च निवृत्तिश्च द्विविधो धर्म इरितः ।
धर्मद्रुहां विनाशेन तद्रक्षा स्यात्कथंचन ॥ १४ ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति ऐसे दो धर्म हैं । इस धर्मकी रक्षा धर्मद्रोहियोंके विनाशनसे कथंचित होती है ॥ १४ ॥

इदं धर्मद्वयं विष्णुः सांख्ययोगाभिधं पुरा ।
विवस्वतेऽभिधायास्य पारम्पर्यमवर्तयत् ॥ १५ ॥
पारम्पर्यविनाशे चावर्तयत्तं पुनः पुनः ।
अवतारं गृहीत्वैव समये समये हरिः ॥ १६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ १८ ॥
इति गीतासु भगवानिदमेव स्फुटं जगौ ।
हन्ति धर्मद्विषो विष्णुर्हननं चापि रक्षणम् ॥ १९ ॥
हतोद्धारश्च भवति धर्मोद्धारश्च यत्ततः ।
दुष्कृतां हननं तस्मान्मन्महे जगतोऽवनम् ॥ २० ॥

इन सांख्य-योग नामके दो धर्मोंको सूर्यके प्रति कहकर विष्णुने इसकी परंपरा चलायी । परम्पराका नाश होनेपर समय समयपर बारबार अवतार लेकर पुनः पुनः उसे चलाया । "यदा यदा हि धर्मस्य" इत्यादि गीताश्लोकोंमें यह स्पष्ट है । धर्मद्वेषियोंका हनन भी रक्षण है । एक तो विष्णुके हाथसे मारे जानेसे मृतका उद्धार होता है, दूसरा धर्मका भी उद्धार होता है । अतः दुष्टोंका हनन जगत्का रक्षण ही है ॥ १५-२० ॥

शरीरधारणक्लेशो हरेस्तर्हि भवेदिति।
मैवं स्वेच्छामयी तस्य न तु भूतमयी तनुः॥ २१॥

तब विष्णुको शरीरधारणादि क्लेश भी तो होता होगा ? नहीं, विष्णुका इच्छामय शरीर होता है, साधारणोंके समान भूतमय नहीं॥ २१॥

ननु स्वेच्छामयतनुधारणे धर्मरक्षणे।
दुष्कृदुद्धरणे चैव कुतो शक्तिर्हरेरभूत्॥ २२॥

तब इतनी बातें सामने आ जाती हैं—विष्णु भगवान स्वेछामय शरीर धारण करते हैं, फिर उपदेशोंके द्वारा परम्पर्यप्रवर्तन कर धर्मरक्षण करते हैं, धर्मद्रोही तथा विश्वद्रोही जो पापी होते हैं उनका विनाश तथा उद्धार करते हुए धर्मको नाशसे बचाते हैं और इसप्रकार विश्वकी रक्षा करते हैं। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इतनी सब शक्ति हरिको कहांसे प्राप्त हुई ?॥ २२॥

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम्॥ १९॥

भगवान विष्णु प्रतिदिन जो सहस्रकमलार्चन आपके चरणोंमें करते थे' एकदिन उनमें एक कमल कम निकला तो अपना नेत्रकमल निकालकर चढ़ाया था। वही भक्तिप्रकर्ष मूर्त होकर सुदर्शनचक्र बना और हे भगवन ! तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये सजग होकर स्थित हो गया॥ १९॥

उच्यते हरिरीशस्य सहस्रकमलैर्बलिम्।
पदयोरकरोत्तस्मादीशानुग्रह एव सः॥ २३॥

उत्तर यही है कि हरि शंकरके चरणोंमें प्रतिदिन हजार कमलोंसे पूजा करते रहे अतः यह सब शिवानुग्रह ही है॥ २३॥

अर्वाचीनमनाद्यन्तं ज्योतिर्लिङ्गात् पदं पुरा।
प्रादुर्भूतं तुष्टुवतुर्विधिविष्णू इतीरितम्॥ २४॥
ततश्च भगवान् शम्भुस्ताभ्यां पञ्चाक्षरं ददौ।
तं च सप्रणवं ब्रह्मा जपन् सृष्टिमवर्तयत्॥ २५॥
गोविन्दस्तमुपादाय स्वर्गङ्गातीरमाययौ।
तत्र स्थित्वा प्रतिदिनं पूजयामास शंकरम्॥ २६॥

अनादि अनन्त ज्योतिर्लिंगसे अर्वाचीनपद शंकर प्रगट हुए, ब्रह्मा और विष्णुने उनकी स्तुति की यह। बात पहले (तवैश्वर्यं यत्नात् में) बतायी। उसके बाद शंकरजीने दोनोंको पचाक्षरमन्त्र प्रदान किया। उसका जप करते हुए ब्रह्माजीने जगत्की सृष्टि की। भगवान गोविन्द मन्त्र लेकर स्वर्गगंगाके तीरपर आये और वहीं स्थित होकर प्रतिदिन शंकर पूजन करते रहे॥ २४-२६॥

हरिस्ते साहस्रं

सहस्रं कमलान्येष चिनोत्युषसि संख्यया।
सामग्रीमितरां चापि पूर्वं संनह्यति स्वयम्॥ २७॥
स्नात्वा चाकाशगङ्गायां शिवलिङ्गं विधाय च।
सषोडशोपचारं प्राक् पूजयामास शंकरम्॥ २८॥
सहस्रनामभिः पश्चात् सहस्रं कमलान्यसौ।
अर्पयामास परया भक्त्या भक्ताग्रणीर्हरिः॥ २९॥

श्रीहरि प्रातःकाल गिनकर एकसहस्र कमल तोड़ लाते थे, अन्य सामग्री भी स्वयं तैयार करते थे। फिर आकाशगंगामें स्नान कर शिवलिंग बनाकर प्रथम षोडशोपचार पूजन करते थे। बादमें सहस्र नाम बोलकर सभक्ति कमल शंकरको चढ़ाते थे॥ २७-२९॥

एकदा तत्परीक्षार्थमुद्धारैकपङ्कजम्।
भगवान् शंकरस्तन्न वेद पूजोपवेशने॥ ३०॥
सहस्रनाम्नि चरममुच्चरन् मन्त्रमच्युतः।
करण्डं समलोकिष्ट पुष्पशून्यं महामतिः॥ ३१॥
तदैवोदहरन्नेत्रकमलं कमलेक्षणः।
अर्पयामास पदयोर्निजं निःशङ्कमीशितुः॥ ३२॥

एकदिन परीक्षार्थ शंकरजीने हजार फूलोंमेंसे एक उठा लिया और इस बातका पता विष्णुको नहीं लगा। सहस्रनाममें अन्तिम नाम मन्त्र बोलकर टोकरी देखी तो वह पद्मशून्य थी। तुरत कमलनेत्र हरिने नेत्रकमल निकालकर शंकरचरणोंमें चढ़ाया॥ ३०-३२॥

न न्यूनाधिकमानर्च नाधिकं पुष्पमाचिनोत्।
नोत्थायापरमानैषीद् दोषः पक्षेषु यत् त्रिषु॥ ३३॥

कमबेसी पुष्पपूजा करते, या कुछ फूल पहलेसे ही ज्यादा तोड़कर रखते या तत्काल उठाकर एक पुष्प तोड़ लाते और चढ़ाते, किन्तु चूंकि तीनो पक्षोंमें दोष है अतः ऐसा नही किया॥ ३३॥

तथा ह्येकोनमेवाद्य पुष्पं कस्माद्धि नार्चयत् ।
न युक्तं तदिदं न्यूनपूजाङ्गविकला भवेत् ॥ ३४ ॥

कैसे दोष ? एक पुष्प कम चढ़ाते तो न्यूनपूजा होनेसे अंगविकल हो जाती ॥ ३४ ॥

ननु च प्रत्यहं पुष्पाण्यधिकं नार्पयत् कुतः ।
एकनिःसरणेऽप्येव संख्यापूर्तिर्यतो भवेत् ॥ ३५ ॥
तन्नाङ्गाधिकताऽयुक्ता स्यादङ्गविकलत्ववत् ।
यथाङ्गविकला कन्या दूषिताऽङ्गाधिकापि च ॥ ३६ ॥
पूजापराधः कथितो न्यूनाधिकविधौ नृणाम् ।
संकल्पः क्रियते तावत् यत्सहस्रार्चनादिषु ॥ ३७ ॥
उल्लङ्घ्य नैव संकल्पं कार्यं पूजादिकं क्वचित् ।
विचारितमिदं सर्वं जरन्मीमांसकैर्बुधैः ॥ ३८ ॥

संशय होगा कि रोज दो चार पुष्प अधिक चढ़ाते । पुष्प कम होनेकी नौबत नहीं आती । उत्तर—न्यूनांग ठीक नहीं तो अधिकांग भी उचित नहीं है । जैसे कोई कन्या अंगविकल भद्दी होती है तो अधिक अंग (हाथ में छः अंगुलि आदि) होना भी बुरा है । न्यूनाधिक होनेपर पूजापराध होता है । सहस्रार्चनादिमें संकल्प पहले पढ़ा जाता है संकल्प उल्लंघन कर पूजादि नहीं किये जाते । ऐसे वृद्ध मीमांसकोंने कहा है ॥ ३५–३८ ॥

श्यावोऽभ्यवहरत्यस्याऽऽहुतिं होतुः किलोदिते ।
शवलोऽस्याहुतिं तद्वज्जुहोत्यनुदिते हि यः ॥ ३९ ॥
उदितानुदिते श्यावशवलाविति या श्रुतिः ।
तत्राप्रामाण्यमाशङ्क्य संख्यावद्भिः समाहितम् ॥ ४० ॥
संकल्प्यानुदिते होतुमुदिते प्रजुहोति यः ।
तस्य श्यावोऽभ्यवहरेदेवमन्यत्र बुध्यताम् ॥ ४१ ॥

श्रुतियोंमें लिखा है—उदय होनेपर होम करें तो श्याव नामका राक्षस उस आहुतिको खा जायेगा । उदयपूर्व हवन करें तो शवल नाम का राक्षस उस आहुतिको खा जायेगा । उदयानुदय में हवन करें तो श्यावशवल दोनों राक्षस खा जायेंगे । तब हम होम कब करें ? यह श्रुति अप्रमाणिक होगी । इसपर सिद्धान्त किया कि अनुदयमें होम करनेका संकल्पकर उदयोत्तर होम करे तब श्याव खायेगा । वैसे इतर दोनोंमें भी समझें ॥ ३९-४१ ॥

संकल्प्य होतुमुदित उदितानुदिते यदि ।
जुहुयात्तर्हि का हानिरधिकं हि निविश्यते ॥ ४२ ॥

तदसन्नाधिकमपि युक्तमर्धाऽप्रमाणतः ।
यथासंकल्पमखिलं तेन कार्यं मनीषिभिः ॥ ४३ ॥

सहस्रार्चनसंकल्पे कार्यं तावद्धि पण्डितैः ।
नाधिकं नापि च न्यूनमित्येषैव व्यवस्थितिः ॥ ४४ ॥

शंका—उदितहोम संकल्पकर उदितानुदित होम करें तो अधिक प्रवेश ही तो हुआ, उत्तर -अधिक भी ठीक नहीं । औ र अर्ध अप्रामाण्य भी होगा, अतः संकल्पनानुसार ही सब कुछ करें । सहस्रार्चन संकल्प हो तो न्यून भी न हो अधिक भी न हो, यही व्यवस्था है ॥ ४२-४४ ॥

अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यन्न्यूनमधिकं कृतम् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ॥ ४५ ॥

अज्ञानाद्विस्मृतेर्भ्रान्त्या यन्न्यूनमधिकं कृतम् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि प्रसीद परमेश्वरि ॥ ४६ ॥

इत्यादिकमविज्ञानां क्षमापणमुदीरितम् ।
क्षमते परमेशान इति त्वन्या व्यवस्थितिः ॥ ४७ ॥

सुविज्ञस्तु कथं विष्णुरपराधपरो भवेत् ।
न न्यूनं लवणं सूपे नाधिकं कुशलः क्षिपेत् ॥ ४८ ॥
सर्वत्र संगता नोक्तिरधिकस्याधिकं फलम् ।
अधिकं भोजनं कुर्वन्नामयावी यगो भवेत् ॥ ४९ ॥
अल्पप्रकाशे ग्रन्थस्य वाचनं नेत्ररोगकृत् ।
किं मध्याह्नातपे कुर्यात् तदेतदधिकत्विषि ॥ ५० ॥

"अज्ञानादथवा" इत्यादि मन्त्र न्यूनाधिक होनेपर क्षमायाचनात्मक है । भगवान क्षमा भी करते हैं । किन्तु अपराध कर क्षमा मांगना उचित है या सुविज्ञ अपराधसे दूर रहे यह उचित है ? यह विचार कर लो । दालमें नमक यदि कुशल होगा तो न कम डालेगा और न अधिक । "अधिकस्याधिकं फलं" यह उक्ति सर्वत्र नहीं बैठती । अधिक भोजन करें तो रोगी बनेंगे । अल्प प्रकाशमें पुस्तक बांचते रहें तो नेत्र खराब होगा । तो अधिक प्रकाश मध्याह्न सूर्यकी रोशनीमें पढ़ें तो ? ॥ ४५-५० ॥

ननु मा भूद्भगवतः पूजा न्यूनाधिका क्वचित् ।
द्वित्राधिकानि पुष्पाणि संचीयन्तां कुतो नहि ॥ ५१ ॥

यद्यावश्यकता जाता योज्यन्तां गिरिशार्चने।
यद्यावश्यकता नास्ति क्षिप्यन्तां जाह्नवीजले ॥ ५२ ॥

मैवं मा कुरुवमेतेषां पुष्पाणां जीवनं वृथा।
मा स्म विव्यथताप्येतान् वृथा बालतरूनिति ॥ ५३ ॥

भगवत्पूजनात्पुष्पैः सफलं तरुजीवनम्।
कदर्थीकरणं तेषां पातकं विबुधैः स्मृतम् ॥ ५४ ॥

माना कि विधिमें न्यूनाधिकता नहीं होनी चाहिये। किन्तु दो चार फूल फालतू तोडकर रखनेमें क्या हर्जा है ? आवश्यकता पडी तो उससे पूजा कर लो। नहीं तो गंगाजीमें फेंक दो। नहीं। इसप्रकार पुष्पोंका जीवन व्यर्थ मत करो। पेड़ोंको क्लेश मत पहुँचाओ। भगवानकी पूजा सम्पन्न हुई तो ही पुष्प और वृक्षाके जीवनकी सफलता है। अन्यथा केवल उनको दुःख देना है ॥ ५१-५४ ॥

पतिष्यन्ति कियत्काले पुष्पाणि वृजिनं कुतः।
त्वद्दन्ताश्च पतिष्यन्ति तत्समासामान्यं विचिन्तय ॥ ५५ ॥

ये फूल आज नहीं तो कल गिरेंगे, इन्हें वृथा तोड़नेमें पाप क्यों होगा ? उत्तर है कि तुम्हारे दाँत कभी गिरनेवाले हैं तो आज ही मार गिरा दें। तो क्या हर्जा ? यही बात यहां भी सोच लो ॥ ५५ ॥

ननु न्यूनाधिका मा भून्मा भूच्चाधिकसंचयः।
एकोने कुत उत्थाय पुष्पं नानीयतेऽपरम् ॥ ५६ ॥

तदसन्न समुत्तिष्ठेन्मध्येपूजं कदाचन।
आधार शक्तिपूजादिपवित्रादासनान्नरः ॥ ५७ ॥

आपद्धर्मे क्वचिन्मध्यात्थानं साचमनं भवेत्।
सहस्रार्चनसंकल्पे यतेतानुत्थितौ बुधः ॥ ५८ ॥

अच्छा न्यूनाधिक न हो, अधिक पुष्पसंचय भी न हो, लेकिन एक पुष्प कम हो गया तो गंगाजीमें जाकर दूसरा तोड़ लाना था। नेत्र क्यों उखाडने लगे ? सुनो। पूजाके बीचमें उठना नहीं चाहिये। आधारशक्ति-पूजनादिमे पवित्रित, स्थापित आसनसे तभी उठना हो सकता है यदि कोई आपत्ति आ गयी हो। सहस्रार्चनमें तो वैसे भी नहीं उठना चाहिये ॥ ५६-५८ ॥

विष्टरश्रवसः शिष्टाचारेणैव यथोदितम्।
सिद्धं सकलमेव स्याद् बुधैस्तदवसीयताम् ॥ ५९ ॥

श्री हरिके शिष्टाचारसे यथोक्त सभी नियम सिद्ध होते हैं यह ध्यान रखें ॥ ५९ ॥

गतो भक्त्युद्रेकः०

यदुज्जहार नेत्राब्जं भक्त्युद्रेकः स शार्ङ्गिणः ।
स च चक्रवपुर्भूत्वा जागर्ति जगतोऽवने ॥ ६० ॥
शंकरः प्राददाच्चक्रं यत्सुदर्शनसंज्ञितम् ।
चक्रात्मना परिणता भक्तिरित्येतदुच्यते ॥ ६१ ॥

शंकरपूजनार्थं जो नेत्रोद्धरण किया यही श्री हरिका भक्ति प्रकर्ष है। वही भक्तिप्रकर्ष चक्र बनकर जगद्रक्षणमें सजग रहता है। पूजासे प्रसन्न भगवान शंकरने विष्णुको सुदर्शन चक्र दिया था। उनको साहित्यिक भाषामें कह दिया कि भक्ति ही चक्ररूपमें परिणत हो गयी ॥ ६०-६१ ॥

इदं तु बोध्यं नो नेत्रमुद्धरेत् कश्चनापरः ।
अपवित्रा भवेत् पूजा रक्तप्लावादिहेतुतः ॥ ६२ ॥
समर्थ आसीद् गोविन्दो जगद्रक्षाकरो यतः ।
तस्य नैवानुकरणं नरेणान्येन शक्यते ॥ ६३ ॥

इतनी बात यहां याद रखें कि कोई दूसरा व्यक्ति नेत्र निकालनेका साहस न करे। खून गिरेगा, पूजा अपवित्र होगी। विष्णु जगतरक्षाकारी बने। अतएव पहलेसे वे काफी समर्थ ही रहे। विष्णुका अनुकरण दूसरोंके लिये ठीक नहीं। वे आपद्धर्मको ही अपनावें ॥ ६२-६३ ॥

ननु स्याद् दुष्टसंहारश्चक्रेण न पुनस्ततः ।
जगद्रक्षा भवेद्या हि धर्मद्वयनिबन्धना ॥ ६४ ॥
सत्यं सुदर्शनं चक्रं सम्यग्दर्शनमेव तत् ।
धर्मद्वयास्पदं चैतत् सम्यग् दर्शनमिष्यते ॥ ६५ ॥
धर्मजिज्ञासया धर्मविज्ञानमुपजायते ।
ब्रह्मजिज्ञासया ब्रह्मविज्ञानं चोपजायते ॥ ६६ ॥
विज्ञानद्वयहेतुर्वा विज्ञानद्वयमेव वा ।
सुदर्शनमतस्तेन जगद्रक्षा समञ्जसा ॥ ६७ ॥

भक्तिप्रकर्ष चक्र भले हो और उससे दुष्टसंहार भी भले हो, किन्तु जगद्रक्षा किस प्रकार ? वह प्रवृत्तिनिवृत्ति धर्मसे होती है। उत्तर यह है कि सम्यक दर्शन ही सुदर्शन है। धर्म द्वयमे ही सम्यक्दर्शन होता है। अथवा धर्मजिज्ञासासे धर्मविज्ञान और ब्रह्मजिज्ञासासे ब्रह्मज्ञानं जो होता है वही सुदर्शन है। उससे धर्मब्रह्मबोधनके द्वारा जगद्रक्षण उपपन्न है ॥ ६४-६७ ॥

नेत्रं दृष्टिस्त्वया यस्मादर्पितं भक्तिपूर्वकम् ।
सुदर्शनं सुदृष्टिस्तु दीयतेऽतो मया तु ते ॥ ६८ ॥

नेत्र अर्थात् दृष्टि भक्ति पूर्वक समर्पित किया अतः सुदर्शन अर्थात् सुदृष्टि देता हूँ ऐसा भगवदाशय है ॥ ६८ ॥

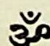
धर्मचक्रमिदं किं वा चक्रशब्देन भाष्यते ।
धर्मेणैव प्रतिष्ठाऽस्य जगतः श्रुतिरब्रवीत् ॥ ६९ ॥

अथवा चक्रकी धर्मचक्र व्याख्या कीजिये । श्रुतिने धर्मसे ही इस जगतकी स्थिति बतायी है ॥ ६९ ॥

परमानुग्रहो यस्य भक्त्युद्रेकसमुद्भवः ।
पदं यच्छति सर्वोर्ध्वं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ७० ॥

भक्तिप्रकर्षसे उद्भूत आपका परम अनुग्रह सर्वोर्ध्व पदको भी देता है । अतएव सर्वात्मा आपको हम प्रणाम करते हैं ॥ ७० ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ स्पन्दो नवदशो गतः ॥ १९ ॥



ॐ

विंशः श्लोकः

परमव्यापितामुक्त्वा परमेश्वरतामपि ।
परमोदारतां चाह फलकृद्ब्रह्मरूपताम् ॥ १ ॥

परम व्यापकता, परमेश्वरता और परमोदारता इन तीनको तीन श्लोकोंमें वर्णन किया । अब यहां फलदाता ब्रह्मके रूपमें वर्णन करने जा रहे हैं ॥ १ ॥

उपपत्तेः फलमत इत्यूचे बादरायणः ।
फलदातृस्वरूपेण ततः संस्तूयते शिवः ॥ २ ॥

"फलमत उपपत्तेः" इसप्रकार व्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें ब्रह्मको कर्मफलदाता बताया। उस रूपसे शिवजीकी स्तुति है ॥ २ ॥

नन्वर्वाचीनरूपस्य स्तुतिप्रकरणे कथम्।
त्रिपाद्रूपमिदं तावदप्रासङ्गिकमुच्यते ॥ ३ ॥

न च वाङ्मनसातीतं फलदात्रपि नेष्यते।
नेष्यतां तद्धि सोपाधि नार्वाचीनपदं तु तत् ॥ ४ ॥

पूर्वपक्षः—अर्वाचीन पदकी स्तुति प्रस्तुत है। उस बीचमें यह त्रिपाद्-रूपका वर्णन अप्रासङ्गिक है। यदि कहें कि वाणी और मनसे परे जो तत्त्व है वह फलदाता भी नहीं है। न हो। सोपाधि (मायोपाधिक) ब्रह्म फलदाता है। अर्वाचीन पदरूप पद्मासनासीन चन्द्रशेखर शंकर फलदाता है ऐसा तो नहीं माना गया है ॥ ३-४ ॥

सत्यं ब्रह्मैव फलदं तद्रूपेण हरः पुनः।
अर्वाचीनस्वरूपस्थः स्तूयते चन्द्रशेखरः ॥ ५ ॥

त्वामेव फलदातारं ज्ञात्वा श्रद्धाय च श्रुतौ।
कुर्वन्ति धीराः कर्माणि सफलानीति नूयते ॥ ६ ॥

उत्तरः—ब्रह्म ही फलदाता है यह बात यथार्थ है। और व्यासजीके सूत्रका भी वही अर्थ है। तथापि ब्रह्मरूपसे यहां अर्वाचीनरूपधारी शंकरकी ही स्तुति कर रहे हैं। हे चन्द्रशेखर! भले ब्रह्म फलदाता हो पर तदभिन्न होनेसे आपको ही फलदाता समझकर कर्मप्रतिपादक श्रुतिमें श्रद्धा बांधकर धीर मनीषी कर्म करते हैं और सफल भी होते हैं इसप्रकार यह स्तुति है ॥ ५-६ ॥

नन्वेवमपि नैवास्य प्रसङ्गो घटतेतराम्।
विशेषरूपे वक्तव्ये ब्रह्मरूपोक्त्ययुक्तितः ॥ ७ ॥

इसप्रकार खींचातानी करके अर्वाचीनरूपपरक बनानेपर भी प्रसंग नहीं बैठता। क्योंकि रावण बाणादिको जो रूप दिखाया, जो ताण्डवमें रूप धारण किया, ऐसे विशेषरूपसे वर्णनके प्रसंग में एका-एक ब्रह्मरूपसे वर्णन कैसे करने लगे? ॥ ७ ॥

सत्यं प्रासङ्गिको योऽर्थ उत्तरश्लोकसंस्थितः।
तदुपोद्बलनः श्लोकस्तदुपक्रमरूप्ययम् ॥ ८ ॥

सतामनुग्रहीतृत्वं पूर्वश्लोके निरूपितम्।
असन्निग्रहकारित्वमुत्तरास्मान्निरूप्यते ॥ ९ ॥

भक्त्युद्रेकवशाद्विष्णुस्त्रिजगत्त्रातृतां गतः ।
अश्रद्धालुः पुनर्दक्षः स्वनाशायाप्यकल्पत ॥ १० ॥
फलदोऽपि फलं दूरे निधाय परमेश्वरः ।
असन्तं दक्षमश्रद्धं न्यगृह्णादिति संगतिः ॥ ११ ॥
तदत्र फलदत्वेन ब्रह्माभिन्नतया शिवः ।
कर्मसाफल्यसिद्ध्यर्थं स्तूयते भगवानिति ॥ १२ ॥

ठीक बात है। किन्तु अगले श्लोकमें जो प्रासङ्गिक अर्थ प्रतिपाद्य है उसे मजबूत करनेके लिये उसीका उपक्रमरूप यह श्लोक है। पूर्वश्लोकमें सत्पुरुषोंपर शंकरका अनुग्रह होता है बताया और उत्तर श्लोकमें असत्पुरुषों-का निग्रह भगवान शंकर करते हैं यह बताया जायेगा। भक्तिप्रकर्षसे विष्णु जगत्त्राता बने। अश्रद्धालु होनेसे दक्ष जगद्रक्षण तो दूर, अपना भी रक्षण नहीं कर सका। उल्टा अपना नाश कराया यह निदर्शन है। उसके साथ इस श्लोककी संगति है। शंकर भगवान कर्मफल देनेवाले हैं। परन्तु फलकी बात तो दूर, अश्रद्धालु असत्पुरुष कर्मी दक्षका निग्रह ही कर डाला। इसी बातको प्रतिपादित करनेके लिये फलदाताके रूपमें ब्रह्माभिन्न करके शंकरकी स्तुति कर रहे हैं। इसका स्वतन्त्र फल यह भी है कि लोग शंकरमें श्रद्धा रखकर कर्म करें, जिससे उनका कर्म सफल हो ॥ ८-१२ ॥

प्रथमे फलसामान्यं द्वितीये त्वन्यथाफलम् ।
अन्त्येऽधर्मफलं दण्ड इति श्लोकत्रये क्रमः ॥ १३ ॥

यहां तीन श्लोकोंमें प्रथम फलसामान्यदाता बताया। द्वितीयमें अश्रद्धासे अन्यथाफलदायी कहा। तृतीय श्लोकमें अधर्मफल दण्ड देनेवाला बताया, ऐसा क्रमिक अर्थ भी प्रतिपादित है ॥ १३ ॥

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥ २० ॥

यज्ञादि समाप्त हो गये तो पश्चात् यज्ञकर्ताओंको फल देनेमें आप ही जागृत रहते हैं। क्योंकि समाप्त-ध्वस्त कर्म भला पुरुषाराधनके बिना कहां फल दे सकते हैं। अतएव यज्ञादि कर्मोंमें कर्मफलदाताके रूपमें आपको देखकर ही श्रुतियोंमें श्रद्धा बांधकर लोग कर्म करनेमें दृढ़तया तैयार होते हैं ॥ २० ॥

क्रतुशब्दस्तु यज्ञेऽपि संकल्पेऽपि प्रयुज्यते।
यो यत्क्रतुर्भवति स तत्कर्म कुरुते पुमान्॥ १४॥

इति प्रयुक्तः श्रुतिषु संकल्पपरकः क्रतुः।
व्याख्यास्यामस्तदुभयमत्रैवानुपदं वयम्॥ १५॥

क्रतु शब्दका यज्ञ एवं संकल्प दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। "यो यत्क्रतुर्भवति" इत्यादि श्रुतिमें क्रतु शब्द संकल्पार्थमें प्रयुक्त हुआ है। दोनोंकी व्याख्या हम यहीं आगे करेंगे॥ १४-१५॥

पाठक्रमाद् भवेदर्थक्रमस्तु बलवानतः।
द्वितीयपादः प्रथममत्र व्याख्यायते मया॥ १६॥

पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान है। अतः द्वितीय पादकी व्याख्या हम पहले करते हैं। प्रथम पादकी बादमें॥ १६॥

द्वौ मुनी जैमिनिश्चैव बादरायण एव च।
फलप्रदत्वविषये मीमांसामासतुः स्फुटम्॥ १७॥

दो महर्षि हो गये। एक जैमिनि ओर दूसरे बादरायण। कर्म करनेपर कौन फलदाता है इस विषयमें दोनोंने सुन्दर मीमांसा की है॥१७॥

उपपत्तेः फलमतो लभ्यते परमेश्वरात्।
धर्मं जगाद फलदमत एव तु जैमिनिः॥ १८॥

हेतुतो व्यपदेशाच्च महेशं बादरायणः।
लौकिकास्तूभयं प्राहुः समये समये स्वतः॥ १९॥

युक्तिसे यह बात सिद्ध है कि कर्मफल परमेश्वरसे ही प्राप्त होता है। जैमिनिजी कहते है कि युक्तिसे धर्म ही फलदाता सिद्ध होता है। बादरायण (व्यास) कहते हैं—युक्ति और श्रुति दोनोसे ईश्वर फलदाता है। संसारी लोग दोनोको समय सययपर फलदाता कहते हैं॥ १८-१९॥

लब्ध धनं सुतो लब्धो भगवत्कृपया मया।
एवं धनादिसंप्राप्ति भगवत्कर्तृकां जगुः॥ २०॥

कुतो मां नैव वयसे कथं रुजसि मां प्रभो।
इत्येवं दुःखसंप्राप्तिमपि तत्कर्तृकां जगुः॥ २१॥

भगवानकी कृपासे धन मिला, सुन मिला, भगवानने सब कुछ दिया इसप्रकार धनादिदाताके रूपमें लोग भगवानको कहते हैं। हे प्रभो मुझपर दया क्यों नहीं करते, इतना दुःख क्यों दे रहे हो, इस प्रकार दुःखदाताके रूपमें भी भगवानको कहते हैं॥ २०-२१॥

प्रारब्धं प्रबलं तस्य विरोधिषु महत्स्वपि।
लब्धं धनादिकं सर्वमित्यप्याचक्षते जनाः ॥ २२ ॥

प्रारब्धं स्फुटितं तस्य यतमानोऽपि सर्वथा।
लभते न धनादीति दुःखेऽप्याचक्षते तथा ॥ २३ ॥

इसका प्रारब्ध प्रबल है, इतने विरोधी होनेपर भी देखो उसको धनादि मिला। फलानेका प्रारब्ध फूटा है। यत्न करनेपर भी धनादि उसको नहीं मिलता। इसप्रकार भी लोग कहते हैं ॥ २२-२३ ॥

प्रथमं तु मतं बादरायणीयमुदीर्यते।
द्वितीयं तु मतं लोकैर्जैमिनीयं निगद्यते ॥ २४ ॥

ईश्वरने सबकुछ दिया इत्यादि प्रथम मत बादरायणका लोग कहते हैं। प्रारब्धसे मिला यह द्वितीय मत जैमिनिका सब कहते हैं ॥ २४ ॥

अत्राह जैमिनिस्तावद् विना कर्मेश्वरः फलम्।
न दातुमर्हति तदा वैषम्यादिः प्रसज्यते ॥ २५ ॥

ननु वैषम्यनैर्घृण्ये न स्तः सापेक्षभावतः।
कर्मसापेक्ष एवासौ फलदातेति चेन्न तत् ॥ २६ ॥

एवं सति हि कर्मैव फलं सर्वं प्रदास्यति।
किं प्रयोजनमीशेन मध्यानीतेन विद्यते ॥ २७ ॥

इस विषयपर जैमिनीजी कहते हैं—विना कर्म यदि ईश्वर फल देने लगे तो किसीको सुख किसीको दुःख इसप्रकार विषमता, निर्दयता आदि दोष ईश्वरमें आयेगा। यदि कहते हैं—कर्मसापेक्ष होकर कर्मानुसार ईश्वर फल देता है, अतः ईश्वरमें विषमता निर्दयता आदि नहीं है, तो कर्म आपको भी मानना पड़ा, तब वही कर्म फल दे देगा, बीचमें दलालके रूपमें किसलिये ईश्वरको लाते हैं ॥ २५-२७ ॥

अत्राह सम्यगालोच्य भगवान् बादरायणः।
हन्त क्व कर्म प्रध्वस्तं फलं दातुं समर्हति ॥ २८ ॥
दिनमासादिसमयकृतं कर्म तदैव हि।
प्रध्वंसते न हि ध्वस्तं फलदं कर्म संभवेत् ॥ २९ ॥
पादसंवाहनं यावत् पुत्रादिः कुरुते तदा।
सुखं भवति नैवास्ति तत्समाप्तौ तु तत्सुखम् ॥ ३० ॥
पश्चादिस्ताड्यते यावत्तावत्तस्यास्ति वेदना।
समाप्ते ताडने नैव वेदना समयान्तरे ॥ ३१ ॥

नष्टं न कारणं कार्यं क्वचिज्जनयितुं प्रभु ।
दग्धा न तन्तवः क्वापि जनयन्ति पटादिकम् ॥ ३२ ॥

दशवर्षान्मृतस्तातः पुत्र उत्पद्यतेऽद्य तु ।
इत्येतत्क्व नु दृष्टं वा श्रुतं वा तदुदीर्यताम् ॥ ३३ ॥

इसविषयपर खूब विचारकर बादरायण ने बताया–ध्वस्त कर्म फल कैसे देगा ? एक दिनमें, एक मासमें ऐसा किया हुआ कर्म उस सावधि समयमें समाप्त होता है। ध्वस्त कर्म फलप्रद कैसे ? पुत्रादि जबतक पांव दबाते रहे तबतक सुखानुभव हुआ। पांव दबाना छोड़ा तो वह सुख कहां (जो पांव दबाते समय होता था) ? डंडेसे मारा तो बैलको दर्द हुआ। थोड़े समयमें दर्द समाप्त। कारण नष्ट होनेपर कार्य नहीं रहता। क्या तन्तु जल गया फिर भी कपड़ा बन जायेगा ? दस वर्ष पहले बाप मरा। आज लडका पैदा होने लगा। ऐसा कहीं देखनेमें या सुननेमें आया ॥ २८-३३ ॥

भृत्यः कश्चिद्धायनान्तं कृत्वा कर्माण्यतः परम् ।
सहसा गतवान् गेहमप्राप्यैव भृतिं निजाम् ॥ ३४ ॥

पश्चाद् गेहादुपायातो भृतिं स लभते निजाम् ।
श्रेष्ठी वा कर्म वा तत्र ददाति फलमुच्यताम् ॥ ३५ ॥

तत्रायं कर्मसापेक्षो दद्याच्छ्रेष्ठ्येव तद्भृतिम् ।
न तु कर्मैव, न मृते भृतिः श्रेष्ठिनि लभ्यते ॥ ३६ ॥

न च पुत्रादयो दद्युस्तदभावे तु को वद ।
चेतनाश्चैव पुत्राद्याः कर्मोदादरणं वद ॥ ३७ ॥

एवं संस्मृत्य कर्मेशः कर्मसापेक्ष एव सन् ।
फलं ददाति भगवानिति श्लिष्टतरं मतम् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ध्वस्त कर्म फल नहीं दे सकता यह बताया। कर्मसापेक्ष परमेश्वर फलदाता कैसे सो सुनो। कोई नौकर एक साल काम करके बिना तनखा लिये एकाएक घर गया। कुछ महीनेके बाद घरसे वापिस आकर वेतन लेता है तो वहां वेतन देनेवाला सेठ है कि कर्म ? कहना होगा– कर्मसापेक्ष सेठ ही तनखा देगा। कर्म नहीं देगा। कर्म ही फल देगा ऐसा यदि हठ करें तो कहो सेठ कदाचित् मर गया तो क्या कर्म फल दे देगा ? यदि कहें, सेठ नहीं तो उसके लड़के देंगे। किन्तु वे भी न रहे तो ? कर्म तो है। फिर लड़के आदि भी तो चेतन हैं। केवल कर्म फल देता है

इसका उदाहरण बोलो। इसप्रकार कृत कर्मको स्मरणकर परमेश्वर कर्मसातेक्षतासे फल देते हैं यही उचित है॥ ३४-३८॥

> अत्राह जैमिनिमुनिरेष लौकिकयोर्भवेत्।
> नियमः कर्मफलयोरदृष्टरहितत्वतः॥ ३९॥
> श्रौतयोः कर्मफलयोर्नेयं रीतिरुपेयते।
> तत्रादृष्टं हि भवति कर्मणां द्वारकारणम्॥ ४०॥
> अस्त्यदृष्टं तथाभूतं श्रौतकर्मसमुद्भवम्।
> द्वारं वा द्वारि वा पूर्वक्षणेऽवश्यमपेक्षितम्॥ ४१॥
> अनुभूतिः स्मृतौ हेतुर्विनष्टाप्यभ्युपेयते।
> द्वारं तत्रास्ति संस्कारस्तद्वदत्राप्युपेयताम्॥ ४२॥

इसपर जैमिनि मुनिने कहा—नौकर सेठकी बात लौकिक है। वहीं पर उक्त नियम लागू होगा। क्योंकि वहां अदृष्ट नहीं है। श्रुतिकथित यागादिकर्म और उसके फलमें यह रीति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि अदृष्ट (पुण्यपाप) द्वारकारण अलग है। श्रौतकर्मोंसे अदृष्ट होता है। द्वार या द्वारि दोमें एक भी हो तो भी कार्य होता है। जैसे अनुभव स्मृतिका कारण है। अनुभव एक साल पहले हुआ, आज स्मरण करते हैं, वह कैसे ? वहां बीचमें संस्कार द्वारकारण है। वैसे यहां भी अदृष्ट द्वारकारण है। तब कर्म भले नष्ट हो, अदृष्टसे फल क्यों नहीं होगा ?॥ ३९-४२॥

> न चादृष्टे प्रमाणं न समस्तीत्यपि सांप्रतम्।
> श्रुत्यादिवचनाल्लोकव्यवहाराच्च सिद्धितः॥ ४३॥
> नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
> अत्रादृष्टात्मकं कर्म वक्तव्यं सकलैरपि॥ ४४॥
> सूक्ष्मकर्माण्यदृष्टानि नष्टत्वात्स्थूलकर्मणाम्।
> कल्पकोटिशतस्थानि भोगक्षय्याणि संजगुः॥ ४५॥
> गण्डकीबाहुतरणात्करतोयातिलङ्घनात् ।
> कर्मनाशाजलस्पर्शाद्धर्मः क्षरति कीर्तनात्॥ ४६॥
> क्षरन्नत्र नु को धर्मो न स्थूलस्तदसंभवात्।
> अदृष्टलक्षणं कर्म स्वीकर्तव्यं बलात्ततः॥ ४७॥

अनुभवोत्तर संस्कार माना। किन्तु कर्मोत्तर अदृष्ट होता है इसमें क्या प्रमाण ? सुनो। स्मृत्यादि एवं लौकिक व्यवहार दोनों इसमें प्रमाण हैं। लिखा है—"करोड़ों कल्प बीत जाय लेकिन भोगे बिना कर्म नष्ट

नहीं होता ।।" कौन-सा कर्म नष्ट नहीं होता ? कर्म जब किया तभी खतम हो गया । वह करोड़ कल्पतक क्या, बादमें एक क्षणतक भी नहीं रहता । अतः पुण्यपापरूपी अदृष्ट ही कोटिकल्पपर्यन्त रहेगा । यही कहना पड़ेगा । वही भोगसे क्षीण होता है । दूसरा वचन देखिये–गण्डकी में हाथसे तैरनेसे, करतोया नदी लांघनेसे तथा कर्मनाशा नदीको छूनेसे भी धर्म नष्ट होता है और धर्म करके अपनी प्रशंसा करनेसे भी वह नष्ट होता है । यहां नष्ट होनेवाला धर्म कौन-सा है ? यागादि जब किया तभी नष्ट हो गया । वह गंडकीतक कहां पहुँचने वाला है ? अतः अदृष्ट को ही कर्मपदार्थ मानना होगा ।। ४३-४७ ।।

अयं स्वपिति धर्मात्मा पापी शेते विमूर्च्छितः ।
किंकर्तव्यविमूढः सन् धार्मिकोऽप्ययेव तिष्ठति ।। ४८ ।।

इत्येवं बहुधा लोका व्यवहारं प्रकुर्वते ।
धर्माधर्मौ कीदृशौ स्तां सुप्ते संमूर्च्छिते स्थिते ।। ४९ ।।
अदृष्टलक्षणौ तस्माल्लौकिकाः स्वयमञ्जसा ।
धर्माधर्मौ व्यवहृतौ यथास्थानं प्रयुञ्जते ।। ५० ।।

यह धर्मात्मा लेटा है, यह पापी मूर्च्छित पड़ा है, यह धार्मिक किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा है इत्यादि लौकिक प्रयोग होते हैं । निद्रा, मूर्च्छा, स्थिति आदि समयमें कौनसे धर्म और अधर्म हैं ? स्थूल कोई धर्माधर्म नहीं । अतः अदृष्ट ही को लोग आसानीसे बोल जाते हैं ।। ४८-५० ।।

अत्रापि च समाधानं बभाषे बादरायणः ।
क्रतौ सुप्ते तदा जाग्रत् फलयोगे महेश्वरः ।। ५१ ।।
अदृष्टानभ्युपगमे सुप्तिर्नाशो विवक्षितः ।
तदभ्युपगमे सुप्तिरदृष्टाभिभवो मतः ।। ५२ ।।
अदृष्टलक्षणं कर्म यदि च क्रतुशब्दितम् ।
प्रसुप्तं तिष्ठति हि तन्न जाग्रत्प्रायशः सदा ।। ५३ ।।
यदि चैतद्भवेज्जाग्रत् सद्यस्तस्य फलं भवेत् ।
अभिभूतं पुनस्तिष्ठेत्कल्पकोटिशतानि तत् ।। ५४ ।।
यदा कर्म भवेज्जाग्रत् फलं तर्हि प्रयच्छति ।
किन्तु को जागरयिता स महेशो न संशयः ।। ५५ ।।

जो अभी जैमिनिमत दिखाया उसका भी समाधान बादरायणने किया । समाधान इसप्रकार है कि क्रतु सुप्त होनेपर जगनेवाला ईश्वर

है। अदृष्ट न माननेके पक्षमें सुप्तका ध्वस्त अर्थ होगा। तदनुसार क्व कर्म प्रध्वस्तं कहा। यागादिकर्मसे अतिरिक्त अदृष्टको मानते हैं तो सुप्तका अभिभूत अर्थ होगा। कर्मजन्य अदृष्ट प्रायः प्रसुप्त रहता है। जागृत हो तो तुरत फल देता। अतः कल्पकोटिशत रहनेकी बात प्रसुप्त अवस्थाकी है। अदृष्ट ज्यों जागृत होगा त्यों फल देगा। किन्तु जगानेवाला कौन ? वह परमेश्वर ही अगत्या मानना होगा ॥ ५१-५५ ॥

एतदुक्तं भवत्यत्र कर्म सर्वं जडात्मकम्।
यथाकालं न हि फलं स्वयं दातुं समर्हति ॥ ५६ ॥

अस्तु सुप्तं न तु ध्वस्तं तथापि फलदं न तत्।
न हि स्वपन् हि पुरुषो दाति धावति भाषते ॥ ५७ ॥

तस्मात् कर्मानुसारेण ददाति फलमीश्वरः।
न जागरयितृत्वेनाप्येष कल्प्यो वृथा श्रमात् ॥ ५८ ॥

यहां तात्पर्यार्थ यह है कि अदृष्टको जगानेवालेके रूपमें ईश्वरकल्पना करनी ही पड़ती है तो ऐसा द्रविड प्राणायाम न कर सीधा ही कहो कि कर्मानुसार परमेश्वर ही फल देता है। कर्म जड़ होनेसे स्वयं फलदाता नहीं है। यथासमय फलदानार्थ जागृत होना उसका अपना काम नहीं। और सुप्तपुरुष जैसे चलता, फिरता काम करता नहीं; वैसे कर्म भी सुप्त हो तो फलदानार्थ आगे बढ़ नहीं सकता। अतः उक्त व्यवस्था ही उचित है ॥ ५६-५८ ॥

उन्निनीषत्यसौ साधु कारयन् परमेश्वरः।
असाधु कारयंश्चैवा-वनिनीषति स प्रभुः ॥ ५९ ॥

इत्येवं श्रुतिरप्याह फलदं परमेश्वरम्।
तस्मादीश्वर एव स्याद्यथाकालफलप्रदः ॥ ६० ॥

श्रुतिमें व्यपदेश भी है - परमेश्वर ही साधु कर्म कराकर ऊपर उठाता है। असाधु कर्म कराकर नीचे गिरता है इत्यादि ॥ ५९-६० ॥

यत्तु कालभिदापेक्षं कर्म स्यात्फलदं नृणाम्।
किं तत्र सुप्तजाग्रत्त्व वृथाचिन्तनखेदतः ॥ ६१ ॥

तदसत् कालभेदोऽस्तु फलदः किं नु कर्मणा।
न क्वचिद्व्यभिचारोऽस्ति तत्तद्धेतुत्ववर्णने ॥ ६२ ॥

यदि हेत्वन्तरं तेऽस्ति कार्यकारणभावतः।
चेतनस्ते कुतो नास्ति कार्यकारणभावतः ॥ ६३ ॥

इसपर हठी मीमांसक कहने लगे कि कर्म (अदृष्ट) अमुक समय आता है तो फल देता है। अर्थात् कालसापेक्ष होकर वह फल देता है। अतएव कर्मोंके सोने की बात करना ही बेकार है। उन हठी मीमांसकोंको यही उत्तर दिया जायेगा कि अमुक समय ही फल दे देगा कर्मको कारण माननेकी क्या जरुरत है? 'अमुक' शब्द ऐसा है कि फलपूर्वक्षण का बांध करायेगा। अन्य क्षण का नहीं। यदि कहते हो कि कर्म और फलका कार्यकारणभाव है तो क्या चेतन और फल का कार्यकारणभाव नहीं है ॥ ६१-६३ ॥

ननु कालस्य हेतुत्वमाम्रादिषु विलोकितम्।
तन्न ग्रीष्मादिवत् कालं वदानुगतमत्र च ॥ ६४ ॥

महाराज! आम समयपर फलता है, फूल समयपर आता है, वैसे कर्म समयपर फल देगा। काल भी कारण है। जी हां! ग्रीष्मादिकाल फलादिमें अनुगत नियत है। वैसे कर्मको फल देनेमें कौनसा अनुगत काल है? (पूरा जीवन कर्मका फल है। प्रत्येक क्षण फलदाता होगा। यहां कोई अनुगमक नहीं।) ॥ ६४ ॥

अत्र प्राहुर्जैमिनीया नव्याः पण्डितमानिनः।
प्रमाणं परमं तावच्छ्रुतिरेव न संशयः ॥ ६५ ॥
यजेत स्वर्गकामो हि ज्योतिष्टोमेन कर्मणा।
कर्मणः स्वर्गहेतुत्वमत्र स्पष्टमुदीरितम् ॥ ६६ ॥
आवश्यकं द्वारमात्रं तत्र कल्पयितुं क्षमम्।
तच्चादृष्टं न च द्वारमधिकं कल्प्यते मुधा ॥ ६७ ॥
देशकालादिभेदश्च सामान्यं कारणं भवेत्।
तदभावात् सुप्तवत्तु कर्म संतिष्ठते चिरम् ॥ ६८ ॥
कुसूलस्थं यथा बीजं नाङ्कुराय प्रकल्पते।
क्षेत्रकालजलाद्येत्य तदेव कुरुतेऽङ्कुरम् ॥ ६९ ॥
न चाननुगमो दोषः फलाननुगमस्थितेः।
सामन्यहेतुमत्त्वं हि तावता नैव हीयते ॥ ७० ॥
पुत्रशोकेन मृतये शप्तो दशरथः पुरा।
न तदैव फलं प्रापदन्यहेत्वनुपस्थितेः ॥ ७१ ॥
देशकालनिमित्तानि प्राप्य शापः स एव च।
रामे वनगते सद्यः प्रापयत्तं निजं फलम् ॥ ७२ ॥

ईशास्तित्वमतेऽप्येव देशकालाद्यपेक्षिता ।
तस्याप्यस्ति न हि स्वर्गमीशो दातीह जन्मनि ।। ७३ ।।
तस्मान्न फलदातात्र कल्पनीयो महेश्वरः ।
कर्मैव फलदं सिद्धं श्रुतिप्रामाण्यवादिनाम् ।। ७४ ।।

अपनेको पण्डित समझनेवाले नवीन मीमांसक कहते हैं—प्रमाण वेद ही है। वेद कहता है 'स्वर्गकामो यजेत'—यागसे स्वर्ग होता है। उसमें आवश्यक अदृष्ट द्वारमात्र कल्पनीय है। अधिक द्वारके रूपमें ईश्वरकी कल्पना व्यर्थ है। देशकालादि सामान्य कारण है। उसके अभावमें सुप्तवत् कर्म पडा रहेगा। जैसे कोठेमें बीज अंकुरको उत्पन्न नहीं करता। खेतमें समयपर पानी आदि मिलनेपर अंकुर उत्पन्न करेगा। देशकालका अननुगम जो पहले बताया वह दोष नहीं है। क्योंकि फल भी तो अननुगत है। उतनेसे कार्यकारणभावकी हानि नहीं मानी जाती। पुत्रशोकसे तुम मरोगे ऐसा शाप दशरथको मिला तो तुरत पुत्रशोकसे वे मर गये क्या? देशकालादि प्राप्त होनेपर वही शाप रामवनगमन होते ही फल गया। ईश्वरास्तित्वमतमें भी तो देशकालादिकी अपेक्षा है। क्या याग करनेपर बिना मरे यहीं स्वर्ग भगवान दे देते हैं? इसलिये फलदाताके रूपमें ईश्वरकल्पना करना निरर्थक है। श्रुतिप्रामाण्यवादियोंको कर्म ही फलदाताके रूपमें मान्य है ।। ६५-६४ ।।

अत्रोच्यते कथं श्रद्धा श्रुतिवाक्येषु जायताम् ।
फलदानप्रतिभुवं विनेति विनिगद्यताम् ।। ७५ ।।
अतस्तमेव संप्रेक्ष्य फले प्रतिभुवं शिवम् ।
श्रद्धां बद्ध्वा श्रुतौ लोको दृढोत्साहः सुकर्मसु ।। ७६ ।।
न चेतनं प्रतिभुवमन्तरोत्तरदायिनम् ।
कश्चित्प्रवर्तते लोके कं पृच्छेदफले सति ।। ७७ ।।

मीमांसकोंके प्रति सीधा जवाब है कि फल देनेमें प्रतिभू (जामीनदार, मध्यस्थादि) के बिना श्रुतिमें कैसे श्रद्धा होगी? भगवानको प्रतिभू देखकर ही श्रुतिमें श्रद्धाकर लोग वैदिक कर्मोंमें उत्साही होते हैं। चेतन उत्तरदायी प्रतिभू के बिना कोई कार्यमें प्रवृत्त नहीं होगा। निष्फलता हुई तो आखिर किसके पास जाकर पूछेंगे? ।। ७५ ७७ ।।

शूलारुढं करोति स्म माण्डव्यं राजशासनम् ।
अपृच्छत् स यमं गत्वा तत्र हि प्रतिभूर्यमः ।। ७८ ।।
श्रुतिर्जडा जडं कर्म पृच्छेद्वा कतरं नरः ।
वैफल्यं बहुधा दृष्टं कारणेषु हि सत्स्वपि ।। ७९ ।।

महर्षि माण्डव्यको राजशासनसे सूलीपर चढ़ाया । माण्डव्यने यमराजको जाकर पूछा, मुझे क्यों सूलीपर चढ़ाया । क्योंकि वहां प्रतिभू यमराज है । इधर श्रुति भी जड है, कर्म भी जड़ है । मनुष्य किसको पूछें जाकर ? कारणोंके होनेपर भी बहुधा विफलता देखनेमें आती है ॥७८-७९॥

स्वर्गोऽलम्भीति च हि न दृष्टं केनापि नेरितम् ।
कथं तत्र हि विश्वासः शक्यः कर्तुं मनीषिणा ॥ ८० ॥

श्रुतिर्वक्तीति चेत् कस्माद्विश्वास्या भवति श्रुतिः ।
नास्तिकोऽसीति चेदाद्यं प्रश्नस्य निगदोत्तरम् ॥ ८१ ॥

श्रद्दधापयिषत्यद्धा दण्डेन बलतो भवान् ।
दुर्विभीषकया किं वा स्वयं यो नास्तिकायते ॥ ८२ ॥

स्वर्ग मिला ऐसा किसीको याद नहीं, देखा नहीं किसी अनुभवीने बताया नहीं । तब विचारशील उसपर कैसे विश्वास करेगा ? पूर्वपक्षी :— श्रुति कहती हैं, मानो । उत्तर :—क्यों श्रुतिपर विश्वास करना चाहिये ? पूः—श्रुतिका अनादर करनेवाले तुम नास्तिक हो । उ०—तुम पहले प्रश्नका उत्तर दो फिर आरोप लगाओ । क्या डंडेके बलसे श्रुतिपर श्रद्धा करवाना चाहते हो ? या आरोपकी विभीषिका दिखाकर ? ईश्वरको न मानते हुए स्वयं नास्तिक बन रहे हो और दूसरेको नास्तिक बोल रहे हो ॥ ८०-८२ ॥

ननु चेश्वरवादी त्वमीश्वरं दृष्टवान् किमु ।
पृष्टवान् वाऽऽह स त्वां वा कथं विश्वसिषीति चेत् ? ॥ ८३ ॥
दृष्टवानीश्वरमहं यथा गुरुभिरीरितम् ।
किन्त्वीषत्तावता जातो गुरुषु प्रत्ययो मम ॥ ८४ ॥

गुरवः खलु मामाहुर्ददृशुस्ते महेश्वरम् ।
पूर्वर्षयस्तु पप्रच्छुस्ताञ्जगौ च महेश्वरः ॥ ८५ ॥

अष्टकोटिं प्रजप्यापि मन्त्रं तु मधुसूदनः ।
न लेभे तत्फलं तत्र काश्च्यां यतिरुपागमत् ॥ ८६ ॥

पृष्टः स न फलं कस्मान्म्रियेयाहं वृथा श्रमः ।
स त्वाह ब्रह्महत्या ते विनष्टेतावता यते ॥ ८७ ॥

पुनर्यतस्व भगवद्दर्शनं लप्स्यसे ततः ।
यतित्वा च यतिः पश्चाल्लेभे दर्शनमैश्वरम् ॥ ८८ ॥

भगवान् यतिरूपेण संगत्य मधुसूदनम् ।
रहस्यं न्यगदीदेष चेतनः परमेश्वरः ॥ ८९ ॥

स्वर्गको किसीने देखा इसका हम प्रतिबन्दी उत्तर देते हैं—क्या तुमने ईश्वरको देखा ? उनसे कुछ पूछा ? और ईश्वरने तुमको कुछ जवाब दिया ? कैसे तुम ईश्वरके विषयमें विश्वास करते हो ? सुनो। हमने ईश्वरको देखा है जिसप्रकार गुरुओंने वर्णन किया। हाँ अल्पदर्शन हुआ। इतनेसे हमें विश्वास हो गया है। गुरुओंने अच्छी तरह देखा। पूर्वर्षियोंने देखा भी, पूछा भी और जवाब भी पाया। श्रीमन्मधुसूदनजीने आठ करोड़ जप किया। फल प्राप्त नहीं हुआ। तो आत्महत्या करनेको सोचने लगे। तत्काल सन्यासी वहां आये और बोले तुम्हारे जपसे पूर्वकृत एक ब्रह्महत्या-पाप समाप्त हो गया। अब दुबारा प्रयास करो मधुसुदनजीने वैसा ही किया और अन्ततः सम्यग् दर्शन पाया। कहते हैं पूर्वमें यतिरूपसे आनेवाले प्रतिभू भगवान महेश्वर ही थे ॥ ८३-८९ ॥

त्वं तु ब्रूहि मया दृष्टस्त्रिदिवः पूर्वजैरुत।
नैव शक्यं तथा वक्तुमदृष्टफलशंसिनः ॥ ९० ॥
योगिनोऽपि निराकुर्वन् दिवं च खसुमाययन्।
केवलं दण्डबलतः श्रद्धापयसि किं श्रुतिम् ॥ ९१ ॥

अब आप मिमांसक महोदय ही बताईए कि आपने स्वर्ग देखा या आपके पूर्वजोंने स्वर्ग देखा जिन्होंने आपको बताया। दोनों ही सम्भव नहीं। क्योंकि स्वर्गको आप दृष्टफल ही नहीं मानते। यहां तक कि आप सर्वज्ञ-कल्प योगियोंको भी नहीं मानते। क्योंकि तब योगियोंके द्वारा अधिगतार्थका बोधक होनेसे वेदोंमें प्रमाणता नहीं रहेगी। तब श्रुतियोंमें श्रद्धा तो डंडेके बलसे ही आप कराना चाहेंगे ॥ ९०-९१ ॥

ननु च प्रालम्भंस्त्वां गुरवस्त्वीश्वरेक्षणे।
मीलिताक्षोऽसदालोक्य प्रलब्धः स्वयमेव च ॥ ९२ ॥
तन्नाप्तवाक्यप्रामाण्यं तदा दत्ततिलाञ्जलि।
वेदा अध्येत एवेति कथं ते निश्चयो वद ॥ ९३ ॥
न च वीक्ष्य फलं कारीर्यादेः श्रद्दध्महे वयम्।
बहुधा तत्फलादृष्टेरन्यतो वृष्टिसंभवात् ॥ ९४ ॥
वेदप्रामाण्यसिद्धौ हि कारीर्याः फलहेतुता।
सिद्धयेत्तत्सिद्धितस्तच्चेत्यन्योन्याश्रयता स्फुटा ॥ ९५ ॥
गुरुभिः प्रोक्तमार्गेण यथोक्तं पश्यतां सताम्।
अस्माकं तु कुतस्तावदविश्वासः प्रसज्यताम् ॥ ९६ ॥

मीमांसक :—अरे ! गुरुओंने तुमको ठगा । हमलोगोंने ईश्वर देखा ऐसा कहने लगे । और तुम भी आंख मूंदकर बैठे तो कुछ झुठा ही दृश्य देखने लगे तो स्पयं भी ठगे गये । उत्तरः—इसप्रकार ठगोंकी बात चल पड़ेगी तो आप्तवाक्यकी प्रमाणता ही समाप्त हो जायेगी । फिर हम भी कहेंगे कि कुछ ग्रंथ दिखाकर तुमको भी गुरुओंने ठग लिया और बोल दिया ये वेद हैं। तो ये ही वेद हैं ऐसा आपको निश्चय किस प्रकार हुआ ? यह कहें कि वेदानुसार करीरी आदि किया, वृष्टिफल हुआ तब निश्चय हुआ ये वेद हैं, तो बराबर नहीं है । कारीरी आदि किये जानेपर भी फल सामने नहीं आता । और कारणान्तरसे भी वृष्टि होती है । यह कहना संगत नहीं है कि वेदसे करीरी करनेपर वृष्टि होना बताया गया और फल न हुआ तो कोई प्रतिबन्धक अवश्य रहा होगा, । क्योंकि वेदप्रामाण्य सिद्धिके बादकी यह बात है । वेदप्रामाण्यसिद्धिके लिये तो आप कारीरीको प्रस्तुत कर रहे हैं । तब यह अन्योन्याश्रय दोष हो गया । हमारा तो ऐसा है कि गुरुजीने कहा—ऐसी उपासना करो, प्रथम ऐसा अनुभव होगा, बादमें ऐसा । प्रथम वैसा हो गया । तब बादके फलमें क्यों अविश्वास होने लगा ? ॥ ९२-९६ ॥

अर्वाचीनपदं धृत्वा समये समये शिवः ।
प्रतिबोधयते लोकांस्ततः श्रद्धा प्रजायते ॥ ९७ ॥
पारम्पर्याज्ज्ञायतेऽसौ पुराणादौ च पठ्यते ।
स्वेनानुभूयते चापि विश्वास्यस्तत ईश्वरः ॥ ९८ ॥
तेनोपदिष्टताहेतोस्तस्य च प्रतिभूत्वतः ।
श्रद्धां बद्ध्वा श्रुतौ लोकः कर्मस्वेष प्रवर्तते ॥ ९९ ॥

समय समयपर अर्वाचीन रूप धारणकर भगवान शिव लोगोंको बोध कराते हैं। अतः श्रद्धा उत्पन्न होती है । परमेश्वरका अवगम गुरुपरम्परासे, पुराणवर्णनसे एवं स्वानुभूतिसे होता है । तब ईश्वरमें विश्वास भी होता है । परमेश्वरोपदिष्ट वेदोक्त होनेसे तथा स्वयं परमेश्वर फलदान-प्रतिभू होनेसे श्रुतिमें श्रद्धा रखकर लोग कर्ममें प्रवृत्त होते हैं ॥ ९७-९९ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
इत्युक्तेस्त्रिविधं कर्म गीताभिमतमीक्ष्यते ॥ १०० ॥
मुख्यतस्तु द्विधा कर्म बाह्यं मानसमेव च ।
यज्ञस्तवादिकं बाह्यमन्यन्मानसपूजनम् ॥ १०१ ॥
बाह्यं वा प्रबलं कर्म मानसं वेति चेच्छृणु ।
लोके बाह्यं तथा प्रायः प्रायोऽमुत्र तु मानसम् ॥ १०२ ॥

"शरीरवाङ्मनोभिः" इस गीता वचन से शारीरादि तीन कर्म प्रतीत होते हैं। मुख्यतया बाह्य और मानस दो ही कर्म हैं। यज्ञ, स्तुति आदि बाह्य और मानसपूजनादि द्वितीय है। लोकमें प्रायः बाह्य प्रबल होता है। परमार्थमें मानस प्रायः प्रबल होता है ॥ १००-१०२ ॥

मानसं भोजनं दत्त्वा क्षुधां न शमयेन्नृणाम्।
मानसं पूजनं कृत्वा तोषयेच्छंकरं जनः ॥ १०३ ॥
आसनं कल्प्यते रत्नैः स्नानं हिमजलैस्तथा।
दिव्याम्बरादिकं चैव मानसं सर्वथोत्तमम् ॥ १०४ ॥

मानस भोजन देनेसे लोगोंकी क्षुधानिवृत्ति नहीं होती। हां, मानस पूजन से शंकर प्रसन्न होंगे। मानस रत्नासन, मानस हिमजलस्नान, मानस दिव्याम्बरादि उत्तम है। "रत्नैः कल्पितमासनं" इत्यादि द्रष्टव्य है ॥ १०३-१०४ ॥

बाह्यं वा मानसं वापि कर्म नाम भवत्विदम्।
फलदः परमेशानो नैव तत्रास्ति संशयः ॥ १०५ ॥
अदृष्टमिष्यतां तत्र विरोधो नो न विद्यते।
नेष्यतां भगवान् स्मृत्वा फलं दातीत्युपेयताम् ॥ १०६ ॥
कर्मनाशाजलस्पर्शप्रभृतौ परमेश्वरः।
नास्मै देयं फलमिति चिन्तयेत् क्षरणं हि तत् ॥ १०७ ॥
सर्वथाप्येव फलदो बाह्यमानसकर्मणोः।
चेतनः परमेशानो न जडो नास्ति संशयः ॥ १०८ ॥

कर्मजन्य अदृष्ट को मानिये तो हमारा विरोध नहीं। यदि न मानें तो भी कोई बात नहीं। परमेश्वर कर्मस्मरण कर फल दे सकते हैं। कर्मनाशाजलस्पर्शादि होनेपर इसको कर्मका फल नहीं देना है ऐसा परमेश्वर सोचते हैं। यही कर्मक्षरण है। जो भी हो, फलदाता तो चेतन परमेश्वर ही है ॥ १०५-१०८ ॥

पुरुषाराधनं तावत्फलोत्कर्षप्रयोजकम्।
न तु हेतुर्विनाप्येव पापकर्मफलोद्भवात् ॥ १०९ ॥

"पुरुषाराधनमृते" यहां पुरुषाराधनसे फलोत्कर्ष अभिप्रेत है। वह हेतु नहीं है। पापी पुरुषाराधन नहीं करता फिर भी पापफल उसको मिलता है ॥ १०९ ॥

यद्वात्र पुरुषेणेति चेतनेनेत्युदीर्यते।
आराधनं नाम फलप्रापणं च विवाक्षतम् ॥ ११० ॥

अथवा पुरुष अर्थात् चेतनके द्वारा आराधन अर्थात् फल प्रदान करें तो ही कर्म फलवान है ऐसी व्याख्या करना ।। ११० ।।

पुरुषागस्तु नो कार्यं विपरीतफलप्रदम् ।
एतत्तु वक्ष्यतेऽग्रे तु तथा व्याख्येयमत्र च ।। १११ ।।

हां, पुरुषापराध तो विपरीतफलकारी है यह कहा जायेगा । वैसी व्याख्या यहां करें ।। १११ ।।

विनेश्वरं नैव फलसंभवोऽस्तीत्युदीर्यते ।
सम्यक् फलति कर्मैतत्पुरुषाराधनादिति ।। ११२ ।।

अथवा ऐसी व्याख्या कीजिये —ईश्वरके विना फल तो हो ही नहीं सकता । पूर्णफल पुरुषाराधनसे ही होता है ।। ११२ ।।

आराधनं साधने स्यादवाप्तौ तोषणेऽपि च ।
सत्कर्मजनितो वृत्तिविशेषस्तोष ईशितुः ।। ११३ ।।
असत्कर्मभवो वृत्तिविशेषो रोष उच्यते ।
तोषमुख्यविवक्षातो रोषो नोदीरितोऽत्र वा ।। ११४ ।।

कोशोंमें आराधनका साधन, प्राप्ति (णिजन्त हो तो प्रापण), तोषण ऐसे नानार्थ बताये हैं । मनुष्यकृत सत्कर्मसे "इसे स्वर्गादि फल दूं" ऐसी जो मायावृत्ति होती है वही तोषण है । असत्कर्मसे इसे नरकादि दूं ऐसी वृत्ति भी होती है जोईश्वरका रोष कहलाती है । किन्तु यहां "श्रुतौ श्रद्धां" के अनुसार तोषणकी मुख्यता होनेसे रोषका वर्णन नहीं किया ऐसी व्याख्या भी सुगम है ।। ११३-११४ ।।

अशेषफलदातारमाराध्यं पुरुषं परम् ।
भवबन्धापहं देवं वन्देमहि महेश्वरम् ।। ११५ ।।

समस्त कर्मफलदाता, आराधनीय परम पुरुष, भवबन्धहारी चिद्रूप महेश्वरकी हम बन्दना करते हैं ।। ११५ ।।

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रविवृतौ विंशः स्पन्दो विनिर्गतः ।। २० ।।



एकविंशः श्लोकः

पुरुषाराधनं कार्यं फलोत्कर्षप्रसिद्धये ।
फलदः पुरुषश्चेति व्याख्यया दर्शितं मया ॥ १ ॥
पुरुषं तु तिरस्कृत्य कृतं सत्कर्म चाफलम् ।
विपरीतफलं चेति संप्रत्येतेन वर्ण्यते ॥ २ ॥

कर्मफलोत्कर्षार्थं पुरुषाराधन करना चाहिये । कर्मफलदाता भी वही पुरुष परमेश्वर है इत्यादि हम ने व्याख्या में दिखाया । भगवत्तिरस्कार करनेपर निष्फलता और विपरीतरिणाम दोनों यहां दिखा रहे हैं ॥ १-२ ॥

यदाराधानतः सम्यक् फलं तद्विपरीततः ।
अशुभं तत्तिरस्कारात् स कथं नैव सिध्यति ॥ ३ ॥
न क्वापि शशश्रृङ्गादितिरस्कारादरादितः ।
फलभेदोऽस्त्यतो भक्त्या कर्मठाः भजतेश्वरम् ॥ ४ ॥

जिसकी आराधनासे सम्यक् फल होता है और उससे विपरीत जिसके तिरस्कारसे अशुभ होता है वह परमेश्वर कैसे सिद्ध नहीं है ? शशश्रृंगके तिरस्कार या आदरका कोई मतलब नहीं होता । अतः हे कर्मठो ! भक्तिसे शिवभजन करो ॥ ३-४ ॥

इत्येतद् वक्तुमधुना दक्षोदाहरणोक्तितः ।
सत्त्वेन सिद्धस्येशस्य फलदत्वं समर्थ्यते ॥ ५ ॥

इस वातको बतानेके लिये दक्षोदाहरण प्रस्तुतकर अस्तित्वेन सिद्ध ईश्वरका फलदातृत्व समर्थन करते हैं ॥ ५ ॥

अनीशवादी दक्षोऽभूदश्रद्धश्च महेश्वरे ।
महानपि मखस्तस्य स्वविनाशकरोऽभवत् ॥ ६ ॥

दक्ष अनीश्वरवादी था । महेश्वरमें श्रद्धा नहीं रखता था । अतएव उसका विशाल भी यज्ञ स्वनाशकारी सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

ननु दक्षः परं मेने ज्यायांसं पुरुषोत्तमम् ।
वर्षीयांस च धातारं कुतोऽस्यानीशवादिता ॥ ७ ॥
न, ज्यायस्त्वकनीयस्त्वे विद्यते न परेश्वरे ।
ज्यायांसश्च कनीयांसो भवेयुर्देवदानवाः ॥ ८ ॥

यस्मान्नास्ति परं नैवापरं किंचन विद्यते।
नाणीयान्नापि च ज्यायानित्येवं श्रुतिषु श्रुतम् ॥ ९ ॥

पूर्वपक्षः—दक्ष पुरुषोत्तम विष्णुको श्रेष्ठ तथा ब्रह्माको पिता मानता था। वह अनीश्वरवादी किस प्रकार ? उत्तरः- बडप्पन या छोटापन परमेश्वरमें नहीं है। छोटे बड़े तो देवदानवादि होते हैं। श्रुतिमें कहा है—जिससे पर या अपर, ज्येष्ठ या कनिष्ठ नहीं है वही परमपुरुष है। (उसे दक्ष कहां जानता और मानता था ?) ॥ ७-९ ॥

यामिषुं गिरिशन्तेति चेशं ज्ञात्वा तमित्यपि।
वेदाहमेतं पुरुषमिति चाम्नाय सुस्फुटम् ॥ १० ॥
यस्मात्परं नापरं वा नाणीयो ज्याय एव वा।
इति पेठुः क्रमेणैव श्वेताश्वतरशाखिनः ॥ ११ ॥
तथा च यत्परं तत्त्वं स ईशः पुरुषः स च।
गिरिशन्तः स एवेति निश्चितं भवति श्रुतेः ॥ १२ ॥
एतेन पौरुषे सूक्ते पुरुषो विष्णुरुच्यते।
इत्येवं ये हठाद्वूचुर्निरस्तास्ते त्ववैदिकाः ॥ १३ ॥
विष्णुशब्देन यदि तु त्रिपाद् ब्रह्म विवक्ष्यते।
तदाऽविवादो नः शब्दकलहस्य वृथात्वतः ॥ १४ ॥
तदेव परमं तत्त्वं स ईशः पुरुषः स च।
गिरिशन्तः स खलु तं दक्षोऽवज्ञातवान् शिवम् ॥ १५ ॥
वृक्षवत् स स्थिरस्थानः स्वप्रकाशो दिवि स्थितः।
एकोऽयमद्वितीयत्वात्तेन पूर्णमिदं जगत् ॥ १६ ॥

किन्तु ज्यायस्त्व, कनीयस्त्व रहित तत्त्वका दक्षने अनादर नहीं किया। शंकरका किया। इसका उत्तर है कि वही परतत्त्व शंकररूप है। श्वेताश्वतरोपनिषत्में प्रथम "यामिषुं गिरिशन्त हस्ते" इत्यादि शंकरमन्त्र पढ़ा (उससे पूर्व "या ते रुद्र शिवा" यह मन्त्र भी आया है यह दृष्टव्य है) फिर "ततः परं ब्रह्म""ईशं तं ज्ञात्वा" इस प्रकार ईशरूपमें उसीका वर्णन आया। (एको हि रुद्रो य इमाल्ँलोकानीशते" ऐसा पहले भी आया है) उसके बाद "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" इस प्रकार पुरुषरूपेण वर्णन किया। उसीको फिर "यस्मात्परं नापरं" इत्यादिसे निरूपति किया। इससे यह निश्चित है कि जो पर तत्त्व है वही ईश, वही पुरुष, वही गिरिशन्त रुद्र है। अतएव पुरुषसूक्तमें पुरुषपदका विष्णु अर्थ सिद्ध करनेकी कुछ लोगों की कोशिश उनकी अवैदिकताको ही सिद्ध करती है। क्योंकि श्वेताश्वतरमें

इसी रुद्राध्यायमें सहस्रशीर्षा पुरुषः इत्यादि मन्त्रोंको भी शिववर्णनरूपेण स्पष्ट पढ़ा है। अतएव उनकी यह हठवादिता मात्र है। विष्णु शब्दका व्यापक अर्थ लेकर उसका तात्पर्य यदि त्रिपादब्रह्म में है, ऐसा कहते हैं तो हमारा कोई विवाद नहीं है। क्योंकि हम व्यर्थ शब्दकलहमें पड़ना नहीं चाहते। उस परमतत्त्वाभिन्न ईश पुरुषादिपदार्थ गिरिशन्तकी दक्षने अवज्ञा की थी। "वृक्ष इव स्तब्धः" इत्यादि शेष श्रुतिका अर्थ हैं वह वृक्षके समान अचल हैं। "दिवि तिष्ठति" अर्थात् स्वप्रकाशरूप है। "एको" अर्थात् अद्वितीय है। उससे यह जगत् पूर्ण है—भरा है ॥ १०-१६ ॥

तेनाभिन्ननिमित्तोपादानेन पुरुषात्मना।
पूर्णं जगदिदं सर्वं घटादीव मृदादिभिः ॥ १७ ॥

विना मृदं कुम्भकारोऽनीश्वरो घटनिर्मितौ।
विना दण्डमनीशश्च वर्षीयान् गमने नरः ॥ १८ ॥

एवं विना द्वितीयेन जगत्कर्तुं न शक्नुयात्।
यदीशोऽनीश एवायं द्वैतिनामीशनामभृत् ॥ १९ ॥
विष्णवे शिपिविष्टायेत्यादिमन्त्रोक्तदेवताः।
कामं यजन्तु किन्त्वीशं नेजुर्मीमांसकाः परम् ॥ २० ॥
द्रव्यत्यागसमुद्देश्या देवता नेश्वरो भवेत्।
किन्तु सर्वसमर्थं हि मन्महे परमेश्वरम् ॥ २१ ॥
तदभिन्नश्च भवति रुद्ररूपो महेश्वरः।
दक्षो नैवोभयं मेने तेनानीश्वरवाद्ययम् ॥ २२ ॥

"येनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं" अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादान पुरुषरूप परमात्मासे जगत उसी प्रकार पूर्ण है जैसे घटादि मृदादिसे पूर्ण है। कुम्हार बिना मृत्तिका घट नहीं बना सकता। अतः वह अनीश है। अतिवृद्ध बिना डंडा चल नहीं सकता। अत चलनेमें वह अनीश है। इसी प्रकार विना द्वितीय ईश्वर जगत्निर्माण करनेमें असमर्थ है तो वह भी अनीश्वर हुआ। असमर्थ, अनीश्वर ये पर्यायवाची हैं। ऐसा अनीश्वर ही द्वैतवादियोंके यहां ईश्वरनामधारी है। यद्यपि मीमांसकादि "विष्णवे शिपिविष्टाय" इत्यादि मन्त्रोक्त विष्णुदेवताका यजन करते हैं, किन्तु भले वे वैसा यजन करते हों, ईश्वरका यजन तो नहीं ही करते। "देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागो यागः" ऐसा बताया है। उस यागोद्देश्य देवताको हम ईश्वर नहीं मान सकने। किन्तु जो सर्वसमर्थ होगा उसे ही हम ईश्वर मान सकते हैं, क्योंकि ईश्वर शब्दका अर्थ ही है सर्वसमर्थ। उस परमेश्वरसे

अभिन्न है रुद्ररूपी महेश्वर। दक्षप्रजापति भेददर्शी होनेसे न तो पूर्णपुरुष परमशिवको मानते थे और न तदभिन्न उपस्थित रुद्रको ही। अतएव दक्ष अनीश्वरवादी था ॥ १७-२२ ॥

अनीशवादी सन्नेष शंकरं परमेश्वरम् ।
तिरश्चकार तस्यैव फलमत्रानुवर्ण्यते ॥ २३ ॥

अनीश्वरवादी होकर दक्षने शङ्करका जो तिरस्कार किया उसीका फलवर्णन यहांपर करते हैं ॥ २३ ॥

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।
क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥२१ ॥

दक्ष प्रजापति स्वयं कर्मोंमें दक्ष थे, प्रजाओंके पति थे। ऋषिगण ऋत्विक् थे। सुरगण यज्ञसदस्य थे। आप स्वयं यज्ञादिकर्मफल देनेमें उत्साही ठहरे, शरणदाता ठहरे। फिर भी ऐसे व्यक्तियों के यज्ञका ध्वंस आपसे ही हुआ। कहना ही होगा कि श्रद्धारहित यज्ञ विनाशका ही कारण होता है। २१ ॥

परमश्रद्दधानस्य हेडमानस्य धूर्जटिम् ।
मखोऽपि स्वविनाशाय कल्पतेऽज्ञस्य मानिनः ॥ २४ ॥

परमशिवकी श्रद्धासे रहित होकर शङ्करका जो तिरस्कार करते हैं ऐसे अज्ञानी अभिमानियोंका यज्ञ भी स्वविनाशकारी होता है ॥ २४ ॥

परतत्त्वं हि परमः शिव इत्यभिधीयते ।
स एव त्र्यम्बकः शम्भुरर्वाचीनपदस्थितः ॥ २५ ॥

परतत्त्व ही, परमशिव है, वही अर्वाचीनपद स्थित होनेपर त्रिनयन शङ्कर कहलाते हैं ॥ २५ ॥

तमनुत्तरमूर्तिं हि जगौ परशिवं श्रुतिः ।
कस्माच्चिन्नोत्तरो यस्तु यस्मादन्यन्न चोत्तरम् ॥ २६ ॥
स्वेच्छया स च पस्पन्दे स स्पन्दः शिव उच्यते ।
यत्रेच्छायां जगत्सर्वं बीजरूपेण वर्तते ॥ २७ ॥
स स्पन्दः शिवतत्त्वात्मा त्र्यक्षः पञ्चाननोऽभवत् ।
तस्य वामाङ्गतो ब्रह्मा मुकुन्दो दक्षिणाङ्गतः ॥ २८ ॥

हृदयाच्चाभवद्रुद्रः स सदाशिव उच्यते।
हृदयोत्थः स्वरूपस्थः शिवाभिन्नः सदाशिवः ॥ २९ ॥
स विष्णुर्जलसृष्ट्यूर्ध्वं भगवान् जलशाय्यभूत्।
तस्यैव नाभिकमले स ब्रह्मा प्रकटः स्थितः ॥ ३० ॥
एतावन्मात्रतो ब्रह्मा नाभिजन्मेति भण्यते।
न त्वस्य नाभितो जन्म शिववामाङ्गजन्मनः ॥ ३१ ॥
ब्रह्मणो भ्रूकुटेश्चैव रुद्रोऽभूत्प्रकटस्ततः।
भ्रूजन्मा तावता प्रोक्तो वस्तुतः शिवहृद्भवः ॥ ३२ ॥
विधिभ्रूकुटिजं रुद्रं दक्षो वेदाल्पशेमुषिः।
नानुत्तरं न च शिवं न सदाशिवमप्यसौ ॥ ३३ ॥

उस परमशिवको अनुत्तरमूर्ति कहते हैं—जो किसीसे उत्तर नहीं, जिससे कोई उत्तर नहीं, वही अनुत्तर है। वह अनुत्तरमूर्ति परमशिव स्वेच्छासे स्पन्दित हुआ। वही स्पन्द शिव कहलाया। उस इच्छामें समस्त जगत बीजरूपेण स्थित है और वह स्पन्द त्रिलोचन पञ्चानन शिवरूपमें स्थित हुआ। उस शिवके वामाङ्गसे ब्रह्मा, दक्षिणाङ्गसे विष्णु और हृदयसे रुद्र हुआ। यही रुद्र सदाशिव कहलाया। एक तो शिवके हृदयसे प्रकट हुए, दूसरे निरन्तर स्वरूप शिवमें लीन रहते हैं। इसलिये सदाशिव हुए। आकाशादि क्रमसे जलसृष्टिके बाद वही दक्षिणाङ्गोत्पन्न विष्णु जलशायी बने। उनके नाभिकमलमें वही वामाङ्गज ब्रह्मा प्रकटरूपसे स्थित हुए। इतनेमात्रसे ब्रह्माको नाभिजन्मा कहते हैं। वस्तुतः वे नाभिजन्मा नहीं, किन्तु शिववामाङ्गजन्मा हैं। ब्रह्माजीकी भ्रुकुटीसे वे ही हृदयज रुद्र प्रकट हुए। इतनेको लेकर ब्रह्माकी भ्रूसे उत्पन्न कहते हैं। वस्तुतः शिवके हृदयसे उत्पन्न हैं। परन्तु दक्षप्रजापति यही समझता था कि शङ्कर ब्रह्माकी भ्रूकुटिसे पैदा हुए अतः ब्रह्मपुत्र हैं। दक्ष न तो अनुत्तर परमशिवको जानता था, न स्पन्दात्मा शिवको और न हृदयोद्भव सदाशिवको ही ॥ २६-३३ ॥

ब्रह्मभ्रूजन्मतो नैव रुद्रस्य न्यूनतोचिता।
न हि कृष्णादिषु तथा न्यूनत्वमवलोक्यते ॥ ३४ ॥
ब्रह्मणोऽत्रिस्ततश्चन्द्रस्ततश्चैव बुधादयः।
एवं शततमो जातः श्रीकृष्णो वसुदेवतः ॥ ३५ ॥
एतावता किमु हरिं ब्रह्मणो मन्यसेऽवरम्।
न चैवं मूलतो विष्णुर्दक्षिणाङ्गसमुद्भवः ॥ ३६ ॥

अतो ब्रह्मा स्वयं कृष्णमहिमानमवेक्ष्य तम् ।
प्राणमत्तच्च कथितं श्रीमद्भागवतादिषु ।। ३७ ।।
उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पदयोः पतन् ।
आस्ते महित्त्वं प्राग् दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ।। ३८ ।।
ननु भो परमं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधासधात् ।
किमनेन स जातस्तु वसुदेवान्न संशयः ।। ३९ ।।

ब्रह्माजीकी भ्रूकुटिसे उत्पन्न होने मात्रसे न्यूनता मानना उचित नहीं है। क्या श्रीकृष्णादिमें न्यूनता थी ? ब्रह्मासे अत्रि, अत्रिसे चन्द्रमा, उससे बुध पुरूरवा आदि सौवीं पीढ़ीमें आकर वसुदेवसे श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए तो क्या श्रीकृष्णको ब्रह्मासे न्यून मानते हो ? नहीं । मूलतः विष्णु है । वह शिवजीके दक्षिणांगसे उत्पन्न है । इसीलिये ब्रह्माने कृष्णकी अपार महिमा देखकर स्वयं उन्हें प्रणाम किया । यह भागवतादिमें स्पष्ट है । वहां श्लोकमें कहा है– बार बार उठकर फिर फिर श्रीकृष्णचरणोंमें ब्रह्मा पड़ने लगे । उनकी महिमाको ब्रह्माने देख लिया था । हे महाराज ! कृष्ण तो साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं । वे क्यों न्यून होंगे ? जी हां, इससे क्या मतलब ? आखिर वे पैदा वसुदेवसे हुए न ? वैसे रुद्रमें भी बात है । अतः रुद्रकी न्यूनता कहना भी कैसे संगत होगा ? ।। ३४-३९ ।।

स्पन्दात्मकमिदं सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।
शब्दस्पर्शाविषयश्चैव शिवः स्पन्द इतीरितः ।। ४० ।।

यह संपूर्ण जगत स्पन्दरूप है । चाहे चर हो चाहे अचर । शब्द-स्पर्शादि सभी स्पन्द ही है (सभी वायबरेशन मात्र है ।) और शिव ही स्पन्द है ।। ४० ।

यो ह्यनुत्तरमूर्तिः स ज्ञानेच्छाद्यविभागतः ।
तिष्ठत्यतः शक्तिशिवसामरस्यं तदुच्यते ।। ४१ ।।

जो अनुत्तरभूर्ति बताया वह ज्ञानेच्छादिविभागशून्य होकर स्थित है । अतः उसे शिवशक्ति सामरस्य कहते हैं ।। ४१ ।।

स्पन्दः शिवः प्रकाशाख्यो विमर्शस्तस्य योऽभवत् ।
सा शिवा परमेशानी तदभेदेन तिष्ठति ।। ४२ ।।

स्पन्द शिव है, वही प्रकाश है । उसका जो विमर्श हुआ वह शिवा अम्बिका है । वह शिवसे अभिन्न होकर रहती है ।। ४२ ।।

सदाशिवोऽन्तः समभूज्जगदम्बा च साऽभवत् ।
सैव दक्षस्य दुहितृरूपेण समजायत ॥ ४३ ॥

शिवसे सदाशिव हुआ। और शक्ति जगदम्बा हुई। फिर वही दक्ष-पुत्री सतीके रूपमें अवतीर्ण हुई ॥ ४३ ॥

तां मेने तनयां दक्षो हरं जामातरं तथा ।
पुत्रस्थानीयमेनं च शासनीयममन्यत ॥ ४४ ॥

जगदम्बाको दक्षने पुत्री समझा और हरको जामाता। पुत्रस्थानीय होनेसे शंकरको शासनीय भी मानने लगा ॥ ४४ ॥

सप्रजापतिभिर्देवैः सिद्धैरृषिभिरावृताम् ।
प्रविवेश सभां दक्षो यत्र ब्रह्मा शिवोऽपि च ॥ ४५ ॥
अभ्युत्थितास्तत्प्रवेशे सर्वे विधिशिवौ विना ।
पितेति दक्षश्चरणौ पस्पर्श परमेष्ठिनः ॥ ४६ ॥
घूर्णयंश्चक्षुषी रुद्रस्वैक्षिष्ट दहन्निव ।
अवोचदपि सर्वेषां सभ्यानां शृण्वतां सताम् ॥ ४७ ॥
नासूयया न दर्पेण सभ्याः प्रतिवदाम्यहम् ।
अयं हि शिष्यतां यातः शिष्टाचारान् विलङ्घते ॥ ४८ ॥
अतो ब्रवीम्यहमयमाचारः शोभतेऽस्य किम् ।
इत्युक्त्वा प्रललापासौ बहुधा यन्मुखागतम् ॥ ४९ ॥

दक्ष एक बार एक सभामें पहुँचे। जहाँ प्रजापति, देवता, सिद्ध, ऋषि मुनि आदि विराजमान थे। जहाँ ब्रह्मा एवं शंकर भी थे। दक्षके आते ही सब उठ खड़े हुए, केवल ब्रह्मा और शंकर बेठे रहे। पिता समझकर दक्षने ब्रह्माजीका चरणस्पर्श किया और शिवजीकी और घूरके देखने लगा। सबके सामने दक्षने कहा, मैं असूया या दर्पसे प्रतिवाद नहीं कर रहा—यह (शिव) मेरा अनुशासनीय बन चुका है। फिर भी शिष्टाचारका लंघनकर रहा है। क्या इसको यह आचार शोभा देता है ? ऐसा कहकर दक्षने बहुत कुछ प्रलाप किया ॥ ४५-४९ ॥

भृगुः श्मश्रूणि चलयन् बभाषे साधु साध्विति ।
भगो नेत्रेङ्गितं कुर्वन्नाह युक्तमुदीर्यते ॥ ५० ॥
पूषा प्रदर्शयन् दन्ताञ्जहास च मुहुर्मुहुः ।
शशापान्ते शिवं दक्षो नन्दी प्रत्यशपच्च तान् ॥ ५१ ॥
भृगुः शैवांस्तदात्युग्रं विपर्यशपदेव च ।
कोलाहलो महानासीत्सभायां तत्र निष्ठुरः ॥ ५२ ॥

तदेतदखिलं पश्यन् शंकरो मौनमास्थितः ।
त्यक्त्वा सभां निरसरन्मानामानविवर्जितः ।। ५३ ।।

जब दक्ष गाली दे रहा था तो भृगु डाढ़ी हिलाहिलाकर इंगितसे बहुत अच्छा, बहुत अच्छा बोले । भगने नेत्रके इशारेसे कहा ठीक कहते हैं दक्ष । पूषा दांत निकालकर हंसने लगा । अन्तमें दक्षने शिवको शाप भी दिया । नन्दीने प्रतिशाप प्रयुक्त किया । भृगुने शैवोंको घोर शाप दिया । इस प्रकार सभामें भयानक कोलाहल हुआ । सब कुछ देखकर मौन ही भगवान शंकर मानापमानरहित हो सभा छोड़कर वहांसे निकल गये ।। ५०-५३ ।।

दक्षस्य हृद्‌गतं वैरं तावता नैव शाम्यति ।
अभूत् स शिवविद्वेषी तथा तदनुयायिनः ।। ५४ ।।

इतनेसे भी दक्षका वैरभाव शान्त नहीं होता । वह शिवद्वेषी बन गया । दक्षानुयायी भी शिवद्वेषी हो गये ।। ५४ ।।

इष्ट्वा स वाजपेयेन बृहस्पतिसवं व्यधात् ।
निमन्त्रितास्तत्र सर्वे देवाः पशुपतिं विना ।। ५५ ।।
कैलासोपरितो वीक्ष्य विमानान् गच्छतः सती ।
कुतः किमिति विज्ञातुं विजयां प्रेषयत् सखीम् ।। ५६ ।।
चन्द्रेण पत्या सहिता भगिनीरपरा अपि ।
विज्ञायोत्कण्ठिता प्राह समाधिनिरतं शिवम् ।। ५७ ।।
अस्त्युत्सवो मम पितुर्गेहे यत्र सुरा इमे ।
यान्ति स्त्रीभिरहं चापि गन्तुं वश्मि त्वया सह ।। ५८ ।।
नामन्त्रिता वयमिति नाशङ्क्यं स्वपितुर्गृहे ।
विनाप्यामन्त्रणं यान्ति प्रीत्या दुहितरो यतः ।। ५९ ।।

दक्षप्रजापतिने वाजपेययज्ञपूर्वक बृहस्पतिसव यज्ञ किया । जिसमें शंकरके सिवाय अन्य सभी देवता आमन्त्रित थे । कैलासके ऊपरसे विमान जा रहे थे तो सतीने अपनी सखी विजयासे पता लगवाया । अपनी बहिनोंके साथ उनके पति चन्द्रमा दक्षयज्ञमें जा रहे हैं, दूसरी भी देवियाँ जा रही हैं जानकर सती उत्कंठित हुई । समाधिनिरत शंकरसे बोली—हमारे पिताके घरमें महोत्सव हो रहा है । देवता अपनी पत्नियोंके साथ जा रहे हैं । मेरी भी इच्छा है कि आपके साथ वहां जाऊँ । आमन्त्रणके बिना कैसे जाएँ यह शंका करने की जरूरत नहीं है । क्योंकि पिताके घर बिना आमन्त्रण भी पुत्रियां जा सकती हैं ।। ५५-५९ ।।

नास्ति किं भगिनीनां ते परमामन्त्रणं सति।
विस्मृताविति चेत् कस्मादावामेव हि विस्मृतौ ॥ ६० ॥

विद्वेषविरहे युक्तं गन्तुमामन्त्रणं विना।
स द्वेष्टि नस्ततस्तत्र गन्तुं न खलु युज्यते ॥ ६१ ॥

इति शंभुः प्रयेते तां सतीं बोधयितुं प्रभुः।
दृष्ट्वा तदाग्रहं दैवं बुद्ध्वाऽन्ते मौनमास्थितः ॥ ६२ ॥

एकाकिनी तदा गन्तुमियेषोत्कण्ठिता सती।
उपेक्षां गमने बुद्ध्वा सती संतप्तमानसा ॥ ६३ ॥

शंकरजी बोले—तो क्या तुम्हारी बहिनोंको भी आमन्त्रण नहीं गया था? कहो कि हमें भूल गये होंगे, तो हमें ही क्यों भूले? खैर, यदि द्वेष न होता तो बिना आमन्त्रण भी अपने जाते। किन्तु दक्ष हमसे द्वेष करते हैं। अतः वहां जाना उचित नहीं है। शंकरने इस प्रकार समझानेका प्रयास किया। किन्तु जब देखा इसका हठाग्रह है तो भाग्यका खेल समझकर मौन हो गये। जानेके विषयमें शंकरजीकी उपेक्षा देखकर संतप्त सती अकेली जानेको सोचने लगी ॥ ६०-६३ ॥

निर्गतां तां कतिपय आनीय वृषवाहनम्।
अनुजग्मुरगादेवं द्रुतं दक्षाध्वरं सती ॥ ६४ ॥

अनाहृता तत्र पित्रा सुरेषु च तदध्वरे।
शंभोर्भागमनालोक्य दुःखिता कुपिता च सा ॥ ६५ ॥

सती कैलाससे निकलीं। कुछ गणों ने वृषवाहन लाकर अनुगमन किया। जल्दी वह दक्षयज्ञमें पहुँच गयी। वहाँ पिता दक्षने अनादर तो किया ही। सतीने देखा कि देवताओंके बीच में शंकरका भाग भी नहीं है। तो वह दुःखित हुई और कुपित भी हुई ॥ ६४-६५ ॥

अहो मत्कारणादेष शिष्यं मत्वा महेश्वरम्।
विद्वेष्टि तं मूलमस्यानर्थस्याहमतः स्फुटम्। ६६ ॥

मास्त्वद्यतोऽस्य च पितृदुहित्रुपधिवैरिता।
इति योगाग्निना दग्ध्वा प्राणान् याता दिवं सती ॥ ६७ ॥

हाय! मेरे कारण ही जामाता मानकर शासनीय मानते हुए ये महेश्वरसे द्वेष कर रहे हैं। स्पष्ट ही इस अनर्थमें मूल मैं ही हूँ। आजसे इस पितापुत्रीभावके बहाने होनेवाला वैर समाप्त हो। ऐसा सोचकर योगाग्निसे सती अपना शरीर जलाकर दिवंगत हो गयी ॥ ६६-६७ ॥

श्रुत्वेदं च हरः क्रुद्धो जटामुत्पाट्य वेगतः ।
अताडयच्छिलाखण्डे वीरभद्रस्तदोदगात् ॥ ६८ ॥

स शूलिना समादिष्टो दक्षाध्वरमुपागतः ।
व्यध्वंसयत् क्रतुं दक्षशीर्षं चाग्नावजोहवीत ॥ ६९ ॥

उल्लुलुञ्च भृगुश्मश्रूण्यभाङ्क्षीद्भगलोचने ।
अभिनत्पूषदन्तांश्च भग्नाङ्गानकरोत्सुरान् ॥ ७० ॥

अखिलं यज्ञशालां चाप्यग्निसादकरोद् गणः ।
दुद्रवुर्भयभीताश्च सर्व एव समागताः ॥ ७१ ॥

सतीदाह सुनते ही रुद्र क्रुद्ध हो उठे, एक जटा उखाड़कर शिलाखण्ड पर पटकी । वीरभद्र वहीं प्रकट हुए । शंकरके आदेशसे गणसहित वीरभद्र दक्षयज्ञमें पहुँचे और क्रतुको ध्वस्त किया । दक्षका सिर काटकर अग्निमें होम डाला । भृगुकी डाढी नोचकर फेंक दी । भगके नेत्र फोड दिये । पूषाके दांत तोड गिराये । देवताओंका अंगभंग किया । यज्ञशालामें आग लगा दी । भयभीत होकर आये हुए सभी वहांसे भागे ॥६८-७१ ॥

क्रियादक्षो०

क्रतुध्वंसः पुनरयं कथंकारमजायत ।
यजमाने न्यूनता किं दक्षो दक्षः क्रियासु हि ॥ ७२ ॥

सम्यग्विधिपरिज्ञानाद्वै कल्याद्यप्रसञ्जनात् ।
योग्यतोत्साहितावत्त्वाद् दक्षो दक्षः क्रियासु सः ॥ ७३ ॥

एवंविधः क्रतुपतिर्यजमानोऽत्र हि क्रतौ ।
यज्ञपालनसामर्थ्यसत्त्वात्क्रतुपतिर्हि सः ॥ ७४ ॥

धनादेर्न्यूनता नैव प्रजापतिरयं यतः ।
ऋत्विजामज्ञता नैव ऋत्विजस्त्वृषयो यतः ॥ ७५ ॥

ब्राह्मणानामविज्ञत्वं नाभागेन निराकृतम् ।
विफलत्वं क्रतोर्यस्मान्नैवाज्ञत्वं तदृषिषु ॥ ७६ ॥

ऋषयः प्रायशो मन्त्रद्रष्टारस्तेषु नाज्ञता ।
सर्वज्ञकल्पाः सर्वे ते भृग्वाद्याः परिकीर्तिताः ॥ ७७ ॥

आवाहिता किं न देवा सदस्याः स्वयमेव ते ।
उपद्रष्टृषु सत्स्वेषु व्यङ्गत्वं नैव संभवेत् ॥ ७८ ॥

क्रतुद्वेषी ननु भवेदेष नाम कपालभृत् ।
मैवं हरः क्रतुफलविधानव्यसनी मतः ॥ ७९ ॥

यह क्रतुनाश आखिर हुआ कैसे ? क्या यजमान में कोई न्यूनता थी ? नहीं। प्रजापति दक्ष तो क्रियामें दक्ष अर्थात् निपुण थे। वैदिकार्थ-परिज्ञान, योग्यता, उत्साहिता सब कुछ होनेसे क्रियामें विकलताकी संभावना नहीं थी। क्रतुपति अर्थात् यजमान सचमुच क्रतुपालक होनेसे क्रतुपति ही थे। धनादिकी भी न्यूनता नहीं थी। क्योंकि प्रजापति जो ठहरे। ऋत्विजोंमें कुछ न्यूनता रही हो, नहीं, वहां तो ऋषि ऋत्विज थे। साधारण ब्राह्मणोंमें अज्ञता हो सकती थी, जैसे नाभागने व्यामोह दूर किया। ऋषिका अर्थ ही मन्त्रद्रष्टा है। वे प्रायः सर्वज्ञ होते हैं जैसे भृगु आदि। क्या देवताओंका आवाहनादि नहीं किया ? अरे, देवता तो उपद्रष्टा सदस्य ही थे। साक्षात् सभी वहां आये हुए थे। तब शायद शंकर क्रतुके द्वेषी रहे होंगे। नहीं, नहीं। वे तो क्रतुफल देनेमें व्यसनी हैं॥ ७२-७९॥

ध्रुवं कर्त्तुः०

ध्रुवं श्रद्धाविहीनाः स्युरभिचारकरा मखाः।
अश्रद्दधानो हि हरं दक्षोऽयं व्यतनोन्मखम्॥ ८०॥
परं शिवमविज्ञाय तदभिन्नं महेश्वरम्।
अवज्ञाय च नो कश्चिदाप्नोति भविकं भुवि॥ ८१॥

अतः यही निश्चय है कि श्रद्धारहित यज्ञ नाशकारी होता है। शंकरपर अश्रद्धा कर दक्षने यज्ञ किया। परमशिवको न जानकर और परमशिवाभिन्न शंकरकी अवज्ञाकर संसारमें कोई सुखी नहीं होता॥ ८०-८१॥

नन्वयुक्तमिदं सर्वमनादिश्रुतिचोदितः।
सरुद्रभागो यज्ञोऽयं साङ्गोऽरुद्रः कथं भवेत्॥ ८२॥
ऋष्यार्त्विज्यादिकं नैव साङ्गत्वस्य प्रयोजकम्।
चोदितानुष्ठितस्तत्र केवलैका प्रयोजिका॥ ८३॥
रुद्रभागाऽप्रदानाच्च मौढ्यमृत्विक्षु विस्फुटम्।
दक्षत्वं चापि दक्षस्य नाङ्गवैकल्यकारिणः॥ ८४॥

पूर्वपक्षः—यह "क्रियादक्षो दक्षः" इत्यादि सभी अयुक्त हैं। अनादि श्रुतिविहित रुद्रभागसहित यज्ञ रुद्रभागके बिना करनेपर सांग कैसे होगा ? ऋषि ऋत्विक हो जाना सांगताका प्रयोजक नहीं है। किन्तु विहितार्थका अनुष्ठान ही सांगताका प्रयोजक है। रुद्रभाग न देनसे ऋत्विजोंमें मूढ़ता भी स्पष्ट है। यह दक्षकी कौन-सी दक्षता-कुशलता है कि अंगविकल यज्ञ कर रहा है॥ ८२-८४॥

नैवान्यथयितुं शक्या श्रुतिर्दक्षेण शापतः ।
अनादिशाप इति चेच्चोदनैव कथं भवेत् ॥ ८५ ॥

शापार्थवादतो नैवापोह्या प्रत्यक्षचोदना ।
क्रतुवैगुण्यतो युक्तोऽभिचारोऽत इहेति चेत् ॥ ८६ ॥

दक्ष शाप देकर श्रुतिको अन्यथा नहीं कर सकता । क्योंकि श्रुति अनादि है । कहें कि शाप भी अनादि है दक्षने उसे केवल प्रकट किया । नहीं । शाप स्वतः अनादि नहीं होता । लिखा हुआ हो तो वह अर्थवाद है । वह प्रत्यक्षविधिको बाध नहीं सकता । अतः क्रतुवैगुण्यसे फलवैपरीत्य मानना उचित है ॥ ८५-८६ ॥

सत्यं तदापि महतामनुकम्पादितः क्वचित् ।
असाङ्गं साङ्गतामेति तादवं प्राह वामनः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मन् संतनु शिष्यस्य कर्म छिद्रं वितन्वतः ।
यत् तत्कर्मसु वैषम्य ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥ ८८ ॥

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव ॥ ८९ ॥

इत्येवमगदीत्तं च शुक्राचार्योऽपि वामनम् ।
अकरोच्चैव संपूर्णं बलेर्यज्ञं यथोचितम् ॥ ९० ॥

अत्र साक्षाद् भृगुरभूद् व्यङ्गं साङ्गं दधीत सः ।
किन्त्वश्रद्धाकृतं यत्स्यात्तस्य नास्त्यौषधं भुवि ॥ ९१ ॥

पूर्वपक्ष उचित है । तथापि कहीं कहीं महान पुरुषोंकी अनुकम्पासे भी असांग भी साग हो जाता है । यह बात वामन भगवानने भी कहा है— हे ब्रह्मन् ! (शुक्राचार्य) आप अपने शिष्य राजा बलिके कर्मछिद्रको दूर करो । ब्राह्मणदृष्ट होनेसे सच्छिद्र भी अच्छिद्र हो जाता है । इसपर शुक्राचार्यका कहना था— मन्त्रतन्त्रादिको लेकर जो भी छिद्र आ गया हो सबको भगवन्नामसंकीर्तन निश्छिद्र बना देता है । जैसा भी हो शुक्रचार्यने यज्ञको पूर्ण बना दिया था । शुक्राचार्य भार्गव थे । यहाँ तो स्वयं भृगु ही हैं । वे क्या दक्षयज्ञको सांग नहीं बना सकते थे ? लेकिन बात यह है कि अन्यविध छिद्रको वे नष्ट करते । शंकरपर अश्रद्धाकर जो गलत काम होता है उसके लिये संसारमें उपचार नहीं है ॥ ८७-९१ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ ९२ ॥

विपरीतफलं चैव कृतं रुद्रापराधतः।
श्रद्धेयश्च प्रपूज्यश्च फलदः स महेश्वरः॥ ९३॥

गीतामें भी कहा है कि अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दान, तप एवं अन्य सभी कर्म हे पार्थ असत् कहलाता है। उसका न तो परलोकमें कोई फल है और न इस लोकमें ही। इतना ही नहीं रुद्रापराध होनेपर विपरीत फल भी होगा। अतः फलदाता महेश्वर रुद्रभगवान श्रद्धेय तथा पूज्य हैं॥ ९२-९३॥

यदवज्ञानतः पूर्णाप्यसती घातिनी क्रिया।
यस्मादसत्यपि सती नमामस्तं सतीपतिम्॥ ९४॥

जिसकी अवज्ञासे पूर्ण भी क्रिया असती और घातिनी होती है और जिस (की कृपा) से असती भी सती होती है उस सतीपति भगवान शंकरको हम प्रणाम करते हैं॥ ९४॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
एकविंशो गतः स्पन्दो महिम्नःस्तोत्रवार्तिके॥ २१॥



ॐ

द्वाविंशः श्लोकः

सम्यक्कृतस्य यज्ञादेः भवेत्सुफलदो हरः।
अश्रद्धया कृते यज्ञे स तु कर्त्रभिचारकृत्॥ १॥
एतन्निगद्य श्लोकाभ्यामधुनाऽधर्मकारिणाम्।
दण्डं विधत्त इत्याह कामं स्रष्टैव किं न सः॥ २॥

यज्ञादि यदि सम्यक् सम्पन्न करें तो भगवान शंकर उसका सुफल प्रदान करते हैं। यह सामान्यरूपसे "क्रतौ सुप्ते" इस श्लोकमें बताया। अश्रद्धापूर्वक कर्म करने से वह कर्ताका ही नाशक होगा यह "क्रियादक्षः"

इस श्लोकमें बताया। अब अधर्मरतोंको भगवान दण्ड देते हैं, भले वह ब्रह्मा ही क्यों न हो, यह कहने जा रहे हैं ॥ १-२ ॥

शिष्टाचारं पुरस्कृत्य गीतायामब्रवीदिदम् ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ४ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ५ ॥

एतत्सर्वं जगौ शौरिहृदयस्थो महेश्वरः ।
यच्छिष्टाचारनिष्ठत्वं हरस्यैव विलोक्यते ॥ ६ ॥

ब्रह्मणो न हि तादृक्त्वमत्रैवाभाववर्णनात् ।
नापि विष्णौ हि वृन्दादिशुद्धिखण्डनदर्शनात् ॥ ७ ॥

श्रीमद्भागवते रासे शिष्टाचारविलङ्घनम् ।
समाशङ्क्य हरेरेवं समाधत्त शुको मुनिः ॥ ८ ॥

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥ ९ ॥

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥ १० ॥

तस्माच्छंकर एवाह गीतावक्तृहृदि स्थितः ।
प्रतीपाचरणं नैव शंकरे परिलोक्यते ॥ ११ ॥

शिष्टाचारको लेकर गीतामें बताया है कि हे अर्जुन ! लोकसंग्रहार्थ भी तुम्हें उचित कर्म करना चाहिये। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है उसे दूसरे लोग प्रमाण मानते हैं। अतः मैं शिष्टाचारनिष्ठ रहता हूं। अन्यथा मैं संकरकर्ता और प्रजाघातक होता। ये सारी बातें श्रीकृष्णहृदयस्थ शंकर बोल रहे हैं। क्योंकि शिष्टाचारनिष्ठता शंकरमें ही है। यह बात ब्रह्माजीमें नहीं थी। यह इसी श्लोकमें पता लगेगा। वृन्दाकी शुद्धिका खण्डन करनेसे विष्णुमें भी यह बात नहीं है। श्रीमद्भागवतमें रासप्रसगमें राजा परीक्षितने श्रीकृष्णपर परदाराभिमर्शन दोष की शंका की तो शुकदेवजीने उत्तर यही दिया कि अनीश्वर मनसे भी ऐसा कार्य न करें। यदि किया तो उसका नाश होगा। ईश्वरोंका वचन प्रमाण होता है और वचनानुकूल आचरण भी। इस प्रसंगसे स्पष्ट है कि शिष्टाचारनिष्ठता श्रीकृष्णा-

दिमें नहीं थी। तब गीतामें अपनेको शिष्टाचारपालनकर्ताके रूपमें कौन कह रहा है? श्रीकृष्णहृदयस्थ शंकर ही। शंकरमें अशिष्टाचरण कहीं देखनेमें नहीं आया ॥ ३-११ ॥

शिष्टाचारं स्वयं रक्षन् दण्डं दाति प्रतीपिनाम्।
स धर्मसेतुरूपेण शंकरो वर्ण्यतेऽधुना ॥ १२ ॥

शिष्टाचारकी स्वयं रक्षा करते हुए विपरीताचारियोंको शंकर दण्ड देते हैं। धर्मसेतु के रूप में उन शंकरका वर्णन अब करते हैं ॥ १२ ॥

ननु श्मशानाऽऽक्रीडादिरशिष्टाचरणं स्फुटम्।
शिवेऽपि वीक्ष्यते मैवं वक्ष्यामस्तत्र कारणम् ॥ १३ ॥
परदाराभिमर्शादि परपातनिबन्धनम्।
नैवाकरोच्च गिरिशस्तस्माद्धर्मगुबेव सः ॥ १४ ॥

शंका होगी कि श्मशानक्रीडादि अशिष्टाचरण शंकरने भी तो किया। किन्तु उसका उत्तर "श्मशानेष्वाक्रीडा" इस श्लोकमें ही हम देंगे। फिर परपतनकारण परदारस्पर्शादि तो शंकरके विषयमें है ही नहीं। अतः शंकर धर्मरक्षक ही हैं। (धर्मफलद कहनेके बाद धर्मरक्षक अब कहते हैं) ॥ १३-१४ ॥

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥२२॥

हे नाथ! ब्रह्माजी अपनी पुत्री संध्यापर मोहित हुए। वह लज्जासे हरिणी बनी तो हरिण शरीर धारणकर बलात् रतिके लिये उसके पीछे पहुंचे। इतनेमें धनुषधारी आपके हाथसे मृगवेधी वाण छूटा। उसने पुंख सहित ब्रह्माके शरीरमें प्रवेश किया। ब्रह्माजी दिवंगत हुए लेकिन आज भी भयभीत ब्रह्माको मानो वह वाण छोड़ नहीं रहा ॥ २२ ॥

विष्णोस्तु नाभिकमलादाविर्भूतः पितामहः।
भ्रूमध्यात्तस्य रुद्रश्चेत्युक्तं कार्यवशात्क्रमात् ॥ १५ ॥
वामदक्षिणमध्येभ्यो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
शिवाङ्गेभ्यः समुद्भूताः कार्यार्थं पुनरीदृशम् ॥ १६ ॥

ब्रह्मणा नोदितो रुद्रः सृष्टये तरसाऽसृजत् ।
रौद्रानेव हि भूतादीन्नातुष्यत्तेन विश्वसृट् ॥ १७ ॥

विष्णुके नाभिकमलसे ब्रह्मा आविर्भूत हुए, ब्रह्माके भ्रूमध्यसे रुद्र आविर्भूत हुए। वैसे तो शिवके वाम, दक्षिण और मध्य अंगोंसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरका जन्म है। तथापि कार्यविशेषार्थ इस क्रमसे पुनः प्रकट हुए, यह हम बता चुके। फिर ब्रह्माजीने सृष्टिके लिये रुद्रको कहा। रुद्रने रौद्र भूतप्रेतादि सृष्टि की। उससे ब्रह्माको संतोष नहीं हुआ ॥ १५-१७ ॥

ततः प्रशान्तसृष्ट्यर्थं लोककल्याणकारणात् ।
ऋषीणां च कुमाराणां सृष्टिं स समचीक्लृपत् ॥ १८ ॥
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्चेति सप्तैते सप्तर्षय उदाहृताः ॥ १९ ॥
कुमारा अपि चत्वारः सनकश्च सनन्दनः ।
सनातनोऽपि च सनत्कुमार इति वर्णिताः ॥ २० ॥
तथैव मैथुनीं सृष्टिं निर्वर्तयितुमण्डजः ।
द्वेधाऽपातयदात्मानं पतिपत्न्युद्भवस्ततः ॥ २१ ॥
यः पुमान् स मनुर्या स्त्री शतरूपेति कीर्तिता ।
देवहूत्यादयस्ताभ्यां तिस्रः कन्याः प्रजज्ञिरे ॥ २२ ॥
कर्दमश्च महायोगी जनितो ब्रह्मणैव हि ।
इत्यादि तूत्तरं वृत्तं पूर्वमात्रं प्रचक्ष्महे ॥ २३ ॥

इसके बाद शान्त सृष्टिके लिये लोककल्याणार्थ ब्रह्माजीने सप्तर्षियों-को और चतुष्कुमारोंको जन्म दिया। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ ये सात ऋषि हैं। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार ये चार कुमार हैं। वैसे ही मैथुनी सृष्टिनिर्माणार्थ ब्रह्माने अपने शरीर से दो भाग पृथक् किया। उसीसे पतिपत्नीका उद्भव हुआ। उसमें पुरुष मनु हुआ। स्त्री शतरूपा कहलायी। देवहूति आदि उनकी कन्यायें हुईं। ब्रह्मासे ही कर्दम प्रजापति हुए। देवहूतिसे विवाह और आगे सृष्टिवृद्धि यह उत्तर-कथा है। हम पूर्वकथा पर ही थोड़ा वर्णन करेंगे ॥ १८-२३ ॥

निजसृष्टान मरीच्यादीन् परमेष्ठी पितामहः ।
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वैदिकम् ॥ २४ ॥
सनकादींस्तथा देवो ज्ञानवैराग्यलक्षणम् ।
निवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास विश्वसृट् ॥ २५ ॥

धर्मेण द्विविधेनैव स्थितिर्हि जगतो भवेत् ।
इत्यतो द्विविधं धर्मं तेभ्य एवमुपादिशत् ॥ २६ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ २७ ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ २८ ॥

इति गीतासु भगवान् लोकरक्षणहेतवे ।
यज्ञसृष्ट्युपदेशादि संक्षेपेण ह्यवर्णयत् ॥ २९ ॥

अपने उत्पादित मरीचि आदिको ब्रह्माजीने प्रवृत्ति धर्ममें लगाया । तथा सनकादिको ज्ञानवैराग्यरूपी निवृत्ति धर्ममें लगाया । क्योंकि द्विविध धर्मसे जगतकी स्थिति होती है । अतः मरीचि आदि और सनकादि को द्विविध धर्मोपदेश किया । गीतामें भी बताया-यज्ञसहित प्रजाकी सृष्टि कर प्रजापतिने प्रजाको कहा कि इन यज्ञोंसे देवताओंको प्रसन्न करो । देवता तुम्हें प्रसन्न करेंगे । यही तुम्हारी इष्ट कामधेनु है । परस्पर भावनासे परमश्रेय प्राप्त करोगे ॥ २४-२९ ॥

अज्ञात्वा समयं नैव कर्मसंपादनं भवेत् ।
आसंस्ते जनलोकादौ नात्र सूर्योदयादयः ॥ ३० ॥
वराहेणोद्धृता पृथ्वी मनुप्रार्थनया तदा ।
ब्रह्मनासोद्भवेनेति पुराणेषु निरूपितम् ॥ ३१ ॥
अतश्च समयं ज्ञातुं सन्ध्योपास्त्यर्थमेव च ।
ससर्ज संध्यां सा देवीरूपिणी समभूत्तदा ॥ ३२ ॥

समयके ज्ञानके विना कर्मसंपादन संभव नहीं था । मरीचि आदि तथा मनु आदि सभी उस समय जनलोकादिमें थे । वहां सूर्योदयादि होता नहीं, समय कैसे जानेंगे ? ब्रह्माजीकी नासिकासे उद्भूत वराहने मनुप्रार्थनासे पृथिवीका उद्धार पश्चात् किया इत्यादि कथा पुराणोंमें है । जो भी हो । जनलोकादिमें समयनिर्धारण तो नही ही था । अतः समयके ज्ञानार्थ तथा संध्योपासनार्थ ब्रह्माजीने संध्याकी सृष्टि की जो देवीस्वरूपिणी थी ॥ ३०-३२ ॥

त्रैरूप्यमभवत्तस्याः प्रातःसन्ध्यारुणात्मिका ।
शुक्लवर्णा च माध्याह्नी सायंसन्ध्या तु मेचका ॥ ३३ ॥
पृथिव्युद्धरणात्पश्चात् सूर्येण समये कृते ।
प्रातःकालाद्यधिष्ठात्री देवी सा समपद्यत ॥ ३४ ॥

संध्याके तीन रूप थे। प्रातःसंध्या अरुणवर्णा, मध्याह्नसंध्या शुक्लवर्णा और सायंसंध्या चित्रवर्णा हुई। पृथिवीको वराहने उठाया तो सूर्यसे समयनिर्धारण होने लगा तो यह देवी तत्तत्समयकी अधिष्ठात्री बन गयी ॥ ३३-३४ ॥

केचित्तु सन्ध्याद्वितयं मन्यन्ते सन्धिसंभवम्।
अन्यथा मध्यरात्रं च सन्ध्या किं न भवेदिति ॥ ३५ ॥
प्रभातमःस्वरूपिण्योर्दिनरात्र्योस्तु युज्यते।
सन्धिर्यद्यन्यथा तर्हि प्रतिक्षणमयं भवेत् ॥ ३६ ॥
मैवमुत्पतनं चैव पतनं च रवेः स्फुटे।
तयोः सन्धिः कथं नास्ति विरुद्ध ते च संमते ॥ ३७ ॥
रात्रौ न दृश्यते सन्धिरतो नैव स गण्यते।
न प्रतिक्षणसन्धिस्तु किं चिच्छिक्षयते जनान् ॥ ३८ ॥
उदयास्तमयावेवमुन्नत्यवनती अपि।
दृष्ट्वा शिक्षां प्रगृह्णीयुर्मोक्षाय मनुजा इति ॥ ३९ ॥

कुछ लोग दो ही संध्या मानते हैं। संधिमें जो हो वही संध्या। अन्यथा मध्याह्नके समान मध्यरात्र संध्या क्यों नहीं? दिन प्रकाश है रात अंधकार है। दोनोंकी संधि उचित है। अन्यथा प्रतिक्षण संधि और संध्या माननी होगी। उनके प्रति हमारा वक्तव्य यह है कि सूर्यका उठना और गिरना भी प्रत्यक्ष है। विरुद्ध उन दोनोंकी मध्याह्न संधि क्यों नहीं? रातमें उत्थानपतनादि नहीं दीखता। अतः संध्याकी गणना नहीं है। उदय अस्तमयकी संधिके समान उत्थानपतनकी संधिसे भी कुछ शिक्षा प्राप्त होती है। वैसे प्रतिक्षणसन्धिसे क्या शिक्षा मिलती है? ॥ ३५ ३९ ॥

वस्तुतस्तु परा देवी कालाधिष्ठातृरूपिणी।
तदाधारत एवान्ये धर्मा यज्ञादयो नृणाम् ॥ ४० ॥

वस्तुतः संधि आदिकी बात ज्ञानवृद्धचर्थ है। कालके अधिष्ठात्री देवी ही संध्या आदि है। उसीके आधार पर धर्मकर्मादि होते हैं ॥ ४० ॥

ऋषीन् सृष्ट्वोपदिश्येभ्यो धर्मं सन्ध्यां विधाय च।
ब्रह्मा विचारयामास वर्धिष्यन्ते कथं प्रजाः ॥ ४१ ॥
सृष्टानामपि चिन्ता चेत्सृष्टिर्वत्स्यंत्यसंशयम्।
न तु स्रष्टुर्ममैवैषा चिन्ता चेद्युज्यतेतराम् ॥ ४२ ॥
न मे पुत्रो न मे पुत्री महेशं पूजये यजे।
इति स्वय यतेरंश्चेत्प्रजाः सृष्टिः प्रवर्त्स्यति ॥ ४३ ॥

ततश्च मैथुनीं सृष्टिं कर्तुं काममजोजनत् ।
श्यामाङ्गं सुन्दरं सर्वलोकाकर्षणबन्धुरम् ॥ ४४ ॥

अस्तु, ऋषियोंकी सृष्टिकर उन्हें धर्मद्वयोपदेश कर तथा संध्याको भी उत्पन्न कर ब्रह्माने सोचा कि सृष्टिरक्षणोपाय तो हुआ । किन्तु सृष्टि बढेगी कैसे ? मेरे समान मत्सृष्टोंको भी यदि चिन्ता होगी तो ही सृष्टि वृद्धि होगी । मेरे अकेलेकी चिन्ता ठीक नहीं । लोग मेरे पुत्र नहीं, पुत्री नहीं, ईश्वरकी पूजा करूं, मनोतियां मनाऊं इसप्रकार स्वयं यत्न करेंगे तो सृष्टि वृद्धि होगी । ऐसा सोचकर मैथुनी सृष्टिके लिये उन्होंने कामदेवको उत्पन्न किया, जो श्यामवर्ण था, सर्वलोकाकर्षक होनेसे सुन्दर था ॥४१-४४॥

स पप्रच्छ विधिं ब्रह्मन् जन्म मह्यं ददौ भवान् ।
किं मे नाम तथा धाम किं मे शक्तिश्च का च मे ॥ ४५ ॥

कार्यं च किं मे भगवन्नायुधानि च कानि मे ।
यैरहं भवदादिष्टं कार्यं निर्विघ्नमाचरे ॥ ४६ ॥

कामदेवने ब्रह्माको पूछा हे ब्रह्मन् ! आपने मुझे जन्म दिया । मेरा नाम क्या रहेगा ? मेरा धाम कौनसा होगा ? शक्ति क्या रहेगी ? और आयुध क्या होंगे, जिनसे आपके आदेशका निर्विघ्न पालन कर सकूं ॥ ४५-४६ ॥

ब्रह्मा—मदनो मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः ।
कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः ॥ ४७ ॥
इत्यादीनि तु नामानि प्रसिद्ध्यन्ति बहूनि ते ।
हृदयं किल सर्वेषां तव धाम भविष्यति ॥ ४८ ॥
(अनन्तप्राणिनां हृत्ते धाम स्यात्सुखदं परम्) ।
जगदाकर्षणं चैव वशीकरणमेव च ।
सृष्टिप्रवर्धनं चैव कार्यं ते स्यात्प्रवर्तनम् ॥ ४९ ॥
अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलं च पञ्चैते तव स्युः पञ्च सायकाः ॥ ५० ॥
उन्मादनः शोषणश्च तापनः स्तम्भनस्तथा ।
संमोहनश्च पञ्चैते तव स्युः पञ्चसायकाः ॥ ५१ ॥
अप्रधर्ष्या भवेच्छक्तिः सर्वैरेव न संशयः ।
पशवः पक्षिणो वा स्युर्देवा वा किन्नरा उत ॥ ५२ ॥
असुरा मनुजा आहो कीटा वा पुत्तिका उत ।
ब्रह्मा वा विष्णुरेवाहो रुद्रो वाप्यपरोऽपि वा ॥ ५३ ॥

दिवि वा भुवि वा किं वा पाताले ये च जन्तवः ।
सर्वानिवाञ्जसा जेष्यस्येभिर्बाणैरसंशयम् ॥ ५४ ॥

ब्रह्माजी बोले-मदन, मन्मथ, कन्दर्प, काम इत्यादि तुम्हारे बहुत नाम होंगे। सबका हृदय ही तुम्हारा घर होगा। जगतका आकर्षण, वशीकरण, सृष्टिवृद्धि ये तुम्हारे कार्य होंगे। अरविन्द, अशोक, आम, मल्लिका, नीलकमल ये पांच बाण होंगे। वे भी उन्मादन, शोषण, तापन, स्तंभन, संमोहन ऐसे पांच होंगे। तुम किसीसे दबोगे नहीं। पशु, पक्षी, देव, किन्नर, असुर, मनुष्य, कीट, पतंग, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं और भी जो हो, स्वर्गमें, भूमिमें पातालमें जो भी जन्तु हो सबको तुम इन बाणोंसे आसानीसे जीतोगे ॥४७-५४॥

इति ब्रह्मोदितं श्रुत्वा चिन्तयामास मन्मथः ।
किं नु पुष्पैर्विजेष्येऽहं परीक्षिष्येऽधुनैव हि ॥ ५५ ॥
ब्रह्मा वा विष्णुरेवोतेत्यधुनैव प्रभाषितम् ।
ब्रह्मण्येव ततो बाणान् संदधामीत्यचिन्तयत् ॥ ५६ ॥
कृत्वा कोदण्डटङ्कारं शरान् संधाय तत्र च ।
प्राहिणोल्लाघवाद् ब्रह्मण्यृष्यादिषु च दर्पकः ॥ ५७ ॥

इसप्रकार ब्रह्माका वचन सुनकर मन्मथने सोचा कि क्या इन पुष्पबाणोंसे मैं सबको जीतूंगा ? जरूर परीक्षा करनी चाहिये। अभी-अभी बता रहे थे, ब्रह्मा हो विष्णु हो इत्यादि। तो ब्रह्मापर ही बाण संधान करूं। कामदेवने कोदंडटंकार किया। धनुष पर बाण चढ़ाया और ब्रह्मा पर तथा अन्य ऋषि आदि पर मारा ॥५५-५७॥

प्रजानाथं• •ऋष्यस्य वपुषा

ब्रह्मा सन्ध्यामीक्षते स्म सा लज्जामन्वभूत्तदा ।
भूत्वा च हरिणी सापि प्रोत्प्लुत्य समधावत । ५८ ॥
रोहिद्भूतां तथा सन्ध्यामिच्छू रमयितुं विधिः ।
अभिकः प्रसभं सद्य ऋष्यस्य वपुषान्वगात् ॥ ५९ ॥
एवं दूषितकर्माणं विश्वनाथो महेश्वरः ।
ब्रह्माणं वीक्ष्य किमिदमित्याश्चर्यादलोकत ॥ ६० ॥

ब्रह्माजी सन्ध्याकी ओर काम दृष्टिसे देखने लगे। सन्ध्या लज्जित होकर हरिणी बनकर तपाकसे भागी। रतीच्छु ब्रह्मा हरिण बनकर पीछे

दौड़े। ऐसे दूषित कर्मवाले ब्रह्माको विश्वनाथ महेश्वरने यह क्या हो रहा है ऐसा साश्चर्य देखा ॥ ५८-६० ॥

दुहितरं

ननु किं मैथुनीं सृष्टिं चिकीर्षोरत्र दूषणम्।
उच्यते सा हि दुहिता तेनैव जनितत्वतः ॥ ६१ ॥

ब्रह्माजी मैथुनी सृष्टि करना चाह ही रहे थे तो दोष किस प्रकार? दोष यही कि वह ब्रह्मासे उत्पन्न होनेसे पुत्री थी ॥ ६१ ॥

ननु सा मानसी सृष्टिर्न दोषोऽस्ति भयंकरः।
मैवं प्रजानाथ एव श्रेष्ठोऽयं लोकसंग्रही ॥ ६२ ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
ज्ञास्यन्ति मानसत्वं न लोकास्तस्या यथायथम् ॥ ६३ ॥
किं च दत्तकपुत्री च पुत्र्येव बुधसंमता।
इयं मानसपुत्रीति पुत्रीत्वे शङ्क्यतां कथम् ॥ ६४ ॥

यह तो मानसी सृष्टि थी। इसमें क्या भयंकर दोष था ? सुनो। ब्रह्माजी प्रजानाथ थे, श्रेष्ठ थे, लोकसंग्रही थे। उनके आचरणका अनुकरण अन्य करते। कौन देखता कि यह मानसपुत्री थी कि कैसी थी। फिर दत्तक पुत्रीको भी पुत्री मानते हैं तो यह तो मानसपुत्री थी ॥६२-६४॥

ननु नैव समर्थस्य दोषः कश्चन विद्यते।
शतरूपां मनुर्व्यूहे भगिनीं ब्रह्मजामतः ॥ ६५ ॥
तदसत् सोदरीत्वेन विना तज्जननाद्विधेः।
कामं सोढुमशक्तश्च समर्थोऽत्र कथं विधिः ॥ ६६ ॥
अनिच्छन्तीं रमयितुमिच्छति प्रसभं स हि।
तस्मादस्त्येव दोषोऽत्र सामर्थ्यक्षरणाद्विधेः ॥ ६७ ॥
संकरस्य च कर्ता स्यादुपहन्यादिमाः प्रजाः।
युक्त एव ततः शंभोस्तदा तद्दण्डनोद्यमः ॥ ६८ ॥

समर्थको दोष होता नहीं है। नहीं तो शतरूपाको मनुने कैसे व्याहा। ब्रह्मासे दोनों पैदा हुए तो शतरूपा मनुकी बहन हुई। यह शंका असती है। क्योंकि ब्रह्माजीने सोदरीपनेके बिना शतरूपाकी सृष्टि की थी। अन्यथा ब्रह्माजीकी प्रथम सृष्टिमें सभी भाई बहन ही होते। यहां की स्थिति दूसरी है। कामवेगको रोकनेमें ब्रह्मा असमर्थ हुए तो समर्थ कहां रहे ? वे तो अनिच्छुक संध्याको बलात् भोगना चाह रहे थे। अतः सामर्थ्य-क्षरण होनेसे ब्रह्माजीको दोष लगता ही। साथ ही संकरकर्ता होनेसे जनतोपघातक होनेमें और भी पाप लगता ॥६५-६८॥

धनुष्याणेः०

पिनाकं धनुरादाय भगवांश्चन्द्रशेखरः ।
संधाय बाणमहिनोत् सपत्राकृतवान् विधिम् ॥ ६९ ॥
विधं यातस्त्रसंस्तस्मात् स्वरक्षायै प्रजापतिः ।
शरीराग्निःसृतोऽप्येनं त्यजत्यद्यापि नो शरः ॥ ७० ॥
मृगस्य वेधनोत्साहस्तस्मिन्नद्यापि विद्यते ।
स मृगव्याधरभसरूपो माहेश्वरः शरः ॥ ७१ ॥
विहायसे मृगशिरोरूपेणाद्यापि पद्मजः ।
वर्तते बाणरूपेण त्रितारं च विलोक्यते ॥ ७२ ॥

उस अधर्मकृत नाशसे बचानेके लिये शंकरजीने पिनाक धनुष लेकर ब्रह्मापर बाण मारा । जो ब्रह्माके शरीरमें पुंखसहित घुसा । भयभीत ब्रह्मा उससे आत्मरक्षा करने स्वर्ग गये । यद्यपि शर उस शरीरसे अलग हुआ फिर भी दुबारा ऐसी घटना न हो एतदर्थं यह बाण मृगवेधनोत्साहसे आज भी मृगशिरा नक्षत्ररूपेण अवस्थित ब्रह्माके पीछे त्रितारके रूपमें शोभा पा रहा है ।।६९-७२।।

सन्ध्या मानसदोषेण दुष्टाऽभोग्या सदाभवत् ।
ब्रह्मध्यानं ततः कार्यं सन्ध्यायां दोषशान्तये ॥ ७३ ॥

संध्या मानसदोषसे दूषित हो गयी । अतएव अभोग्य हो गयी । अतः उस वेलामें भी भोग वर्जित हुआ । उस समय दोषशान्त्यर्थं ब्रह्मध्यान करना चाहिये ।।७३।।

शप्तः कामश्च विधिनाऽनङ्गत्वायातिसाहसः ।
तदुक्तं प्राग् हरक्रोधानलेद्धस्य ह्यनङ्गता ॥ ७४ ॥

कामदेवको ब्रह्माने अनङ्ग होनेका शाप दिया । उसका फल शंकरकी क्रोधाग्निमें जलकर अनङ्ग होना पहले हम कह आये ।।७४।।

पिनाकधारिणे लोकनियमस्थितिहेतवे ।
नमो भगवते धर्मसेतवे वृषकेतवे ॥ ७५ ॥

पिनाक धारणकर जो लोकको नियन्त्रित स्थितिमें रखते हैं ऐसे धर्म सेतु भगवान वृषकेतु शिवको प्रणाम है ।।७५।।

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
द्वाविंशो विगतः स्पन्दो महिम्नः स्तोत्रवार्तिके ॥ २२ ॥



त्रयोविंशः श्लोकः

कर्मणां फलदोऽप्येव दुर्धियामभिचारणः ।
प्रतीपिनां दण्डदश्च धर्मसेतुर्महेश्वरः ॥ १ ॥

एवं श्लोकत्रये कर्मफलदत्वमुदीरितम् ।
नैतावता महेशत्वं सुस्फुटं प्रतिबुध्यते ॥ २ ॥

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्मसचिवा महेशो दीनवत्सलः ॥ ३ ॥

यावन्न दीनकारुण्यं तावत्का नु महेशता ।
कर्मानुसारफलदो देवः साधारणो यतः ॥ ४ ॥

यज्ञादि कर्मोके फलदाता होनेपर भी दुष्टमतियोंके अभिचारकारी हैं, अधर्मवर्तियोंके दण्डदाता हैं; इस प्रकार महेश्वर धर्मसेतु हैं; यह पूर्व तीन श्लोकोंमें निरूपित किया। परन्तु इससे महेश्वरता स्पष्ट नहीं होती। जैसे देवोंकी उपासना करते हैं वैसे वे फल देते हैं। देवता छायाके समान मानो अनुकरणमात्र करते हैं। महेश्वर तो दीनवत्सल होते हैं। जबतक दीन कारुण्य स्पष्ट न दिखाई दे तबतक कैसे महेश्वर? वह तो साधारण देव होगा ॥१-४॥

सुदीनायां तपस्विन्यां पार्वत्यां भगवान् हरः ।
स्त्रैणवत् समवर्तिष्ट स्फोरयम् स्वां कृपालुताम् ॥ ५ ॥

कामदेवदाहोत्तर पार्वती अतिदीन होकर तप करने लगी। फलतः शंकर उनके प्रति स्त्रैण जैसे हो गये और अपनी कृपालुताको स्फुट किया ॥५॥

शक्त्या युक्तो जगति च शक्तः प्रभवितुं शिवः ।
अस्फुरच्छक्तिके नैव स्फुरत्येतज्जगच्छिवे ॥ ६ ॥

दग्धा शिवध्यानपरा शिवे लीनाऽपृथक् सती ।
अद्वैतशिवशक्त्यैक्यसामरस्योपमा स्थिता ॥ ७ ॥

ध्यायन् परं ब्रह्म तदाऽकुर्वन् कार्यमशक्तवत् ।
अवर्तिष्ट महादेवश्चिरं देव्युद्भवेऽपि सः ॥ ८ ॥

अतः शक्तियुतः पूर्णो दर्शनीयोऽत्र शंकरः।
अर्वाचीनपदव्याख्यावसरे समुपास्तये ॥ ९ ॥
उपान्तिमस्तुतौ तेन कात्यायनमहामुनिः।
पूर्णं भङ्ग्यन्तरेणात्र प्रतिपादयतीश्वरम् ॥ १० ॥

रहस्यार्थ यहां यह है कि शक्तिसे युक्त होनेपर ही जगतके उत्पादनादिमें शंकर प्रभु होते हैं। सामरस्यमें पृथक्‌शक्तिस्फुरण नहीं है तो जगत् भी स्फुरित नहीं होता। सतीदाह हुआ। शिवका ध्यान करनेसे सती शिवलीन हुई तो सामरस्यावस्था जैसी हो गयी। शिवजी भी ब्रह्मध्यान करते हुए अकर्मा हो गये। पार्वतीका जन्म होने पर भी काफी दिनतक योग नहीं हुआ था। अर्वाचीनपद व्याख्यामें उपासनार्थं पूर्णरूप वर्णन करना आवश्यक है। अतः भंग्यन्तर (प्रकारान्तर) से पार्वती देवीको लाकर महामुनि कात्यायन शंकरका पूर्णरूपवर्णन करते हैं ॥९-१०॥

स्वलावण्याशंसा धृतधनुषमह्नाय तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥२३॥

पार्वतीके स्वयंके सौन्दर्यपर निर्भर होकर कामदेवने धनुषबाण उठाया था। किन्तु तिनकेके समान क्षणमें ही वह सामने ही भस्म हो गया। फिर भी हे पुरमथन संयमी वरद भगवन! आपको देवी पार्वती शरीरार्धप्रदानसे स्त्रैण समझने लगीं तो यही कहना पड़ेगा कि युवतियां मुग्ध होती हैं ॥२३॥

क्रतुध्वंसविचारे हि चरित्रं किंचिदीरितम्।
सत्यास्तत्र वदन्त्येके दग्धा योगाग्निना सती ॥ ११ ॥
अन्ये त्वाहुः सती नैव भस्मीभूता मृता तु सा।
यज्ञपूर्त्यर्थमायातः शंकरस्तामवैक्षत ॥ १२ ॥

"क्रियादक्षो दक्षः" इत्यादि क्रतुध्वंस विचारमें सतीका कुछ चरित्र हमने बताया। वहां कुछ लोगोंका कहना है कि योगाग्निसे सती जलकर भस्म हो गयी। दूसरे कहते हैं कि सती भस्म नहीं हुई, केवल मृत हो गयीं। यज्ञपूर्त्यर्थं आये शंकरने उन्हें देखा ॥११-१२॥

तथा हि वीरभद्रेण यज्ञध्वंसे कृते सति।
दक्षशीर्षिण निकृत्याग्नौ हुते दुर्धरविघ्नतः ॥ १३ ॥

पीडिता देवताः सर्वा विधिविष्णुपुरोगमाः।
शंकरं प्रार्थयामासुस्तद्यज्ञपुनरुद्धृतेः॥ १४॥
भगवांस्तत्र चागत्य कबन्धे बस्तमस्तकम्।
संयोज्य जीवयामास दक्षं यज्ञस्य पूर्तये॥ १५॥

पश्यत्वेष निजं भागं भगो मित्रस्य चक्षुषा।
यजमानस्य दन्तैः स्वं पूषा भागं पिनष्ट्वति॥ १६॥

पुनरुदधृत्य सकलं स्वभागसहितं मखम्।
कारयामास विधिवत्कारुण्यनिलयो हरः॥ १७॥

वीरभद्रने यज्ञध्वंस किया, दक्षमस्तकको अग्निमें होम डाला तो पीडित सभी देवोंने शकरके पास जाकर यज्ञके पुनरुद्धारके लिये प्रार्थना की। बकरेका मस्तक जोड़कर दक्षको शंकरजीने जिलाया। भगको मित्रके चक्षुसे देखनेका और पूषाको यजमानके दांतोंसे चबानेका अनुग्रह देकर स्वभाग सहित यज्ञका पुनरुद्धार किया॥ १३-१७॥

अथासौ परितोऽपश्यत् पूर्वनष्टमशेषतः।
तत्रासौ समलोकिष्ट प्राणशून्यां सतीतनुम्॥ १८॥

सतीवियोगसंतप्तो व्यामोहपरिधर्षितः।
मृत तदीयं तद् वर्ष्माऽऽलिलिङ्ग तरसा हरः॥ १९॥

ततस्तां स्कन्ध आरोप्य विचचार महीतले।
दिव्यन्तरिक्षे पाताले न शमं प्रत्यपद्यत। २०॥

यज्ञोद्धारोत्तर शंकरने चारों ओर देखा। वहांपर प्राणशून्य सतीदेह देखा। तब सतीवियोगसे सन्तप्त, व्यामोहसे धर्षित शंकरने सतीके मृत शरीरका आलिंगन किया और कंधेपर रखकर पृथिवीमें, स्वर्गमें और पातालमें घूमने लगे, कहीं भी उन्हें शाति न मिली॥ १८-२०॥

एवं व्यामुग्धमालोक्य विचरन्तमितस्ततः।
चकर्त विष्णुश्चक्रेण सत्यास्तद्वर्ष्म खण्डशः॥ २१॥
यत्र यत्रापतन् खण्डा भगवत्यास्तु वर्ष्मणः।
चतुःषष्टिरभूवंस्ते शक्तिपीठा महीतले॥ २२॥

शंकरको इस प्रकार व्यामुग्ध होकर पागल के समान इधर-उधर भटकते देखकर विष्णुने सतीके शरीरको टुकड़े टुकड़े कर गिराया। जहां जहां वह गिरा वहीं पीठ हो गया। इस प्रकार चौंसठ शक्तिपीठ महीतलमें प्रसिद्ध हुए॥ २१-२२॥

अविरोधं वचनयेरेवमत्र विदध्महे ।
प्राणायामानलेनाम्बा प्राणानेव ददाह सा ॥ २३ ॥
शरीरं तु सतोदेव्या दिव्यं निर्दग्धुमक्षमम् ।
प्राणहानेमृ तत्वोक्तिश्चिद्रूपं म्रियते न तत् ॥ २४ ॥
अन्यथा शक्तिपीठत्वं चैतन्यं तत्र तत्र च ।
पूज्यत्वं फलदत्वं च कथं नामोपपद्यताम् ॥ २५ ॥
व्यामुग्धवदभूच्छम्भुर्न तु व्यामुग्ध एव सः ।
अत्रैवानुपदं सर्वमेतत्स्पष्टीभविष्यति ॥ २६ ॥

एक जगह सती जल गयी बताया, दूसरी जगह न जलनेकी बात आयी । दोनों वचनोंका अविरोध इस प्रकार है कि प्राणायामाग्निसे अम्बिकाने केवल प्राणोंको जलाया, शरीरको नहीं । सतीदेवीका शरीर दिव्य है । वह अग्निमें जल ही नहीं सकता । सती मर गयी यह उक्ति भी प्राणदाहको लेकर है । चिद्रूप देवी मर नही सकती । ऐसा न माना जाय तो मृत शरीर चेतनाहीन होनेसे शक्तिपीठोमें चेतनत्व, पूज्यत्व, फलदातृत्व आदि कुछ भी न होता । शंकर भी व्यामुग्धसे हुए, न कि व्यामुग्ध ही हुए । ये सारी बातें यहीं आगे स्पष्ट होंगी ॥ २३-२६ ॥

प्राणहीनापि चिद्रूपा सर्वमेतदलोकत ।
खण्डितापि ह्यखण्डैषा पूर्णोऽशोऽपीति तूदितम् ॥ २७ ॥
दृष्ट्वैतत्सकल स्वस्यां मुग्धं शम्भुममन्यत ।
लब्ध्वा जन्मान्तरं नूनं वरीष्यामीत्यचिन्तयतत् ॥ २८ ॥
सैवं स्त्रैणमवेयाच्चेद्ध्रुवं चित्रं न तद्भवेत् ।
प्लुष्टं दृष्ट्वाप्यनङ्गं चेदवेयाच्चित्रमेव तत् ॥ २९ ॥

शरीर प्राणहीन था फिर भी चिद्रूप होनेसे अपनेको कंधेपर उठाकर फिरना आदि सारी बातें देखीं । क्योकि वह खण्डित होनेपर भी अखण्ड ही थी । और अंश होनेपर भी पूर्णरूप ही थी । यह चैतन्यके विषयमें पहले भी हम कह चुके । यह सब देखकर सतीने शंकरको अपने प्रति मुग्ध माना और दूसरा जन्म लेकर पुनः वरण करूंगी ऐसा सोचा । यहांतक तो ठीक है । इतने मात्रसे यदि शंकरको स्त्रैण समझती रही तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी । किन्तु कामदेवको जलानेपर भी यदि शंकरको स्त्रैण मानती रही तो आश्चर्यकी बात नहीं तो क्या ? ॥ २७-२९ ॥

देवैः संप्रार्थिता देवी मेनायां तुहिनाचलात् ।
लेभे जन्मेशसेवास्या मया प्रागेव वर्णिता ॥ ३० ॥

तपोविघ्नाय विबुधास्तारकासुरपीडिताः ।
कन्दर्पं प्राहिणोच्छम्भोः पुत्रोत्पत्तिप्रवृत्तये ।। ३१ ।।

देवताओंकी प्रार्थनासे अम्बिकाने हिमाचलसे मेनामें जन्म ग्रहण किया। पार्वतीकी शंकर सेवाका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। शंकरजी तप कर रहे ये। तारकासुरपीड़ित देवताओंने शंकरको पुत्रोत्पादनमें प्रवृत्त करानेके लिये तपोविघ्नार्थ कामदेवको भेजा ।।३०-३१।।

स्वलावण्याशंसा०

नैवास्पदं विना कामः क्षमतेऽसौ प्रवर्तितुम् ।
पुमास्पदो हि स्त्रीकामः पुंस्कामो योषिदास्पदः ।। ३२ ।।
पार्वतीतनुलाण्याशंसयेषुं स्मरोऽधरत् ।
तस्याः सौन्दयमाधुर्यसौशील्यादि ह्यलौकिकम् ।। ३३ ।।
उन्मादनं शोषणं च तापनं स्तम्भनं तथा ।
संमोहनं च युगपत् समधत्त झषध्वजः ।। ३४ ।।
तद् दृष्ट्वा नयनं शंभुस्तृतीयमुदमीलयत् ।
अह्नाय तृणवत्प्लुष्टः कामस्त्रिपुरवैरिणा ।। ३५ ।।
उद्विग्ना तदिदं वीक्ष्य मूर्च्छिता तुहिनाद्रिजा ।
कोलाहलं निशम्यागात्तत्राशु च हिमालयः ।। ३६ ।।
क्लिश्नतीं रुदतीं मध्ये मूर्च्छामाप्नुवतीं सुताम् ।
दृष्ट्वा व्यथितचित्तस्तां निन्ये स्वं नृपतिर्गृहम् ।। ३७ ।।

आश्रयके बिना कामकी प्रनृत्ति नहीं होती। स्त्रीकाम पुरुषास्पद होता है। और पुरुषकाम स्त्री-आस्पद होता है। पार्वतीके शरीरलावण्यपर भरोसा रखकर कामदेवने धनुष उठाया। क्योंकि पार्वतीका सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्यादि अतिलोकोत्तर था। कामदेवने शंकरपर उन्मादन, शोषणादि पांचों बाणोंका संधान किया था। उसे देखकर शंकरने अपना तृतीय नेत्र खोला और क्षण भरमें तृणके समान कामदेवको जला डाला। यह देखकर पार्वती उद्विग्न हो गयी। मूर्च्छित हो गिर पड़ी। कोलाहल सुनकर हिमालय राजा दौड़ दौड़कर आये। क्लेशमग्न, रोती हुई, बीच बीचमें मूर्च्छा प्राप्त होती हुई पुत्री को लेकर व्यथित होकर वे अपने घर आये ।।३२-३७।।

शोकाकूपारपतिता शनैर्धैर्यमुपेयुषी ।
निश्चिकाय तपः कर्तुं शंभुं प्राप्तुं हठोद्यमा ।। ३८ ।।

उ मा गास्तपसे सूनो कीदृक् ते कोमलं वपुः ।
मात्रैवं विनिषिद्धापि वनं प्रागादुमा सती ।। ३९ ।।
चकार सा तपोऽप्युग्रं तापसैरपि दुष्करम् ।
परीक्षितापि बहुधा शंभुना या न चाचलत् ।। ४० ।।
दृष्ट्वा तदीयां दृढतां तपस्यां त्यागमेव च ।
प्रसन्नो भगवान् शंभुस्तां निन्येऽर्धाङ्गिनीं निजाम् ।। ४१ ।।

शोकसागर निमग्न पार्वतीने शनैः धैर्य धारण किया । हठमें आ गयीं । तपस्यासे शंकरको प्राप्त करनेका निश्चय किया । मत जाओ इस अर्थमें 'उ मा गाः' ऐसा माता बोलती रही । इसीसे उमा नाम पड़ा । माता के मना करनेपर भी वे तपस्यार्थ निकलीं । बड़े बड़े तपस्वियों के लिये दुष्कर तपस्या पार्वतीने की । शंकरजीने एकबार अनेकविध परीक्षा भी की । लेकिन वे दृढ़ रहीं । पार्वती की दृढ़ता, तपस्या एवं त्यागको देखकर शंकर भगवान प्रसन्न हो गये और उन्हें अपनी अर्धाङ्गिनी बनाया ।।३८-४१।।

मेघश्यामार्धदेहायै कुन्दगौरार्धवर्ष्मणे ।
नमो नमः शिवायै च शिवाय च नमो नमः ४२ ।।
चाम्पेयसुमनोगौर्यै कर्पूरसितवर्ष्मणे ।
नमो नमः० ।। ४३ ।।
धम्मिल्लशीर्षशोभिन्यै जटामस्तकशोभिने ।
नमो नमः० ।। ४४ ।।
कस्तूरीचर्चिताङ्गिन्यै चिताभस्मार्चिताङ्गिने ।
नमो नमः० ।। ४५ ।।
विभासितस्मराङ्गायै मसितेतस्मराङ्गिने ।
नमो नमः० ।। ४६ ।।
मन्दारहारधारिण्यै करोटीहारधारिणे ।
नमो नमः० ।। ४७ ।।
दिव्याम्बरपरीतायै दिगम्बरविधारिणे ।
नमो नमः० ।। ४८ ।।
रत्ननूपुरशोभायै फणिनूपुरशोभिने ।
नमो नमः० ।। ४९ ।।
जगदेकजनन्यै च जगतीजनकाय च ।
नमो नमः० ।। ५० ।।

नमस्ते शिवयुक्तायै शिवायुक्ताय ते नमः ।
नमो नमः० ॥ ५१ ॥
अर्धनारीश्वरस्तुत्या पार्वतीपरमेश्वरौ ।
स्तुवन्ति ये लभन्ते ते भुक्तिं मुक्तिं च शाश्वतीम् ॥ ५२ ॥

शंकरने पार्वतीको अर्धाङ्गिनी बनाया । अर्धनारीश्वररूपमें भगवान विराजमान हो गये । अम्बाजी काली एवं गौरी यथासमय होती हैं । अर्धमेघश्याम, अर्धकुन्द गौर शिवा एवं शिवको बार बार प्राणाम हो । चम्पापुष्पोपम गौरदेहा शिवा और कर्पुरगौरदेह शिवको बार बार प्रणाम हो । मुलायम सुन्दर केशयुत शिवा और जटाजूटधारी शिवको बार बार प्रणाम हो । कस्तूरीचर्चित देहा शिवा और चिताभस्मचर्चित शिवको बार बार प्रणाम हो । स्मर काम) को विभासित करनेवाली शिवा और उसे भस्मीभूत करनेवाले शिवको बार बार प्रणाम हो । मन्दारहारधारिणी शिवा और कपालमालाधारी शिवको बार बार प्रणाम हो । दिव्यवस्त्रधारिणी शिवा और दिगम्बरबाबाशिवको बार बार प्रणाम हो । रत्ननूपुर शोभितपदा शिवा और फणिनूपुरशोभित शिवको बार बार प्रणाम हो । जगतकी एकजननी शिवा और जगतके एकपिता शिवको बार बार प्रणाम हो । अर्धनारीश्वर स्तुतिसे पार्वती और परमेश्वरकी स्तुति करनेवालेको ऐहिक भोग और पारत्रिक शाश्वत मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ४२-५२ ॥

विनष्टसकलक्लेशौ परमानन्दतुन्दिलौ ।
अपारप्रेमकलिलौ पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ ५३ ॥

समस्तक्लेश नष्ट हो गये । परम आनन्द प्रगट हुए । अपार प्रेममें निमग्न पार्वती और परमेश्वर विराजमान हैं ॥ ५३ ॥

तादृशं परमं प्रेम प्राप्तुमानन्दसंप्लवम् ।
आचरन्ति व्रतं दिव्यमद्यापि च कुमारिकाः ॥ ५४ ॥

पार्वतीपरमेश्वरका जो अपार प्रेम है उस आनन्दसागर स्वरूप परमप्रेमको प्राप्त करनेके लिये ही तो आज भी कुमारिकायें दिव्य व्रत धारण करती हैं ॥ ५४ ॥

यदि स्त्रैणं०

स्वपूर्वदेहवहनं संस्मृत्य मधुरं शिवा ।
दृष्ट्वा देहार्धघटनं मधुरान्मधुरं तथा ॥ ५५ ॥

विस्मरन्तीव कन्दर्पदाहं देवी नगात्मजा ।
यमैकनिरतं चापि योगीश्वरमपीश्वरम् ॥ ५६ ॥
स्त्रैणं मेने ततश्चैव गङ्गां शिरसि वीक्ष्य सा ।
मानिनी किल कैलासात् पितृगेहाय निर्ययौ ॥ ५७ ॥

पूर्वजन्मके सतीदेह को शंकरजी उठाकर जो फिरते रहे उस मधुर घटनाके स्मरणसे तथा मधुगतिमधुर वर्तमानकालीन अर्धदेहघटनाके दर्शनसे मानो पार्वती कामदेवदेहदाहको तो भूल ही गयी, पर्वतपुत्री जो ठहरी, फिर यमनियमनिरत योगियोंके भी ईश्वर शंकरको स्त्रैण मानने लगी। तभी तो मस्तकमें गंगाको देखकर मानवती पार्वती कैलास छोड़कर पीयर जानेके लिये निकली थी ॥ ५५-५७ ॥

बत वरद मुग्धा युवतयः

मुग्धा युवतयो नूनं स्वरूपं विस्मरन्ति ताः ।
यदीत्येतत्तु शङ्कायामादिशक्तौ कथं न्विदम् ॥ ५८ ॥
तथापि युक्तं यद्देहविशेषे मुग्धता भवेत् ।
दृष्टाश्चाप्यवतारेषु तद्देहोचितवृत्तयः ॥ ५९ ॥
पुरुषप्रेम वीक्ष्यैव स्त्रैणान् युवतयो हि तान् ।
जानन्ति पूर्ववृत्तं च विस्मरन्ति स्वभावतः ॥ ६० ॥

युवतियां मुग्ध होती हैं। वे स्वरूपस्मरण नहीं करतीं। "यदि स्त्रैणं" ऐसा श्लोकमें यदि पद है। वह शंकार्थक है। आदिशक्ति पार्वतीमें मुग्धता होनेमें शंका है। फिर भी मुग्धता उचित है। क्योंकि शरीरविशेषमें आनेपर वह स्वभाव ईश्वरादिमें भी आ जाता है। अतएव अवतारकालमें मनुष्योचित बातें अवतारमें भी देखनेमें आती हैं। स्त्रीका स्वभाव है कि पुरुषों का प्रेम देखकर उन्हें स्त्रैण समझने लगती हैं और पूर्ववृत्त भूल जाती हैं ॥ ५८-६० ॥

न सतीदेहवहने स्त्रैणतेशस्य कारणम् ।
न वा देहार्धघटने शंकरस्य महात्मनः ॥ ६१ ॥

सतीदेहवहनमें या देहार्धघटनमें स्त्रैणता शिवकी कारण नहीं है ॥ ६१ ॥

बभ्रामेतस्ततोऽरण्ये सीताविरहपीडितः ।
रामस्तं दूरतो दृष्ट्वा शंकरः प्राणमत्पुरा ॥ ६२ ॥
सती पप्रच्छ किमिति मनुष्यं नमतीश्वरः ।
आहैष विष्णुः संपूज्यो मयैव विहितः पुरा ॥ ६३ ॥

कथं रोदिति विष्णुश्चेत्पूज्यश्चैव कथं रुदन् ।
परीक्षिष्येऽद्य गत्वाहं रामं दशरथात्मजम् ।। ६४ ।।

अविश्वस्य वचः शंभोर्गता व्यासेधितापि सा ।
सीतारूपं समास्थाय रामं वञ्चयितुं सती ।। ६५ ।।

सीताविरहपीडित होकर रामचन्द्र जंगलमें भटक रहे थे । दूरसे ही उन्हें देखकर शंकरने प्रणाम किया । सतीने पूछा—आप ईश्वर होकर मनुष्यको कैसे प्रणाम करते हैं ? शंकर बोले ये साक्षात् विष्णु हैं । इनको मैंने ही पूर्वमें पूज्य बनाया था । सती बोली—ये विष्णु हैं तो रोते कैसे हैं ? रोनेवाले पूज्य कैसे ? यह दशरथ पुत्र राम हैं । अस्तु, मैं जाकर परीक्षा करती हूं । शंकरके वचनपर अविश्वास करके सती निषेध करनेपर भी सीताका रूप लेकर रामकी वञ्चना करनेके लिये गयी ।। ६२-६५ ।।

हन्त मातः कथंकारमेकला समुपागता ।
क्व तावद् भगवान् शंभुर्भाग्यं तद्दर्शने न मे ।। ६६ ।।

इति रामवचः श्रुत्वा संकुचन्ती शिवं ययौ ।
स च तां परितत्याज मनसा भगवान् हरः ।। ६७ ।।

उदासीनमुखं दृष्ट्वा शशङ्के दक्षकन्यका ।
नावोचत् पथि किंचिद्वा शंकरस्तां विशङ्किनीम् ।। ६८ ।।

हां माता, आप अकेली कैसे आयीं ? भगवान शंकर कहां हैं ? हाय ! उनके दर्शनका भाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ । इस प्रकार जब राम बोले तो सतीको बड़ा संकोच हुआ । वहांसे वे जबतक शिवजीके पास पहुंची तबतक शंकर मनसे सतीको छोड़ चुके थे । शंकरको उदास देख कर सतीको शंका हो गयी । रास्तेमें शंकरजीने उनसे कोई बात नहीं की ।। ६६-६८ ।।

ज्ञात्वाथ स्वपरित्यागमतिक्लिष्टाऽभवत् सती ।
तत्सान्त्वनाय भगवानुवाच विविधाः कथाः ।। ६९ ।।

तन्त्रशास्त्राणि बहुधा प्रोचेऽमरकथास्तथा ।
ततश्च विस्मृतक्लेशा नित्यं श्रवणतत्परा ।। ७० ।।

अन्तमें जब सतीको अपने त्यागके बारेमें पता लगा तो उन्हें अतिक्लेश हुआ । सतीके सान्त्वनार्थ शंकर भगवान नाना कथा सुनाते रहे । तन्त्र शास्त्र सुनाया, अमरकथा सुनायी । जिससे श्रवणमें मन लग जानेसे क्लेशको वे भूल गयीं ।। ६९-७० ।।

एवं बहुतिथे काले गते दक्षाध्वरे सती ।
संतत्याज तनुं प्राणायामदग्धप्रदूषणाम् ।। ७१ ।।
प्राक् त्यक्तायां स्वमनसा शंभोर्मोहः कथं भवेत् ।
दग्धदोषामुवाहैष चिद्रूपत्वात्तु हार्दतः ।। ७२ ।।
यच्चतुःषष्टिपीठानां शक्तेः संस्थापनं मतम् ।
तद्धि तेनैव संपन्नं न स्त्रैणः शंकरः क्वचित् ।। ७३ ।।

इस प्रकार बहुत समय बीता तत्र दक्षयज्ञमें प्राणायामदग्धदूषण शरीरको सतीने त्यागा। पहले मनसे जिन्हें शंकरजीने त्यागा उनमें मोह कैसे हो ? हां, दोष दग्ध हो गये तो चिद्रूप होनेसे शुद्ध प्रेमसे उस शरीरका वहन शंकरने किया। चतुःषष्टिपीठोंका स्थापन भी अभिमत था। वह भी उसीसे सम्पन्न हुआ। शंकर तो स्त्रैण नहीं ही ।। ७१-७३ ।।

देहार्धघटनं चापि नैवास्य स्त्रैणताकृतम् ।
तत्तपोजातकारुण्यप्रेमप्रावण्यमेव तत् ।। ७४ ।।

देहार्धघटन भी स्त्रैणताप्रयुक्त नहीं है। किन्तु पार्वतीके तपके फल-स्वरूप कारुण्यपरिणाम परमप्रेम प्रवणता ही वह है ।।७४।।

वस्तुतः शिवशक्त्योर्हि सामरस्यं परः शिवः ।
शिवशक्तिस्थितिश्चैव स्पन्दनं परमेशितुः ।। ७५ ।।
शक्त्या युक्तः शिवो विश्वं स्रष्टुमीष्टे न चान्यथा ।
क्व वियोगस्तयोः क्वापि लीलेयं सकला प्रभोः ।। ७६ ।।

वस्तुतः शिवशक्ति सामरस्य ही परशिव परब्रह्म है। शिवशक्तिरूपमें स्थिति ही परमशिवका स्पन्दन है। शक्तियुक्त हों तो ही विश्वसृष्टिमें शिव समर्थ हैं अन्यथा नहीं। कहाँ उनका वियोग होता है। यह सब प्रभुकी लीलामात्र है ।।७५-७६।।

अकामहतचित्तायाप्युमार्धाङ्गविधारिणे ।
स्वरूपस्थाय शान्ताय नमस्त्रिपुरवैरिणे ।। ७७ ।।

जो अकामहत होते हुए अर्धाङ्गरूपेण उमाको धारण करते हैं, जो स्वरूपस्थ एवं शान्त हैं, त्रिपुरान्तक भगवान् शंकरको हमारा यह प्रणाम है ।।७७।।

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
त्रयोविंशो गतः स्पन्दो महिम्नः स्तोत्रवार्तिके ।। २३ ।।



चतुर्विंशः श्लोकः

सकलव्यापकत्वं च सर्वान्तर्यामिता तथा ।
तथैव धर्मसेतुत्वं दीनकारुण्यमेव च ॥ १ ॥
उक्त्वा परममङ्गल्यशीलता संप्रतीर्यते ।
यतो हि शंकर-शिव-शंभुनामानि संबभुः ॥ २ ॥
कारुण्यमतिलोकोर्ध्वमतिदेवोर्ध्वमेव च ।
अर्वाचीनपदस्याथ वक्तव्यमवशिष्यते ॥ ३ ॥
तदेतद्वक्तुमधुना यत्किलापाततोऽन्यथा ।
वस्तुतश्चान्यथा सेयं लीला श्मशानिकीर्यते ॥ ४ ॥

"वियद्व्यापी" श्लोकमें सर्वव्यापकता बतायी । फिर सर्वान्तिमर्यामिता कही । अनन्तर धर्मसेतुत्व बताया । पूर्वश्लोकमें दीनकारुण्य कहा । अब शंकर भगवानकी परममङ्गलरूपता बताने जा रहे हैं जिसको लेकर ही शंकर, शिव, शम्भु इत्यादि नाम हो गये । (शं मंगलं करोति इत्यादि व्युत्पत्ति यहां द्रष्टव्य है) । अतिलोकोर्ध्व तथा अतिदेवोर्ध्व वह कारुण्य बताना अवशिष्ट है। अर्वाचीनपदस्थ परमेश्वरका चरमसीमास्थ, ज्ञातव्य वही तत्त्व है। वही अब बताने जा रहे हैं। आपाततः यह लीला विपरीत प्रतीत होगी । किन्तु वस्तुतः वह अन्यथा ही है। वह है श्मशानलीला । उसीका अब वहां वर्णन करने जा रहे हैं ॥१-४॥

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि ॥२४॥

हे स्मरहर ! श्मशानोंमें आपकी क्रीडा चलती है। पिशाच साथी हैं। चिताभस्मका लेप करते हैं। खोपडियोंका समूह हारके काममें लाते हैं। इसप्रकार आपका समस्त शीलचरित्र अमंगल भले हो फिर भी स्मरण करनेवालोंके लिये हे वरद ! आप परम मंगल स्वरूप हैं ॥ २४॥

शवा हि शेरते यत्र श्मशानः स निगद्यते ।
श्मशानदृश्यमिति हि युद्धाङ्गणमतो जगुः ॥ ५ ॥
यत्र शेते शवो गेहे तावद् गेहमपावनम् ।
शवास्तु शेरते नित्यं यत्र का शुचितास्य तु ॥ ६ ॥
एवंविधं श्मशानाख्यं स्थानं शम्भोर्भवेत्प्रियम् ।
अमङ्गल्यं ततः शीलं तस्य स्यादिति शङ्क्यते ॥ ७ ॥

जहां शव पड़े रहते हैं (शवाः शेरतेऽत्र) उसे श्मशान कहते हैं । रण-भूमिको इसलिये श्मशानदृश्य कहते हैं । जबतक एक शव ही घरमें पड़ा होगा तब तक वह घर अपवित्र होता है । जहां एकाधिक शव हमेशा पड़े रहते हैं उसकी क्या पवित्रता होगी ? ऐसा श्मशानरूपी स्थान शंकरको प्रिय है तो यह शंका स्वाभाविक है कि शंकरका चरित्र शायद अमंगल हो ॥ ५-७ ॥

गच्छन्ति बान्धवादीनां मृत्यौ प्रेतवनं जनाः ।
तिष्ठन्ति तत्र सेवाश्च कुर्वन्ति बहुधा तथा ॥ ८ ॥
उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ९ ॥
तथापि तत्र न चिरस्थानं कस्यापि युज्यते ।
तत्राप्याक्रीडनं माम कथं कस्य हि शोभताम् ॥ १० ॥
कन्दुकक्रीडनं कुर्याच्छ्मशाने को नु पण्डितः ।
युक्तं हास्याद्यपि नहि यस्मिन् करुणधामनि ॥ ११ ॥
तत्राक्रीडां विदधतः शंकरस्य महात्मनः ।
अमङ्गल्यं भवेच्छीलमित्येतदिह शङ्क्यते ॥ १२ ॥

बान्धवादि मरणमें वैसे तो लोग श्मशान जाते हैं, कुछ देर रहते हैं, सेवा भी करते हैं । नीतिवचन है कि उत्सवमें, क्लेशमें, दुर्भिक्षमें, शत्रु-संकटमें, राजद्वारमें और श्मशानमें जो साथ देता है वह बान्धव है । तथापि वहीं अड्डा जमाना उचित तो नहीं है, तिसपर वहां क्रीडा करना क्या शोभास्पद है ? कौन ऐसा पण्डित है जो श्मशानमें गेंद खेलेगा ? जहां कि रोना-पीटना होता है, हास्यतक जहां उचित नहीं है वहां क्रीडा करने वाले शंकरके विषयमें संदेह होता है कि शील शायद अमंगल हो ॥ ८-१२ ॥

ननु तत्र श्मशानेऽपि क्रीडन्ति किल बालकाः ।
बालवच्छुद्धहृदयः शंकरः किं न भण्यते ॥ १३ ॥

सत्यं सहचराः प्रतपिशाचास्तस्य निष्ठुराः ।
श्रुत्वापि तादृशान् बाला दूरे धावन्ति बिभ्यतः ।। १४ ।।
पिशितं मांसमश्नन्तः पिशाचाः शवभक्षिणः ।
अत्यपूता अतिक्रूरा येभ्यो बिभ्यति मानुषाः ।। १५ ।।
अपक्रमयितुं भूतप्रेतादीन् गृहमागतात् ।
यतन्ते सकला लोका नाभिनन्दति कश्चन ।। १६ ।।
विष्णुः स्वनाममात्रेण प्रेतादीन् विनिरस्यति ।
मन्त्रः स्थाने हृषीकेशेत्यादिस्तत्र प्रयुज्यते ।। १७ ।।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः ।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ।। १८ ।।
इति भागवतेऽप्युक्तं भूतनाथस्त्वयं पुनः ।
अमङ्गल्यं ततः किं न शीलमस्येति शङ्क्यते ।। १९ ।।

पूर्वपक्ष हो सकता है कि श्मशानमें भी जाकर बालक खेलते हैं। शंकरको बालकोंके समान शुद्ध हृदय बताया है। उत्तर है कि ऐसा हो सकता है किन्तु श्मशानक्रीडामें ही समाप्ति होती तो ठीक था। यहां तो भूत-प्रेत-पिशाचोंको साथी बना रखा है शंकरने। जिनको देखना क्या सुनते ही बालक भागने लगते हैं। "पिशितमश्नन्तीति पिशाचाः।" जो मांसभक्षण करें वे पिशाच हैं। वे शवभक्षी होते हैं। अति अपवित्र और अतिक्रूर होते हैं जिनसे सभी मनुष्य डरते हैं। भूतप्रेतादिको घरसे भगानेकी सब चेष्टा करते हैं। कौन उनका अभिनन्दन करे? विष्णु तो अपने नाममात्रसे भूत-प्रेतादिको भगाते हैं। "स्थाने हृषीकेश" इत्यादि प्रेतादिको भगानेका मन्त्र है। भागवतमें कहा है—भूतप्रेतपिशाचादि सभी विष्णुके नामसे ही डरते हैं, सभी नष्ट होते हैं। इधर तो शंकर भगवान् भूतनाथ होकर श्मशानमें क्रीडा कर रहे हैं। अतः उनके चरित्र में अमंगल होनेकी शंका होती है ।।१३-१९।।

ननु चातिशिशुः शुद्धो न बिभेति कुतश्चन ।
उरगाद्वा वृश्चिकाद्वा प्रेताद्वोत पिशाचतः ।। २० ।।
सत्यं किन्तु चिताभस्मस्पर्शात्तस्याप्यपूतता ।
न स्पर्शमात्रं कुरुते ललाटे बिन्दुमेव वा ।। २१ ।।
आ समन्ताच्छिवो लेपं भस्मोद्धूलनसंज्ञकम् ।
करोत्यतः पवित्रत्वं न समर्थनसक्षमम् ।। २२ ।।
तैलाभ्यङ्गे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि ।
तावद्भवति चाण्डालो यावत्स्नानं न चाचरेत् ।। २३ ।।

चिताधूमोऽप्यपूतश्चेच्चिताभस्मनि का कथा।
अमङ्गल्यमतः शीलं तस्य स्यादिति शङ्क्यते ।। २४ ।।

छोटा शिशु तो किसीसे डरता नहीं, सांपके साथ खेलने लगता है, बिच्छूको भी पकड़ने जाता है। भूतप्रेतसे वह क्या डरेगा ? अथ च शुद्ध होता है। वैसे शंकर भी अतिशिशुके समान पवित्र होनेसे भूतादिसे नहीं डरते। ठीक है। फिर भी चाहे शिशु हो या और कोई, चिताभस्मस्पर्शसे तो अपवित्र होगा ही। केवल स्पर्श ही नहीं, एकाध बिन्दु माथेपर लगाया तो भी बात थी। ये शंकर तो भस्मोद्धूलन-पूरे शरीरमें चिताभस्मलेपन करते हैं। अतः शुद्धताका समर्थन संभव नहीं है। शास्त्रोंमें कहा है—तेल लगानेपर, चिताधूम लगनेपर, मैथुन करनेपर और हजामत बनवानेपर तब तक चाण्डालसमान अपवित्र रहता है जबतक स्नान न करें। चिताधूम भी अपवित्र है तो चिताभस्मकी क्या बात है ? उसे हमेशा लगाये फिरनेसे शंकरकी अमंगलताकी शंका होती है ।। २०-२४ ।।

सर्वाधिकाऽपावनत्वं नृकरोटीविधारणम्।
तत्स्पर्शमात्रमपि चापावनं स्मृतिषु स्मृतम् ।। २५ ।।
नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति।
मनुराहापरे त्वाहुः सचैलं स्नानमाचरेत् ।। २६ ।।
चिताभस्मलवस्पर्शे मार्गतः पादधावनात्।
शुद्धिः स्यादस्थिसंस्पर्शे प्रतीकारोऽम्बुगाहनम् ।। २७ ।।
न स्पर्शमात्रं कुरुते शंभुर्हीरकहारवत्।
करोटीहारमाधाय प्रसन्नो हन्त नृत्यति ।। २८ ।।
एतत्सर्वं पुरस्कृत्य शिवविद्वेषिणो जनाः।
विनिन्दन्ति महादेवं तत्त्वतो दूरगामिनः ।। २९ ।।

सबसे अधिक अपवित्रता है मनुष्यकी खोपड़ीको धारण करना। उसका स्पर्श भी अपवित्र है। मनुस्मृतिमें कहा है "सस्नेह मनुष्यास्थि स्पर्श करनेपर स्नान से ही शुद्धि होती है।" अन्यत्र सचैल स्नानका विधान आया है। चिताभस्म कहीं चलते समय पांवमें लगा तो पांव धोनेसे काम चलेगा। अस्थिस्पर्श हुआ तो स्नान ही प्रतिकार है। शंकरजी नृकपालका स्पर्शमात्र नहीं हीरेके हारके समान कपालहार बनाकर गलेमें डालते हैं और नाचते हैं। इन सब बातोंको सामने रखकर शिवद्वेषी शिवजीकी निन्दा करते हैं, जो तत्त्वसे दूर ही रहते हैं ।।२५-२९।।

अत्राप्युदाहरिष्यामि मदीयामेव कांचन ।
कथामज्ञानविध्वस्त्यै विचारार्थं मनीषिणाम् ॥ ३० ॥

क्वचित्प्रशंसां श्रुत्वाहं श्मशानस्य हि कस्यचित् ।
गतवांस्तत् पारद्रष्टुमन्यैर्भक्तजनैः सह ॥ ३१ ॥

उद्यानमुच्चैर्वृक्षाणां तथा कुसुमवाटिकाम् ।
भव्यान् पथश्च संवीक्ष्य प्रासीदद्धृदयं मम ॥ ३२ ॥

युक्तं बन्धुवियोगेन दुःखिनां सान्त्वनप्रदम् ।
इदं सर्वं हि भवतीत्येवं संतोषमाप्नवम् ॥ ३३ ॥

मध्येश्मशानं भव्यानि मन्दिराणि समैक्षिषि ।
अत्र च स्थापिता आसन् देवा नानाविधायुधाः ॥ ३४ ॥

वसिष्ठः कश्यपश्चात्रिर्विश्वामित्रः पराशरः ।
व्यासादयश्च तत्रैव स्थापिता वीक्षिता मया ॥ ३५ ॥

आचार्याः शंकराद्याश्च मध्वरामानुजादयः ।
भक्ताः कबीरतुलसीमीराद्याश्च विलोकिताः ॥ ३६ ॥

विमनाः किंचिदभवं श्मशानेऽस्मिन्नपावने ।
पावनानां कथंकारं स्थापना युज्यतेतराम् ॥ ३७ ॥
अहं श्माशानिकं तर्हि ज्ञातुमेतन्न्यवेदयम् ।
अपवित्रे श्मशानेऽस्मिन्नेते हि स्थापिताः कथम् ॥ ३८ ॥

इस विषयके स्पष्टीकरणार्थ मैं अपनी ही एक कथा कहूंगा । एक श्मशानकी प्रशंसा सुनकर उसे देखने भक्तजनोंके साथ मैं गया । ऊंचे वृक्षोंका बगीचा, पुष्पवाटिका, भव्य मार्ग आदि वहां देखकर प्रसन्नता हुई । बोला भी कि बन्धुजनवियोगसे दुःखियोंके सान्त्वनार्थ यह सब उचित है । आगे बढ़ा तो वहां सारे मन्दिर दीखे, जिनमें नानायुधधारी देवता स्थापित थे । वसिष्ठ, कश्यपादि ऋषियोंकी स्थापना थी । शंकराचार्यप्रभृति आचार्य, कबीर, तुलसी, मीरा आदि भक्त वहां स्थापित थे । मैं हैरान था कि इस अपवित्र श्मशानमें पवित्रोंकी स्थापना कैसे ? आखिर यह बात मैंने श्माशानिक से पूछ ही लिया ॥ ३०-३८ ॥

यथैव शंकराचार्यमन्त्यवेषधरो हरः ।
प्राह तद्वदयं मां च संक्षेपणाब्रवीद्वचः ॥ ३९ ॥
सर्वे समागता अत्र मा स्म चिन्तां कृथा यते ।
इत्युक्त्वा निगतः सोऽपि क्षणादन्तर्धिमागतः ॥ ४० ॥

न दर्शनार्थिनः सन्तः किन्त्वन्ते वासहेतवे ।
सर्वे श्मशानमायान्ति तस्यैषोऽभवदाशयः ॥ ४१ ॥

जैसे आद्यशंकराचार्यको अन्त्यजवेष धारणकर शंकरजी ने संक्षेप में कहा वैसे श्माशानिकने भी मुझे टूंक शब्दोंमें कहा-महाराज चिन्ता न करो, ये सब यहां आ गये हैं। इतना कहकर वह निकल गया, क्षणभरमें मानो अन्तर्धान हो गया। उसके कहनेका मतलव था कि दर्शनार्थी होकर नहीं, किन्तु रहनेके लिये सब अन्तमें आये। इसलिये सबके लिये घर बना दिया ॥ ३९-४१ ॥

कश्चिद्विप्रो निजधनवञ्चकं श्रेष्ठिनं खलम् ।
अन्विष्य चिरमप्राप्य श्मशाने स्म प्रतीक्षते ॥ ४२ ॥
कुतस्तिष्ठसि भो विप्र श्मशान इति चोदितः ।
प्राह मद्वञ्चकं द्रष्टुमिच्छामि सकृदत्र हि ॥ ४३ ॥
अन्यत्र स स्याच्छ्रेष्ठी तु सत्यं नैव तु लभ्यते ।
आयास्यत्यत्र स ह्यन्ते किमेतद्वञ्चयिष्यति ॥ ४४ ॥

एक सेठ किसी पथिक ब्राह्मणको ठगकर हजार रुपये लेकर गायब हो गया। बहुत खोजनेपर भी सेठ न मिला तो अन्ततः ब्राह्मण श्मशानमें आ बैठा। पण्डितजी ! आप इधर कैसे बैठे हैं ? लोगोंने पूछा। ब्राह्मण बोला मुझे ठगनेवाले सेठको एकबार यहां देख लूं। पण्डितजी ! वह तो और कहीं छिप गया होगा। जी हाँ, लेकिन कोई श्मशानकी वंचना नहीं कर सकता। अन्तमें यहां तो आना ही पड़ेगा ॥ ४२-४४ ॥

हन्तात्र किंचिद्वक्ष्यामि शृण्वन्तु विबुधा जनाः ।
कुर्मो घृणां श्मशानेऽद्य प्रेतादिभ्यो बिभीमहे ॥ ४५ ॥
स्मर्तव्यं तदिदं सर्वैर्विस्मर्तव्यं न केनचित् ।
यूयं वयं तथान्येऽपि स्याम प्रेताः क्षणान्तरे ॥ ४६ ॥
तदा युष्मत्सुता भीतिं युष्मभ्यं यन्त्यसंशयम् ।
अपक्रमयितुं युष्मान् यतिष्यन्ते गृहाद्धि वः ॥ ४७ ॥
अतिघोरा यातना च तदा प्रेतस्य जायते ।
स्वभस्मन्यस्थिन चैवायं प्रेतः संतिष्ठते चिरम् ॥ ४८ ॥
गङ्गादिषु प्रणीतेऽस्थिन सद्गतिः स्मर्यते ह्यतः ।
यथा सगरजातानां गङ्गास्पर्शेन सद्गतिः ॥ ४९ ॥
तदभावे महादुखं प्रेतानां जायते चिरम् ।
इयं दशा च सर्वेषां जातानां पुरतः स्थिता ॥ ५० ॥

इस विषयमें कुछ अपना भी वक्तव्य है। श्मशानसे लोग घृणा करते हैं, प्रेतादिसे डरते हैं। पर याद रखें, एक दिन सभी प्रेत होने वाले हैं। उस समय आपके ही पुत्र आपसे डरेंगे। घरसे प्रेतको निकालनेका प्रयास करेंगे। घोर यातना उस समय होगी। अपनी भस्म और अस्थिमें ममता कर वहीं चिरकाल पड़े रहेंगे। हां, कोई गंगा आदिमें अस्थिविसर्जन करे तो संभव है सद्गति हो। जैसे सगरपुत्रोंकी। तब तक तो अस्थिमें ममत्व कर पड़े रहना ही होगा। महान दुःख अनुभव करना होगा। यह दशा जो जन्म पा चुके हैं, उन सबके सामने है ॥ ४५-५० ॥

एवं कष्टस्थितान् युष्यान् युष्मत्पितृपितामहान्।
विष्णुस्त्यजति वेधाश्च देव श्चैव त्यजन्ति वः ॥ ५१ ॥
त्यजन्ति बान्धवाः सर्वे त्यजन्ति तनया अपि।
ताडं तडं निरस्यन्ति प्रेतत्वेन प्रिया अपि ॥ ५२ ॥
त्यजन्तु सर्वे प्रेतत्वात् स्वयं स्वं तु कथं त्यजेत्।
यादृशं तादृशमपि न स्वं त्यजति कश्चन ॥ ५३ ॥

हा हन्त सेविताः सर्वे मां त्यजन्त्यतिनिर्घृणाः।
इत्येवं रौति विलपत्यसहायोऽतिदुःखितः ॥ ५४ ॥

भिया धावन्ति पुत्राद्या मन्त्रैर्निघ्नन्ति मान्त्रिकाः।
घोरं कष्टमसौ प्राप्य करवीरे विषीदति ॥ ५५ ॥
तदागत्य कृपासिन्धुस्त्वन्ममत्वास्पदं शिवः।
अस्थि भस्मादिकं प्रीत्या ह्यालिङ्गयाश्वासयत्यहो ॥ ५६ ॥
क्रीडन् स भवता सार्धं शमं गमयति प्रभुः।
त्वं मे सहचरोऽसीति ब्रुवन्नाथयतीश्वरः ॥ ५७ ॥
मा भैषीर्मा स्म रोदीस्त्वमित्येवं सततं वदन्।
अनाथनाथो नः सर्वान् स एवोद्धरते तदा ॥ ५८ ॥

मरणोत्तर इस प्रकार घोर कष्टमें पड़े हुए आप सबको तथा आपके पितृपितामहादिको भी विष्णु त्याग देते हैं। ब्रह्मा त्याग देते हैं। प्रियजन भी मन्त्रियोंको बुलाकर मार मारकर भगा देते हैं। सभी तुमको उस समय त्यागेंगे। किन्तु स्वयं अपनेको तो नहीं त्यागोगे। चाहे भूत हो, प्रेत हो, अपने आपको तो नहीं त्याग सकते। सिर्फ उस समय रोओगे पीटोगे—मैंने जिनकी सेवा की हाय ! ये निर्दयी मुझे त्याग रहे हैं। मार भगा रहे हैं। मान्त्रिक पीट रहे हैं। घोर कष्ट पाकर श्मशानमें जीवात्मा दुःखी हो रहा है। तब करुणासिन्धु शंकर तुम्हारे ममत्वास्पद भस्म हड्डी आदिको छातीसे

लगाकर आश्वासन देते हैं, आपके साथ क्रीडाकर शान्ति प्राप्त कराते हैं। तुम मेरे सहचर हो कहकर सनाथ, बनाते हैं। मत डरो, मत रोओ ऐसा कहकर अनाथनाथ भगवान शिव हम सबका उद्धार करते हैं ॥ ५१-५८ ॥

एवं हि घोरविपदि मग्नान् प्रेतवनस्थितान्।
जीवान् सुखयितुः को वा कृतघ्नोऽपूततां वदेत् ॥ ५९ ॥

कृतघ्नः स पितृभ्रातृपितामहमुखस्य च।
येषां सान्त्वयितारं हि शिवं व्याख्यात्यपावनम् ॥ ६० ॥

धिक् तं नरं महानीचं कृतघ्नं दुरितस्थितम्।
यः पूर्वजसमुद्धर्तुरपूतत्वं प्रजल्पति ॥ ६१ ॥

इस प्रकार घोर विपत्तिमें पतित श्मशानस्थ जीवात्माओंको सुख पहुंचानेवालेको कौन ऐसा कृतघ्न होगा जो अमङ्गल कहेगा। केवल वह शंकरका ही कृतघ्न नहीं। पिता, पितामह, माता, भ्राता आदिका भी कृतघ्न है। आखिर मरनेपर उनको भी सान्त्वना शिवजी ही तो दे रहे हैं। उस महानीच कृतघ्न पापीको धिक्कार है जो अपने ही पूर्वजोंके उद्धारकर्ताको अमंगल कहनेका साहस करता है ॥ ५९-६१ ॥

नाममात्रममङ्गल्यं नामङ्गल्यं तु वस्तुतः।
अमङ्गल्यं हि नामेति ततो नामपदं जगौ ॥ ६२ ॥

परमं मङ्गलं शंभुः स्मर्तॄणां तु विशेषतः।
अतः स्मरत तं नित्यं नमतापीश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥

"अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नाम" यहां नामपद अर्थयुक्त है। अमंगल्य कैसा है। बोलने के लिये है। वस्तुतः परम मंगल है। सबके लिये परम मंगल है। किन्तु स्मरण करनेवालोंके लिये विशेषतः परम मंगल है। अतः शंकरका स्मरण करो। नित्य प्रणाम करो ॥ ६२-६३ ॥

शंभवाय नमस्तुभ्यं शंनिमित्ताय चिन्तनात्।
मयोभवाय च नमः स्मरणात् सुखदायिने ॥ ६४ ॥

शंकराय नमस्तुभ्यं साक्षात् कल्याणकारिणे।
मयस्कराय च नमः साक्षाच्च सुखकारिणे ॥ ६५ ॥

शिवाय च नमस्तुभ्यं मङ्गलैकस्वरूपिणे।
नमः शिवतरायापि विभज्योपपदस्थले ॥ ६६ ॥

भवाय च नमस्तुभ्यं भव्यैकनिधये सते।
शङ्गवे च नमस्तुभ्यं मधुवाणीप्रयोजिने ॥ ६७ ॥

क्षेम्याय च नमस्तुभ्यं सर्वक्षेमप्रसाधिने ।
ताराय च नमस्तुभ्यं जगत्तारणहेतवे ॥ ६८ ॥
नमः श्मशानवासाय विपन्नशमहेतवे ।
नमस्ते भूतपतये दुःखितोद्धारकारिणे ॥ ६९ ॥
नमश्चिताभस्मजुषे दग्धहृत्तापहारिणे ।
नमः कपालमालायाप्यपूतपरिपाविने ॥ ७० ॥
नमः पशूनां पतये सर्वपाशविमोचिने ।
नमः कल्याणनिधये सर्वकल्याणतायिने ॥ ७१ ॥
स्तुवन्तश्च स्मरन्तश्च मङ्गल्यैकनिधिं शिवम् ।
साष्टकं प्रणमन्तश्च मङ्गलं प्राप्नुयुर्नराः ॥ ७२ ॥

"नमः शंभवाय च मयोभवाय च" इत्यादि याजुष मन्त्र है। शंभवति अस्मान्निमित्तात् जिसके चिन्तनादिनिमित्तसे कल्याण हो उस शंभवको प्रणाम है। जिसके चिन्तनादिसे सुखादि संपन्न हो उस मयोभवको प्रणाम है। दिलचस्पीके साथ जो मंगल करते हैं उस शंकरको प्रणाम है। वैसे जो सुख करे उस मयस्करके लिये प्रणाम है। स्वयं मङ्गलरूप शिवको प्रणाम है। दो या अधिक मंगलोंके उपस्थित होनेपर मंगलतररूप शिवतरको प्रणाम है। भव्याश्रय भवको प्रणाम है। मंगलमय वाणीसे सान्त्वना देनेवाले शंगु (शं मङ्गलमयी गौर्यस्य सः) के लिये प्रणाम है। क्षमसाधनापर क्षेम्यको प्रणाम है। जगत्तारणकारी तारको प्रणाम है। महाविपत्तिग्रस्त विपन्न (मृत) लोगोंको शान्ति देनेवाले श्मशानवासी शंकरको प्रणाम है। दुःखितोद्धारकारी भूतपतिको प्रणाम है। दग्धचित्तोंके तापको दूर करनेवाले चिताभस्मधारी भगवानको प्रणाम है। अपूतको भी पवित्र करनेवाले कपालमालाधारी भगवानको प्रणाम है। सर्वपाशबन्धको काटनेवाले पशुपतिको प्रणाम है। अष्टकके साथ भगवानकी स्तुति करते, स्मरण करते और प्रणाम करते हुए मनुष्य परम मंगल प्राप्त करता है ॥ ६४-७२ ॥

संसारः सकलोऽप्येव श्मशानोपम ईक्ष्यते ।
सर्वत्रैव गृहे कश्चिच्छवोऽशेत न संशयः ॥ ७३ ॥
महाश्मशानं तमिमं वदन्ति सुधियो जनाः ।
सकलानां जनिमतामवश्यंभाविमृत्युतः ॥ ७४ ॥
शंकरो व्याप्य वसति श्मशानेऽस्मिन् भवात्मके ।
पिशाचसदृशानंतान् जीवान् सहचरान् भरन् ॥ ७५ ॥

जगत्संहारकरणे सारो भस्मावशिष्यते।
सच्चिदानन्दरूपं यत्तदुद्धूलयति प्रभुः ॥ ७६ ॥
नृकरोटी भवेद् बुद्धिर्वृत्तिस्तस्याः परम्पराम्।
हारवद्धरते यः स परमात्मा परः शिवः ॥ ७७ ॥
शान्तमद्वैतमखिलप्रपञ्चोपशमं परम्।
तुरीयं शिवतत्त्वं तत् परमं मङ्गलं सदोम् ॥ ७८ ॥

अध्यात्मपक्षमें अर्थ इसप्रकार है कि यह पूरा संसार ही श्मशानोपम है। कोई घर ऐसा नहीं होगा जहां कोई न मरना हो या न मरा हो। आखिर जन्मवान सबकी मृत्यु तो होगी ही। अतएव संसार तो महाश्मशान ही है। इस भवरूपी श्मशानमें शंकर व्याप्त होकर वास करते हैं। ये सभी जीव पिशाच सदृश ही तो हैं। इन सहचरोंका भरणपोषण शंकर करते हैं। अनादि ससारमे सभी असख्य बार पिशाच बन चुके हैं। अतः पिशाच बोलने- में कोई हर्जा भी नहीं है। जगतका सहार दाह है। शेष भस्म सत्, चित्, आनन्द अवशिष्ट रहता है। उसीका लेप शंकर करते हैं (ऐसा शिवपुराणमें बताया है) नृकरोटीका अर्थ है बुद्धिवृत्ति। (भाषामें भी कहा जाता है इसकी खोपड़ी तेज है, विलक्षण है इत्यादि) बुद्धिवृत्तिको हाररूपमें धारण करते हैं। अखण्डाकारचित्तवृत्तिप्रवाहविषय किये जाने पर उस वृत्तिप्रवाह- को भगवान् शंकर हारवत् स्वीकार करते हैं। अतएव अखण्ड ब्रह्मस्वरूप हैं। वह शान्त, अद्वैत, अखिलप्रपञ्चोपशम तुरीय परम शिवतत्त्व परममंगल हैं, ॐस्वरूप हैं ॥ ७३-७८ ॥

श्मशानवासिने चित्याभस्मधाम्ने कपालिने।
पिशाचसार्थिने तस्मै कृपाधाम्ने नमो नमः ॥ ७९ ॥

श्मशानवासी चिताभस्मधारी, कपालमाली, पिशाचसार्थी कारुण्य- निधि शंकरभगवानको प्रणाम हो ॥ ७९ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
चतुर्विंशो गतः स्पन्दो महिम्नः स्तोत्रवार्तिके ॥ २४ ॥



पञ्चविंशः श्लोकः

महोक्ष इत्युपक्षिप्य तवैश्वर्यमिति क्रमात् ।
अर्वाचीनपदं प्रोक्तं परतत्त्वावबुद्धये ॥ १ ॥
अत एव क्रतौ सुप्ते परतत्त्वं निगद्य तत् ।
क्रियादक्षकथाद्वारा व्यतिरेकात् समर्थितम् ॥ २ ॥
अर्वाचीनकथा चैव भक्तिदा पुण्यदा स्वयम् ।
तद्वर्णनं ततश्चापि पुरुषार्थप्रदं मतम् ॥ ३ ॥
इत्थं लीलाकथां शम्भोरर्वाचीनपदायिनः ।
उक्त्वा परं पदं तस्य प्राप्त्युपायश्च दर्श्यते ॥ ४ ॥

"महोक्षः खट्वाङ्गं" से उपक्षेप कर "तवैश्वर्यं यत्नात्" से अर्वाचीनपदका परतत्त्वबोधार्थ वर्णन किया। "क्रतौ सुप्ते" में परतत्त्वोक्ति होनेपर भी "क्रियादक्षः" इस व्यतिरेकरूप समर्थनसे अर्वाचीनपदवर्णन ही है। स्वतः भी अर्वाचीनपदकथा भक्तिदा एवं पुण्यदा होनेसे उसका वर्णन पुरुषार्थदायी है। इस प्रकार शंकरजीकी अर्वाचीनपदलीलाकथा कहकर अब साक्षात् परमपद एवं तत्प्राप्तिका उपाय कहने जा रहे हैं ॥ १-४ ॥

मनः प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः ।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥ २५ ॥

यमनियमयुक्त यमी आसनादिविधाके साथ प्राणायाम कर मनको प्रत्यक् प्रत्याहृत कर हृदयकमलमें अवधान करते हुए धारणा, ध्यान, समाधियुक्त होकर जिस तत्त्वके दर्शनसे अमृतमय सरोवरमें डुबकी लगाये हुए जैसे रोमाञ्चित तथा आनन्दाश्रुपूर्ण हो किसी वाचामगोचर अन्तः आह्लादको धारण करते हैं, हे महादेव! वह तत्त्व वस्तुतः आप ही हैं ॥२५॥

अर्थक्रमबलीयस्त्वात्पाठक्रममनादृत् ।
व्याख्यास्याम्यत्र गदितं मुनिना योगसाधनम् ॥ ५ ॥

अर्थक्रम बलवान होनेसे पाठक्रमको न लेकर यहां बताये हुए योग-साधनकी व्याख्या करूंगा ॥ ५ ॥

यमिनः

पदं यमिन इत्येतदत्र कर्तुः प्रबोधकम् ।
संन्यासी यमिशब्दस्य रूढोऽर्थो यद्यपि स्फुटः ॥ ६ ॥

तथाप्यत्र समाश्रित्य तस्य लक्षितलक्षणाम् ।
यमशब्दयुतस्यार्थः संयमी नियमीष्यते ॥ ७ ॥

श्लोकमें कर्तृ बोधक "यमिनः" यह पद आया है । यद्यपि यमी शब्दका रूढ अर्थ संन्यासी होता है । तथापि यहां लक्षितलक्षणाके द्वारा संयमी और नियमी अर्थ सगझना चाहिये । यम शब्द संयमी नियमी दोनोमें है । उन दोनों पदोंको लक्षित कर उसके अर्थको ग्रहण करनेपर लक्षितलक्षणा होती है । जैसे रेफद्वयवान भ्रमरपदका अर्थ लेकर द्विरेफका भ्रमर अर्थ होता है ॥ ६-७ ॥

संयमो नियमश्चैव यतिष्वावश्यकौ गुणौ ।
ततो वा लक्षणीयौ तौ सर्वथा तौ विवक्षितौ ॥ ८ ॥

अथवा यमीका अर्थ संन्यासी ही है । संयम और नियम संन्यासीके लिये आवश्यक होनेसे यमी पदसे उन दोनोंकी लक्षणा समझो । सर्वथा संयम और नियम विवक्षित हैं ॥ ८ ॥

यस्त्वाहारविहारादावति सर्वत्र वर्जयन् ।
आवश्यकमुपादद्यात् संयमीति स भण्यते ॥ ९ ॥

आहारविहारादिमें सर्वत्र अतिको त्यागकर आवश्यकमात्र जो ग्रहण करे उसे संयमी कहते हैं ॥ ९ ॥

कन्दमूलफलाहारा यद्वा स्युर्वायुभक्षणाः ।
योगिनस्त्विति वार्ता तु कृतादावेव युज्यते ॥ १० ॥

योगी संन्यासी कन्दमूल खाकर या वायुभक्षण कर रहते हैं यह बात सत्ययुगकी हो सकती है, आजकी नहीं ॥ १० ॥

कृतेऽस्थिषु स्थिताः प्राणास्त्रेतायां धमनिष्वपि ।
मेदःसु द्वापरे प्राणाः कलावन्नमयास्तु ते ॥ ११ ॥

सत्ययुगमें हड्डीमें प्राण थे । त्रेतामे धमनियोमें । द्वापरमें मेदामें और कलियुगमे प्राण अन्नमय होता है ॥ ११ ॥

द्वापरान्तेऽप्यभूदन्ने कलेरारम्भयोगतः ।
तथा च भगवानाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥ १२ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १३ ॥

न चात्र युक्तताऽत्यन्तमल्पत्वमिति सांप्रतम् ।
यतः पूर्वमिदं स्पष्टीचकार भगवान् स्वयम् ॥ १४ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १५ ॥

केवल कलिमें ही नहीं, द्वापरके अन्तमें भी अन्नमें प्राण था। कलिकाल जो होने जा रहा था। अतएव द्वापरान्तमें भगवानने अर्जुनको कहा— 'संयत आहारविहारवाले संयत कर्मचेष्टावाले, संयत जागरण निद्रावालेका ही योग दुःखनाशक होता है।' संयत अर्थमें युक्त पद है। कोई यह कहे कि युक्त पदका अत्यल्प अर्थ क्यों न करें ? उतर है कि पूर्व श्लोकमें इसका निराकरण भगवानने किया है। अधिक खानेवालेका भी योग सिद्ध नहीं होता। अनशन करनेवालेको भी नहीं। अधिक सोनेवाले और जागनेवालेका भी योग सिद्ध नहीं होता ॥ १२-१५ ॥

योगशास्त्रेषु कथित आहारादिषु संयमः ।
विज्ञेयो विबुधैरत्र कुतर्को दुःखकृद्भवेत् ॥ १६ ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ १७ ॥

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् ।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥ १८ ॥

योगशास्त्रोंमें आहारादिका संयम जो बताया है उसे ही यहां समझ लेना चाहिये। कुतर्क दुखःकारी होगा। योगशास्त्रमें कहा है–मिताहार करो। "स्नेहयुक्त मधुर आहार शिवप्रीतिके लिये चतुर्थांश छोड़कर करें।" अन्यत्र विवरण है–"उदरके दो भाग अन्नसे पूरित करें। एक भाग जलसे। वायुसंचार के लिये चतुर्थांश खाली छोड़ें" ॥ १६-१८ ॥

एवं विहारचेष्टादि यथाशास्त्रं विधीयताम् ।
अन्यथा साधयन् योगं रोगमात्रमवाप्नुयात् ॥ १९ ॥

आवश्यकं विहरणं कर्तव्यं स्वास्थ्यहेतवे ।
नातिश्रमो नाश्रमश्च कर्मस्वपि विधीयते ॥ २० ॥

यस्तूपद्वादशघटीः स्वप्याद्योगं स साधयेत् ।
अधिके तु तमस्त्वित्वमल्पे चोन्मादिता यतः ॥ २१ ॥

अनिद्रो दृश्यते यस्तु योगाभ्यासरतो नरः ।
स रोगी न तु योगी स भोगी निद्रारतस्तु यः ॥ २२ ॥

इसी प्रकार विहारचेष्टा आदि भी योगशास्त्रानुकूल होना चाहिये । अन्यथा योगसाधनाका परिणाम रोग होगा । स्वास्थ्य लाभार्थ आवश्यक विहरण करो । कर्मोंमें अतिश्रम भी न हो, अश्रम भी नहीं । प्रायः बारह घड़ी (पांच घंटा) जो निद्रा ग्रहण करे वह योगसाधक बन सकता है । अधिक निद्रामें तमोगुण बढ़ेगा । नींद कम होनेपर उन्माद होने लगेगा । योगाभ्यास करनेवालेको निद्रा न आती हो तो उसे रोगी समझो, योगी नहीं । निद्रारत हो तो भोगी समझो ॥ १९-२२ ॥

संयमं यमनाम्नाह भगवांस्तु पतञ्जलिः ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ॥ २३ ॥

शरीरसंयमोऽहिंसा सत्यं वाक्संयमो भवेत् ।
मनसः संयमोऽस्तेयं वर्णित्वं कामसंयमः ॥ २४ ॥

तथाऽपरिग्रहो ज्ञेयः क्रोधलोभादिसंयमः ।
उपलक्षणमेतत्स्यादन्यत्र दशदर्शनात् ॥ २५ ॥

यत्रापि दश संप्रोक्ता यमास्तच्चोपलक्षणम् ।
युक्ताहारविहारादि यतो भगवतोदितम् ॥ २६ ॥

आहारसंयमादीनामदृष्टाजनकत्वतः ।
यमत्वं नेति चेत्तर्हि कुत्रान्तर्भाव्यतां वद ॥ २७ ॥

देशाद्यैरपरिच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।
अहिंसाद्या इति ततस्ते पृथक्कृत्य दर्शिताः ॥ २८ ॥

संयमको ही यम नामसे भगवान पतंजलिने कहा । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं । अहिंसा शरीरसंयम है । सत्य वाक्संयम है । अस्तेय मनःसंयम है । ब्रह्मचर्य कामसंयम है । अपरिग्रह क्रोधलोभादिसंयम है । ये पांच उपलक्षण हैं । क्योंकि अन्यत्र दस यम बताये हैं । वह भी उपलक्षण हैं । क्योंकि युक्ताहारविहारत्वादिको भगवानने योगाङ्गरूपसे वर्णन किया है । यह कहें कि युक्ताहारविहारादिका कोई अदृष्ट फल नहीं है अतः वे यम नहीं तो आप ही बतायें कि उनका अन्तर्भाव फिर कहां है ? अतिसाधारण बात होती तो भगवान गीतामें क्यों बोलते ? प्रश्न

होगा कि तब महर्षि पतंजलिने पांच ही क्यों कहे ? उत्तर है कि देशकाल-समयानवच्छिन्नमहाव्रतरूपमें ये पांच आते हैं, अतः उनको पृथक् करके महर्षिने विशेषरूपसे कहा ॥ २३-२८ ॥

नियमो धर्मकार्याणां योगाङ्गं समुदीरितः ।
प्रातर्जागरणादौ च स्नानदानादिकर्मसु ॥ २९ ॥
शौचं संतोष एवापि तपः स्वाध्याय एव च ।
ईश्वरप्रणिधानं च नियमाः पञ्च कीर्तिताः ॥ ३० ॥
शौचं स्नानादिकं प्रोक्तं प्रातर्जागरणाद्यपि ।
संतोषो दानहोमादि त्यागेषु नियमो मतः ॥ ३१ ॥
तपश्च नियतं कार्यं योग्यं चान्द्रायणादिकम् ।
स्वाध्यायो वेदशास्त्रादेर्मन्त्राणां जप एव वा ॥ ३२ ॥
ईश्वरप्रणिधानं तु नियमेनार्चनादिकम् ।
यमीत्यनेन च यमनियमावभिधित्सितौ ॥ ३३ ॥

धर्मकार्योंका नियम भी योगाङ्ग है। प्रातर्जागरणादि एवं स्नानादिका नियम होना चाहिये। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं। स्नानादिनियम शौच है। प्रातः जागरणादिको उसीके अन्तर्भूत समझना चाहिये। दानहोमादिनिमित्तक त्यागका नियम संतोष है। कृच्छ्र, चान्द्रायणादि नियत कर्तव्यकार्य तप है। वेदशास्त्रादिके अध्ययनका या मन्त्र जपका नियम स्वाध्याय है। नियमतः ईश्वरार्चनादि ईश्वर-प्रणिधान है। यमी पदसे ये ही यमनियम विवक्षित हैं ॥ २९-३३ ॥

सविधम्

विधा प्रकारः कथितः सविधं सप्रकारकम् ।
प्रकारे त्वासनं मुख्यं तत्सिद्धिः सप्रकारता ॥ ३४ ॥
सविधं ह्यात्तमरुतो विहितप्राणसंयमाः ।
आसने ससुखे सिद्धे प्राणायामो विधीयते ॥ ३५ ॥
अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान् समभ्यसेत् ॥ ३६ ॥

विधा प्रकारको कहते हैं। सविधंका प्रकारसहित अर्थ है। प्राणायामार्थ आसन ही मुख्य प्रकार है। सविधम् आत्तमरुत का अर्थ है आसन सहित प्राणायाम करनेवाले। यह बात योग शास्त्रमें आयी है—"आसन दृढ होनेपर हितमिताशी योगी गुरूपदिष्ट मार्गसे प्राणायाम करें" ॥ ३४-३६ ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।। ३७ ।।
तत्र शुद्धासने सम्यगुपविश्य यथासुखम् ।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।। ३८ ।।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।
इत्येवंरीत्यवस्थातुं यदुक्तं सविधं तु तत् ।। ३९ ।।
नापरस्यासने योगस्तदाहासनमात्मनः ।
शुचौ देशे प्रतिष्ठास्याधारशक्त्या विधीयते ।। ४० ।।

पवित्र देशमें अपना स्थिर आसन प्रतिष्ठित कर जो ज्यादा ऊँचा नहीं, कुश, उसपर अजिन उसपर वस्त्र ऐसे क्रमसे बिछा हो, उस शुद्धासन पर सम्यक् यथासुख बैठकर शिरोग्रीवादिको सम रखते हुए दिशाओंको विना देखे योग करें इत्यादि जो बताया है यही विधा=प्रकार है। गीतामें "आसनमात्मनः" कहा। अतः दूसरे व्यक्तिके आसनपर योग न करो। "प्रतिष्ठाप्य"में प्रतिष्ठा, 'आधारशक्तयै कमलासनाय नमः' इत्यादि रीति आधारशक्ति आदिसे करें।। ३७-४० ।।

एतद् बाह्यासनं प्रोक्तमान्तरं तु ततः पृथक् ।
सिद्धस्वस्तिकपद्मादि शारीरं बहुधोच्यते ।। ४१ ।।
यत् स्यात् स्थिरसुखं योगयोग्यं चैव तदासनम् ।
पतञ्जलिः स्थिरसुखमासनं समवर्णयत् ।। ४२ ।।

उपरोक्त बात बाह्यासनकी हुई। शारीर, आसन, पृथक् है। सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासनादि अनेकविध शरीर आसन है। स्थिर सुख योगयोग्य आसनको ही महर्षि पतञ्जलिने योगासन बताया है ।। ४१-४२ ।।

केचित्प्राज्ञाः सविधमित्यनेनैव पदेन तु ।
यमं सनियमं पर्यगृह्णन्नासनमेव च ।। ४३ ।।
यमिनस्तर्हि परमहंसास्तच्चोपलक्षणम् ।
योगिनामपरेषां च मोक्षमात्राभिलाषिणाम् ।। ४४ ।।

कुछ मनीषी सविधंसे यम नियम आसन तीनोंका ग्रहण मानते हैं। उनके मतमें यमीका संन्यासी अर्थ है। और वह मोक्षाभिलाषी समस्त योगियोंका उपलक्षण है ।। ४३-४४ ।।

आत्तमरुतः

चतुर्थमात्तरुत इत्यनेन प्रदर्शितम् ।
साधनं चित्तवृत्तीनां निरोधनसहायकम् ॥ ४५ ॥
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ४६ ॥
पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ ४७ ॥

"आत्तमरुतः" से चतुर्थ साधन प्राणायाम बताया । प्राणायाम चित्तवृत्तिनिरोधमें साधन है यह योगशास्त्रसंमत है । "प्राण चञ्चल हो तो चित्त चञ्चल है, प्राण निश्चल होता है तब योगी स्थिर होता है । पवनको जिसने बांधा वही मनको बांधता है, मनको बांधनेवाला पवनको बांधता है" ॥ ४५-४७ ॥

आसने संस्थितो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ४८ ॥
वैपरीत्येन च ततः सूर्येणाकृष्य तं शनैः ।
विधिवत्स्तम्भनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ४९ ॥

पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकश्चेति ते त्रयः ।
एकं चतुर्गुणं चैव द्विगुणं चेति मात्रया ॥ ५० ॥

अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणा स्मृताः ।
उत्तमे त्रिगुणा मात्रा प्राणायामे द्विजोत्तमः ॥ ५१ ॥

किं च स्वेदः कनिष्ठे स्यात्कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति प्राणायामस्तथा त्रिधा ॥ ५२ ॥

बाह्यकुम्भक एवापि कर्तव्यो रेचकोत्तरम् ।
किंचित्कालं न तत्रास्ति मात्राया नियमः किल ॥ ५३ ॥

आसनपर स्थित होकर बायीं नाकसे यदि वायु पूरण करते हैं तो कुम्भकोत्तर दाहिनीसे वायु छोड़ें । फिर विपरीत दाहिनीसे खींचकर कुम्भक कर बायींसे छोड़ें । पूरक कुम्भक रेचक ये तीन प्राणायाम हैं । एक, चार, दो इसी प्रकार मात्राक्रम रहेगा । अधम प्राणायाममें द्वादश मात्रा, मध्यममें चौबीस मात्रा, उत्तममें छत्तीस मात्रा होगी । प्रकारान्तरसे अधम प्राणायाममें पसीना होगा । मध्यममें कम्प होगा । उत्तममें स्थानप्राप्ति होगी । बाह्यकुम्भक भी करना चाहिये उसमें मात्रानियम नहीं है ॥ ४८-५३ ॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
आकुञ्च्य कण्ठं चिबुकं वक्षःस्थाने निवेशयेत् ।। ५४ ।।
किंचित्कुम्भकशेषत्वे उड्डियानो विधीयते ।
पृष्ठतो नाभिदेशस्य यत्नादाकर्षणं तु तत् ।। ५५ ।।
जालन्धरानन्तरं हि मूलबन्धो विधीयते ।
आधाराकुञ्चनं तद्धि लेशात्सम्यगवुध्यतः ।। ५६ ।।

वायुको खींचनेके बाद ही जालन्धर बन्ध करना चाहिये । गर्दन झुकाकर ठुड्ढीको छातीतक लगाना जालन्धर बन्ध है । कुम्भक पूरा होते होते उड्डियान बन्ध करो । नाभि (पेट) पीछेकी ओर खींचना (चिपकाना) उड्डियानबन्ध है । जालन्धरके तुरत बाद मूलबन्ध करो । मूलाधार (गुदा) को ऊपरकी ओर आकर्षण करना मूल बन्ध है । किन्तु उसका पूरा परिज्ञान न हो तो अल्प ही करें ।। ५४-५६ ।।

यावत्केवलसिद्धिः स्यात् सहितंता बदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।। ५७ ।।

केवल कुम्भकसिद्धि पर्यन्त तीनों करें । रेचक और पूरक न हो तब केवल कुम्भक माना जाता है ।। ५७ ।।

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा मतः ।
अमन्त्रको भवेदाद्यो द्वितीयस्तु समन्त्रकः ।। ५८ ।।
इत्थं बाह्यानि चत्वारि प्रोक्तान्यङ्गानि योगिनः ।
अन्तरङ्गाणि चत्वारि प्रदर्श्यन्ते ततः परम् ।। ५९ ।।

फिर प्राणायाम दो प्रकारसे है—अगर्भ और सगर्भ । मन्त्ररहित अगर्भ और मन्त्रसहित सगर्भ है। इस प्रकार चार बाह्य अंग वताये । अब चार अन्तरङ्गसाधन आगे कहते हैं ।। ५८-५९ ।।

मनः प्रत्यक्

प्रत्यक् प्रतीपमञ्चद्यद् बहिर्गमनवर्जितम् ।
प्रतीपमन्तरात्मानं प्रति गच्छति तन्मनः ।। ६० ।।
प्रत्याहारस्त्वयं प्रोक्तो विषयासंप्रयोगतः ।
चित्तरूपानुकरणादिन्द्रियाणां महर्षिभिः ।। ६१ ।।

श्लोकमें प्रत्यक्का वहिर्गमनरहित प्रतीप अन्तरात्माकी ओर जानेवाला मन अर्थ है । विषयसंप्रयोग न होनेसे इन्द्रियां चितरूपानुकारी होती हैं। अतः यही प्रत्याहार है ।। ६०-६१ ।।

नन्विन्द्रियाणां प्रत्यक्त्वं पतञ्जलिमुनिर्जगौ ।
कथं मनः प्रत्यगिति मनसस्तदुदीर्यते ॥ ६२ ॥

सत्यमिन्द्रियप्रत्यक्त्वं मनःप्रत्यक्त्वपूर्वकम् ।
मनःप्रत्यक्त्वमपि चेन्द्रियप्रत्यक्त्वपूर्वकम् ॥ ६३ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
इत्याह भगवानत्र परस्परसमाश्रयम् ॥ ६४ ॥

नाक्षिसंमीलनादेव खानां प्रत्यक्त्वसंभवः ।
कः श्रोत्रे कश्च नासायामुपायः कश्च वा त्वचि ॥ ६५ ॥

श्रोत्रं पिधीयतां तूलैर्नासाङ्गुल्यापिधीयताम् ।
त्वक् तु येन पिधीयेत तेनैव स्पर्शमाप्नुयात् ॥ ६६ ॥

"इन्द्रियाणां प्रत्याहारः" इसप्रकार सूत्रोंमें इन्द्रियोंका प्रत्याहार बताया, आप मनका प्रत्यक्त्व क्यों कह रहे हैं ? सुनिये । मनको प्रत्यक् किये विना इन्द्रियप्रत्यक्त्व नहीं होता । मन.प्रत्यक्त्व इन्द्रियप्रत्यक्त्व पूर्वक होता है ऐमी परस्पराश्रयता है । "इन्द्रियां चरती हैं तो मन पीछे चलता है" ऐसा गीतामें कहा है । कहो कि इन्द्रियोंको रोकें तो मन रुकेगा । किन्तु रोकोगे कैसे ? आंख मूंदकर ? कानमें रुई डालकर ? भले यह सब करो । नाकके लिये क्या उपाय ? त्वगिन्द्रियको जिससे ढकोगे उसीका स्पर्श होता रहेगा । अतः इन्द्रियप्रतीपता मनःप्रत्यक्ताके विना संभव नहीं है ॥ ६२-६६ ॥

नेत्रसंमीलनमपि वस्तुतो न विधीयते ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वमित्येवं हरिणेरणात् ॥ ६७ ॥

न त्वत्र नासिकाग्रस्य तात्पर्यं दर्शने हरेः ।
समर्थ्यतेऽग्रे वक्तव्यं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६८ ॥

मनः प्रत्यक्त्वभावेन सर्वं सम्पद्यतेऽञ्जसा ।
ततस्तदीयं प्रत्यक्त्वं प्रत्याहार इहेरितः ॥ ६९ ॥

आंख मूंदना भी जरूरी नहीं है । "संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं" ऐसा गीतामें नासिकाग्र दर्शन बताया । यद्यपि नासिकाग्रदर्शनमें तात्पर्य नहीं है । "दिशश्चानवलोकयन्" इस अग्रिमोक्तिका वह उपायमात्र है । इतना तो निश्चय है कि अक्षिनिमीलन की विवक्षा नहीं है । मनको प्रत्यक् बनाया तो इन्द्रियप्रत्याहार संपन्न होगा । अतः महर्षि कात्यायनने मन का प्रत्यक्त्वात्मक प्रत्याहार कहा ॥ ६७-६९ ॥

चित्ते

चित्त इत्युदितो देशो धारणाया यदास्पदम् ।
तद्देशबन्धश्चित्तस्य धारणेत्याह सूत्रकृत् ॥ ७० ॥

तत्र भाष्यकृता नाभीचक्रावावित्यभाष्यत ।
नाभिचक्रे हृत्कमले कण्ठे भाले शिरस्यपि ॥ ७१ ॥

मूलाधारे नैव मता स्वाधिष्ठाने च धारणा ।
ध्वान्तयुक्तं तदित्या हुरधश्चक्रद्वयं बुधाः ॥ ७२ ॥

"चित्ते" यह देशवाचक है। धारणाका आश्रय है। "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" ऐसा योगसूत्र है। वहां भाष्यकार भगवान् व्यासने व्याख्यामें कहा–देशे नाभीचक्रादौ। अर्थात् नाभिचक्र, हृदयकमल, विशुद्ध (कण्ठ), आज्ञा, सहस्रार इनमें कहीं भी धारणा करो। मूलाधार और स्वाधिष्ठान इन दोमें धारणा नहीं होती। क्योंकि ये दो चक्र तमोयुक्त माने जाते हैं ॥ ७०-७२ ॥

हृत्पंकजस्य मुख्यत्वादुक्तं चित्तपदेन तत् ।
तत्रैव जीवो वसति यो दीपकलिकाकृतिः ॥ ७३ ॥

दहरं पुण्डरीकं च वेश्मेति श्रुतिवाक्यतः ।
परमात्मापि तत्रैव वीक्ष्यः स्यादिति गम्यते ॥ ७४ ॥

"चित्ते"से हृदयकमलका विशेषोपादान हृदयकी मुख्यताके कारण किया ।वहीं दीपकलिकाकार जीवका वास है। "दहरं पुण्डरीकं वेश्म" इस श्रुतिसे परमात्माका भी दर्शन वहां करनेको वताया ॥ ७३-७४ ॥

इदमप्यत्र बोद्धव्यं कुलकुण्डलिनीं शिवाम् ।
प्राणायामाच्चिन्तनाद्वा प्रोत्थाप्याधारतः पराम् ॥ ७५ ॥
मूलाधारमधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम् ।
विशुद्धिमाज्ञां संभेद्य सहस्रारे निवेशयेत् ॥ ७६ ॥
शिवेन तत्र संयोज्य तदुत्थामृतधारया ।
प्रपञ्चं प्लावयन् मूलं व्युत्क्रमेण निवेशयेत् ॥ ७७ ॥
एवं नित्यं विदधतो धारणा लघु सिध्यति ।
सुभगोदयटीकादौ मयैतच्च प्रपञ्चितम् ॥ ७८ ॥

यहां थोड़ा यह भी समझें। प्राणायामद्वारा या चिन्तनद्वारा कुलकुण्डलिनी परा शिवाको उत्थापित करना चाहिये। फिर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा इन छः चक्रोका भेदन कर

कुण्डलिनीको सहस्रार कमलमें पहुंचायें। वहां शिवके साथ संयोजित कर उसमे उत्पन्न अमृतधारा से प्रपञ्च सेचन करते हुए फिर व्युत्क्रमसे कुण्डलिनीको मूलाधारमें पहुंचायें। इसप्रकार नित्य करनेपर धारणा शीघ्र सिद्ध होती है। इन सबका विस्तृत विवरण हमने सुभगोदयकी व्याख्या, योगसूत्रप्रवचनादिमें किया है ॥ ७५-७८ ॥

अवधाय

अवधायेतिवचनं यमिवद् द्व्यर्थकं भवेत्।
प्रणिधानसमाधाने संगृह्येते उभे ततः ॥ ७९ ॥

श्लोकमें "अवधाय" यह शब्द यमी शब्दके समान ही दो अर्थका संग्राहक है। प्रणिधान तथा समाधान दोनों ही उससे (अवधानसे) संगृहीत हो जाते हैं ॥ ७९ ॥

प्रणिधानमिति ध्यानं समाधिरपरं भवेत्।
स्यात्प्रत्ययैकतानत्वं ध्यानं ध्येयार्थगोचरम् ॥ ८० ॥

प्रणिधानसे ध्यान विवक्षित है। समाधानसे समाधि विवक्षित है। इनमें ध्येयार्थविषयक प्रत्ययों की जो एकतानता (एकाकर प्रवाह) है वह ध्यान है ॥ ८० ॥

निःस्वरूपमिवार्थैकनिर्भासं तद्यदा भवेत्।
ध्यातृध्यानपरित्यागात् समाधिरभिधीयते ॥ ८१ ॥

ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय त्रिपुटीका भान होता है। इनमें ध्याता और ध्यान दोनोंके परित्याग होनेपर केवल ध्येयका भान रहेगा। उस समय मानो ध्यान स्वरूपरहित होगा, ध्येयमात्र भासित होगा। जैसे जपाकुसुमसांनिध्यमें स्फटिकमणि निःस्वरूपसी हो जाती है। ऐसी अवस्थाको समाधि कहते हैं ॥ ८१ ॥

प्रहृष्यद्०

अष्टाङ्गयोगः प्रथमपादेनैवं निरूपितः।
प्रहृष्यदित्यादिना च भक्तिः पादेन वर्ण्यते ॥ ८२ ॥

इसप्रकार प्रथमपादसे अष्टांगयोगका निरूपण हुआ। अब द्वितीयपादसे भक्तिका वर्णन है ॥ ८२ ॥

प्रेम्णा प्रहृष्टरोमा स्यादानन्दाश्रुकलेक्षणः।
तथा च भगवद्भक्तिरुभाभ्यामत्र गम्यते ॥ ८३ ॥

नानन्दानुभवस्यैव परिणामः स युज्यते ।
भोगेऽस्यादर्शनात्पुत्रचिरवीक्षादिषूदयात् ॥ ८४ ॥

प्रेमसे रोमाञ्च होता है, आनन्दाश्रुपात होता हैं । अतः इन दो लिङ्गों से भगवद्भक्ति यहां अवगत होती है। तृतीय पादोक्त आनन्दानुभवका यह परिणाम नहीं माना जा सकता । क्योंकि मिष्टान्नभोजनादिके समय न रोमहर्ष होता है और न किसीकी आंखसे अश्रु गिरता है। हां चिर-वियुक्त पुत्रादि मिलते हैं तो ये दोनों ही बातें आती हैं ॥ ८३-८४ ॥

कथं विना रोमहर्षं कथमश्रुकलां विना ।
विशुध्द्येद् हृदयं प्रेम्णा विनेति हि सतां वचः ॥ ८५ ॥

"कथं विना रोमहर्ष द्रवता चेतसा विना" इत्यादि भागवतश्लोकमें उक्त बात स्पष्ट है। रोमहर्ष, चित्तद्रवीभाव, आनन्दाश्रुकला, इनसे उप-लक्षित भक्तिके बिना चित्तशुद्धि कैसे हो सकती है ॥ ८५ ॥

यदालोक्य

यदालोक्येति पादेन ज्ञानमत्र निगद्यते ।
स्वयंप्रकाशरूपेण तदालोकनमिष्यते ॥ ८६ ॥
न ह्यक्ष्णा दर्शनं नान्तः प्रवृत्तिस्तस्य विद्यते ।
न चापि मनसा योगे मनोवृत्तिनिरोधतः ॥ ८७ ॥
तस्मात्तद्दर्शनं नाम तदावरणभङ्गतः ।
स्वप्रकाशतया तस्य भानमेवाभिधीयते ॥ ८८ ॥

"यदालोक्याह्लादं" इस पादसे ज्ञानका कथन है। उसका आलोकन स्वयंप्रकाशरूपसे ही माना जाता है। आंखोंसे अन्तस्तत्त्व परमात्माका दर्शन संभव नहीं है। क्योंकि आंखोंकी अन्दरकी ओर प्रवृत्ति नहीं है। यह कहें कि मनसे ब्रह्मदर्शन होगा तो भी ठीक नहीं। क्योंकि "मन.प्रत्यक्" इसमें योगकथन हुआ। योगमें मनोवृत्तिका ही निरोध हो गया तो वृत्तिरूप दर्शनका सवाल कहां रह जाता है। इसलिये अन्तस्तत्त्वदर्शनका अर्थ है ब्रह्मावरणका भंग होनेसे स्वयंप्रकाशतया ब्रह्म भासित होना ॥ ८६-८८ ॥

ननु वृत्तिं विना नैव भङ्गः स्यादवृतेः क्वचित् ।
तथा श्रवणतः साक्षात्कारो वेदेषु कीर्तितः ॥ ८९ ॥
श्रवणोत्पन्नवृत्त्यैवाऽऽवृतिभङ्गे स्थिते सति ।
कथं स्याद्योगभक्तिभ्यां साक्षात्कारात्मवीक्षणम् ॥ ९० ॥

सैवं न श्रवण दीनां निषेधं कुर्महे वयम् ।
योगात्प्राग् योगमध्ये वा श्रवणाद्यं न किं भवेत् ॥ ९१ ॥
तथैवर्तंभरा प्रज्ञा सविकल्पसमाधितः ।
जायतेऽत्र महावाक्यस्फुरणं किं न संभवेत् ॥ ९२ ॥
केचिन्निदिध्यासनोप–योगित्वविधयोदितम् ।
अष्टाङ्गयोगं विस्पष्टं वेदान्तेषु बभाषिरे ॥ ९३ ॥

पूर्वपक्ष उठता है कि योगमें यदि वृत्ति नहीं है तो आवरण भंग नहीं होगा तो तत्त्वसाक्षात्कार कैसे ? इतना ही नहीं, श्रवणजन्यवृत्तिसे साक्षात्कार बताया गया है। इस प्रकार वेदान्तमहावाक्य श्रवणजन्य वृत्तिसे आवरण भंग एव तत्त्वसाक्षात्कार निश्चित हुआ तो योग और भक्तिसे साक्षात्काररूप ज्ञानकी बात कहां रह जाती है ? इसका समाधान यह है कि तृतीयपाद ज्ञानपरक है; योगसे मनोवृत्तिरूप साक्षात्कार नहीं होगा इतना ही हमने बताया। श्रवणादिका निषेध हमने कब किया ? योगसे पहले या योगके मध्य जो श्रवणादि है उसीसे साक्षात्कार होगा, योगसे नहीं। अतएव तृतीयपाद योगपरक नहीं है, यही हम कह रहे हैं। फिर सविकल्पक समाधिसे ऋतंभरा प्रज्ञा होती है। उसीसे महावाक्यस्फुरण भी हो सकता है। कुछ महात्मा लोग अष्टांगयोगको निदिध्यासनोपयोगी भी मानते हैं। जो भी हो तृतीय पाद वृत्तिसहित दर्शनवर्णनात्मक ही है इसमें कोई बाधा नहीं है ॥ ८९-९३ ॥

सति योगे चित्तवृत्तेरैकाग्र्यमुपजायते ।
ईश्वरप्रणिधानादि योगान्तर्भावि दर्शितम् ॥ ९४ ॥
तथा सति परं प्रेम जायते परमेश्वरे ।
योगं कुर्वन् भक्तियुक्तः श्रवणादिवशात् पुमान् ॥ ९५ ॥
साक्षात्कारं भगवतो लभते नात्र संशयः ।
तदेतदाह भगवान् गीतायामर्जुनं प्रति ॥ ९६ ॥
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ ९७ ॥
इत्यादिकमुदीर्याथ परापरविभागतः ।
श्रावयामास परमं तत्त्वं सुस्थं ततोऽखिलम् ॥ ९८ ॥

यहां क्रम यह बताया गया कि प्रथम योग द्वारा चित्तकी एकाग्रता सम्पादन करो। योगमें ईश्वरप्रणिधान आ भी गया। उससे फिर परमात्मा में परम प्रेमलक्षण भक्ति होती है। (चित्तैकाग्रताके बिना परमप्रेम दुर्लभ

ही है।) फिर योग करते हुए और भक्ति करते हुए श्रवणादिसे साक्षात्कारकी प्राप्ति होगी। यह बात सातवें अध्यायमें गीतामें स्पष्ट है। "मय्यासक्त-मनाः" इस श्लोकमें षष्ठाध्यायोक्त योगसे और भक्तिसे परमेश्वरका पूर्णज्ञान जैसे होना है वैसे सुनो कहकर फिर श्रवण कराया। "भूमिरापोनलः" इत्यादिसे अपर, पर, परापर तत्त्वोंको समझाया। वही बात यहां भी है॥ ९४-९८॥

आह्लादं ··· दधत्यन्तः

यदालोक्य बुधास्तत्त्वं निमज्ज्येवामृतह्रदे।
दधत्याह्लादमित्यत्र मुक्तरूपं च वर्णितम्॥ ९९॥
परतत्त्वावलोकेन परमान्दलक्षणः।
आह्लाद आविर्भवति जीवन्मुक्तिर्हि सा मता॥ १००॥

"जिस परमत्त्वको देखकर विद्वान् अमृतसरोवरमें गोता लगानेका आह्लाद पाता है" कहकर जीवनमुक्तिका भी वर्णन किया। परतत्त्वाव-लोकनसे परमानन्दरूप आह्लादकी जो प्राप्ति होती है वही तो जीवन्मुक्ति है॥ ९९-१००॥

तत्त्वं ··· किल भवान्

तदद्वैतं परं तत्त्वं स एव परमः शिवः।
प्रपञ्चोपशमं शान्तं तुरीयं पदमुच्यते॥ १०१॥
विदेहमुक्त्यवस्थायां यत्तत्त्वमवशिष्यते।
वृत्त्यादिरहितत्वेन तदप्यत्र निरूपितम्॥ १०२॥

"तत् किल भवान्" में 'किल'का प्रसिद्ध अर्थ है। माण्डूक्य श्रुतिमें "शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" इत्यादि प्रसिद्धवचनकी ओर यह इगित करता है। अर्थ यह है—वह अद्वैततत्त्व ही परम शिव है, प्रपञ्चोपशम शिव तुरीय वही आप है। यहां "आलोक्य" से पृथक् करके व्याख्या होनेसे विदेहमुक्तिअवस्थाका भी वर्णन हो जाता है। वृत्त्यादिरहित शुद्ध तुरीय शान्त भगवत्तत्त्व ही तो विदेहमुक्ति है॥ १०१-१०२॥

किमपीति च शब्दोऽयमवाङ्मनसगोचरम्।
वस्तूपस्थापयत्यत्र पुरुषार्थःपरो हि यः॥ १०३॥

"किमपि यमिनः" यहां मन वाणीका अविषय वस्तुको 'किमपि' यह शब्द उपस्थित करता है। वही परमपुरुषस्वरूप है जिसको द्वितीय श्लोकमें "अतीतः पन्थानं" इत्यादिसे कहा॥ १०३।

अष्टाङ्गयोगलक्ष्याय भक्तिलभ्याय मीढुषे।
अनन्तानन्दबोधाय चिद्रूपाय सते नमः॥ १०४॥

अष्टांगयोगका जो लक्ष्य है जो भक्तिके द्वारा प्राप्य है ऐसे अनन्तानन्दस्वरूप चिद्रूप आनन्दवर्षा करनेवाले मीढ्वान् शंकरको प्रणाम है॥ १०४॥

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
पञ्चविंशो गतः स्पन्दो महिम्नः स्तोत्रवार्तिके॥ २५॥





षड्विंशः श्लोकः

उक्तं वाङ्मनसातीतं निर्विकल्पसमाधिगम्।
स्वप्रकाशैकनिर्भासं सर्वद्वैतविवर्जितम्॥ १॥
तदेव गन्तुं विविधाः शास्त्रेषूक्ता उपास्तयः।
अष्टमूर्तित्वविधया शिवोपास्तिरवेक्ष्यते॥ २॥
व्यस्तरूपतया कैश्चिदुपास्यन्तेऽष्टमूर्तयः।
अष्टमूर्तित्वरूपेण समस्तविधया परैः॥ ३॥

पूर्व श्लोकमें और प्रारम्भमें निर्विकल्पसमाधिगम्य वाङ्मनसातीत तत्त्वका वर्णन किया। निर्विकल्पसमाधिसम्य इसलिये कि अखण्डाकार वृत्तिसे आवरण भंग होनेपर स्वप्रकाशरूपेण भासित होता है। तब मनोवृत्ति आदिका काम ही नहीं रहता। दूसरी बात, वह सर्वद्वैतवर्जित है। वृत्तिकालमें वृत्तिको लेकर ही द्वैत होगा। उसी परमतत्वको प्राप्त करनेके लिये शास्त्रोंमें उपासनाका वर्णन है। उनमें अष्टमूर्तिके रूपमें शिवोपासना आती है। अष्टमूर्ति उपासना भी दो प्रकारसे होती है। व्यस्तरूपसे तथा समस्तरूपसे। सूर्यचन्द्रादिकी शिवरूपेण जो उपासना

की जाती है वह व्यस्त उपासना है। आठों मूर्तियों के रूपमें एक ही शिवकी उपासना हो तो वह समस्तरूपसे उपासना मानी जाती है ॥ १-३ ॥

मन्दानामुभयी तावदष्टमूर्तेरुपासना।
कुशलानां पुनः प्रोक्ता विश्वमूर्तेरुपासना ॥ ४ ॥

सर्वं हि खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तहृत्।
उपासीतेत्युपासोक्ता विश्वमूर्तेः श्रुतौ स्फुटम् ॥ ५ ॥

अतश्चात्राष्टमूर्तिश्च विश्वमूर्तिश्च शंकरः।
सर्वबाधेन परमतत्त्वबोधाय वर्ण्यते ॥ ६ ॥

मन्दबुद्धियोके लिए व्यस्त तथा समस्त दोनों प्रकारकी अष्टमूर्ति उपासना होती है। जो कुशल बुद्धि होंगे उनके लिये विश्वमूर्तिकी उपासना होती है। "सर्वं खल्विद ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिमें बताया है – समस्त जगत ब्रह्मरूप और ब्रह्मजलान् है। (ब्रह्मज=ब्रह्मोत्पन्न ब्रह्मल=ब्रह्ममें लीन होनेवाला ब्रह्मान् = ब्रह्ममें जीवित रहनेवाला) इस प्रकार शान्तहृदय हो उपासना करे। यह विश्वमूर्तिकी उपासना है। (जैसे शिवलिंगमें शिव भावना की जाती है वैसे विश्वमें शिव भावना करना विश्वमूर्त्युपासना है। सूर्यादिमें शिव भावना अष्टमूर्त्युपासना है) इसलिये वहां भगवान शंकरका अष्टमूर्तिरूपसे तथा विश्वमूर्तिरूपसे वर्णन किया जा रहा है। उपासना परिपक्व होनेपर उपाधिबाधसे चैतन्यबोध होगा। उपाधि विश्व हुआ तो सर्वबाध होगा और अद्वितीय परमतत्त्वका बोध होगा ॥ ४-६ ॥

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥ २६ ॥

हे भगवन्! तुम ही सूर्य हो, तुम ही चन्द्रमा हो, तुम ही वायु हो, तुम ही अग्नि हो, तुम ही जल हो, तुम ही पृथिवी हो, तुम ही आत्मा हो, इस प्रकार बुद्धिपाकवाले परिच्छन्न वाणी भले कहें, किन्तु हम उस तत्वको नहीं जानते जो आप न हो ॥ २६ ॥

अभ्यासात्कर्मभेदोऽत्र तथा चोवाच जैमिनिः।
अविशेषादनर्थं स्यादेकस्यैवं पुनः श्रुतिः ॥ ७ ॥

यहां त्वंपदकी आवृत्तिसे उपासना भेद सिद्ध होता है। "एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं स्यात्" ऐसा जैमिनीय सूत्र है। "समिधो यजति, तनूनपातं यजति" इत्यादिमें 'यजति' पदकी आवृत्ति होनेसे कर्मभेद है। एक ही यजतिसे काम चलता, द्वितीयादि यजतिमें अविशेष होता तो द्वितीयादि यजति पद अनर्थक होता ॥ ७ ॥

त्वमर्थोपासना नात्र त्वर्कसोमादिभिर्गुणैः।
उत्कर्षाद् ब्रह्मदृष्टिः स्यादिति व्यासेन निर्णयात् ॥ ८ ॥

यदि कहें कि यहां अर्कत्व, सोमत्वादि अष्टगुण विशिष्ट एक त्वंपदार्थ शंकरकी उपासनाका विधान क्यों न माना जाय ? तो उसका उत्तर है—ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् इस न्यायसे उत्कृष्ट शिवमें अर्कादि गुणदृष्टि नहीं किन्तु अर्कादिमें शिवदृष्टि ही उचित मानी जाती है ॥ ८ ॥

नन्वेवमष्ट सिध्यन्ति व्यस्तोपास्तय एव नः।
समस्तोपास्तिसिद्धिस्तु नास्माकं भवतीति चेत् ॥ ९ ॥

तन्नाष्टमूर्तिसंज्ञास्ति शंकरस्य महात्मनः।
अष्टमूर्तिस्वरूपेण तेन सिध्यत्युपासना ॥ १० ॥

न च डित्थडवित्थादिसंज्ञावदिति सांप्रतम्।
योगरूढौ संभवन्त्यां रूढमात्राप्रतीतितः ॥ ११ ॥

अष्टौ सूर्यादयो यस्य मूर्तयः स तथाविधः।
अष्टमूर्तिर्महेशान इत्यर्थस्य प्रसिद्धितः ॥ १२ ॥

इस प्रकार फिर व्यस्तरूपसे आठ उपासनायें सिद्ध होंगी। आपने पहले समष्टि व्यष्टि दोनों उपासनायें बतायीं, उसकी उपपत्ति कैसे ? सुनो। अष्टमूर्ति यह शंकरका एक नाम ही है। अतः अष्टमूर्तित्वेन उपासना सिद्ध है। यह कहें कि यह डित्थ डवित्थ जैसा रूढ शब्द है, उससे आठ सूर्यादि मूर्तिरूपसे उपासना सिद्ध नहीं होंगी तो यही हम कहेंगे कि जहां लोकवेदप्रसिद्ध योगरूढि है वहां केवल रूढि नहीं ली जा सकती। आठ—सूर्यचन्द्रादि जिसकी मूर्ति ऐसा अर्थ वहां स्पष्ट है ॥ ९-१२ ॥

भङ्ग्यन्तरेण कथिता विश्वमूर्तेरुपासना।
चतुर्थपादे तत्तत्र व्याख्यायां विवरीष्यते ॥ १३ ॥

विश्वमूर्तिकी उपासना प्रकारान्तरसे चतुर्थ पादमें बतायी है। उसका विवरण वहींपर व्याख्यामें देखें ॥ १३ ॥

शिवलिङ्गं त्रिधा दृष्टं गोलाकारं क्वचिद्भवेत् ।
अण्डाकारं क्वचिद् दीर्घवर्तुलाकारकं क्वचित् ।। १४ ।।

शिवलिंग तीन प्रकारका देखनेमें आता है। कहीं गोलाकार (या अर्ध गोलाकार) कहीं अण्डाकार और कहीं लम्बा ।। १४ ।।

त्वमर्कः

अर्कस्तु शिवलिङ्गं स्याद्गोलाकारं स्फुरच्छवि ।
ज्योतिर्लिङ्गं ततस्तद्धि तदुपास्यं शिवात्मना ।। १५ ।।

अर्क—सूर्य गोलाकार छवियुक्त शिवलिङ्ग है। वह ज्योतिर्लिंग है। शिवरूपसे उसकी उपासना करें ।। १५ ।।

ताम्रोऽरुणोऽथ बभ्रुश्च सुमङ्गलपदः शिवः ।
स गोपैरुदहारीभिर्दृष्टो मृडयतु प्रभुः ।। १६ ।।

"असौ यस्ताम्रो अरुणः" इत्यादि मन्त्रमें प्रार्थना की गयी है कि अरुण बभ्रु मङ्गलपद जिसे गोप और पनिहारिन भी देखते हैं, हमारे दृष्ट= उपासित होकर हमें आनन्द प्रदान करें ।। १६ ।।

गायत्र्या भर्गगायत्र्या तमुपासीत पण्डितः ।
तथा च तत्र गदितं भर्गो देवस्य धीमहि ।। १७ ।।

हरः स्मरहरो भर्गस्त्र्यम्बकस्त्रिपुरान्तकः ।
इति कोशेषु कथितो भर्गस्त्र्यम्बकसंज्ञया ।। १८ ।।

गायत्री मन्त्रसे रुद्रकी उपासना करें। "भर्गो देवस्य धीमहि" इस प्रकार गायत्री में भर्गका ध्यान कहा है। कोशमे भर्गको, शंकर बताया है ।। १७-१८ ।।

ननु रुद्रार्थको भर्गः पुंसि योऽयं नपुंसके ।
स सान्तो न शिवार्थः स्यात्तेजोऽर्थक उपेयते ।। १९ ।।
तत्तुच्छं नैव तेजोऽर्थे क्वापि लोके स वीक्ष्यते ।
रुद्रस्तेजःस्वरूपत्वात् तेजस्त्वेनास्य वर्णनम् ।। २० ।।
अकारान्तोऽपि शब्दोऽयं तेजोऽर्थक उपेयते ।
अकारान्तसकारान्तभावोऽकिंचित्करस्ततः ।। २१ ।।
आदित्यान्तर्गतं वर्चो भर्गाख्यं तन्मुमुक्षुभिः ।
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रितयस्य च ।। २२ ।।
ध्यानेन पुरुषो यश्च द्रष्टव्यः सूर्यमण्डले ।
इत्यान्तता पुरुषता तेजस्ता चोदिताह्निके ।। २३ ।।

ध्यानेन पुरुषैर्यश्च द्रष्टव्यं सूर्यमण्डले ।
इति पाठान्तरेऽप्येव स एवार्थः स्थितो भवेत् ॥ २४ ॥

पूर्वपक्षः—रुद्रार्थक भर्गशब्द अकारान्त पुंलिंग है। नपुंसकमें सकारान्त भर्गस् शब्द तेज अर्थमें है। उत्तर :- यह सब बातें अति तुच्छ हैं। क्योंकि लोकमें तेजअर्थमें भर्ग शब्दका प्रयोग कहीं नहीं है। रुद्र तेजोरूप होनेसे नपुंसकमें भी प्रयोग असंगत नहीं है। और अकारान्त भर्गशब्द भी उसी तेज अर्थमें योगी याज्ञवल्क्यने आह्निक तत्त्वमें प्रयोग किया है। "आदित्यका भर्गाख्य तेज मोक्षार्थ उपासनीय है" ऐसा वहां बताया है। सान्त होता तो "भर्ग आख्य" ऐसा लिखते। वहीं उसे पुरुष-चेतन भी बताया। (पुरुष शब्दको श्वेताश्वतरमें रुद्र अर्थमें प्रयोग हुआ यह अविस्मरणीय हैं) पुरुषैः ऐसे पाठान्तरमें भी वही बात है ॥ १९-२४ ॥

लोके प्रसिद्धभर्गो हि भर्गस्त्वेन श्रुतीरितः ।
अलोकसिद्धमादाय ह्यन्याय्या कल्पना भवेत् ॥ २५ ॥

अकारान्तको सकारान्त नपुंसकरूपेण वेदमें प्रयोग किया इतना समझमें आ सकता है। यदि लोकसिद्ध भर्गशब्द न हो तो वह वैदिकमात्र भर्ग क्या है? अतिरिक्तार्थ कल्पना अन्याय्य है। नवीन भर्गस्शब्दकी कल्पना भी मीमांसाविरुद्ध है ॥ २५ ॥

ननु नारायणः सूर्यमण्डले स्मर्यते बुधैः ।
स्मर्यतां नाष्टमूर्त्यात्मा स्मर्यते शंकरः किमु ॥ २६ ॥
हिरण्यगर्भस्तत्रैव श्रुतिषु श्रूयते न किम् ।
असौ यस्ताम्र इत्यादि मन्त्रो विस्मर्यतां कुतः ॥ २७ ॥
नास्माकं कश्चिदीशानवैकुण्ठकलहो मतः ।
भर्गो हिरण्यगर्भत्वविष्णुत्वाद्यैरुपास्यताम् ॥ २८ ॥

"ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः" इत्यादिसे भर्ग नारायण ही प्रतीत होता है, ऐसे पूर्वपक्षमें हमारा कहना है कि भले, किन्तु हिरण्यगर्भ का एव अष्टमूर्तिरूपमें शिवका भी तो वर्णन है। हमारा कोई शिवविष्णुकलह नहीं है। जो आदित्यमें भर्ग है उसे हिरण्यगर्भरूपमें या विष्णुरूपमें भी उपासना करें ॥ २६-२८ ॥

धीप्रचोदयितृत्वं च तस्य माहेश्वरत्वतः ।
पुराणादौ तदुक्तं च ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात् ॥ २९ ॥
असौ यस्ताम्रमन्त्रेण गायत्र्या वा हरं भजेत् ।
ईशानः सूर्यमूर्तिश्च ङेनमोन्तौ मनुर्मतः ॥ ३० ॥

"धियो यो नः प्रचोदयात्" वह अंश भी "ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात्" के अनुसार शंकर ज्ञानप्रदाता होनेसे सुसंगत है। शंकरकी उपासना 'असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।" इत्यादि मन्त्रसे कर सकते हैं। असौ यह सर्वनाममात्र होनेसे अपूर्ण वाक्य हैं। शंकर शब्द भी उसमें नहीं है अतः "नमस्ते रुद्र" इत्यादि पूरा बोलना चाहिये ऐसा भी मत है। किन्तु 'मृडयात'से शंकर अर्थ स्फुट है। 'असौ' यह पद द्युलोकस्थ होनेसे भी उपपन्न है। गायत्री मन्त्रसे भी अर्कस्थ शिवोपासना की जाती है "ईशानाय सूर्यमूर्तये नमः" इस मन्त्रका भी सप्रणव जप हो सकता है॥ २९-३०॥

त्वं सोमः

सोमश्च शिवलिङ्गं स्याद् गोलाकारं स्फुरत्प्रभम्।
उमया सहितः सोमः सौम्यमूर्तिर्महेश्वरः॥ ३१॥

सोम—चन्द्रमा भी ज्योतिःस्वरूप गोलाकार शिवलिंग है। सोमका अर्थ ही उमासहित शंकर है। उमासहित महेश्वर सौम्यमूर्ति होता है॥ ३१॥

पूज्यते भगवान् शंभुर्विशेषात् सोमवासरे।
घोरा सूर्यतनुः शंभोः शिवा सोमतनुस्तथा॥ ३२॥

शंकरजीकी उपासना विशेतया इसी कारण सोमवारको होती है। सूर्यरूपी शरीर शंकरजीकी घोर तनु है और चन्द्रशरीर शिव (सौम्य) तनु है॥ ३२॥

उपासकास्तु सूर्येऽपि विलोकन्ते शिवां तनूम्।
रश्मीन् समूह तदपावृण्वित्यादि श्रुतीक्षणात्॥ ३३॥
चन्द्रबिम्बसमं तर्हि सूर्यबिम्बमवेक्ष्यते।
इत्येवं भाष्यकारैश्च व्याख्यातं तत्र विस्फुटम्॥ ३४॥
शिवां गिरित्र तां कुर्वित्येवं तत्प्रार्थना ततः।
युज्यते चन्द्ररूपा तु शिवैव सततं तनुः॥ ३५॥

उपासक तो सूर्यमें भी शिवतनु दर्शन करते हैं। अतएव उपनिषदमें रश्मीन् समूह, तत्त्वं पूषन्नपावृणु इत्यादि कहा है। भाष्यकारोंने विरश्मि चन्द्रमण्डलमिव बताया। इसलिये "शिवां गिरित्र तां कुरु" इस प्रकार रश्मिरूपी इषुओंको शिव बनानेकी प्रार्थना भी उपपन्न है। घोर रही हो तब ही तो शिव बनाना आवश्यक है॥ ३३-३५॥

बुद्धिप्रदो यथा सूर्यरूपेणोपासितो हरः ।
तथा प्रेमप्रदश्चन्द्ररूपेणोपासितः शिवः ॥ ३६ ॥

प्रकाशो जीवने बुद्धया सौरस्यं प्रेमतो भवेत् ।
अर्धनारीश्वरः सौम्यमाविर्भावयतीश्वरः ॥ ३७ ॥

सूर्यरूपेण उपासित शंकर भगवान जिस प्रकार बुद्धिप्रद हैं वैसे चन्द्ररूपसे उपासित शिव प्रेमप्रद हैं। जीवनमें प्रकाश बुद्धिमे होता है तो सरसता प्रेमसे होती है। अर्धनारीश्वर यह प्रेमका स्वरूप है ही। अतएव सौम्य भाव उससे प्रकट होता है॥ ३६-६७ ॥

नमः सोमाय रुद्राय ताम्रायेति श्रुतो मनुः ।
महादेवः सोममूर्तिर्ङेनमोऽन्तौ भवेन्मनुः ॥ ३८ ॥

'नमः सोमाय च रुद्राय च' इत्यादिमें श्रुत 'सोमाय नमः' यह मन्त्र है। 'महादेवाय सोममूर्तये नमः' यह भी मन्त्र है॥ ३८ ॥

त्वमसि पवनः

पवनः शिवलिङ्गं स्याद् गोलाकारं च यद्भवेत् ।
पृथिवीं परितो वायुमण्डलं गोलकाकृति ॥ ३९ ॥

किं च प्राणो हृदिस्थोऽयं शिवलिङ्गं निगद्यते ।
प्राणिनः प्राणवन्तः स्युरिति शाकुन्तले कविः ॥ ४० ॥

हृदि प्राणाश्रयो मांसपिण्डस्त्वण्डाकृतिर्भवेत् ।
अण्डाकारमिदं तस्माच्छिवलिङ्गं निगद्यते ॥ ४१ ॥

पवन भी शिवलिङ्ग है। पृथिवीकी चारों ओर वायुमण्डल है। वह गोलाकार ही होगा। दूसरा हृदयमें प्राण भी शिवलिङ्ग है। महाकवि कालिदासने शाकुन्तलमें "यया प्राणिनः प्राणवन्तः" कहकर उसे शिवविग्रह बताया। हृदयमें प्राणाश्रय मांसपिण्ड अण्डाकार है। अतः यह अण्डाकार शिवलिंग है॥ ३९-४१ ॥

वायुः संवर्ग इत्याह प्राणः संवर्ग इत्यपि ।
तथैवोपासना वायौ प्राणे चैव विधीयते ॥ ४२ ॥

"वायुर्वाव संवर्गः," "प्राणो वाव संवर्गः" इस प्रकार शिवात्मक संवर्गरूपसे उपासना वायु और प्राणमें विहित है॥ ४२ ॥

ज्येष्ठं श्रेष्ठं च यो वेद ज्येष्ठः श्रेष्ठोऽप्यसौ भवेत् ।
ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च भवति प्राण एवेति च श्रुतिः ॥ ४३ ॥

"यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च" इत्यादि श्रुतिमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठरूपसे प्राणकी उपासना तथा उसका ज्येष्ठत्व श्रेष्ठत्व फल बताया है ॥ ४३ ॥

नमस्ते वायवित्याह प्रत्यक्षब्रह्मरूपिणम् ।
श्रुतिस्तथा स्वरूपेणाप्युपास्तिः संमता सताम् ॥ ४४ ॥

"नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि" इत्यादि श्रुतिसे वायुरूपेण ब्रह्मोपासना भी विद्वत्संमत है ॥ ४४ ॥

उग्रश्च वायुमूर्तिश्च ङेनमोऽन्तौ मनुः स्मृतः ।
वायुमूर्तिस्वरूपेण चिन्त्यतां परमेश्वरः ॥ ४५ ॥

"ॐ उग्राय वायुमूर्तये नमः" ऐसा मन्त्र समझो। और वायुमूर्तिरूपेण शिवचिन्तन करो ॥ ४५ ॥

त्वं हुतवहः

अग्निश्च शिवलिङ्गं स्याद्दीर्घवर्तुललक्षणम् ।
स्पष्टं तद्दीपकलिकाप्रभृतावग्निरूपिणि ॥ ४६ ॥

अग्नि दीर्घवर्तुलाकार शिवलिङ्ग है। दीपकलिका आदिमें वह रूप प्रत्यक्षसिद्ध है ॥ ४६ ॥

रुद्रो वा एष यद्धचग्निरित्येवं श्रुतिषु श्रुतम् ।
तन्मुखा इति तन्मूलाः सर्वे देवाः प्रकीर्तिताः ॥ ४७ ॥

"रुद्र अग्नि है" ऐसे श्रुतियोंमें बताया है। "अग्निमुखा हि देवाः" ऐसा श्रुतियोंमें कहा है। अग्निमुखका अग्निमूल अर्थ है ॥ ४७ ॥

कृत्स्नं शाखादिकं सिक्तं स्यात्तरोर्मूलसेचनात् ।
सर्वे देवाः पूजिताः स्युरग्निरूपेशपूजनात् ॥ ४८ ॥

वृक्षके मूलका सेचन हुआ तो पूरी शाखा आदि सिंचित हो जाती हैं। वैसे अग्निरूप शंकरकी पूजासे सभी देवता पूजित होते हैं ॥ ४८ ॥

तस्य वेदः किलोपास्तिमग्निमीडे पुरोहितम् ।
इत्यादिना समाचष्टे तस्मादग्नि प्रपूजयेत् ॥ ४९ ॥

अग्निरूप शंकरकी उपासना वेदोंमें अतिप्रसिद्ध है। ऋग्वेदका प्रारंभ ही "अग्निमीडे पुरोहितं" इस प्रकार अग्न्युपासनासे किया गया है ॥४९॥

सर्वे दोषा विनश्येयुरग्न्युपासनया नृणाम् ।
तेजीयस्त्वं भवेत्तेन दोषस्तेजीयसां न च ॥ ५० ॥

अग्नि उपासनासे सर्वदोषनाश होता है। क्योंकि अग्निउपासनासे तेजस्विता आती है। तेजस्वियोंको दोष नहीं होते, यह शास्त्र प्रसिद्ध है ॥ ५० ॥

रुद्राग्निमूर्ती ङेन्तौ च नमोन्तौ च मनुर्भवेत्।
वेदोक्ताश्चैव बहवः संगृह्यन्तां यथोचितम् ॥ ५१ ॥

"रुद्राय अग्निमूर्तये नमः" इस प्रकार मन्त्र है। और वेदोक्त असंख्य मन्त्र तो यथोचित समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

स्वमापः

आपश्च शिवलिङ्गं स्युस्तच्च नानाविधं मतम्।
गोलाकारं क्वचिद्दीर्घवर्तुलाकारमेव च ॥ ५२ ॥

रत्नाकरोऽभितो भूमिं लिङ्गं गोलाकृतीष्यते।
तथा चामरनाथस्य गुहायां दीर्घवर्तुलम् ॥ ५३ ॥

जल भी शिवलिङ्ग है। वह नाना प्रकार है। वह समुद्र पृथिवीकी चारों ओर गोलाकार हैं। अमरनाथकी मूर्ति दीर्घवर्तुलाकार होती है ॥ ५२-५३ ॥

पञ्चानामपि भूतानामधिष्ठाता महेश्वरः।
तथाप्यदाच्चतुर्भ्यस्तु चत्वारि भगवान् हरः ॥ ५४ ॥

पृथ्व्या गणेशोऽधिष्ठाता चित्रभानुश्च तेजसः।
मरुतो जगदम्बा च गगनस्य च माधवः ॥ ५५ ॥

असाधारणरूपेण भगवानधितिष्ठति।
सलिलं तापहारी सन्नन्नदाता महेश्वरः ॥ ५६ ॥

यद्यपि पाँचों भूतोंके अधिष्ठाता महेश्वर हैं। तथापि भगवान शंकरने चार भूत अन्य चार देवोंको दिया। पृथिवीका अधिष्ठाता गणेशजी को बनाया, तेजका सूर्यको, वायुका अम्बामाताको और आकाशका अधिष्ठाता विष्णुको बनाया। स्वयं असाधारण अधिष्ठाताके रूपमें जलमें रहे। तापहारी तथा अन्नदाता जलमें महेश्वर ही है ॥ ५४-५६ ॥

कुल्यायापि सरस्याय नादेयाय नमोनमः।
इति देवेषु ताद्रूप्यं बहुधैव निरूपितम् ॥ ५७ ॥

भवश्च जलमूर्तिश्च ङेनमोऽन्तौ मनुर्मतः।
तापत्रयोपशान्तिः स्यादुपास्तेः फलमत्र च ॥ ५८ ॥

नहरोंमें स्थित शंकरको प्रणाम, सरोवरमें स्थित शंकरको प्रणाम, नदीमें स्थित शंकरको प्रणाम इत्यादिरूपसे जलरूपेण शंकरकी उपासना नानाविध होती है। "भवाय जलमूर्तये नमः" ऐसा मन्त्र होगा। उपासनाका फल है तीनों तापोंकी शान्ति ॥ ५०-५८ ॥

त्वं व्योम

व्योमापि भगवल्लिङ्गं यद्यप्येतदरूपकम्।
तथापि दर्शकैरेतद् वर्तुलाकारमीक्ष्यते ॥ ५९ ॥
तथा च वर्तुलाकारं शिवलिङ्गं तदिष्यते।
शिवलिङ्गं नमेद् व्योम प्रातरुत्थाय नित्यशः ॥ ६० ॥
यश्चास्य नीलिमा दृष्टः केश एष महेशितुः।
व्योमकेश इति प्रोक्तं तेन नाम महेशितुः ॥ ६१ ॥
नीलं गगनमित्येवं भवति प्रत्ययो नृणाम्।
व्योम्न एव ततस्तावत्केशत्वमुररीकृतम् ॥ ६२ ॥
भीमश्चाकाशमूर्तिश्च ङेनमोन्तौ मनुः स्मृतः।
विशालहृद् व्यापकात्मभावश्चोपासको भवेत् ॥ ६३ ॥

आकाश भी शिवलिङ्ग है। यद्यपि आकाशका कोई रूप नहीं है। तथापि दर्शकोंको अर्धगोलाकार दीखता है। (बीचमें आसमानमें कोई पहुंचेगा तो गोलाकार दीखेगा।) अतः यह वर्तुलाकार शिवलिङ्ग माना गया है। प्रातः उठकर प्रतिदिन आकाशमें शिवभावना कर प्रणाम करो। जो आकाशमें नीलिमा दीखती है यह शंकरका केश है। अतः शंकरका नाम भी व्योमकेश पड़ा। नील गगन ऐसी सामानाधिकारण्य प्रतीति होती है। अतः गगनको ही केश स्वीकार किया। (भावना होनेसे इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।) "भीमाय आकाशमूर्तये नमः" ऐसा मन्त्र है। उपासक विशालहृदय बनेगा और व्यापकात्मभावयुक्त होगा ॥ ५९-६३ ॥

त्वमु धरणिः

धरणिः शिवलिङ्गं स्यात्तदिदं वर्तुलाकृति।
भूगोलमिति हि प्राहुर्गोलाकृतिमिमां क्षितिम् ॥ ६४ ॥
कैलासपर्वतः कृत्स्नः शिवलिङ्गं यथोच्यते।
तथा कृत्स्नैव पृथिवी शिवलिङ्गं निगद्यते ॥ ६५ ॥
स्फाटिकं पार्थिवं वापि नार्मदेश्वरमेव वा।
पार्थिवान्येव लिङ्गानि कृत्स्ना च पृथिवी तथा ॥ ६६ ॥

पार्थिवेश्वरपूजा च भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी।
दारिद्र्यदुःखहरणी पुत्रपौत्रधनप्रदा ॥ ६७ ॥

पृथिवी भी गोलाकार शिवलिङ्ग है। भूगोल आदि शब्दमें भूमिको गोलक कहा है। जैसे कैलासपर्वत पूरा शिवलिङ्ग है वैसे पूरी पृथिवी शिवलिङ्ग ही है। स्फटिकलिङ्ग, नर्मदेश्वर लिङ्ग तथा पार्थिवलिङ्ग ये सभी पृथिवीलिङ्ग ही है। पार्थिवेश्वर पूजा भुक्ति-मुक्ति दोनों देती है। पुत्र, पौत्र, धनादि समृद्धिकारिणी भी है॥ ६४-६७ ॥

सर्वश्च क्षितिमूर्तिश्च ङेनमोन्तौ मनुर्मतः।
सर्वसम्पत्समृद्धः स्यादुपासीनो महेश्वरम् ॥ ६८ ॥

"पृथिवीमूर्तये शर्वाय नमः" ऐसा मन्त्र है। इससे उपासना जो करता है वह समस्त समृद्धियोंसे संपन्न होता है॥ ६८ ॥

आत्मा त्वमिति च

आत्मा च शिवलिङ्गं स्याद्दीर्घवर्तुललक्षणम्।
तं दीपकलिकाकारं हृदिस्थं पण्डिता विदुः ॥ ६९ ॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष इत्येतच्च श्रुतेर्वचः।
शिवलिङ्गाकृतिर्नृणामङ्गुष्ठो दृश्यते स्फुटम् ॥ ७० ॥
पुण्डरीकसमाकारं हृत्पद्ममिति कीर्त्यते।
शिवलिङ्गाकृतिः पद्ममुकुलस्योपलभ्यते ॥ ७१ ॥

आत्मा भी दीर्घवर्तुलाकार शिवलिङ्ग है। क्योंकि जीवात्माको दीपकलिकाकार बताया है। 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः" इस श्रुतिसे भी वही अर्थ निकलता है। क्योंकि अंगुष्ठ शिवलिङ्गाकार होता है। पुण्डरीकाकार होनेसे हृदयकमल कहा जाता है। पद्ममुकुलकी आकृति शिवलिङ्ग जैसी होती है॥ ६९ ७१ ॥

ङे नमोन्तात् पशुपतेर्मूर्त्यन्तयजमानतः।
मनुरात्मप्रसादेन भवेत्तद्दर्शनं हृदि ॥ ७२ ॥

"यजमानमूर्त्तये पशुपतये नमः" मन्त्र है। इससे परमात्मप्रसाद एवं उनका दर्शन होता है॥ ७२ ॥

नन्वात्मा परमात्मैव जीव एव शिवो मतः।
जीवे शिवत्वबुद्धिश्चेज्जीवत्वं बाध्यते तदा ॥ ७३ ॥
तदा प्रतीकविरहादुपास्तिर्हि कथं भवेत्।
मैवं शिवमतिर्नैव परोक्षा जीवबाधिका ॥ ७४ ॥

आत्मा ही परमात्मा है, जीप ही शिव है, तब आत्मामें शिवत्वबुद्धि करनेपर जीवत्व बाधिता होगा। तब प्रतीक न होनेसे उपासना ही नहीं बनेगी इम पूर्वपक्षका उत्तर है शिवत्वारोप परोक्षात्मक होनेसे वह जीवत्व-बाधक नहीं है ॥ ७३-७४ ॥

न वैष्णवा गाणपत्याः शाक्ता सौराश्च सूरिणः ।
परिहृत्य शिवं क्वापि स्थातुमर्हन्ति संसृतौ ॥ ७५ ॥
पृथ्वीमूर्तिशिवस्पृष्टाः पृथिवीवासिनो जनाः ।
अन्तःकुक्षिशिवाः जोवाः सर्वे सलिलपायिनः ॥ ७६ ॥
अग्निपक्वं तथा भक्तशाकाद्यदनकारिणः ।
शिवोपभुक्तं नैवेद्यं भुञ्जते वैष्णवा अपि ॥ ७७ ॥
वायुस्तु प्राणरूपेण शिवोऽयं वर्तते हृदि ।
तन्निर्गमेऽशिवो देहः पापिष्ठतर उच्यते ॥ ७८ ॥
आकाशं दूरतस्त्यक्त्वा कुत्र गन्तुं च शक्यते ।
एभिर्विना जीवनं च भूतैः सम्पद्यतां कथम् ॥ ७९ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ नित्यं प्रकाशं वः प्रयच्छतः ।
तथा पोषयतः सर्वं रश्मिभिश्चामृतैरपि ॥ ८० ॥
वञ्चयन्तोऽपि तान् सर्वानात्मानं कथमेव वा ।
शिवरूपं वञ्चयेयुः तस्माद् भजत भो शिवम् ॥ ८१ ॥

चाहे अपनेको वैष्णव मानलो, गाणपत्य,शाक्त, सौरादि मानलो किन्तु शिवजीको छोड़कर कोई कहीं भी नहीं रह सकता। पृथिवीपर रहते हो तो पृथिवीमूर्ति शिवाश्रित हुए। जल पीते हो तो जलमूर्ति शिव पेटमें गया। भातरोटी खाते हो तो वह अग्निपक्व होनेसे शिवभुक्त हो गया। शिवनैवेद्य ही वैष्णवलोग भी खाते हैं। प्राण हृदयमें है तो ठीक है। नहीं तो शरीर पापिष्ठतर कहा है। वायुमूर्ति शिव ही है। और आकाशको छोड़कर भागोगे कहां ? इन पांच भूतोंके विना जीवन किस प्रकार हो। सूर्यचन्द्रसे प्रकाश होता है। सूर्यरश्मि और चन्द्रामृतसे पोषण होता है। मान लो कि इन सबसे जैसे तैसे बच जाय, उदाहरणार्थ मरणोतर पिशाच या देव जो भी बनें, भूतोंका अधिक उपयोग नहीं आयेगा तो भी अपनी आत्मासे कैसे बचोगे? अतः बचनेकी कोशिश करनेकी अपेक्षा शिवका प्रेमसे भजन करो, कल्याण होगा ॥ ७५-८५ ॥

परिच्छिन्नां....गिरं

इत्थं परिणता वृद्धा अष्टमूर्तिं शिवं जगुः।
संख्यया वस्तुभिश्चैव परिच्छिन्नतया परम् ॥ ८२ ॥
उपास्तिदृष्ट्या वृद्धानामेतत्कथनमिष्यते।
परिच्छिन्नवपुः शम्भुरुपास्यः प्रथमं भवेत् ॥ ८३ ॥

पूर्वोक्तरीति परिणत अर्थात् वृद्धजन शिवजीको अष्टमूर्तिके रूपमें संख्या एवं वस्तुसे परिच्छिन्न कहते हैं। उपासनाकी दृष्टिसे उनका वह कथन ठीक ही है। परिच्छिन्न शरीररूपेण शंकरजीकी उपासना प्रथम की जाती है। (जैसे हम वणन कर आये) ॥ ८२-८३ ॥

वस्तुतः सर्वमेवेदं शिवलिङ्गतया जगत्।
दृश्यते चिन्त्यते चैव शिवलिङ्गमतोऽखिलम् ॥ ८४ ॥
तथा ह्यनन्त आकाशः शिवलिङ्गात्मनेक्ष्यते।
चक्षुर्गतिस्तद्विधया प्रत्यक्षमुपलभ्यते ॥ ८५ ॥
मनोगतिश्चैवमेव शिवलिङ्गात्मना भवेत्।
शिवलिङ्गं ततः सर्वं दृश्यते यच्च चिन्त्यते ॥ ८६ ॥

वस्तुतः सभी जगत शिवलिङ्गरूपमें देखा और सोचा जाता है। अतः सभी शिवलिङ्ग ही है। जैसे आकाश अनन्त है लेकिन देखते समय शिवलिङ्गरूपसे दीखता है। क्योंकि चक्षुकी गति ही ऐसी है। इसीप्रकार मनकी गति भी शिवलिङ्गाकारमें ही होती है। अतः जो भी कुछ दीखता है या सोचा जाता है सभी शिवलिङ्ग ही है ॥ ८४-८६ ॥

अण्डाकारमिदं सर्वं ब्रह्माण्डं लिङ्गलक्षणम्।
ब्रह्माण्डे शिवबुद्ध्या च शिवोपास्तिरतो भवेत् ॥ ८७ ॥

यह ब्रह्माण्ड भी आखिरः अण्डाकार शिवलिङ्गलक्षणयुक्त है। अतः ब्रह्माण्डमें शिवबुद्धि कर शिवोपासना की जाती है ॥ ८७ ॥

न विघ्नः

ननु शास्त्रेषु सूर्यादिरुक्तोपास्तिः शिवात्मना।
ब्रह्माण्डादौ न तु तथा वृद्धोक्तिहर्युचिता ततः ॥ ८८ ॥
सैव पुरुष एवेदं सर्वमित्यामनन् स्फुटम्।
रुद्रं प्रकृत्य सर्वेशं श्वेताश्वतरशाखिनः ॥ ८९ ॥
रुद्रात्मना ततः सर्वमुपास्यं जगदिष्यते।
तथा च दृश्यचिन्त्यादेः शिवत्वोपासना भवेत् ॥ ९० ॥

ननु ब्रह्मेदमखिलमित्यप्याह श्रुतेर्वचः।
मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यस्ति तत्र पृथग्विधिः ॥ ९१ ॥
सत्यं तद्वदिहाप्यस्ति दर्शिता चाष्टमूर्तिता।
विश्वमूर्तरुपास्तिर्हि कीदृशीति विचिन्त्यते ॥ ९२ ॥
असर्वज्ञेन नो विश्वं ज्ञातुं शक्येत कृत्स्नशः।
व्यर्थो विधिः प्रसज्येत तथाऽप्रामाण्यमापतेत् ॥ ९३ ॥
यावद् दृश्यं च चिन्त्यं च तावदादाय तत्र च।
कृत्वा शिवमतिं कार्योपास्तिः प्रामाण्यहेतवे ॥ ९४ ॥
यावद् दृश्यं च चिन्त्यं च शिवलिङ्गस्वरूपभाक्।
तदित्युक्तं ततः सर्वं भवेदत्र समञ्जसम् ॥ ९५ ॥

पूर्वपक्ष है कि शास्त्रमें सूर्यचन्द्रादिमूर्ति शिवको बतलाकर उस रूपसे उपासना कही है। अतः अष्टमूर्त्युपासना उचित है। ब्रह्माण्डको शिव कहां बताया है? यावद्‌दृश्य या यावच्चिन्त्यको शिव कहां कहा है? तब विना-वचन ही उपासना कैसे होगी? इसका उत्तर है श्वेताश्वतरोपनिषदमें रुद्रका उपक्रम कर उसका "सहस्रशीर्षा पुरुषः" से पुरुषरूपेण वर्णनोत्तर "पुरुष एवेदं सर्वं" इसप्रकार सबको पुरुषात्मक रुद्ररूपेण वर्णन किया। अतः जगतकी रुद्ररूपेण उपासना श्रुतिसिद्ध है। तब यावद्‌दृश्य याव-च्चिन्त्यकी शिवरूपोपासना युक्त है। यह शंका करें कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस प्रकार ब्रह्मरूपेण सर्वोपासनाविधान होनेपर भी "मनो ब्रह्मेत्युपासीत," "आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत" इस प्रकार तत्तद् व्यक्तिमें पृथक् उपासनाविधान इस बातका निश्चायक है कि "सर्वं ब्रह्म" यह उपासना समूचे जगतमें ही संभव है, एकदेशमें नहीं। अतएव पृथिवी आदि आठमें शिवोपासनाकी विधिकी भी संगति है; तो इस शंकाका समाधान यह है कि सर्व जगतका संपूर्णतया ज्ञान सर्वज्ञके विना अन्यको संभव नहीं है। तब उक्त वाक्यमें अननुष्ठापकत्वलक्षण अप्रामाण्य आयेगा। अतः उसकी प्रमाणिकताके लिये दृष्टिमें जितना आवे या बुद्धिमें जितना आवे उसीको विश्वात्मक प्रतीक बनाकर उसमें ब्रह्मबुद्धि या शिवबुद्धि करें यही सिद्ध होगा। यावद्‌दृश्य और यावच्चिन्त्य शिवलिङ्गाकार ही है यह हम पहले वर्णन कर आये। अतः सर्वोपपत्ति है ॥ ८८-९५ ॥

विश्वं च शिवलिङ्गं स्यादनाद्यन्तत्वहेतुतः।
ब्रह्मविष्णू न्यवर्तेतां तदाद्यन्तानवेक्षिणौ ॥ ९६ ॥

प्रदक्षिणा ह्यपूर्णैव शिवस्य क्रियते नृभिः ।
तदाद्यन्तविहीनत्वप्रतीकविधबोधनात् ॥ ९७ ॥

पूरा विश्व शिवलिङ्ग है । आदिअन्तरहित है इसलिये तो ब्रह्माविष्णु दोनों निवृत्त हुए थे । शिवजीकी परिक्रमा अधूरी करते हैं । शिवलिङ्गमें विश्वभावना कर उसमें शिवभावना की जाती है ॥ ९६-९७ ॥

उपास्तिविधया चैवं विश्वं शिव इतीदृशीम् ।
दृष्टिं विधाय मनुजः पश्चाज्ज्ञानमवाप्नुयात् ॥ ९८ ॥
सर्वं पुरुष एवेदं सर्वं ब्रह्मैव खल्विदम् ।
इत्येवं तत्र तत्रोक्ता विश्वस्य शिवरूपता ॥ ९९ ॥
सामानाधिकरण्यं तु तत्र बाधे जगुर्बुधाः ।
उपास्तिशुद्धमनसो बुध्येयुर्विश्वबाधनाम् ॥ १०० ॥
तदाद्वैतं शिवं शान्तं प्रपञ्चोपशमं स्फुरेत् ।
तदाहात्र न विघ्नस्तत्तत्त्वं यत्त्वं नहीति हिं ॥ १०१ ॥

उसासनाके रूपमें सारा विश्व शिव है । ऐसी दृष्टि करनेपर पश्चात् उसीके प्रभावसे धीरे धीरे परमार्थज्ञान होता है । उसका भी आकार "विश्वं शिवः" यही होगा । "पुरुष एवेदं सर्वं," "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति भी है । इतना ही फर्क है कि उपासनाकालमें मुख्यसामानाधिकरण्य या आरोपित सामानाधिकरण्यसे विश्व शिव होगा । और ज्ञानकालमें 'विश्वं शिवः' यहां बाधसामानाधिकरण्य होगा । उस समय प्रपञ्चबाध होनेसे प्रपञ्चोपशम अतएव शान्त तथा अद्वैत तत्त्व स्फुरित होगा । यही यहांपर "न विघ्नस्तत्तत्वं" इत्यादि चतुर्थपादमें बताया ॥ ९८-१०१ ॥

भुक्तिमुक्तप्रदं शंभुमष्टमूर्तिमुपास्महे ।
प्रपञ्चोपशमं शान्तं सदद्वैतं च मन्महे ॥ १०२ ॥

भुक्तिमुक्तिप्रद अष्टमूर्ति शंकरकी हम उपासना करते हैं । तथा प्रपञ्चबाधावधि शान्त अद्वैत तत्त्वका मनन करते हैं ॥ १०२ ॥

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
षड्विंशो विगतः स्पन्दो महिम्नः स्तोत्रवार्तिके ॥ २६ ॥



सप्तविंशः श्लोकः

प्रस्तुतोपासना पूर्वमष्टमूर्तितयेशितुः ।
सर्वंमूर्तितया चोक्ता परतत्त्वावबुद्धये ।। १ ।।
सकलं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तधीः ।
उपासीतेति विस्पष्टं द्वितीयाऽऽम्नायते श्रुतौ ।। २ ।।
रूपोपास्ति निरूप्याथ नामोपास्तिरुदीर्यते ।
श्लोकभ्यां प्रथमं तत्र त्वोंकारः प्रतिपाद्यते ।। ३ ।।

उपासना प्रस्तुत हुई । प्रथम अष्टमूर्तिरूपेण उपासना बतायी । फिर सर्वमूर्त्युपासना भी परतत्त्वज्ञानार्थ बतायी । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिमें सर्वमूर्त्युपासना बतायी है । इस प्रकार रूपोपास्तिनिरूपणोत्तर अब नामोपासना दो श्लोकोंमें कहते हैं । प्रथम ॐकारका प्रतिपादन है ।।१-३।।

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ।।२७।।

हे शरणद ! तीन वेदोंको, जाग्रदादि तीन वृत्तियोंको, ब्रह्मा आदि तीन देवोंको, अ, उ, म इन तीन वर्णोंसे बतलानेवाला और सर्वविकाररहित तुरीय आपके धामको सूक्ष्म ध्वनियोंसे प्रतिपादन करनेवाला व्यस्त एवं समस्त ॐकार आपका वर्णन करता है ।। २७ ।।

ॐकारो द्विविधः प्रोक्तः समस्तो व्यस्त एव च ।
समस्तः कृत्स्न ओंकारो सध्वनिस्त्र्यक्षरोऽपरः ।। ४ ।।

ॐकार दो प्रकारका है । एक समस्त है दूसरा व्यस्त है । पूरे ॐकारको समस्त कहते हैं । ध्वनिसहित तीन अक्षरोंको व्यस्त कहते हैं ।।४।।

समस्तमन्ते व्याख्यास्ये व्यस्तः पूर्वमुदीर्यते ।
यौगिको व्यस्त इत्युक्तः समस्तो रूढ उच्यते ।। ५ ।।
अतो यौगिकरूढोऽयं पार्थक्येनार्थवर्णनात् ।
न पुनर्योगरूढोऽयमिति व्यक्तीभविष्यति ।। ६ ।।

समस्तकी व्याख्या अन्तमें करेंगे। प्रथम व्यस्तकी व्याख्या करते हैं। यौगिक ॐकार व्यस्त कहलाता है। रूढ ओंकार समस्त कहलाता है। इसलिये यह योगरूढ शब्द नहीं, अपितु यौगिकरूढ शब्द है। यह भी आगे स्पष्ट होगा ॥ ५-६ ॥

तत्राकार उकारश्च मकारश्चाक्षरत्रयम्।
ध्वनयो नादसंज्ञाश्चेत्योंकारो व्यस्तलक्षणः ॥ ७ ॥
एकीकृत्य समाचख्यौ नादबिन्दू महामुनिः।
ध्वनिशब्देन संक्षेपादित्यपि व्यञ्जयिष्यते ॥ ८ ॥

अ-उ-म ये तीन अक्षर, नाद शब्दसे प्रसिद्ध ध्वनि, ये मिलाकर व्यस्त ॐकार होता है। ध्वनिशब्दसे नाद एवं बिन्दु दोनों ग्राह्य हैं। संक्षेपसे ध्वनि कह दिया। यह भी आगे स्पष्ट होगा ॥ ७-८ ॥

अवते रक्षणाद्यर्थान्मनिन्यूठि च यो भवेत्।
ॐकारः स समस्तः स्यात्सनादः सोऽपि संमतः ॥ ९ ॥

रक्षणादि अर्थमें 'अव' धातु है उससे मनिन् प्रत्यय करके वकारको ऊठ् आदेशसे जो ॐ होता है वह समस्त माना जाता है। वह भी नाद सहित ही समत है ॥ ९ ॥

असमासे भवेद् व्यस्तं समस्तं तु समासतः।
इति व्यख्या तु नो युक्ता व्यस्तं न स्यात्तदा पदम् ॥ १० ॥

कुछ व्याख्याकार-समास न करनेपर अ उ म और ध्वनि मिलाकर व्यस्त माना जायेगा, समास करनेपर समस्त होगा ऐसी व्याख्या करते हैं जो सँगत प्रतीत नहीं होता। व्यस्त फिर लौकिक क्या पारिभाषिक भी पद नहीं होगा। वह वाक्य हो जायेगा ॥ १० ॥

त्रयीं

त्रयीति च त्रिवेद्युक्ता ऋग्यजुःसामलक्षणा।
ऋगकारादुकाराच्च यजुः साम मकारतः ॥ ११ ॥

त्रयीका ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, ये तीन वेद अर्थ है। अकारसे ऋक्, उकारसे यजु, और मकारसे साम होता है ॥ ११ ॥

वस्तुतस्तु त्रयीत्येतदृग्यजु सामबोधनम्।
अन्यथाथर्ववेदस्याऽसंग्रहापत्तिरीक्ष्यते ॥ १२ ॥
ऋक् पादाक्षरनैयत्यात्तदनैयत्यतो यजुः।
गीत्या साम च तेनात्राथर्वणोऽप्यस्ति संग्रहः ॥ १३ ॥

वेदशब्दप्रयोगोऽस्ति यत्र तत्रापि न क्षतिः।
अस्त्येव किल मन्त्राणामृगादीनां हि वेदता।। १४।।

वस्तुतः त्रयी का ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ऐसा अर्थ मत करो। तब अथर्ववेदका असंग्रह होगा। किन्तु ऋक् यजु और साम यही अर्थ करो। नियतपादाक्षार ऋक् है। अनियत पादाक्षर यजु है। गीतियुक्त साम है। इस लक्षणमें अथर्ववेदका भी संग्रह हो जाता है। जहां वेद शब्द लिखा है वहां ऋग्मन्त्रादिमे वेदत्व होनेसे वैसा प्रयोग किया गया है।। १२-१४।।

नन्वाह जैमिनिमुनिर्वेदो वा प्रायदर्शनात्।
त्रयो वेदा असृज्यन्तेत्युपक्रममुपाश्रितः।। १५।।
ऋग्वेदादिपदं तस्मात्तद्वेदार्थकं भवेत्।
वेदशब्दप्रयोगे न केवलर्गादिसंग्रहः।। १६।।
उच्यते गुणवादः स वेदानां सृष्ट्यसंभवात्।
अन्यथाऽथर्ववेदस्याऽसृष्टेर्न्यूनत्वमापतेत् ।। १७।।

यदि ऋग्वेदादि शब्दसे ऋगात्मक वेद ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है तो "वेदो वा प्रायदर्शनात्" इस अधिकरणके साथ विरोध होगा। "त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः। आदित्यात् सामवेदः उच्चैर्ऋचा क्रियते उपांशु यजुषा। उच्चैः साम्ना" ऐसा मन्त्र है। प्रथम ऋग्वेदादि पदप्रयोग किया। बादमें केवल ऋग् यजु इत्यादि कहा। तो यजुर्वेदमें जो ऋग् मन्त्र है उसे भी ऊंचे स्वरमें बोलना है क्या ? इस शंकामें जैमिनि ने कहा—नहीं। उपक्रममें ऋग्वेदादि कहा। अतः यजुर्वेदमें आया हुआ ऋक् भी यजुर्वेद ही है। उसका उपांशुपाठ ही होगा ऐसा सिद्धान्त किया। आपके मतमें ऋग्वेद यजुर्वेद आदिका ऋगात्मकवेद इत्यादि अर्थ होनेसे यजुर्वेदमें आयी हुई ऋचा भी ऋगात्मक वेद है ही। तब ऊंचा प्रयोग क्यों नहीं होगा ? अतः ऋग्वेदादि शब्दप्रयोगस्थलमें ऋगात्मक वेद ऐसा अर्थ है ही नही। इस पूर्वपक्षका समाधान यह है कि "त्रयो वेदा अजायन्त" इत्यादि गुणवाद है। भूतार्थवाद नही। क्योंकि वेदोंकी सृष्टि ही नहीं होती। अन्यथा वहींपर अथर्ववेदका असंग्रह होगा। अतः वहां ऋग्वेदादि गुणवाचकद्वारा उपक्रममात्र है। वह भी उच्चैर्ऋचा क्रियते इत्यादि विधानार्थं। किन्तु जहां वस्तुकथन स्थलमें त्रिवेदीपदका प्रयोग है वहां अथर्ववेदका असंग्रहदाष होनसे ऋगात्मकवेद इत्यादि अर्थ करना ही पड़ेगा।। १५-१७।।

प्रकृते वस्तुकथनान्न्यूनतापत्त्यपास्तये ।
ऋगादिपरकः शब्दो न त्वृग्वेदादितत्परः ।। १८ ।।

प्रकृतमें वस्तुकथन है (अकारादिका अर्थ क्या है यह कह रहे हैं) तब अथर्ववेदकी असंग्रहापत्तिनिवारणार्थ त्रयीपदसे ऋग्वेदादि न लेकर ऋगादि ही लेना चाहिये ।। १८ ।।

वेदः शिवः शिवो वेद इत्याहोपनिषद्वचः ।
विशेषं तत्र चाह स्म भट्टाचार्यः कुमारिलः ।। १९ ।।
विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ।। २० ।।
वेदाश्चक्षूंषि विज्ञानं देहश्चेति विभज्यते ।
ज्ञानकाण्डं त्रयीत्युक्तं ज्ञानं त्र्यन्तलक्षणम् ।। २१ ।।
त्रयी सांख्यमिति श्लोकेऽप्येवमर्थं त्रयीपदम् ।
ज्ञानकाण्डं पृथक् तस्मादाचार्यस्यापि संमतम् ।। २२ ।।

"वेदः शिवः शिवो वेदः" इस प्रकार उपनिषदमें शिवको वेदरूप बताया है । अतएव वेदबोधक ओंकार व्यस्त शिवबोधक है । इसमें कुछ विशेषता कुमारिलभट्टने दिखाई है । वे कहते हैं-शंकर विशुद्ध ज्ञानशरीर हैं । तीन वेद उनकी तीन चक्षु हैं, इत्यादि । वहां त्रिवेदीपदसे कर्मकाण्डप्रतिपादक वेद तथा विशुद्धज्ञानपदसे विशुद्धज्ञानबोधक वेदान्त विवक्षित है । यह भेद पुष्पदन्ताचार्यको भी अभिमत है । "त्रयी सांख्य" यहाँ त्रयीपदसे कर्मकाण्ड विवक्षित है । अतः ज्ञानकाण्ड पृथक् आचार्याभिमत है ।।१९-२२।।

नन्वर्थज्ञापकत्वं हि त्रयीत्र्यन्तयोः समम् ।
कुतो विभागः क्रियते वेदत्वेनैकरूपयोः ।। २३ ।।
विषयाणां विभागाच्चेदुपास्तिश्च विभज्यताम् ।
प्रतिप्रकरणं चैतदापद्येतेति चेन्न तत् ।। २४ ।।
व्यावहारिकनानात्वबोधिका भवति त्रयी ।
पारमार्थिकमेकत्वं त्र्यन्तो विनिवेदयेत् ।। २५ ।।
अप्रत्यभिज्ञायमानकर्मणां भेद इष्यते ।
शाखाभेदादितोऽङ्गाङ्गिभावः सांनिध्यतो भवेत् ।। २६ ।।
शाखाभेदे विधूयैव त्र्यन्तेष्वखिलेष्वपि ।
एकं ब्रह्मात्मकं तत्त्वं विस्पष्टं प्रतिपाद्यते ।। २७ ।।
विषया अपि नानैव कर्तृकर्मादयस्तथा ।
त्र्यन्तेषु न कोऽप्यस्ति सर्वेष्वपि भिदालवः ।। २८ ।।

तथा च सर्ववेदान्तबोध्यं नानात्ववर्जितम् ।
विशुद्धमेव विज्ञानं पृथक्कृत्य प्रदर्श्यते ॥ २९ ॥

शंका होगी कि त्रयीका ही अन्त त्र्यन्त-वेदान्त है। पृथक् कर बतानेका क्या मतलब ? जबकि अर्थज्ञापकत्व दोनोंमें समान है। (विषय भेदसे पृथक्करण हो तो अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि विषयभेदसे भी पृथक्करण क्यों नहीं ?) इसका उतर है कि त्रयी व्यावहारिक नानात्वका प्रतिपादक है। त्र्यन्त पारमार्थिक एकत्वका प्रतिपादक है। त्रयीमें शाखा भेदमे अप्रत्यभिज्ञात कर्मोंका भेद है। एक शाखामें भी सानिध्यमें अङ्गाङ्गि भाव है। वेदान्तमें तो शाखाभेदादिप्रयुक्त कोई भेद नहीं। शाखाभेदको किनारे रखकर सर्वत्र एक ब्रह्मतत्त्वका ही प्रतिपादन है। त्रयीमें विषय नाना है। कर्ता कर्म आदि नाना है। समस्त वेदान्तमें देख लो भेदका नामोनिशाना नहीं मिलेगा। अतः सर्ववेदान्तबोध्य भेदवर्जित विशुद्धविज्ञानको पृथक्कर दिखाना उचित ही है ॥ २३-२९ ॥

अत एवात्र हि ब्रह्मविद्याया ऐक्यदर्शनात् ।
सर्वासूपनिषत्स्वेकं केचित् प्रकरणं विदुः ॥ ३० ॥
यद्यप्युपासनाभेदस्त्र्यन्तेष्वपि विद्यते ।
तथापि मुख्यस्त्र्यन्तो ब्रह्मतत्त्वावबोधकः ॥ ३१ ॥

इसलिये ब्रह्मविद्याकी एकताको देखकर कई विद्वानोंने समस्त उपनिषदोंमें एक ब्रह्मविद्याप्रकरण माना। उपासना भिन्न होनेपर भी मुख्य वेदान्त ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादक ही है। उसमें तो भेद है नहीं यह निश्चित है ॥ ३०-३१ ॥

ननु वेदः शिवस्तत्र विभागस्तु कथं शृणु ।
विशुद्धज्ञानदेहोऽयं त्रिवेदीदिव्यलोचनः ॥ ३२ ॥

यदि त्रयी और त्र्यन्त इस प्रकार विभक्त है तो वेदरूपी शिवमें भी यह विभाग होना चाहिये। है ही। सुनो—विशुद्ध ज्ञान शिवका देह है। त्रयी तीन नेत्र हैं ॥ ३२ ॥

ननु त्र्यन्तविज्ञानानुक्तेर्न्यूनमिहेति चेत् ।
मैवं तुरीयविज्ञानं ध्वनिभिर्ह्यवरुध्यते ॥ ३३ ॥

यदि त्रयी और त्र्यन्तको पृथक् किया तो "त्रयीं तिस्रः" श्लोकमें त्र्यन्तका अग्रहण होनेसे न्यूनता क्यों नहीं ? सुनो, त्रयीसे ज्ञान लेना आगे बतायेंगे। त्र्यन्तसे ब्रह्मविज्ञान लिया जाता है। वही तो तुरीय तत्त्व है। उसको तो ध्वनियां संगृहीत करेंगी। तब न्यूनता कहां है ? ॥ ३३ ॥

त्रयी वर्णत्रयेणोक्ता त्रय्यन्तो ज्ञानलक्षणः ।
तुरीयरूपो ध्वनिभिर्धृत इत्याशयो मुनेः ॥ ३४ ॥

तीन वर्ण अ-उ-म से तीन वेद लिये । और ज्ञानरूपी वेदान्त तुरीयरूप है । उसे ध्वनियोंने अवरुद्ध किया यह मुनिका आशय है ॥ ३४ ॥

त्रयीधर्मं प्रपन्ना ये लभन्ते ते गतागतम् ।
त्रय्यन्तार्थप्रतिष्ठाश्च मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥ ३५ ॥

जो त्रयीधर्मनिष्ठ हैं वे संसारके आवागमन में पड़ते हैं ऐसा गीतामें कहा है । त्रय्यन्तार्थनिष्ठ भवबन्धमुक्त होते हैं ॥ ३५ ॥

विज्ञानं तीर्णविकृति विकृतिस्तु त्रयी मता ।
मनोवृत्त्यात्मता त्रय्या भाष्यकारैश्च दर्शिता ॥ ३६ ॥

विज्ञान तीर्णविकृति है । त्रयी विकृतिरूप है । क्योंकि वेदोंको तैत्तिरीय भाष्यमें मनोवृत्तिरूप बताया ॥ ३६ ॥

ननु वृत्तिस्वरूपत्वं त्रय्याश्चेदुच्यते तदा ।
कथं शम्भोर्व्यस्तरूपं त्रयी स्यादिति चेन्न तत् ॥ ३७ ॥
वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं वेद इत्युच्यते ततः ।
परमेशस्वरूपत्वं वेदानां घटतेतराम् ॥ ३८ ॥

यदि वेद मनोवृत्तिरूप है तो शिवजीका व्यस्तरूप किस प्रकार ? सुनो । वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही वेद है । अतः वेद परमेश्वररूप और परमेश्वर वेदरूप हो सकता है ॥ ३७-३८ ॥

नन्वेवं शिवचक्षूंषि वेदाः स्यान्न शिवः स्वयम् ।
कृत्स्नः शिवो वेदतया नोररीक्रियते यतः ॥ ३९ ॥
मैवं प्रागेव निर्णीतं प्रत्यङ्गं पूर्ण एव सः ।
अखण्डत्वान्महेशस्य कृत्स्नोऽतः कथितो हरः ॥ ४० ॥

फिर भी वेद केवल शिवचक्षु हुए । स्वयं शिव नहीं । क्योंकि संपूर्ण शिवको वेदत्वेन स्वीकार नहीं कर रहे । यह भी बात नहीं । क्योंकि हम पहले कह चुके हैं कि भगवान अखण्ड होनेसे प्रत्यङ्ग पूर्ण ही है । अतएव चक्षुमात्र कहनेपर भी पूरा शिव ही उक्त हो जाता ॥ ३९-४० ॥

उपास्योपाध्यवच्छिन्नं व्यस्तरूपं निगद्यते ।
चैतन्यं तेन सकलमुपपन्नं भवेदिति ॥ ४१ ॥

फिर एक आंख कहनेसे भी पूर्णशिव आ जाता है। तीन आंख आदिका क्यों वर्णन है ? सुनो। उपास्य उपाधिविशेषसे अवच्छिन्न चैतन्य व्यस्तरूप बताया गया है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ ४१ ॥

नन्वेवं सति वेदान्तः शिवरूपो न सिध्यति।
त्रिवेदी खलु चक्षूंषि वेदान्तस्तु किमात्मकः ॥ ४२ ॥

न च विज्ञानरूपो यो देहस्त्रय्यन्तताऽस्य हि।
उक्तेति वाच्यं तद्बोधवचनादर्शनादिह ॥ ४३ ॥

अणुभिर्ध्वनिभिर्ज्ञानं तुरीयमवरुध्यते।
न हि ध्वनय एव स्युर्वेदान्तोऽवाचकत्वतः ॥ ४४ ॥

अकारादिस्त्रयीं ब्रूयाद् वेदान्तं न ध्वनिर्वदेत्।
वेदान्तसंग्रहस्तेन भवतां दुर्घटो भवेत् ॥ ४५ ॥

सत्यमत्राभिदामूरीकृत्य वेदान्ततुर्ययोः।
पृथग्वेदान्तरूपत्वं ज्ञानदेहस्य नोदितम् ॥ ४६ ॥

पूर्वपक्षः—यदि तीन वर्णोंसे कर्मकाण्डात्मक त्रयी विवक्षित है तो वेदान्तका असंग्रह होगा। तीन वेद तो तीन चक्षु हुए। अब वेदान्त क्या है बताइए। यह कहना संगत नहीं कि विशुद्धज्ञानरूप शरीर ही वेदान्त है। क्योंकि इस बातको बतानेके लिये ॐकारमें कोई अक्षरादि नहीं है। आशा यह थी कि जो सूक्ष्म ध्वनि है वह वेदान्तको कहेगी। परन्तु वह वाचक नहीं, केवल तुरीयका अवरोधमात्र करेगी। आकारादि ऋग्वेदादिके वाचक हैं। वैसे ध्वनि वेदान्तका वाचक नहीं है। इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि वेदान्तको और विज्ञानको एक मानकर यहां वेदान्तको ज्ञानदेहरूपता नहीं बतायी। अर्थात् ध्वनियोंसे तुरीयज्ञान अवरुद्ध हुआ तो वेदान्तशास्त्र भी अवरुद्ध ही समझना चाहिये ॥ ४२-४६ ॥

वस्तुतस्तु ध्वनिष्वेव विशेषं मन्महे वयम्।
अभिव्यञ्जन्ति केचित्तु वर्णान् केचिद्वदन्ति च ॥ ४७ ॥
व्यञ्जयन्ति ककारादीन् ध्वनयः प्रायशो नृणाम्।
ॐकाराद्युत्तरभवा असामान्यास्तु ते मताः ॥ ४८ ॥
अन्यथा ध्वनयः सर्वेऽवरुन्धीरंस्तुरीयकम्।
विशेषोऽतो ध्वनीनां स्यादोंकाराद्यूर्ध्ववर्तिनाम् ॥ ४९ ॥
समुपस्थापयन्त्येवं वेदान्तान् ध्वनयस्ततः।
शिवदेहश्च वेदान्ता इति सर्वं समञ्जसम् ॥ ५० ॥

वस्तुत: हम ध्वनियोंमें ह कुछ विशेषता मानने हैं। कुछ ध्वनि वर्णाभिव्यञ्जक हैं। कुछ उपास्थापक हैं। प्राय: ध्वनि ककारादिवर्ण व्यञ्जक मानी जाती है। किन्तु ओंकारादि मन्त्रोत्तर भावी ध्वनि असामान्य है। अन्यथा उनसे तुरीयका अवरोध कैसे होता। यदि सभी ध्वनिमें यह विशेषता होती तो घटादि पदकी ध्वनिसे भी तुरीयावरोध क्यों नहीं होता? अत: ॐकाराद्युत्तर ध्वनियोंमें विशेषता माननी ही पड़ेगी। ओंकारोत्तर ध्वनि वेदान्तोंको उपस्थित करायेंगी ही। वह शिवजीका शरीर है। अत: सर्वसामञ्जस्य है ॥ ४७-५० ॥

वाचकत्वं ध्वनीनां न वैयाकरणगीतित:।
तथाप्युपस्थापयेयुरर्थं शक्तिविशेषत: ॥ ५१ ॥

तच्चाभिप्रेत्य मुनिनाऽवरुन्धानमितीरितम्।
अचिन्त्यशक्तिबोधार्थमवरोधोक्तिराञ्जसी ॥ ५२ ॥

वैयाकरणरीतिसे ध्वनिवाचक नहीं है। फिर भी हमारे मतमें ध्वनि भी विलक्षण शक्ति (वाचकता शक्ति नहीं किन्तु अचिन्त्य शक्ति) से अर्थोपास्थापन करेगी ही। इसे भी हृदयमें रखकर 'अभिदधत्' से पृथक् 'अवरुन्धानं' ऐसा मूलमें कहा। अचिन्त्यशक्तिबोधनार्थ अवरोधोक्तिकी उपपत्ति है ॥ ५१-५२ ॥

परे त्रयीपदेनैव त्रय्यन्तोऽप्युपगृह्यते।
तेन न न्यूनतापत्तिस्त्रय्यन्तोज्झनिबन्धना ॥ ५३ ॥

न चैवं ध्वनिभि: कस्मात्तुरीयमवरुध्यताम्।
वेदान्तशब्दवृत्तिर्हि मानसी गृह्यते यत: ॥ ५४ ॥

तदवच्छिन्नचैतन्यं वोच्यतामक्षरैस्त्रिभि:।
शुद्धं परमचैतन्यं ध्वनिभिर्ह्यवरुध्यते ॥ ५५ ॥

वेदान्तजन्यवृत्त्यन्तग्रहणेऽप्युच्यतेऽक्षरै: ।
तदवच्छिन्नचिन्नैष तदभिव्यङ्ग्यचेतन: ॥ ५६ ॥

अन्य परम मनीषी कहते हैं कि त्रयीसे त्रय्यन्त (वेदान्त) भी संगृहीत होता है। अत: वेदान्तको छोड़नेसे जो न्यूनतापत्ति हो रही थी उसका भय नहीं है। तब प्रश्न होगा कि फिर ध्वनियोंसे तुरीयके अवरोधकी क्या जरूरत रही? उत्तर है कि अकारादि वर्णोंसे वेदाकार मानसवृत्ति संगृहित होनेसे वेदान्तवाक्याकार वृत्तिका ही उपग्रहण होता है, तुरीयका नहीं। वेदाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य वेद है ऐसा माननेपर तुरीय चैतन्य

नहीं आता। अधिकसे अधिक वेदान्तजन्यवृत्ति पर्यन्त वेदपदसे आप ग्रहण कर सकेंगे। तो भी तुरीय चैतन्य नहीं आता। क्योंकि अखण्डाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य अलग है, अखण्डाकारवृत्यभिव्यक्तचैतन्य अलग है। अखण्डाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तो परिच्छिन्न ही होगा। वहींतक अक्षरों (अ उ म) की गति हो सकती है। किन्तु तुरीय चैतन्य तदवच्छिन्न नहीं तदभिव्यङ्ग्य है ॥ ५३-५६ ॥

तिस्रो वृत्तीः

तिस्रो वृत्तीर्वृत्तयस्तु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं बोध्यमत्रापि पूर्ववत् ॥ ५७ ॥
न वृत्तिरेव भगवद्व्यस्तरूपं भवेदतः।
चैतन्यरूपो गिरिशो व्याख्येयोऽनूक्तरीतितः ॥ ५८ ॥

त्रयींके बाद तिस्रो वृत्तीः कहा है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन वृत्तियां हैं। यहां भी पूर्ववत् वृत्तिसे वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य समझना चाहिये। क्योंकि भगवानका व्यस्तरूप वृत्ति नहीं हो सकता। अतः चैतन्यरूप शंकर अर्थ उक्तरीत्या लाना पड़ेगा ॥ ५७-५८ ॥

अकारो विश्वरूपः स्यादुकारस्तैजसो मतः।
मकारस्तु भवेत्प्राज्ञ इत्याचार्योक्तितोऽपि च ॥ ५९ ॥
वैश्वानरो जागरितस्थानो मात्राऽऽदिमा भवेत्।
स्वप्नस्थानस्तैजसश्च द्वितीयोकारलक्षणा ॥ ६० ॥
प्राज्ञस्तृतीयमात्रा स्यात्सुषुप्तिस्थान उच्यते।
इत्येव स्पष्टमाचष्टे माण्डुक्यश्रुतिरेव च ॥ ६१ ॥

आकार विश्व है, उ तैजस है, म प्राज्ञ है ऐसा आचार्य वचन भी है। माण्डूक्योंमें भी यह स्पष्ट कहा है—प्रथम मात्रा (अकार) वैश्वानर है द्वितीय मात्रा (उकार) तैजस है, तृतीयमात्रा (मकार) प्राज्ञ है इस प्रकार श्रुतियोंमें भी अकारादिका अर्थ अवस्थामात्र नहीं किन्तु जाग्रदादि अवस्थास्थानीय चेतन अर्थ बताया है ॥ ५९-६१ ॥

त्रिभुवनम्

भुवनत्रयमप्येवमोंकारार्थः प्रकीर्तितम्।
स्वर्गो भूमिश्च पातालमकारादिर्भवेत्क्रमात् ॥ ६२ ॥
स्वर्गो नाम षडूर्ध्वं ये भुवः स्वश्च महो जनः।
तपः सत्यमिमांल्लोकान् पिण्डीकृत्य निगद्यते ॥ ६३ ॥

एते सत्त्वप्रधानाः स्युर्भूर्लोको भूमिरुच्यते ।
अयं रजःप्रधानः स्याद्रजोमुख्या हि मानवाः ।। ६४ ।।

अतलं वितलं चैव सुतलं च रसातलम् ।
तलातलं महातलं पातालं चेति सप्तकम् ।। ६५ ।।

पातालशब्दितं तच्च तमोमुख्यं भवेदिति ।
गुणत्रयप्रधानत्वाद् भुवनत्रयमुच्यते ।। ६६ ।।

ऊर्ध्वलोकाः स्वरुच्यन्ते सत्त्वस्य श्रेष्ठता यतः ।
मध्यलोको भवेद् भूस्तु रजसो मध्यता यतः ।। ६७ ।।

अधोलोकाश्च पाताला याप्यत्वं तमसो यतः ।
भुवनत्रयमेतच्च शम्भोरङ्गत्रयं भवेत् ।। ६८ ।।

आनाभि शिरसः स्वर्गः कटचन्तं भूस्ततो भवेत् ।
आपादं चैव जङ्घायाः शम्भोः पातालसप्तकम् ।। ६९ ।।

भुवनत्रय—स्वर्ग, भूमि, पाताल क्रमशः अकार, उकार, मकार का अर्थ है । भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य ये ऊपरके छः लोक मिलाकर स्वर्ग कहलाता है । ये सत्त्वप्रधान लोक हैं । भूर्लोक भूमिको कहते हैं । यह रजः-प्रधान होता है । अतल वितल सुतल रसातल तलातल महातल पाताल ये सात पाताल हैं । ये तमःप्रधान हैं । इसप्रकार चौदह लोकोंका तीनमें पिण्डीकरण गुणत्रयकी यथाक्रम प्रधानतासे है । प्रकारान्तरसे इन्हें उर्ध्व, मध्य और अधः भी कहते हैं । उपर नीचे होनेसे नहीं किन्तु स्वर्गलोक सत्त्वगुणयुक्त होनेसे श्रेष्ठ है, रजोगुणयुक्त होनेसे भूर्लोक मध्यम है. तमोगुणयुक्त होनेसे पाताल कनिष्ठ है । इसकारणसे ऊर्ध्व, मध्य, अध विभाग है । ये तीन भुवन शंकरके तीन अंग हैं । सिरसे नाभितक स्वर्ग हैं । वहांसे कटितक भूर्लोक है । जांघसे पाद तक पाताल है ।। ६२ ६९ ।।

ननु पादौ मही पादतलं पातालमीशितुः ।
इत्युक्तं प्राक् कथं मह्याः कटित्वमधुनोच्यते ।। ७० ।।

तन्नोपास्तिप्रभेदेन भिन्ना भवति कल्पना ।
ततोऽन्यथान्यथाप्युक्तमन्यत्र न विसंगतम् ।। ७१ ।।

पहले आपने शंकरका पाद पृथिवी, पदतल पाताल बताया । अभी कह रहे है कटि पृथिवी है, यह कैसे ? उपासनाके भेदसे भिन्न कल्पना होती है । अतएव अन्यान्य स्थलोंमें और भी भेद कर के बताया है तो भी कोई विसंगति नहीं है ।। ७०-७१ ।।

ननु चैवमतद्रूपे ताद्रूप्यारोप एव सः ।
मैवं तदुत्थं तद्रूपं नातद्रूपमतो जगत् ॥ ७२ ॥

अङ्गत्वकल्पनामात्रं तत्र नानाविधं भवेत् ।
उपास्तीनां प्रभिन्नत्वान्नातद्रूपमतो जगत् ॥ ७३ ॥

भूर्भुवः स्वरिमाँल्लोकानन्ये तु भुवनत्रयम् ।
व्याचख्यिरे तन्मतेऽपि रीतिरेषा यथोदिता ॥ ७४ ॥

यदि पादादि पाताल है इत्यादि उपासना मात्र है तो अतद्रूपमें तद्रूप कल्पना हुई । वस्तुतः पातालादि शंकरका व्यस्तरूप नहीं हुआ । जैसे मूर्तिमें भगवदारोप किया तो स्वयं मूर्ति भगवानका रूप नहीं हो जाती । इसका उत्तर यह है कि जगत् भगवदुत्पन्न होनेसे भगवद्रूप ही है । हाँ उसमें पादत्व कटित्वादिकल्पना उपासनार्थ होती है ॥ ७२-७४ ॥

लोकावच्छिन्नचैतन्यं व्यस्तरूपं तु वस्तुतः ।
अङ्गानि पूर्णरूपाणीत्येतच्च प्राग्वदीक्ष्यताम् ॥ ७५ ॥

वस्तुतः भुवनावच्छिन्न चैतन्य ही व्यस्तरूप है । जैसे पातालावच्छिन्न चैतन्य पाद इत्यादि । और पादादि अंग पूर्ण परमेश्वर ही है यह हम पहले कह आये ॥ ७५ ॥

त्रीनपि सुरान्

सुरास्त्रयस्तथोंकारस्तत्राकारो विधिर्भवेत् ।
उकारस्तु भवेद्विष्णुर्मकारश्च महेश्वरः ॥ ७६ ॥

ब्रह्मा शंभोर्वामभागाद्विष्णुर्दक्षिणभागतः ।
हृदयाच्चैव रुद्रः स्यादिति तद्रूपता स्फुटा ॥ ७७ ॥

तीन देव भी ओंकारार्थ है । अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु, मकार महेश्वर है । शिवके वामभागसे ब्रह्मा, दक्षिण भागसे विष्णु, हृदयसे रुद्र उत्पन्न हुए । अतएव तीनोंकी शिवरूपता स्पष्ट ही है ॥ ७६-७७ ॥

संहारकार्यं प्रलये नाद्येत्येतेन हेतुना ।
शिवोऽहमिति रुद्रः स्वं समाधायावतिष्ठते ॥ ७८ ॥

अत एव प्रधानत्वं शिवरूपत्वमेव च ।
हृदुद्भवत्वहेतोश्च रुद्रस्याभ्युपगम्यते ॥ ७९ ।

संहारकार्य तो प्रलयमें होगा । आज रुद्रका दूसरा कोई काम नहीं । अतः अपनेको शिवोऽहं समझते हुए समाधि लगाये शंकर बैठे हैं । अतएव

शंकरकी प्रधानता है। शिवोऽहं इस वृत्तिके कारण शिवरूपता भी है। हृदयोत्पन्न होनेसे भी प्रधानता आदि है ॥ ७८-७९ ॥

ननु सृष्टिस्थितिलया रजःसत्त्वतमोगुणाः।
इत्यादीनि त्रिकान्यत्र न प्रोक्तानि कथं न्विति ॥ ८० ॥

अत्राहुस्तानि चात्रोपलक्षणीयानि सर्वशः।
न्यूनतापरिहारार्थमोंकारार्थविचारणे ॥ ८१ ॥

वस्तुतो भगवद्व्यस्तरूपमात्रमिहोच्यते।
गतार्थं चापरं सर्वं भुवनत्रयकीर्तनात् ॥ ८२ ॥

सृष्टि स्थिति लय, रज सत्त्व तम इत्यादि त्रिक कई हैं उन सबको यहां क्यों नहीं बताया ? इस विषयपर कुछ मनीषियोंका कहना है कि उनका भी यहां उपलक्षण समझना चाहिये। ॐकारार्थ विचारमें न्यूनता न हो एतदर्थ उपलक्षण आवश्यक है। वस्तुतः भगवानका व्यस्तरूप मात्र यहां कहना है। भुवनत्रय कह दिया तो उसीमें अन्य सभी जड़तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं जिससे अवच्छिन्न चैतन्यको व्यस्तरूपमें ग्रहण करना है ॥ ८०-८२ ॥

अकाराद्यैः

सन्धिवर्णो ह्यकारोकारयोरोकारतां व्रजेत्।
ओष्ठाच्छादनतश्चौष्ठ्यो मकारो निःसृतो भवेत् ॥ ८३ ॥

ततः परं ध्वनिः कण्ठान्नासामार्गाद्विनिःसरेत्।
स च बिन्दुरिति प्रोक्तो विद्वद्भिस्तन्त्रवेदिभिः ॥ ८४ ॥

बिन्दूद्भवानन्तरं च भवेद् ध्वनिपरम्परा।
घण्टानादवदेवायं नाद इत्यप्युदीर्यते ॥ ८५ ॥

किन्तु भेदः कृतो नात्र संक्षेपाद् बिन्दुनादयोः।
तुर्यं च तुर्यातीतं च वक्तव्यं स्यात्पृथक् तदा ॥ ८६ ॥

नैवास्त्यत्युपयोगोऽस्य तुरीये वागगोचरे।
कुतस्तु कल्प्यतां भेद इत्याचार्यास्तु मन्वते ॥ ८७ ॥

अ, उ की संधि करने पर ओ बनता है। ओठको बंद करते हुए मकार निःसृत होगा। उसके बाद कंठसे नासिका द्वारा ध्वनि निकलेगी। वह बिन्दु है। फिर घंटानादके समान ध्वनिपरंपरा चलती है वही नाद है। परन्तु यहां बिन्दु और नादका भेद नहीं किया गया। वैसा करनेपर उसका

अर्थ तुरीय और तुरीयातीत करना पड़ेगा। परन्तु उसका कोई विशेष उपयोग सिद्ध नहीं होगा। तब भेदकल्पना क्यों करें? ऐसी आचार्यकी मान्यता है ।। ८३-८७ ।।

अकारादिषु वर्णत्वाद्वाचकत्वमुपेयते ।
अकाराद्यैरतो वर्णैरित्येवं मुनिनोदितम् ।। ८८ ।।

तथाभिदधदित्युक्तं वाचकत्वावबुद्धये ।
अभिधा शक्तिपर्यायः शक्तं वाचकमुच्यते ।। ८९ ।।

अ, उ, म में वर्णत्व और वाचकत्व दोनों हैं। अतः "अकाराद्यैर्वर्णैः" कहा "त्रिभिरभिदधत्" यहां अभिधा शक्तिको कहते हैं। शक्तिमान ही वाचक माना जाता है ।। ८८-८९ ।।

नादस्य वर्णरूपत्वं नेति तानगदीद् ध्वनीन् ।
अवरुन्धानमित्याह न चाभिदधदित्यपि ।। ९० ।।

नाद वर्णरूप नहीं है। अतः उसे ध्वनि कहा। वाचक भी नहीं अतः अभिदधत् न कहकर "अवरुन्धानं" कहा ।। ९० ।।

तीर्णविकृति

त्रय्यादयस्तु सर्वेऽपि प्रोक्ता विकृतिरूपिणः ।
पादोऽस्य सर्वाभूतानीत्येतद्विकृतिमब्रवीत् ।। ९१ ।।
यत्पुनस्तीर्णविकृति त्रिपाद् ब्रह्म स्वयंप्रभम् ।
अवरुन्धे तदोंकारो ध्वनिभिः परमं पदम् ।। ९२ ।।

त्रयी, तीन वृत्ति आदि सभी विकृति है। एक पाद विकृतिरूप है। जो त्रिपात्ब्रह्म है वह स्वप्रकाश तथा विकृतिसे परे है। उस पद को ॐकार ध्वनियोंसे अवरुद्ध (संगृहीत) करता है ।। ९१-९२ ।।

ननु च प्रकृतिस्तीर्णविकृतिः सांख्यसंमता ।
किं तदेव त्रिपाद् ब्रह्म मैवं विकृतिरेव सा ।। ९३ ।।

सृष्टिकाले हि विषमा विकृतिः प्रकृतेर्भवेत् ।
प्रलये स्वस्वरूपेण प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत् ।। ९४ ।।

सत्त्वं हि सत्त्वरूपेण रजोरूपेण वै रजः ।
तमोरूपेण च तमो विकुर्यात्प्रलयेऽपि च ।। ९५ ।।

सांख्य शंका करते हैं कि–"मूलप्रकृतिः" के अनुसार प्रकृति तीर्ण-विकृतिं है। क्या वही आपका त्रिपाद् ब्रह्म है? उत्तर है प्रकृति भी विकृति-

रूप है, तीर्णविकृति नहीं। सृष्टिकालमें प्रकृतिसे महत्तत्त्व इत्यादि विषम विकार होता है। प्रलयमें प्रकृतिसे प्रकृति ही होगी। सत्त्व सत्त्वरूपसे, रज रजोरूपसे, तम तमोरूपसे विकारको प्राप्त होते रहते हैं॥ ९३-९५॥

सांख्याः समविकारं तु परिणामं प्रचक्षते।
किं नामभेदतस्तावद् विकारो हि स संमतः॥ ९६॥

सांख्यवाले समविकारको परिणाम कहते हैं। लेकिन नाम बदलनेसे क्या? विकार तो हो ही गया॥ ९६॥

क्वचित् स्वाकारतो गङ्गा विकरोति शिलोच्चये।
क्वचिद्विकसिताकारा विकरोत्यब्धिसंनिधौ॥ ९७॥
तथापि गङ्गा गङ्गैव जलं च जलमेव तत्।
न जलं तैलतामेति समा विकृतिरेव सा॥ ९८॥

विकरोत्येव सलिलं समरूपं न संशयः।
विषमं तु विकुर्वीत दुग्धं दध्यात्मना यथा॥ ९९॥

मा विकार्षीद् विषमतः प्रलये प्रकृतिः खलु।
विकरोति समं तस्मान्न तीर्णविकृतिर्हि सा॥ १००॥
विकरोत्यनिशं मर्त्यो न पुनर्महिषो भवेत्।
विकुर्वन्ति च बीजानि कुसूलादौ हि नित्यशः॥ १०१॥

क्षेत्रे त्वङ्कुरभावेन विषमं तु विकुर्वते।
समो वा विषमो वास्तु विकारत्वं न हीयते॥ १०२॥

गंगोत्तरी आदि पहाड़ी स्थलोंमें स्वाकारसे गंगा विकारित होती है। गंगासागरदिमें विशालरूपसे। उससे क्या? गंगा-गंगा ही है। जल-जल ही है। जल तेल नहीं होता। फिर भी समविकार है। विषम विकार है दूधका दही बनना। विषम विकार न हो किन्तु प्रलयमें प्रकृतिका समविकार है। अतः वह तीर्णविकृति नहीं हो सकती। मनुष्य शरीर निरन्तर विकारको प्राप्त होना है। तो क्या वह मनुष्यसे भैंसा बनता है? कोठेमें बीज नित्य विकारित होता है। हां, खेतमें अंकुररूपेण विषमविकार होता है। चाहे सम हो चाहे विषम। विकार तो विकार ही है॥ ९७-१०२॥

सृष्टौ सूर्यपरिस्पन्दाद्भवेन् कालस्य कल्पना।
प्रकृतिस्पन्दतश्चैव प्रलये कालकल्पना॥ १०३॥
कल्प्यन्ते तद्विकारेण क्षणमासादयो लये।
विकार एव स्पन्दोऽयं सोऽङ्गीकार्योऽखिलैरपि॥ १०४॥

अन्यथा तु कियान् कालः प्रलयोऽयं भवेदिति ।
निश्चयाभावतः शास्त्रमप्रामाण्यं भजेदिति ॥ १०५ ॥

सूर्यपरिस्स्पन्दसे सृष्टिमें कालकल्पना है । प्रलयमें सूर्य है नहीं । वहां प्रकृतिस्पन्द से कालकल्पना है । प्रकृतिस्पन्दसे वहां क्षणमासादि कल्पना है । यह स्पन्द आखिर विकार ही हुआ । यदि स्पन्द नहीं मानेंगे तो कितने समयतक प्रलय है यह अनिश्चित होगा और कालावधिबोधक शास्त्र अप्रमाण होगा । (तात्पर्य यह है कि कोई सांख्य या अन्य मतावलम्बी यह कहें कि प्रलयमें प्रकृति प्रकृतिरूपेण परिणत होती है ऐसा हम नहीं मानेंगे तब प्रकृति भी तीर्णविकृति क्यों नहीं ? इसका उत्तर है-कालपरिमाणसंपादनार्थ अगत्या सबको प्रकृतिस्पन्द प्रलयमें मानना ही होगा । "रात्रिं युगसहस्रान्तां" यह शास्त्र है ॥ १०३-१०५ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १०६ ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ १०७ ॥
अव्यक्तान्तेन्द्रियादीनि सविकाराणि सर्वशः ।
अत एव परस्तीर्णविकृतिः पुरुषः श्रुतः ॥ १०८ ॥

श्रुतिमें कहा है—इन्द्रियसे परे अर्थ, उससे परे मन, फिर महत्तत्त्व, उससे परे अव्यक्त और अव्यक्तसे परे पुरुष है । पुरुषसे आगे कोई नहीं, वहीं सीमा है, वही परमगति है । परन्तु अव्यक्तपर्यन्त परता कारण होनेसे युक्त है । अव्यक्तसे पुरुष पर क्यों है ? अव्यक्त अनादि होनेसे उसका कारण तो पुरुष नहीं है । तब यही मानना होगा कि अव्यक्त सविकृति है, पुरुष तीर्ण-विकृति है, इसलिये पुरुष पर है ॥१०६-१०८ ॥

तुरीयं ते धाम

नन्तःप्रज्ञबहिष्प्रज्ञोभयतःप्रज्ञरूपभाक् ।
न प्रज्ञं नापि चाऽप्रज्ञं तुरीयं धाम तत्प्रभोः ॥ १०९ ॥
अदृष्टाव्यवहार्यात्मप्रपञ्चोपशमं शिवम् ।
अद्वैतं परमं शान्तं चतुर्थं धाम शाम्भवम् ॥ ११० ॥

तुरीय धाम क्या है ? जो विश्व तैजसादि नहीं, अन्तःप्रज्ञ, बहिष्प्रज्ञ, उभयतः प्रज्ञ, प्रज्ञ और अप्रज्ञमें कोई नहीं । वह प्रत्यक्षका विषय नहीं, व्यवहार विषय नहीं । प्रपञ्चोपशम शिव अद्वैत परम शान्त है ॥ १०९-११० ॥

ध्वनिभिरवरुन्धानं

नैवास्य वाचकः शब्दो व्यज्यते ध्वनिभिर्हि तत् ।
निरन्तरोङ्कारजपध्वनिव्यङ्ग्यं स्वयंप्रभम् ॥ १११ ॥
तस्यैव च जपं कुर्यात्तदर्थं भावयेदपि ।
तत्पुण्यतश्च ध्वनिभिर्व्यज्यते परमः शिवः ॥ ११२ ॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ११३ ॥

उस तुरीय धामका वाचक कोई शब्द नहीं है। केवल ध्वनियोंसे वह अभिव्यक्त होता है। निरन्तर ओंकार जप करनेपर ध्वनियोंसे अभिव्यक्त होनेवाला वह स्वयंप्रकाश तत्त्व है। उसका जप करें और अर्थकी भावना करें तो उस पुण्यसे ध्वनियोंसे धामाभिव्यक्ति होगी। श्रुतिमें इसे श्रेष्ठ आलम्बन, परम आलम्बन बताया। उस आलम्बनकी उपासनासे ब्रह्मलोक-प्राप्ति बतायी ॥ १११-११३ ॥

बाह्योच्चारणतो व्यक्तं मानसोच्चारणादुत ।
ओंकारं संयमी कुर्यादुपास्त्यालम्बनं परम् ॥ ११४ ॥

बाह्य उच्चारणसे या मानस उच्चारणसे अभिव्यक्त ओंकारको आलम्बनकर संयमी पुरुष उपासना करें ॥ ११४ ॥

ननु च ध्वनिभिस्तुर्यं तत्त्वं तद् व्यज्यतां कथम् ? ।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वादिति वार्तिककृज्जगौ ॥ ११५ ॥

सुप्तं बोधयितुं तस्य देवदत्तेति नामतः ।
सम्बोध्यते ततः सुप्तपुरुषस्तु प्रबुध्यते ॥ ११६ ॥

श्रुत्वा प्रबुध्यतेऽसौ वा प्रबुध्यासौ शृणोति वा ।
संगच्छते न ह्युभयं शब्दशक्तिरतो मता ॥ ११७ ॥

प्रियनामैष चोंकारः श्रूयते परमात्मनः ।
ॐकारपूर्वध्वनितो भासते ब्रह्म निर्मलम् ॥ ११८ ॥

तस्मान्न वाचकत्वेन ध्वनयो बोधयन्ति तत् ।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्स्वशक्त्या बोधयन्ति तु ॥ ११९ ॥

शंका—ध्वनियोंसे तुर्य तत्त्वकी अभिव्यक्ति कैसे हो ? उत्तर वार्तिक-कारने दिया है कि शब्दशक्ति अचिन्त्य होती है। सोयेको जगानेके लिये 'देवदत्त' आदि नाम पुकारते हैं। नाम सुनकर जगता है या जागकर सुनता

है ? सुनकर जगा तो जगनेसे पूर्व सुना कैसे ? जगकर सुना तो पहले ही जगा है, जगानेकी क्या जरूरत ? अतः कहना होगा यह शब्द शक्तिकी ही कोई विशेषता है। ॐकार भी परमात्माका प्रिय नाम है। ॐकार पूर्वक ध्वनिसे आत्मा जागृत होकर निर्मल ब्रह्मरूपमें भासित होता है। इसलिये वाचकके रूपमें ध्वनियां बोधित नहीं करती। वस्तुतः शब्दशक्ति अचिन्त्य होनेसे उसीसे ब्रह्मबोध होता है ॥ ११५-११९ ॥

नन्वेवं ध्वनिभिस्तुर्यबोधे व्यर्थाऽक्षरार्थता।
न चादृष्टफलं व्यर्थकल्पनायाः प्रसक्तितः ॥ १२० ॥
मैवं प्रयोजनं तस्य लयचिन्तनमिष्यते।
अकारमर्थसहितमुकारे प्रविलापयेत् ॥ १२१ ॥
उकारमर्थसहितं मकारे प्रविलापयेत्।
मकारं चार्थसहितं ध्वनिबोध्ये महेश्वरे ॥ १२२ ॥
ध्वनयश्च विलीयन्ते बाध्यन्ते वा महेश्वरे।
तज्जन्यवृत्त्यभिव्यक्ता चित् तान् वृत्तीश्च बाधते ॥ १२३ ॥

पूर्वपक्षः—यदि ध्वनियोंसे तुर्यबोध होता है तो अकारादि वर्णोंके अर्थका क्या प्रयोजन ? यदि कहें कि अक्षरार्थ चिन्तनसे अदृष्ट होगा तो व्यर्थकल्पनामात्र है। ॐकारके उच्चारणसे जो अदृष्ट है उससे ही काम चलेगा। अक्षरार्थ चिन्तनके अतिरिक्त अदृष्टकी कल्पना क्यों करें ? इस पूर्वपक्षका समाधान यह है कि लयचिन्तनार्थ अक्षरार्थ आवश्यक है। स्थूलप्रपञ्चरूप अर्थसहित अकारका सूक्ष्मप्रपञ्चार्थक उकारमें विलयन किया जाता है। और अर्थसहित उकारका कारणप्रपञ्चार्थ मकारमें विलय किया जाता है। कारणप्रपञ्चसहित मकारका ध्वनिबोध्य महेश्वरमें विलय किया जाता है। फिर ध्वनिको शुद्ध महेश्वरमें विलीन या बाधित किया जाता है। ध्वनिजन्य वृत्तिसे ध्वनि तथा वृत्ति दोनोंका बाध होता है ॥ १२०-१२३ ॥

परे तु ध्वनिभिः शुद्धं ब्रह्म यद्यपि बोध्यते।
तथापि तत्र शुद्धत्वमुपाधिर्वर्तते स्फुटम् ॥ १२४ ॥
शुद्धत्वं स्थूलसूक्ष्मादिराहित्यं स्याद्विशेषणम्।
भागत्यागस्ततश्चैव चतुर्थ्यप्युररीकृतः ॥ १२५ ॥
न चैक्यबोधकाऽस्यादि तत्त्वमस्यादिवन्न चेत्।
कथं लक्षणया बोधो भागत्यागादिहेति चेत् ॥ १२६ ॥
विनापि शब्दमस्यादि प्रज्ञानं ब्रह्मवाक्यतः।
सामानाधिकरण्येन बोधो यद्वत्तथा भवेत् ॥ १२७ ॥

अन्य संत पुरुषोंका कहना है कि ध्वनिसे शुद्ध ब्रह्मका बोध भले हो। किन्तु उसमें शुद्धत्व उपाधि है। शुद्धत्वका अर्थ है स्थूल-सूक्ष्म-कारण उपाधिरहितत्व। वह विशेषण है। चारोंमें भाग त्याग करनेसे बोध होगा। किन्तु तत्त्वमसिमें एकता बोधक "असि" के समान यहां एकताबोधक पद नहीं है, तब कैसे ऐक्यबोध होगा ? सुनो। "प्रज्ञानं ब्रह्म" में कहां असि आदि पद है ? फिर भी वहाँ बोध होता है या नहीं ? वैसे यहां भी समझ लो ॥ १२४-१२७ ॥

नन्वाकाङ्क्षाविरहतः कथं स्याद्वाक्यताऽस्य तु।
क्रियाकारकभावादिराकाङ्क्षा परिकीर्तिता ॥ १२८ ॥

प्रज्ञानं ब्रह्म वाक्ये तु विधेयोद्देश्यभावतः।
आकाङ्क्षा विद्यते सैषा नैवोंकारे विलोक्यते ॥ १२९ ॥

मैवमत्रापि वर्णार्थान् समुद्दिश्य विधीयताम्।
ध्वन्यर्थ इति नाकाङ्क्षाराहित्यमिह दूषणम् ॥ १३० ॥

परन्तु ॐकारमें आकांङ्क्षा न होनेसे वह वाक्य कैसे हो ? क्रिया-कारक भावादि आकाङ्क्षा है "प्राज्ञानं ब्रह्म" यहां उद्देश्यविधेयभाव आकाङ्क्षा है। ॐकारमें न क्रियाकारकभाव है और न उद्देश्यविधेयभाव ही। तब आकाङ्क्षा न होनेसे वाक्य नहीं है। अतः बोध कैसे होगा ? इसका उत्तर सुनिये। यहांपर भी अ-उ-म के अर्थको उद्देश्य एवं ध्वनिके अर्थको विधेय मानकर आकाङ्क्षा संपादन एवं वाक्यार्थबोध हो सकता है ॥ १२८-१३० ॥

समस्तं व्यस्तं०

एवं रीत्या व्यस्तमेतदोंपदं व्यञ्जयेत् परम्।
समस्तं बोधयेदेतत् कथमित्युच्यतेऽधुना ॥ १३१ ॥

अयं यौगिकरूढोऽस्ति शब्द इत्युदितं पुरा।
यौगिकोऽर्थो भवेद् व्यस्तः समस्तो रूढ एव च ॥ १३२ ॥

महासमष्टयवच्छिन्नं चैतन्यं ब्रह्मसंज्ञितम्।
समस्तोंकारवाच्यार्थो रूढ्या निगदितो बुधैः ॥ १३३ ॥

उक्तरीति व्यस्त ॐ पद परतत्त्वको व्यञ्जित करता है। अव समस्त ॐ पद किस प्रकार व्यञ्जित करता है सो कहते हैं। यह यौगिक रूढ शब्द है ऐसा हमने पहले ही बताया। यौगिकार्थ ही व्यस्त है और रूढ्यर्थ ही

समस्त है। महासमष्टयवच्छिन्नचैनन्य, जिसको ब्रह्म कहते हैं, वही रूढितः समस्त ओंकारका वाच्यार्थ है ।। १३१-१३३ ।।

सर्वं च खल्विदं ब्रह्मेत्येतच्छ्रुत्या पुरस्कृतम् ।
वाच्यार्थविधया यत्तद् ब्रह्म सर्वात्मकं परम् ।। १३४ ।।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुतिमे वाच्यार्थरूपेण जो उपस्थित होता है वही सर्वात्मक पर ब्रह्म है ।। १३४ ।।

शतगर्तेषु सलिलं समोपस्थेषु दृश्यते ।
पर्वतोपरितो लोकैरेको वीक्ष्येत स ह्रदः ।। १३५ ।।

किंचिद्दूरे तथैव स्याच्छतगर्तेषु चोदकम् ।
द्वितीयो ह्रद इत्येवं पर्वतोपरितो भवेत् ।। १३६ ।।

शैलात्त्रिचतुरान् दृष्टान् ह्रदान् वैमानिको जनः ।
विशालं सागरं पश्येदेकमेवातिदूरतः ।। १३७ ।।

व्यष्टयस्तत्र गर्ताः स्युः समिष्टिस्तु ह्रदो भवेत् ।
महासमष्टिस्तु पुनः सागरस्तत्र बुध्यताम् ।। १३८ ।।

विश्वाश्च तैजसाश्चैव प्राज्ञाश्च व्यष्टयो मताः ।
विराड् हिरन्यगर्भश्चेश्वरश्चेति समष्टयः ।। १३९ ।।

तेषां महासमष्टिर्या तदवच्छिन्नचेतनः ।
ॐकारस्याभिधेयार्थः सर्वं ब्रह्मश्रुतेरपि ।। १४० ।।

सैंकड़ों नजदीक नजदीक खड्डोंमें पानी पृथक् पृथक् समीपस्थको दीखता है। लेकिन पर्वतके ऊपरसे देखो तो एक ह्रद मालूम पड़ेगा। कुछ दूरमें वैसे सैकड़ों गर्तोंमें पानी है। पर्वतपरसे वह दूसरा ह्रद दीखेगा। इसप्रकार पर्वतके ऊपरसे जो तीन चार ह्रद दीखते हैं वे ही दूर विमानसे देखेंगे तो एक सागर दीखेगा। उनमें गर्त व्यष्टि है। ह्रद समष्टि है। सागर महा-समष्टि है। इसी प्रकार असंख्य विश्व, असंख्य तैजस असंख्य प्राज्ञ ये व्यष्टि हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर ये तीन समष्टि है। तीनोंको मिलानेपर महा-समष्टि है। तदवच्छिन्न चैतन्यको ब्रह्म कहते हैं। ॐकारका वही महा-समष्टयवच्छिन्न चैतन्य वाच्यार्थ है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुतिका भी वही वाच्यार्थ है ।। १३५-१४० ।।

वृक्षाः पृथक् पृथक् सन्ति दूरादेकं वनं हि तत् ।
वनान्येवं बहूनि स्युर्महारण्यं विदूरतः ।। १४१ ।।

महासमष्टिरेवं वा वाच्यार्थीया निबुध्यताम् ।
आभासवादोऽवच्छेदवादो वा गृह्यतामिह ॥ १४२ ॥
सर्वथाप्येव वच्यार्थो ब्रह्म विश्वात्मकं भवेत् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण लक्ष्यार्थस्तस्य बुध्यताम् ॥ १४३ ॥

वृक्ष एक एक अलग है। दूरसे वन दीखेगा। अतिदूरसे ऐसे अनेक वन महारण्य दीखेगा। इस रीति भी महासमष्टि समझ सकते हैं। आभासवाद या अवच्छेदवाद कोई भी अपनाईए (जलप्रतिबिम्बित आकाश, वृक्षावच्छिन्न आकाश निदर्शन है) सर्वथापि वाच्यार्थ तो विश्वरूपी ब्रह्म ही है। गुरूपदिष्ट मार्गसे उसका लक्ष्यार्थ समझना चाहिये ॥ १४१-१४३॥

गुणात्योमिति पदं

वाच्यार्थविधया ज्ञेयः शिवः शूली महेश्वरः ।
लक्ष्यार्थविधया ज्ञेयः परमः शिव एव च ॥ १४४ ॥

पञ्चवक्त्र शिव या महेश्वर वाच्यार्थ है। शुद्ध चैतन्यरूपी परमशिव लक्ष्यार्थ है ॥ १४४ ॥

शिवं व्यस्तात्मकं ब्रूयाद् व्यस्तलक्षणमोंपदम् ।
विराड्ढिरण्यगर्भादिर्व्यस्तः शिव इतीरितम् ॥ १४५ ॥
समस्तमोंपदं रूढं सर्वाविच्छन्नमीश्वरम् ।
वाच्यार्थविधया ब्रूयाल्लक्ष्या शुद्धचितिर्द्वयोः ॥ १४६ ॥

व्यस्त रूप यौगिक ओंकार व्यस्तशिवको बतायेगा। विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वरादि व्यस्त शिव है यह "त्रयीं तिस्रो वृत्तीः" इत्यादिकी व्याख्यामें हम कह आये। समस्तरूप रूढ ओंकार समस्त शिव अर्थात् सर्वावच्छिन्न ईश्वरको कहेगा। यह वाच्यार्थ हुआ। लक्ष्यार्थमें तो दोनों (समस्त और व्यस्त) शुद्धचैतन्यको ही बताते हैं ॥ १४५-१४६ ॥

नन्वत्र वाक्यविरहाद् विरोधादेरभावतः ।
तत्पार्यानुपपत्त्यादिविरहाल्लक्षणा कथम् ॥ १४७ ॥
न चोंकारो भवेद्वाक्यं पदत्वेनोपर्णनात् ।
अपूर्वबोधकं वाक्यं न पदे चेक्ष्यते क्वचित् ॥ १४८ ॥
तस्मादसंगतमिदं लक्ष्यार्थपरिकल्पनम् ।
तात्पर्यानुपपत्त्यादेर्वाक्येष्वेवावलोकनात् ॥ १४९ ॥
अन्यथा ब्रह्मशब्देन वोधे लाक्षणिके कृते ।
अहमादिपदं तत्र न कथं निष्फलं भवेत् ॥ १५० ॥

अत्र केचिद् यथोक्तार्थं वाच्यमोंपदमीरयेत्।
अचिन्त्यस्वीयशक्त्या च शुद्धब्रह्मापि बोधयेत् ॥ १३१ ॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १५२ ॥
यदिच्छति तदेव स्यादित्युक्तेर्नास्त्यसंभवः।
तस्मादेकपदेनापि ब्रह्म लक्षणयेयते ॥ १५३ ॥

ओंकारका वाच्यार्थ तत्तदवच्छिन्न चैतन्य और लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य इत्यादि कथन अयुक्त है। क्योंकि यहां वाक्य नहीं है, वाच्यार्थ ग्रहणमें विरोध नहीं है, तात्पर्यानुपपत्त्यादि भी नहीं है। तब लक्षणा किस प्रकार? (गङ्गायां घोषः कहनेपर गङ्गापदकी तीरमे लक्षणा होगी। केवल गङ्गा कहनेसे क्यों लक्षणा करने लगे। यदि कहें कि ओंकार वाक्य है, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि मूलकार स्वयं कहते हैं— 'ओमिति पदम्'। और अपूर्व बोधक वाक्य होता है, पद नहीं। इसलिये यह लक्ष्यार्थकल्पना असंगत है। अन्यथा ब्रह्मपदसे लक्षणासे शुद्धब्रह्मबोध हो सकता है, तो अहं ब्रह्मास्मि इसप्रकार तीन चार पद बोलनेकी क्या जरूरत थी? इस पूर्वपक्षका उत्तर कुछ लोग यह देते हैं कि वाच्यार्थ तो वाचकता शक्तिसे प्राप्त होगा। और लक्ष्यार्थ अचिन्त्य शब्दशक्तिसे प्राप्त होगा। यही ओंकारकी विशेषता है। अतएव कठोपनिषदम बताया यही अक्षर ब्रह्म है, यही पर अक्षर है। इसी अक्षरको जाननेपर जिसको जो अभीष्ट है वही प्राप्त होता है। "जो अभीष्ट सो प्राप्त होगा" इस कथनसे कुछ भी यहां असंभव नहीं है। अतः एकपद होनेपर भी लक्षणासे शुद्धब्रह्म अर्थ प्राप्त होगा ॥ १४७-१५३ ॥

अथवा ध्वनिभिस्तावच्छुद्धं ब्रह्माभिधीयते।
न चावाचकता तेषामोंकारे तदुपायनात् ॥ १५४ ॥
पदोपस्थाप्य एवार्थः पदर्थेनान्वयं व्रजेत्।
इत्यप्यन्यत्र नियमो यो यदिच्छेदिति श्रुतेः ॥ १५५ ॥

अथवा ओम्से विशिष्ट ब्रह्म और ध्वनिसे शुद्धब्रह्म उपस्थित हुआ। अर्थविरोध होनेसे लक्षणा हो जायेगी। ध्वनिमे वाचकता नहीं है यह नियम ओंकारातिरिक्त स्थलके लिये है। पदार्थः पदार्थेनान्वेति यह नियम भी अन्यत्रके लिये है ॥ १५४-१५५ ॥

अथास्मद्गुरुभिः सम्यगुपदिष्टं निरूपितम् ।
गूढं रहस्यमधुना किंचिद् व्याचक्ष्महे वयम् ॥ १५६ ॥

रूढो वा यौगिको वाऽमावोंकारो यस्त्रिमात्रकः ।
उपदर्शित एवार्थस्तस्य संपरिगृह्यते ॥ १५७ ॥

ध्वनयस्त्वर्धमात्रा स्युर्याऽनुच्चार्या विशेषतः ।
अत एव पदत्वं न वैयाकरणरीतितः ॥ १५८ ॥

तथापि मात्रारूपत्वाद्वाचकत्वं न हीयते ।
तस्यार्थस्तु तुरीयं स्याद्धाम शैवं परात्परम् ॥ १५९ ॥

उपाध्यभाववत्त्वं हि तुरीयत्वं निगद्यते ।
सोऽप्यभवात्मकोपाधिरेव धामगतो भवेत् ॥ १६० ॥

नन्वापद्यंत वदतोव्याघात इति चेन्न तत् ।
सत् स्थूलसूक्ष्मबीजोपाध्यभावोऽत्र विवक्षितः ॥ १६१ ॥

सोपाधित्वानुपाधित्वे विरुध्येते ततोऽत्र च ।
भागत्यागो भवेत्तेन शुद्धं ब्रह्मावबुध्यते ॥ १६२ ॥

शाब्दिकैरयमोंकारः सूक्ष्मो न व्यञ्जनक्षमः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण बोद्धव्योऽयं भवेद् बुधैः ॥ १६३ ॥

इतोऽप्यतिरहस्यं यन्न तद्विवृणुमो वयम् ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो गुरुभ्यः प्रतियन्तु तत् ॥ १६४ ॥

अब हम श्री गुरुचरणद्वारा जो उपदिष्ट हुआ तथा व्याख्यासहित निरूपित हुआ उस गूढ़ रहस्यका कुछ अंश लोककल्याण हेतु यहाँ बताते हैं। चाहे यौगिक हो चाहे रूढ़, त्रिमात्रक ओंकारका अर्थ जो पहले बताया गया वही है। ध्वनिसे यहाँ अर्धमात्रा अभिप्रेत है। जिसका विशेषरूपेण उच्चारण नहीं होता। केवल ॐकारोत्तर ध्वनिसे अभिव्यक्ति होती है। अतएव वैयाकरणरीतिसे वह पद नहीं है। फिर भी मात्रा है, अत वाचकत्व कहीं नहीं जाता। उसका अर्थ परात्पर तुरीय शैव धाम ही है। तुरीयका अर्थ है उपाध्यभाववान् चैतन्य। उपाध्यभाव भी अभावात्मक उपाधि है। शंका होगी कि यह तो वदतोव्याघात है। उपाध्यभाव हो तो फिर उपाधि कैसे हो ? नहीं। उपाध्यभावका अर्थ है स्थूलसूक्ष्मकारणरूप उपाधि त्रयनिषेध। न कि अभावरूपी उपाधिका भी निषेध। ओम् सोपाधि ब्रह्मको कहेगा, अर्धमात्रा निरूपाधि ब्रह्मको। तब दोनोंके अभेदमें विरोध आ जाता है। तब अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्तिसे लक्षणा होगी।

भागत्याग कर अखण्डचैतन्यबोध होगा। इस सूक्ष्म ओंकारको वैयाकरण व्यञ्जित नहीं कर सकते। गुरूपदिष्ट मार्गसे ही इसका अवबोध होगा। इससे भी अत्यन्त गूढ़ रहस्य जो गुरुओंने बताया उसकी व्याख्या हम यहाँ नहीं करते। श्रद्धा एवं निर्दोष भावनासे उस रहस्यको गुरुओंसे ही जाननेका सन्त पुरुष प्रयास करें॥ १५६-१६४॥

माण्डूक्ये वर्णितोऽमात्रः सोर्धमात्राविलक्षणः।
तद्भाष्यविवृतौ तस्य रहस्यं स्फोरितं मया॥ १६५॥

माण्डूक्य में जो अमात्र बताया वह अर्धमात्रा नहीं है। उसका रहस्य वहीं भाष्य विवरण में हमने स्पष्ट किया है। उसे वहीं देखें॥१६५॥

यावच्चोक्तं रहस्यं तन्निबुध्य प्रणवाश्रयः।
उपासीत परं ब्रह्म श्रेयोलिप्सुरिति स्थितम्॥ १६६॥

जितना रहस्य यहाँ बताया उतना भी गुरुमुखसे जानकर प्रणवाश्रित हो परब्रह्मोपासना करें। उससे भी श्रेयकी प्राप्ति होगी यही सिद्धान्त है॥ १६६॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यैकसाक्षिणे परमात्मने।
तुरीयाय महेशाय नमोऽस्तु प्रणवात्मने॥ १६७॥

जाग्रत, स्वप्न तथा सुषिप्तिके एकमात्र साक्षी प्रणवशरीर तुरीय महेश्वरको प्रणाम है॥ १६७॥

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
सप्तविंशो गतः स्पन्दो महिम्नः स्तोत्रवार्तिके॥ २७॥



ॐ

अष्टात्रिंशः श्लोकः

ॐकारः परमं नाम प्रियं भगवतोऽधिकम् ।
निरूपितः सम्यगिह जगतीमुद्दिधीर्षुणा ॥ १ ॥

तत्त्वमस्यादिवक्ष्यानामिदं स्यादुपलक्षणम् ।
इति केचिदिहाचख्युस्तत्त्वज्ञानपरायणाः ॥ २ ॥

स्तुतेरुपास्तिमार्गेण प्रबोधनपरस्त्वतः ।
उपास्तौ मुख्यमोंकारं समाचख्यौ मुनीश्वरः ॥ ३ ॥

परंतु संयमी तस्य जपादि कर्तुमर्हति ।
सर्वे नाधिक्रियन्तेऽत्र वेदादौ प्रणवे मनौ ॥ ४ ॥

तस्मादष्ट निगद्यन्ते नामान्यन्यान्यपीशितुः ।
सर्वेषां श्रेयसे नृणां मुनिना करुणावता ॥ ५ ॥

भगवानके सर्वाधिक प्रिय सर्वोत्तम नामका जगदुद्धारार्थ निरूपण किया । इसे तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका भी उपलक्षण ज्ञानी लोग मानते हैं। परन्तु स्तुति उपासना मार्गको मुख्य रखकर प्रबोध कराती है। उपासनामें मुख्य होनेसे ॐकार मात्र निरूपण महर्षिने किया । जैसा भी हो ॐकारका जपादि केवल संयमी पुरुष कर सकता है। वेदादि होनेसे प्रणव मन्त्रमें सब अधिकारी भी नहीं हैं। अतः समस्त मनुष्योंके श्रेयके लिये दयालु मुनि सर्वसाधारण अन्य आठ नामोंको कहते हैं ॥ १-५ ॥

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते ॥२८॥

हे भगवन् ! भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, महादेव, भीम, और ईशान ये जो आपके आठ नाम हैं इनमें प्रत्येकके साथ श्रुति विद्यमान है। इस प्रकार संस्तुत परमप्रिय स्वयंज्योति आपके चरणोमे मैं नतमस्तक हूँ ॥२८॥

भवः

भवः शम्भोरिदं नाम भवत्यस्माज्जगद्यतः ।
भवतीति प्रपञ्चोऽयं तद्धेतुत्वाद्भवः शिवः ॥ ६ ॥

भवः यह शंकरका नाम है । भवति अस्माज्जगदिति भवः । जिससे जगत् उत्पन्न हो वह भव है । अथवा उत्पन्न होता है इसलिये भव संसार-का ही वाचक है । संसारहेतु होनेसे शिवको भी भव कहा ॥ ६ ॥

भवतीति भवः शंभुर्यः प्रपञ्चात्मना भवेत् ।
यो भवल्ँलभतेऽस्तित्वं न शम्भोर्भिद्यते हि सः ॥ ७ ॥

जो होता है—प्रपञ्चरूपसे होता है वह भव है । जो होकर अस्तित्वलाभ करता है वह शंकरसे भिन्न नहीं ॥ ७ ॥

भव्यं भवे साधु भवेद् भव्यं कल्याणवाचकम् ।
भव्यवानत एवासौ भवो मङ्गलदायकः ॥ ८ ॥

मंगल अर्थमें भव्य शब्द आता है । भवमें साधु भव्य है । अर्थात् भव्यदायी ही भव है ॥ ८ ॥

यत् सत्यं सुन्दरं चैव तद्भव्यमिति गीयते ।
रत्नवद्भासतां काचो न भव्यः स उदीर्यते ॥ ९ ॥
यतो वास्तविकं तत्र रत्नत्वं नैव विद्यते ।
तस्माद्यत्रास्ति सत्यत्वं सव्यं भवितुमर्हति ॥ १० ॥

जो सत्य और सुन्दर हो वही भव्य है । रत्नके समान कांच चमकता है । तो क्या वह भव्य है ? वास्तविक रत्नत्व उसमें नहीं है । जहाँ सत्यत्व हो वही भव्य है ॥ ९-१० ॥

वस्तुतो हीरकोऽप्येवाघृष्टो भव्यो न भण्यते ।
सौन्दर्यवि हात् सत्यं सुन्दरं भव्यमुच्यते ॥ ११ ॥

वास्तविक हीरा है । फिर भी न घिसनेपर भव्य नहीं होता । क्यों ? सौन्दर्य नहीं है । जो सत्य हो, साथ ही सुन्दर भी हो वही भव्य है ॥ ११ ॥

कल्याणवाचकत्वाच्च शिवत्वमपि लभ्यते ।
सत्यः शिवः सुन्दरश्च भवो भवति शंकरः ॥ १२ ॥

भव्यत्वानका कल्याणरूप होनेमे शिवभी निश्चित है । अतः सत्य, शिव, सुन्दर यही भव है । शंकर वैसे ही हैं ॥ १२ ॥

संज्ञायां पुंसि घः प्रायेणेति पाणिनिनोदितम् ।
यथोक्तार्थवती संज्ञा शंकरस्य च युज्यते ॥ १३ ॥

संज्ञामें पुंलिंगमें घ प्रत्यय व्याकरणमें बताया है। अतः पूर्वोक्त अर्थ-युक्त भवसंज्ञा शंकरके लिये युक्त ही है ॥ १३ ॥

श्रुतिर्भवाय रुद्राय शर्वाय च नमोस्त्विति ।
भवाय नम इत्येष मन्त्रः प्रणवपूर्वकः ॥ १४ ॥

लभ्यते भव्यता सत्यशिवसुन्दरलक्षणा ।
एतन्मनूपासनया ज्ञानं मोक्षोपि च क्रमात् ॥ १५ ॥

श्रुतिका प्रविचरण देखिये—"भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च" इत्तादि । "ॐ भवाय नमः" यह मन्त्र है। इसके जपसे सत्य-शिव-सुन्दररूपी भव्यता प्राप्त होगी। ज्ञान तथा मोक्ष भी क्रमशः प्राप्त होगा ॥ १४-१५ ॥

शर्वः

शर्वः शम्भोरिदं नामाऽविद्यामेष शृणाति यत् ।
ज्ञानरूपत्वतस्तस्याऽविद्यानाशकता स्थिता ॥ १६ ॥

'शर्वः' यह शंकरजीका नाम अविद्याका विशरण-विनाश करनेसे हुआ। शंकर ज्ञानरूप होनेसे अविद्यानाशक हैं ही ॥ १६ ॥

शृणातेर्वनि वा शः स्याच्छरणार्थकमस्ति तत् ।
शर वाति प्रापयति शर्वः शरणदो मतः ॥ १७ ॥

शृणात्यविद्यां वात्येष ब्रह्म शर्वस्ततोऽप्यसौ ।
एतेन रक्षणं तावत् लोकानां सूचितं भवेत् ॥ १८ ॥

यो लब्ध्वा मानवं जन्म मुक्तये न प्रयस्यति ।
स आत्महा निजं हन्ति मनुजोऽयमसद्ग्रहात् ॥ १९ ॥

अविद्याया विशरणादात्मनः शरणागतेः ।
ब्रह्मप्रापणतश्चैव रक्षा स्यादात्मघाततः ॥ २० ॥

पापान्यसौ शृणातीति ततोऽपीशस्य शर्वता ।
नश्यन्ति पापिनस्तस्माद्रक्षत्येष ततस्तथा ॥ २१ ॥

शॄ धातुसे विन् प्रत्यय करनेपर शर् शब्द शरणार्थमें होगा। शर् शरण जो प्राप्त करायें वे शर्व हैं। शृणाति च वाति च—अविद्याको नष्ट करें, ब्रह्म प्राप्त करावे भी इसलिये भी शर्व हैं। इससे लोकरक्षण सूचित

होता है। मानवजन्म पाकर मुक्त्यर्थं प्रयास न करनेवाला आत्मघाती है। असद्ग्राही है। इस आत्मघातसे रक्षा, अविद्यानाश और आत्मशरणतासे ही होगी। पापविशरणकारी होनेसे भी रक्षक शर्व है ॥ १७-२१ ॥

श्रुतिरत्रापि पूर्वोक्ता शर्वाय नम इत्यसौ।
ओंकारपूर्वको मन्त्रस्तज्जपादिश्च पूर्ववत् ॥ २२ ॥

भगवच्छरणप्राप्तिरविद्याहतिरेव च।
ज्ञानप्राप्तिस्तथोपास्तेः फलमग्र्या भवेन्नृणाम् ॥ २३ ॥

"भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च" इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति है। "ॐ शर्वाय नमः" यह मन्त्र है। भगवत्शरणप्राप्ति, अविद्यानिवृत्ति और ज्ञानप्राप्ति उपासनाका फल है ॥ २२-२३ ॥

रुद्रः

रुद्रः शम्भोरिदं नाम प्रलयार्थावबोधकम्।
व्युत्पत्तयस्तु विद्यन्ते बहवोऽस्य बुधोदिताः ॥ २४ ॥

'रुद्र' यह शंकरजीका प्रलयार्थबोधक नाम है। इसकी व्युत्पत्ति तो विद्वानोंने अनेकधा दिखाई है ॥ २४ ॥

रोदयत्यसतो जन्तून् पापिनो मन्युनेषुणा।
बाहुभ्यां चेति रुद्रत्वं रुद्रस्य श्रुतिविश्रुतम् ॥ २५ ॥

नमस्ते मन्यवे रुद्र तथा तेऽस्त्विषवे नमः।
बाहुभ्यां च नमस्तेऽस्तु तदेवं श्रुतिषु श्रुतम् ॥ २६ ॥

मन्युरागस्कृता दण्डविषया वृत्तिरुच्यते।
अतिवृष्टिमहामारीप्रभृतिस्तदिषुः श्रुतः ॥ २७ ॥

नमोऽस्तु तेभ्यो रुद्रेभ्यो दिवि व्योम्नि तथा भुवि।
भवन्ति येषामिषवः वर्षवातान्नलक्षणाः ॥ २८ ॥

रुद्रः संवत्सरात्मायमयने दक्षिणोत्तरे।
तस्य बाहू निगद्येते कालात्मानौ महाबलौ ॥ २९ ॥

एतेषां प्रतिकूलत्वे रुद्रोऽयं रोदयत्यतः।
नमस्तदानुकूल्यार्थं नित्यं सद्भिर्विधीयते ॥ ३० ॥

असत् पुरुषोंको पापियोंको मन्युसे, इषुसे, और बाहुओंसे ताड़नकर रुलानेवाला होनेसे रुद्र कहलाया। श्रुतिमें इसलिये कहा हे रुद्र आपको प्रणाम, आपके मन्युको प्रणाम, आपके इषुओं (बाणों) को प्रणाम और

बाहुओंको प्रणाम। मन्युका अर्थ वैसे तो क्रोध है, किन्तु यहांपर अपराधियों के प्रति 'यह दण्डनीय है' इस प्रकार जो वृत्ति है वही रुद्रका मन्यु है। और रुद्रका इषु (बाण) अनिवृष्टि, महामारी आदि है। "नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः, येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः, ये दिवि येषामन्नमिषवः" इस प्रकार मन्त्रमें ही कहा गया है। रुद्र भी असलमें संवत्सररूप है। उसके दो बाहु उत्तरायण और दक्षिणायन हैं। वे भी कालस्वरूप हैं (विशेष शतपथ ब्राह्मणादिमें द्रष्टव्य है) ये अयनादि प्रतिकूल हों तो रुद्र संवत्सर रुलाता है। ये अनुकूल बन जायं एतदर्थ "नमस्ते रुद्र मन्यवे" इत्यादि रीति सत्पुरुष नमस्कार करते हैं ॥ २५-३० ॥

अरोदीदिति वा रुद्रो रूप्यं जातं तदश्रुभिः।
बर्हिर्यागे ततो नैव दीयते रजतं बुधैः ॥ ३१ ॥
तथापि रजतं श्रेष्ठमन्यत्रास्तीति लौकिकम्।
सुवर्णस्यापि निष्पत्तिः रुद्रादन्यत्र दर्शितम् ॥ ३२ ॥

रुद्र भी प्रकट होते समय अन्य शिशुके समान रो लिये, किन्तु उससे चांदी उत्पन्न हुई। बर्हियागमें उसका उपयोग भले न हो फिर भी वह धन है ही। सुवर्ण भी रुद्रसे उत्पन्न हुआ ऐसा अन्यत्र कहा है। अरोदीदिति रुद्रः ॥ ३१-३२ ॥

रुदं दुःखं द्रावयति तस्माद्वा रुद्र ईर्यते।
सुषुप्तौ न यथा दुःखं प्रलयेऽपि तथैव तत् ॥ ३३ ॥
सुष्वाप्य प्रलये सर्वान् प्राणिनः परमेश्वरः।
उद्विग्नचित्तानिव हि दुखान्मोचयति प्रभुः ॥ ३४ ॥
भवभ्रमणतः श्रान्तान् सुष्वापयति मातृवत्।
प्राणिनः प्रलये रुद्रो न तु हन्ति कृपानिधिः ॥ ३५ ॥

रुद्र—दुःखको जो द्रावित—नष्ट करे वह रुद्र है। जैसे सुषुप्तिमें दुःख नहीं वैसे प्रलयमें भी दुःख नहीं होता। जैसे उद्विग्न चिन्तित दुःखी व्यक्तियोंको सुलानेसे उनका दुःख मिटता है वैसे संसार भ्रमणसे श्रान्त व्यक्तियोंको प्रलयमें सुलाकर भगवान प्राणियोंको दुःखसे मुक्त करते हैं। प्रलयमें मारते नहीं है ॥ ३३-३५ ॥

भवशर्वपदाभ्यां सं प्रदर्श्योत्पत्तिरक्षणे।
रुद्रशब्देन कथितः प्रलयो हरकर्तृकः ॥ ३६ ॥
शर्वंताति रुदं रातीत्यादयो विग्रहास्ततः।
विशेषानुपयोगत्वात्सम्भवेऽपि न दर्शिताः ॥ ३७ ॥

भवशब्दसे सृष्टि और शर्व शब्दसे स्थिति सूचित कर रुद्रशब्दसे प्रलय सूचित किया। अतएव "शर्व हिंसायां," शर्वतीति शर्वः, रुदं रातीति रुद्रः इत्यादि अनेक अन्य विग्रहोंके संभव होनेपर भी विशेष उपयोगी न होनेसे यहांपर नहीं दिखाया गया ॥ ३६-३७ ॥

पूर्वप्रदर्शिताऽत्रापि श्रुतिर्विचरतीश्वरे ।
मन्त्रश्च पूर्ववत्तस्यों रुद्राय नम इत्ययम् ॥ ३८ ॥

"भवाय च रुद्राय च नमः" इत्यादि श्रुति ही यहां भी चलती है। "ॐ रुद्राय नमः" यह जप्यमन्त्र है ॥ ३८ ॥

पशुपतिः

तथा पशुपतिर्नाम तदनुग्रहबोधकः ।
पाशबद्धास्तु पशवस्तेषां पतिरयं प्रभुः ॥ ३९ ॥

तिर्यग्जातौ पशुः प्रोक्तः सर्वप्राणिषु पुंस्ययम् ।
पश बन्धे चुरादिः स ततः पशुपदं भवेत् ॥ ४० ॥

अष्टपाशा निगदितास्तैर्बद्धान् भगवान् शिवः ।
पाति पाशनिरासेन प्राणिनः शरणागतान् ॥ ४१ ॥

पशुपतिः यह शंकरका अनुग्रहबोधक नाम है। पाशबद्ध ही पशु हैं। उनके पति शंकर हैं। कोशमें पशुशब्दका पशुजाति तथा प्राणीमात्र दोनों अर्थ बताया है। "पश बन्धे" चुरादि धातु है। उससे पशुपद बनता है। आठ पाशोंसे बद्ध अथ च शरणागत प्राणियोंकी रक्षा करनेसे पशुपति कहलाया ॥३९-४१॥

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः ।
तेषां पतिर्महादेवः स्मृतः पशुपतिः श्रुतौ ॥ ४२ ॥

ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सभी पाशबद्ध होनेसे पशु हैं। उन सबके पतिको श्रुतिमें पशुपति बताया, ऐसा स्मृति वाक्य है ॥ ४२ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
आशयोत्पद्यते कामस्तद्रोधात् क्रोधसंभवः ॥ ४३ ॥

वैराग्यान्नाश आशायास्ततः कामादिनिर्हृतिः ।
हरो वैराग्यदः पुंसां निजं शरणमीयुषाम् ॥ ४४ ॥

"आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः" इत्यादि गीता वचन है। आशासे काम उत्पन्न होता है। काममे रुकावट आनेपर क्रोध होता है।

वैराग्यसे आशानाश होगा। तब कामादि नष्ट होंगे। शंकर वैराग्य प्रदाता तो हैं ही। जो शरणागत हैं उनके रक्षक भी हैं ॥ ४३-४४ ॥

चतुर्थ्यन्तः पशुपतिरोंनमः पूर्वको मनुः।
श्रुतिः प्राग् दर्शिता तत्र नामैतच्च श्रुतं यतः ॥ ४५ ॥

"ॐ पशुपतये नमः" यह मन्त्र है। "भवाय च" इत्यादि पूर्व दर्शित मन्त्रमें 'पशुपतये च नमः' भी आया है ॥ ४५ ॥

उग्रः

श्रुतौ चतुर्णामेकत्र नाम्नामेषां श्रुतत्वतः।
उक्तः पशुपतिः सार्धमुग्रः पश्चान्निगद्यते ॥ ४६ ॥

अर्थतः पूर्वमुग्रः स्यात्पश्चात् पशुपतिर्भवेत्।
अनुग्रहः पञ्चमं हि कृत्यं शम्भोर्निरूपितम् ॥ ४७ ॥

"भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमः" यहां एकसाथ चार नाम पढ़े। अतः श्लोकमें पशुपति पहले आ गया, उग्र बादमें। अर्थक्रमसे तिरोधानकर्ता उग्र पहले और बादमें अनुग्रहकर्ता पशुपति समझना चाहिये ॥ ४६-४७ ॥

उग्रस्तिरोधिं कुरुतेऽभजतां मरणोत्तरम्।
यातनां बहुधा प्राप्य यान्ति जन्मान्तरं हि ते ॥ ४८ ॥

नम उग्राय भीमायेत्येवं हि पठितं श्रुतौ।
अतएव नमः पूर्वमन्त्रोऽत्रोंकारपूर्वकः ॥ ४९ ॥

अदर्शनं तिरोधानं स नाश इति कथ्यते।
तस्माद्रक्षत्युपासीनान्मन्त्रेणानेन शंकरः ॥ ५० ॥

उग्र अभक्तोंका तिरोधान करता है। मरणोत्तर वे अनेक यातना प्राप्तकर जन्मान्तर पाते हैं। "नम उग्राय च भीमाय च" इत्यादि श्रुति है। अतएव नमः पूर्वक मन्त्र "ॐ नम उग्राय" ऐसा होगा। तिरोधानका अर्थ है अदर्शन। अदर्शनका अर्थ है—नाश। "णश अदर्शने।" इस मन्त्रसे जो उपासना करें उसे शंकर उस नाशसे बचाते हैं ॥ ४८-५० ॥

सहमहान्

महच्छब्देन सहितः शब्दः सहमहान् भवेत्।
महादेवो महेशानो महेशोऽथ महेश्वरः ॥ ५१ ॥

एष मुख्यो महादेवः कोशेष्वस्य विशेषणात् ।
विशेषाऽग्रहणात्सर्वनामान्यत्रेति केचन ॥ ५२ ॥

सह महान् का अर्थ है महानके सहित शब्द महादेव। यद्यपि महादेव, महेशान, महेश, महेश्वर ये सभी संभव हैं। तथापि मुख्य नाम महादेव है। "ईश्वरः शर्व ईशानः" इत्यादि कोशमें केवल महादेव ही महापूर्वक आता है। दूसरों का कहना है कि विशेषाग्रहण होनेसे महेश महेश्वर आदि सभी ग्राह्य हैं ॥ ५१-५२ ॥

लक्ष्मीनारायणो देवः सत्यनारायणस्तथा ।
सूयदेवो गणपतिदेव इत्युच्यते जनैः ॥ ५३ ॥

शिवदेवो न भवति महादेवो यतः स हि ।
श्रुतावपि श्रुतं नाम महादेवाय धीमहि ॥ ५४ ॥

ब्रह्मादीनां सुराणां च मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
तेषां च महतां देवो महादेवः प्रकीर्तितः ॥ ५५ ॥

महती पूजिता विश्वे मूलप्रकृतिरीश्वरी ।
तस्या देवः पूजितश्च महादेवः स च स्मृतः ॥ ५६ ॥

लक्ष्मीनारायणदेव कहते हैं। सत्यनारायण देव, सूर्यदेव, गणपतिदेव आदि भी कहते हैं। शिवदेव नहीं कहते। क्योंकि वह महादेव है। श्रुतिमें भी 'महादेवाय धीमहि' आया है। पुराणकथित व्युत्पत्ति देखिये--ब्रह्मादि, देव, मुनि, ब्रह्मचारी ये सब महान हैं। उनका देव (पूज्य महादेव है। मूलप्रकृति महादेवी संसारमें पूजित है। वह महादेवी है। उसके भी जो पूजित है वह सुतरां महादेव है ॥ ५३-५६ ॥

मनुश्चोंपूर्वकनमो महादेवाय जप्यताम् ।
यद्वा पुरुषगायत्र्या यजतां सर्वसिद्धिदम् ॥ ५७ ॥

"ॐ महादेवाय नमः" मन्त्र जपें। "पुरुषस्य विद्म सहस्राक्षस्य महादेवस्य धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्" इत्यादि दो गायत्री भी जप्य हैं ॥५७॥

भीमः

भीमनामाप्युमानाथो बिभेत्यस्माज्जगद्यतः ।
नम उग्राय भीमायेत्युक्तश्रुतिनिवेदितः ॥ ५८ ॥
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति भास्करः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ५९ ॥

नियमेन प्रवर्तन्ते स्वे स्वे कार्येऽनलादयः।
यस्यैव भयतः श्रेष्ठिभयाद् भृत्यादयो यथा ॥ ६० ॥

भीम यह भी शंकरका नाम है। जिससे सब डरे वह भीम है। "नम उग्राय च भीमाय च" ऐसी श्रुति है। उसीके भयसे अग्नि जलती है, सूर्य तपता है, इन्द्र वायु मृत्यु आदि स्वकार्यमें लगे रहते हैं ऐसा श्रुतिवचन है। जैसे सेठके भयसे ही भृत्यादि स्व स्व कार्यनिरत रहते हैं ॥ ५८-६० ॥

एतस्य वा अक्षरस्य विद्धि गार्गि प्रशासने।
विधृतौ तिष्ठतः स्वर्गे सूर्याचन्द्रमसावुभौ ॥ ६१ ॥

नमो भीमाय मन्त्रोऽयं जप्य ॐकारपूर्वकः।
ज्ञातयो बिभ्यति ह्यस्माद्वर्तन्ते नियमेन च ॥ ६२ ॥

इसी अक्षरके शासनमें विधृत होकर सूर्यचन्द्रादि कार्य करते हैं इत्यादि श्रुति है। "ॐ नमो भीमाय" यह मन्त्र है। ज्ञातिवाले उससे डरेंगे नियमसे काम करेंगे ॥ ६१-३२ ॥

ईशानः

ईशान इति नामेदमष्टमं स्यात् पिनाकिनः।
ईशानः सर्वविद्यानामनुसन्धीयतां मनुः ॥ ६३ ॥

नम आदिर्नमोऽन्तो वा ङेन्तेशानमनुर्भवेत्।
सर्वविद्यापरिप्राप्तिर्जपस्य फलमुच्यते ॥ ६४ ॥

ईशान यह आठवां नाम है "ईशानः सर्वविद्यानां" यह श्रूति है। "ॐ नम ईशानाय" मन्त्र है। सर्वविद्याप्राप्ति फल है ॥ ६३-६४ ॥

पञ्चानामाननानां स्युः पञ्चसृष्टयादिकारिणाम्।
नामानि हि भवादीनि महादेवो मुखो भवेत् ॥ ६५ ॥
इदं तात्पुरुषे मन्त्रे यद्यप्यस्ति तथापि तत्।
महादेवाभेदबोधहेतोस्तु पठितो मनौ ॥ ६६ ॥

सदाशिवः पञ्चवक्त्रो महादेव इतीर्यते।
ब्रह्मविष्ण्वादयो यस्माज्जाताः प्राग्दर्शिता इह ॥ ६७ ॥

सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोधान, अनुग्रहरूपी पांच कृत्योंके करनेवाले पांच मुखोंको लेकर भव, शर्व, रुद्र, उग्र, पशुपति ये पांच नाम हैं। मुख वाला महादेव है। यद्यपि तत्पुरुष मन्त्रमें महादेवको पढा है। तथापि वह अभेदबोधनार्थ है। केवल तत्पुरुष मुख ही महादेव नहीं है। जो सदाशिव

है पञ्चवक्त्र है वही महादेव है, जिससे ब्रह्मा, विष्णु आदिकी उत्पत्ति हम पहले बता आये हैं ।। ६५-६७ ।।

भीमः सर्वनियन्तायमन्तर्यामी शिवो भवेत् ।
ईशानशब्देन पुनः परमः शिव उच्यते ।। ६८ ।।
तच्च लक्षणमा शक्त्या त्वन्तर्याम्येव गद्यते ।
भीमशब्दगतार्थत्वाल्लक्षणाश्रीयते ततः ।। ६९ ।।

भीमका सर्वनियन्ता अन्तर्यामी अर्थ हम सूचित कर चुके हैं और वही शिव है। परिशेष्यात् ईशान शब्दका परमशिव अर्थ होगा। वह भी लक्षणासे समझना चाहिये। शक्तिवृत्तिसे ईशानका अन्तर्यामी ही अर्थ है। किन्तु भीम शब्दसे गतार्थ होनेसे लक्षणासे ईशानपद परमशिवबोधक होगा ।। ६८-६९ ।।

देव श्रुतिरपि

सम्बुद्धौ देवशब्दोऽयं हे देव स्वप्रभ प्रभो ।
समस्तमन्ये मन्यन्ते देवश्रुतिपदं बुधाः ।। ७० ।।
देवानां हि श्रुतिः श्रोत्रमतिमाधुर्यनामसु ।
प्रकर्षाद् विचरत्यत्रेत्येवं व्याचख्युरेव च ।। ७१ ।।

देव यह स्वप्रकाशार्थक सम्बोधनपद है। देवश्रुतिको कुछ लोग समस्त भी मानते हैं। देवताओंके कान (श्रुति) भी आपके नामोंमें सावधानतासे प्रवृत्त हैं। क्योंकि ये नाम अति मधुर हैं ।। ७०-७१ ।।

प्रियायास्मै

प्रियायास्मायिति प्रोक्तो भवादिपदबोधितः ।
संनिकृष्टः परामृश्यः सर्वनाम्नेदमा हरः ।। ७२ ।।

"प्रियायास्मै" यहां सर्वनाम इदं पदसे संनिकृष्ट भवशर्वादिशब्दबोध्य हरका परामर्श होता है ।। ७२ ।।

अभिधानाष्टकं यत्स्यादमुष्मिश्चरति श्रुतिः ।
इत्यन्वये यददसोः समानार्थत्वतस्त्विदम् ।। ७३ ।।
यस्याभिधानाष्टकमि-त्येवं षष्ठीसमासगम् ।
यत्पदार्थं महेशानमथवेदं परामृशेत् ।। ७४ ।।
विनापि यत्पदं पूर्वपरामर्शि भवेददः ।
अमुष्मिन्निति पूर्वोक्ते प्रत्येकं चरति श्रुतिः ।। ७५ ।।

"यत् अभिधानाष्टकं" ऐसे दो पृथक् पद हो तब अमुष्मिन् से यत्पदार्थ परामर्श होगा। "यस्याभिधानाष्टकं" ऐसा षष्ठी समास करेंगे तो यत् पदार्थका परामर्श अस्मै इस इद पदसे होगा। यत्पदके विना भी अमुष्मिन् यह "अदस् पूर्वपरामर्शी होकर पूर्वोक्त आठ नामोंमें श्रुति भी विद्यमान है यह अर्थ बोध करा सकेगा ।। ७३-७५ ।।

वस्तुतः स्तुत्यविधया ग्रन्थेनैतावता मुनिः।
प्रस्तुत्य भगवन्तं हि नमस्यत्यधुना शिवम् ।। ७६ ।।

महिम्नः पारमित्यादि स्तुत्यत्वेन समर्थितः।
तवैश्वर्यादिना चार्वाचीनरूपेण दर्शितः ।। ७७ ।।

मनः प्रत्यगिति स्पष्टं स्वप्रभत्वेन वर्णितः।
ततोऽव्यवहितस्तस्मायस्मायेतद्विवक्षितम् ।। ७८ ।।

वस्तुतः 'यस्य अभिधानाष्टकं' इस षष्ठीसमासपक्षमें भी यत्पार्थ क्या है यहनिर्णय होगा। अतः सीधा यही अर्थ है कि स्तुत्यके रूपमें यहांनक भगवान का वर्णन कर अब प्रस्तुत भगवानको प्रणाम करते हैं—प्रियायास्मै इत्यादि-से। अर्थात्–"महिम्नः पारं" इत्यादिसे जो स्तुत्यतया समर्थित हुआ, "तवैश्वर्यं यत्नात्" से जो अर्वाचीनरूपसे दरसाया और "मनः प्रत्यक्" इत्यादिमे त्रिपात् तुरीय धामरूपेण जो वर्णित हुआ अतएव अव्यवहितरूपेण जो उपस्थित है उस परमात्माका 'अस्मै' से परामर्श है ।। ७६-७८ ।।

अत्यन्ताऽव्यवधानं च शिवस्यात्मत्वतो भवेत्।
अतएव प्रियत्वं च सर्वस्यात्मा प्रियो यतः ।। ७९ ।।

पुत्राद्वित्तात्तथान्यस्मात् प्रेयोऽन्तरतरं परम्।
योऽयमात्मेति हि प्रोक्तं बृहदारण्यकश्रुतौ ।। ८० ।।

'अस्मै' से अव्यवधानरूपेण कहनेका अभिप्राय यह भी है कि शिव आत्मा ही है। और आत्माका अत्यन्त अव्यवधान है ही। आत्मा होने ही से प्रिय भी है। क्योंकि आत्मा सबको प्रिय है। पुत्रसे, वित्तसे अन्य सबसे प्रियतर परम अन्तरतर कौन? यही आत्मा, इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुतिमें भी बताया है ।। ७९-८० ।।

प्रेयः प्रियतरं तत्तु विभागे स्याद् द्वितीयतः।
कल्पितं तु तदादाय श्रुतौ प्रत्यय ईयसुन् ।। ८१ ।।
वस्तुतः प्रिय आत्मैव तदर्थं चापरे प्रियाः।
तस्मान्नैव प्रियोऽस्त्यन्यो विभज्येत यतस्त्वयम् ।। ८२ ।।

आत्मनः खलु कामाय सर्वं प्रियमिति श्रुतौ।
स्फुटीकृतमिदं तस्मात्प्रेयान् मुख्यप्रियो मतः ॥ ८३ ॥

अत्राप्येतदभिप्रेत्य मुनिरीयसुनं विना।
निजगाद प्रियायेति स च मुख्यप्रियार्थकः ॥ ८४ ॥

श्रुतिमें 'प्रेयः' आया है। उसका प्रियतर अर्थ होता है। द्वितीयसे जहां विभाग करना हो वहां 'ईयस्' 'तर' आदि प्रत्यय होते हैं। यहां कल्पित द्वितीयको लेकर ईयम्की उपपत्ति करनी होगी। वस्तुतः आत्मा ही प्रिय है। तदर्थ ही अन्य सब प्रिय हैं। अतः कल्पितको लेकर भी विभाग उचित नहीं है। इसी आशयसे "आत्मनस्तु कामाय मर्वं प्रियं भवति" ऐसी अन्य श्रुति है। अतः 'प्रेय' इस श्रुतिका मुख्य प्रिय अर्थ है। इसी अभिप्रायसे यहां भी 'प्रियाय' कहा, 'प्रेयसे' ऐसा नहीं। हाँ, उसका अर्थ मुख्य प्रिय ही है ॥ ८१-८४ ॥

धाम्ने

धाम्ने शरणायेति स्याद्धाम शरणं गृहम्।
तेजसे स्वप्रकाशायेत्यपि व्याख्या सुसंगता ॥ ८५ ॥

धामका शरण अर्थ है। कोशमें "स्याद्धाम शरणं गृहं" लिखा है। धामका तेज अर्थ भी है। तब स्वयंप्रकाश तात्पर्यार्थ है ॥ ८५ ॥

प्रणिहितनमस्योस्मि

प्रणिधानयुतां नाम चरणध्यानसंयुताम्।
नतिमाह प्रणिहितनमस्योऽस्मीत्यनेन हि ॥ ८६ ॥

"प्राणिहितनमस्योस्मि" में प्रणिधान-चरणध्यानसहित नमस्कार बताया गया है ॥ ८६ ॥

क्वचिदत्र प्रविहितनमस्योऽस्मोति पठ्यते।
कायेन वाचा मनसा विहितत्वात्प्रकर्षिता ॥ ८७ ॥

"प्रविहित नमस्यः" इस पाठमें प्रकर्षेण नमनविधानका अर्थ है— शरीर, वाणी एवं मनसे प्रणाम करना (मस्तक झुकाना, नमस्यामि कहना और मनसे भगवानकी शरण्यताचिन्तन करना) ॥ ८७ ॥

परिचर्याऽपरा का स्यात्तृप्तस्य व्यापकस्य ते।
निजं पुनामीति हेतोर्नमामीति तदाशयः ॥ ८८ ॥

भगवान् स्वयं तृप्त हैं पूर्ण हैं। उनकी अन्य परिचर्या क्या हो ? अपने आपको पवित्र करनेके लिये केवल प्रणाम करता हूं यह आशय है ।। ८८ ।।

जप्त्वा भवादि यन्नाम नराः सिध्यन्ति भक्तितः ।
प्रियायास्तु नमस्तस्मै आत्मने परमात्मने ।। ८९ ।।

जिस भगवानके भव शर्व आदि नाम भक्तिपूर्वक जपकर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करते हैं उस प्रिय अतएव आत्मारूपी परमात्माको हम प्रणाम करते हैं ।। ८९ ।।

इति श्रीकाशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
अष्टाविंशो गतः स्पन्दो महिम्नः स्तोत्रवार्तिके ।। २८ ।।



ॐ

एकोनत्रिंशः श्लोकः

अनादिसिद्धसत्तत्त्वमर्वाचीनपदं तथा ।
प्रस्तुत्याथ प्रणिहितनमस्योऽस्मीति भाषितम् ।। १ ।।
तेन पूर्वकृता निष्ठाप्रत्ययान्नतिरीरिता ।
साक्षादेवाधुना द्वाभ्यां नमस्यति महेश्वरम् ।। २ ।।

अनादि त्रिपाद ब्रह्म तथा अर्वाचीनपदको प्रस्तुत कर अपनी कृतनमस्कारता बतायी । प्रीणिहितमें भूतार्थ प्रत्ययसे पूर्वकृत नमन कहा गया । साक्षात् ही प्रणाम दो श्लोकोंसे अब करते हैं ।। १-२ ।।

प्रणिधानात्प्रकर्षाद्वा विशिष्टा दर्शिता नतिः ।
अत्रेत्येतद्दर्शयितुं प्राक् तथाकथनं मुनेः ।। ३ ।।

परंतु सर्वज्ञ भगवानको पूर्वकृत प्रणाम याद दिलाना किसलिये ? वह तो प्रणिहित या प्रविहित विशिष्ट नमस्कार ही अगले श्लोकोंमें है यह सूचनामात्रार्थ है ।। ३ ।।

अस्मायिति च पूर्वोक्तस्वरूपायेति संगतेः ।
प्रणम्यस्य पुरोक्तेन दर्शनाय हि तत्तथा ॥ ४ ॥

अस्मैका पूर्वोक्तस्वरूपाय अर्थ है। उससे आगे प्रणम्य शिवका पूर्वोक्तके साथ ऐक्य दिखाया पूर्वोक्तरूप शंकरको प्रणाम करते हैं ॥ ४ ॥

तत्र वाङ्मनसातीतं यत्तत्त्वं प्रस्तुतं पुरा ।
विरोधाभासभङ्‌गयाऽऽदौ स्पष्टयंस्तन्नमस्यति ॥ ५ ॥
त्रैगुण्यवत्त्व संदर्श्य तदपोह्य द्वितीयतः ।
अध्यारोपापवादभ्यां स्पष्टयंस्तन्नमस्यति ॥ ६ ॥

वाणी और मनसे अतीत तत्त्वको प्रथम प्रस्तुत किया, नेदिष्ठ-दविष्ठादि विरोधाभाससे उसीका स्पष्टीकरण कर प्रथम श्लोकमें प्रणाम किया। द्वितीयमें त्रिगुणता दिखाकर उसका अपोहन किया । अर्थात् अध्यारोप और अपवादसे उस वाङ्मनसातीत तत्त्वको स्पष्ट कर प्रणाम किया ॥ ५-६ ॥

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिसर्वाय च नमः ॥ २९ ॥

हे दावप्रिय ! समीपतम और दूरतम आपको प्रणाम करता हूँ। हे स्मरहर ! अणुतम और महत्तम आपको प्रणाम करता हूं। हे त्रिनयन ! अतिवृद्ध और अतिशिशु आपको प्रणाम करता हूं। सर्वस्वरूप तथा वह-यह इत्यादि सर्वके आश्रय आपको प्रणाम करता हू ॥ २९ ॥

नमो नेष्ठिदाय०

नेदिष्ठाय दविष्ठाय महेशाय नमो नमः ।
दावदग्धसदेकान्तप्रियाय सततं नमः ॥ ७ ॥
रुद्रो वा अग्निरित्युक्ते रुद्रः प्रोक्तोऽग्निविग्रहः ।
महाग्निश्च भवेद्दावो महेशोऽतो दवप्रियः ॥ ८ ॥
दवदावौ वनारण्यवह्नी इति च कोशतः ।
दवो वनं तत्प्रियश्च तपस्वित्वान्महेश्वरः ॥ ९ ॥

अति समीप तथा दूरस्थ महेश्वरको प्रणाम । दावानलसे दग्ध एकान्तस्थानप्रिय शंकरको प्रणाम। "अग्नि रुद्र है" ऐसी श्रुति है। अर्थात्

रुद्र अग्निशरीर है अतः अग्निशरीरप्रिय ऐसा भी अर्थ है। कोशमें सामान्य जंगलको भी दव बताया है। अतः वनप्रिय ऐसा भी अर्थ है। शंकरजी तपस्वी होनेसे वनप्रियता उचित ही है ॥ ७-९ ॥

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ततः ।
एकमेवान्ततः शुद्धमवशेषयतीश्वरम् ॥ १० ॥
अत एव शिवो ज्ञानप्रतीकोग्रदवप्रियः ।
एकीकृत्योभयं रूपं सम्बोधनविशेषणे ॥ ११ ॥

गीतामें ज्ञानको अग्निरूपकसे वर्णन किया है। सर्वकर्म भस्मीकरणका द्वैतभस्मीकरणमें पर्यवसान होनेसे अद्वितीय अवशेषण अर्थ निकलता है। शंकर ज्ञानप्रतीकाग्निप्रिय हैं। प्रियदव यह संबोधन अर्वाचीन रूपका है। नेदिष्ठाय इत्यादि व्यापकरूपका है। संबोधन और विशेषण उन दोनोंकी एकताको लेकर है ॥ १०-११ ॥

नेदिष्ठः स्वात्मरूपत्वान्न च नेदिष्ठतान्यथा ।
अल्पमप्यन्तरं चेत् स्यान्नेदिष्ठो मध्यतो भवेत् ॥ १२ ॥
संयुक्तेऽपि शिवे दोषतादवस्थ्यं भवेद् ध्रुवम् ।
संयोगः खलु नेदीयान् स्याच्छिवापेक्षया यतः ॥ १३ ॥
श्रुतिश्चावोचदुदरमन्तरं कुरुतेऽस्य यः ।
भयं तस्य भवेत्तस्मादात्मैव भगवान् शिवः ॥ १४ ॥

आत्मस्वरूप होनेसे शंकरभगवान समीपतम हैं। बीचमें थोड़ा भी अन्तर होगा तो वह अन्तरभाग ही जीवका समीपतम होगा, शिव नहीं। कहें कि जीव और शिव संयुक्त हैं अतः समीपतम हैं ! नहीं। जीव और शिवके बीचमें जो संयोग है वह जीवसे समीपतम होगा, शिव कुछ दूर ही होगा। श्रुति भी कहती है जो थोड़ा भी भेद करे, अन्तर करे तो उसे भयरूप संसार अवश्य होगा ॥ १२-१४ ॥

दूरे दूरे पदार्था ये ततश्चाप्यतिदूरतः ।
शिवस्तस्मात्तदन्तःस्थं सकलं जगदुच्यते ॥ १५ ॥
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।
इति श्रुतौ च विस्पष्टं दविष्ठत्वमुदीरितम् ॥ १६ ॥

दूर दूर भी जितने पदार्थ हैं उनसे भी दूर शिव है इसीलिये शिवके अन्दर ही जगत आता है। श्रुतिमें लिखा है कि सारे विश्वको घेरकर फिर दस अंगुल आगे तक ब्रह्म स्थित है। इसमें विश्वपदार्थसे भी दूर परमेश्वरको बताया ॥ १५-१६ ॥

ननु मध्ये स किं नास्ति तद्दूरे तदु चान्तिके ।
निरन्तरं चेति ततो भाष्यकारा बभाषिरे ॥ १७ ॥

अतिसमीप और अतिदूर है तो क्या मध्यमें नहीं है ? क्यों नहीं । अतएव भाष्यकारोंने निरन्तर भी बताया ॥ १७ ॥

नन्वेवं व्यापकत्वे हि वक्तव्ये किमिदं महत् ।
विरोधाभासवचनं प्रत्युपस्थाप्यते मुधा ॥ १८ ॥
अत्राहुर्भगवत्पादा रहस्यं सर्ववेदिनः ।
ईशावास्योपनिषदि भाष्ये तुल्यार्थताजुषि ॥ १९ ॥
ये शुद्धमनसः सन्तः स्वात्मबुद्ध्या महेश्वरम् ।
उपासते महीयांसस्तेषामीशः समीपतः ॥ २० ॥
न प्राप्योऽशुद्धमनसां सुदृढं भेददर्शिनाम् ।
जन्मकोटिसहस्रेणाप्यतो दूरतरश्च सः ॥ २१ ॥

समीप, दूर और निरन्तर भी है तो सीधे व्यापक कहना था, यह बड़ा विरोधाभासका घटाटोप व्यर्थमें क्यों किया ? यहां सर्वज्ञ भाष्यकारने रहस्य इस प्रकार खोला है कि शुद्धचित्त होकर आत्मैक्यभावनासे उपासना करनेवालोंके लिये समीप है । जो भेददर्शी अशुद्धचित्त हैं उनको करोड़ों जन्मोंमें भी प्राप्य नहीं अतः दूरतर है । (ऐसा भावार्थ 'व्यापक' इतना कहनेसे प्राप्त नहीं होता ॥ १८-२१ ॥

कश्चिज्जज्ञौ नभो नीलस्फुरज्जवनिकायितम् ।
पर्वतोपरिसंलग्नं स्वर्गलोकसमाश्रितम् ॥ २२ ॥
स गिर्युपरि यातस्तु व्योम गिर्यन्तरोपरि ।
लग्नं दृष्टं तत्र गतस्ततो गिर्यन्तरोपरि ॥ २३ ॥
नैकेन न शतेनापि जन्मभिः कोटिकोटिभिः ।
विमानगोऽपि गगनं प्राप्तुं स्प्रष्टुं स शक्नुयात् ॥ २४ ॥
यात्रां कुर्वन् समुद्रे खमब्धिलग्नमुदैक्षते ।
तेन किं गगनं लभ्यमुत्तरोत्तरमृच्छता ॥ २५ ॥
चन्द्रलोकं गता लोका व्यलोकन्तातिमञ्जुलाम् ।
लम्बमानां क्षितिं व्योम्नि नीलवर्णे महेन्दुवत् ॥ २६ ॥
नीलवर्णे हि पृथिवी लम्बते व्योम्नि, तद्विदः ।
प्राप्तमेव नभो नीलं नेदिष्ठं तस्य तद्वचतः ॥ २७ ॥

किसी व्यक्तिने समझा कि आकाश नीला पड़दा जैसा है । पहाड़के ऊपर लगा हुआ है । स्वर्गका वह आश्रय है । उसने सोचा पहाड़पर चढ़ो तो

गगन पकड़में आयेगा और स्वर्गमें चढ़ जायेंगे। वह पहाड़पर चढ़ा तो देखता है कि दूसरे पर्वतसे आकाश लगा है। वह एक पहाड़से दूसरे पहाड़पर ऐसा पूरा जन्म क्या, सौ जन्म, करोड़ जन्म तक भी भटकता रहेगा तो भी आकाश हाथ लगनेवाला नहीं है। भले विमानसे पकडनेकी ही कोशिश कर लें। जैसे समुद्रमें यात्रा करते समय लगेगा कि कुछ ही दूरमें आकाश समुद्रसे मिल गया है। पर आगे बढ़ते जाओ, आकाश न छूनेको मिलेगा न उसके अन्दर घुसा ही जायेगा। जो चन्द्रलोक गये वे वहांसे देख रहे थे कि नील आकाशमें पूरी पृथिवी महाचन्द्रमाके रूपमें लटकी है। अर्थात् पूरी पृथिवी नील गगनमें ही हैं। यह जिसने जान लिया उसको यहां बैठे बैठे ही नील गगन प्राप्त है उसके लिये नील गगन समीपतम है॥ २२-२७॥

भगवन्तममन्यन्त केवलं देवमन्दिरे।
ये ते तत्र गता जज्ञुः केदारादौ शिलोच्चये॥ २८॥

केदारादौ गतास्ते च शिवतत्त्वमनुत्तमम्।
कैलासादावबुध्यन्त गन्तव्ये मरणोत्तरम्॥ २९॥

मृत्वा तत्र गताश्चापि लेभिरे न परेश्वरम्।
सर्वेषामेव लोकानां पुनरावृत्तिमत्त्वतः॥ ३०॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
इत्यत्र ब्रह्मभुवनं सर्वलोकोपलक्षणम्॥ ३१॥

परे तु ब्रह्मलोकं हि स्वस्वभक्त्यनुसारतः।
वैकुण्ठादिस्वरूपेण पश्यन्तीति प्रचक्षते॥ ३२॥

जो भगवानको केवल देवमन्दिरमें ही मानते हैं, मन्दिरमें जानेपर उनको पता लगा कि केदार, बदरी आदिमें भगवान हैं। (क्योंकि मन्दिरमें सर्वाभीष्ट सिद्धि नहीं हुई) केदार बदरी पहुंचे तो पता लगा कि मरनेके बाद भगवान कैलासादिमें उपलब्ध होगे। (क्योंकि केदारादि जानेपर भी सर्वाभीष्ट सिद्धि नहीं हुई। और भगवान है सर्वाभीष्टप्रद) मरनेके बाद कैलासादि पहुँचे तो वहां भी भगवान नहीं मिले। क्योंकि यहांसे पुनरावृत्ति होती है "ब्रह्मलोकपर्यन्त पुनरावृत्तिवाले हैं" ऐसा गीतामें कहा है। ब्रह्मलोक यह सर्वलोकोपलक्षण है। ब्रह्मलोकको ही शैववैष्णवादि कैलासवैकुण्ठादि-रूपसे देखते हैं ऐसा भी मत है॥ २८-३२॥

ये तु जज्ञुः स भगवानात्मा सर्वहृदि स्थितः॥
नेदिष्ठः प्राप्त एवासौ तेषां प्राग् दूरवर्त्यपि॥ ३३॥

अणुमात्रान्तरमपि ये कुर्वन्ति दुराग्रहात् ।
तदन्तरं जन्मकोटेरनन्तरमपि स्थिरम् ।। ३४ ।।

भयं च तस्य नितरामुदरान्तरकारिणः ।
एतत्प्रादर्शयदिह विरोधाभासतो मुनिः ।। ३५ ।।

जिन्होंने समझा कि वह भगवान सबके हृदयमें स्थित है उनके लिये पहले (अज्ञानकालमें) दूरस्थित भी भगवान समीपतम हो जाता है । जो दुराग्रहसे अणुमात्र भी अन्तर करता है वह अन्तर करोड़ों जन्मों तक भी स्थिर रहेगा, उसको भय भी बना रहेगा, इस बातको यहां विरोधाभाससे दिखाया ।। ३३-३५ ।।

नमः क्षोदिष्ठाय०

क्षोदिष्ठाय महिष्ठाय महेशाय नमो नमः ।
स्मरं भवोद्भवकरं हरते च नमो नमः ।। ३६ ।।

यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ।
कर्मणा बध्यते जन्तुस्तद्धराय नमो नमः ।। ३७ ।।

क्रोधादिक्रमतः कामाद् बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।
प्रणाशाद्रक्षते कामहरायास्तु नमो नमः ।। ३८ ।।

अणुतम तथा महत्तम महेश्वरको प्रणाम । संसारोत्पत्तिकारण स्मरका नाश करनेवाले महेश्वरको प्रणाम । कामसे ही सभी चेष्टा है । चेष्टारूप कर्मसे जन्तु बन्धनमें पड़ता है । उस बन्धनहारी शिवको प्रणाम । कामसे "कामात्क्रोधोऽभिजायते" इस क्रमसे अन्ततः बुद्धिनाशसे प्रणाश होता है । उस विनाशसे बचानेवाले कामहर शंकरको प्रणाम है ।। ३६-३८ ।।

अणोरणीयान् महतो महीयानिति च श्रुतिः ।
अणीयस्त्वमहीयस्त्वे प्रब्रवीति महेशितुः ।। ३९ ।।

अणीयान् योऽपि भुवने महीयानपि यो भवेत् ।
सर्वोऽपि परमेशोऽसौ मध्यमोऽपि स एव च ।। ४० ।।

नेदिष्ठित्वादितः पूर्वं सर्वव्यापकतोदिता ।
अणिष्ठात्वादिनेदानीं सर्वात्मत्वमुदीर्यते ।। ४१ ।।

"अणोरणीयान्" इत्यादि श्रुतिमें परमात्माको अणुतर और महत्तर बताया है । उसका मतलब यही है कि संसारमें अणुमें अणतर जो है वह भी परमात्मा है, महानमें महत्तर जो है वह भी परमात्मा है । और

मध्यमपरिणाम भी परमेश्वर ही है। नेदिष्ठ दविष्ठ कहकर सर्वव्यापकता बतायी। क्षोदिष्ठ महिष्ठ कहकर सर्वात्मता सिद्ध की (यहां यह अर्थ नहीं है कि परमात्मा कभी अणु बन जाता है और कभी महान बन जाता है। किन्तु अणु महान जो भी संसारमें है सब परमात्मा ही है यही अर्थ है।) ॥ ३९-४१ ॥

विरोधाभासवचनं बुबोधयिषया द्विधा।
द्विधा हि बोध्यतेऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां महेश्वरः ॥ ४२ ॥

अणुत्वं नाम सूक्ष्मत्वं सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो हरः।
महत्त्वं महिमाप्तत्वादनन्तमहिमा शिवः ॥ ४३ ॥

सर्वात्मा ही कहना था तो विरोधाभास वचन क्यों ? इसका उत्तर है कि यहां दो प्रकारसे शिवज्ञान प्राप्त करना है। अणुत्वसे और महत्त्वसे अणुत्वका सूक्ष्मत्व भी अर्थ है। सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर है। महत्त्वका महिमाप्राप्तत्व अर्थ है। भगवान अनन्तमहिमासे युक्त है ॥ ४२-४३ ॥

सर्वैरेवेन्द्रियैर्ग्राह्यं स्थूलमन्नमयं भवेत्।
तत्पूर्णं पुरुषं ज्ञात्वा पश्येत्सूक्ष्मतया शिवम् ॥ ४४ ॥

सूक्ष्मः प्राणमयो देहः स्पर्शग्राह्यो हि केवलः।
अन्यश्चान्तर आत्मासौ योयं प्राणमयात्मकः ॥ ४५ ॥

ततोऽपि सूक्ष्म आत्मैव मनोमय उदीरितः।
न चासाविन्द्रियग्राह्यो बुद्धिग्राह्यो भवेदयम् ॥ ४६ ॥

ततः सूक्ष्मतरश्चात्मा विज्ञानमय उच्यते।
यज्ञं स तनुते कर्ता कर्माणि कुरुतेऽपि च ॥ ४७ ॥

बुद्धिरूपत्वतो नैव बुद्धिग्राह्यो भवेदयम्।
अहंकारेण तु ग्राह्यः कर्ताहमिति मन्यते ॥ ४८ ॥

ततः सूक्ष्मतरस्तावदानन्दमय उच्यते।
अविद्यावृत्तितो ग्राह्य आनन्दप्रतिबिम्बयुक् ॥ ४९ ॥

ततः सूक्ष्मतमः शुद्ध आत्मा वाचामगोचरः।
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठति विरोधाभासदर्शितः ॥ ५० ॥

सूक्ष्मतमका क्रम इस प्रकार हैं कि समस्त इन्द्रियोंसे ग्राह्य स्थूल अन्नमयकोश है। उसे प्रथम आत्मा समझकर फिर सूक्ष्मक्रमसे जाना है। अन्नमयसे सूक्ष्म प्राणमय है। केवल स्पर्शेन्द्रिय ग्राह्य है। वह अन्नमयका अन्तरात्मा है। उससे सूक्ष्म मनोमय अन्तरात्मा है। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं

बुद्धिग्राह्य है। उससे सूक्ष्म विज्ञानमय है। वह स्वयं बुद्धिरूप होनेसे बुद्धिग्राह्य भी नहीं है। वह कर्ता है। अहंकार ग्राह्य है। "कर्ताहमिति मन्यते" ऐसा बताया है। वही यज्ञकर्ता कर्मकर्ता है। उससे सूक्ष्मतर आनन्दमय है। वह अविद्यावृत्तिग्राह्य है। आनन्दप्रतिबिम्बसमन्वित है। सबसे सूक्ष्मतम शुद्ध आत्मा है। वह वाणीका अविषय है। "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इसप्रकार श्रुतिमें बताया हुआ है। यहां विरोधाभासे उसीको दरसाया ॥ ४४-५० ॥

स्थूलं स्थूलमपोह्यैव क्रमादन्नमयादिकम् ।
स्वप्रकाशतया शुद्धं भासते तेन वर्त्मना ॥ ५१ ॥

स्थूल स्थूल अन्नमयादिको क्रमशः त्यागनेसे उस मार्गसे स्वप्रकाश शुद्धब्रह्मका प्रकाश होता है ॥ ५१ ॥

सूक्ष्मत्वे किं परिच्छिन्नः स आत्मा हृदयादिना ।
नेत्याह स महिष्ठोऽपि महीयान् महतोऽपि यत् ॥ ५२ ॥

एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
तथा चानन्त एवासावम्बरान्तधृतेः शिवः ॥ ५३ ॥

अन्नमय प्राणमयादिके भी आन्तर सूक्ष्म वह हृदयादि परिच्छिन्न है क्या ? यह शंका हुई उसका उत्तर है—नही, वह महिष्ठ भी है। महानसे भी महान है। 'पूरा विश्व परमात्माकी महिमामात्र है। परमात्मा तो इस विश्वसे भी महान है'। इस श्रुतिके अनुसार भी वह परिच्छिन्न नहीं, अनन्त है। आकाशपर्यन्त सबको वह धारण करता है, फिर कहना ही क्या है ? ॥ ५२-५३ ॥

क्षोदिष्ठत्वमहिष्ठत्वे अस्थूलमनणुश्रुतेः ।
परित्यज्य परं तत्त्वमनन्तमिह बुध्यताम् ॥ ५४ ॥

सूक्ष्मोपाधिमुपादाय सूक्ष्महानात्स बुध्यताम् ।
अणोरणीयानित्येवं श्रुतेस्तात्पर्यमत्र हि ॥ ५५ ॥

स्थूलोपाधिमुपादाय स्थूलोर्ध्वत्वेन बुध्यताम् ।
महतश्च महीयानित्येतच्छ्रुत्याशयो ह्ययम् ॥ ५६ ॥

कल्पिताः सकलास्तत्रोपाधयः परमेश्वरे ।
सर्वोपाधिपरित्यागे निर्मलो ज्ञायते शिवः ॥ ५७ ॥

क्षोदिष्ठ महिष्ठ विरुद्धकथनका तात्पर्य है कि विरुद्धार्थ क्षोदिष्ठत्व और महिष्ठत्वको छोड़कर अनन्ततत्त्वको समझो। छोड़ना ही है तो कहा क्यों ? इसलिये कि सूक्ष्मोपाधि लेकर आगे बढो फिर सूक्ष्मोपाधि छोड़कर

शुद्ध समझो। यही 'अणोरणीयान्' इस श्रुतिका भी आशय है। तथा स्थूलोपाधिको लेकर आगे बढ़ो। अन्तमें स्थूलोपाधिको छोड़कर शुद्ध समझो। यही 'महतो महीयान्' इस श्रुतिका भी तात्पर्य है। सभी उपाधि परमेश्वरमें कल्पित है। उन सर्व उपाधियोंको त्यागनेपर निर्मल शिवका बोध होता है ॥ ५४-५७ ॥

ये पुनर्न शिवः किन्तु विष्णुर्हि भगवान् भवेत्।
न विष्णुः किन्तु स शिव इत्येवं भेददर्शिनः ॥ ५८ ॥

ते सर्वे तत्त्वदूरस्था मध्यमे दुःखभूयसि।
क्लिश्यन्तोऽस्मिन् भवे नैव लभन्ते निर्वृतिं क्वचित् ॥ ५९ ॥

जो लोग शिव नहीं, विष्णु भगवान है; विष्णु नहीं शिव भगवान है ऐसे भेददर्शी हैं वे तत्त्वसे कोसों दूर हैं, दुःखमय मध्यम संसारमें क्लेशभागी होकर कहीं भी कभी भी शान्ति नहीं पाते ॥ ५८-५९ ॥

नमो वर्षिष्ठाय०

वर्षिष्ठाय यविष्ठात महेशाय नमो नमः।
त्रिवेदीचक्षुषे तस्मै त्रिनेत्राय नमो नमः ॥ ६० ॥
सत्त्वादीनां स्वरादीनां विनियन्त्रे नमो नमः।
कर्मभक्तिप्रबोधांस्त्रीन् प्रापयित्रे नमो नमः ॥ ६१ ॥

वृद्धतम तथा नवीनतम महेशको प्रणाम। त्रिनयन-तीन वेदरूपी नेत्रोंसे युक्त शंकरको प्रणाम। सत्त्व, रज, तम और स्वर्ग, भूमि, पातालके नियन्ताको प्रणाम। कर्म भक्तिज्ञान तीनको प्राप्त करानेवाले भगवानको प्रणाम ॥ ६०-६१ ॥

वृद्धादवृद्धतरश्चैवावरजाच्चावरावरः।
पुरातनतमो नूत्नतमश्चैव महेश्वरः ॥ ६२ ॥
हृदयग्रन्थिभिन्मन्त्रे श्रुतो यस्तु परावरः।
भवेद् वृद्धतमः सोऽयं सद्योजातोऽवरस्तथा ॥ ६३ ॥

वृद्धसे वृद्धतर, अवरजसे अवरतर अर्थात् महेश्वर पुरातनतम और नवीनतम है। "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इस मन्त्रमें जो परावर बताया— "परोऽपि ब्रह्मादिरवरो यस्मात्" वृद्ध ब्रह्मादि भी जिससे छोटे वही यहां वृद्धतम है और "सद्योजातं प्रपद्यामि" मन्त्रोक्त अवरतम है ॥ ६२-६३ ॥

पितामहः पितुर्वृद्धस्ततश्च प्रपितामहः।
गोत्रप्रवर्तकर्ष्यन्तमेवं संचिन्त्य वृद्धताम् ॥ ६४ ॥

ततो ज्ञायेत वर्षीयान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
तस्यापि जनकत्वेन वर्षिष्ठः परमेश्वरः ।। ६५ ।।

पितामे पितामह वृद्ध, उससे प्रपितामह, इस प्रकार गोत्रप्रवर्तक ऋषिपर्यन्त पहुंचनेके बाद उनसे वृद्धतर ब्रह्मा और ब्रह्माके भी जनक होनेसे परमेश्वर वृद्धतम है ।। ६४-६५ ।।

वर्षिष्ठोऽप्यधुना जातः सद्योजात इतीरितः ।
सर्वेभ्योऽपि कनिष्ठः स्यात्तत्कथं तूपपद्यते ।। ६६ ।।

उच्यते कल्पितः कालस्तस्मिन्नेव महेश्वरे ।
वर्षिष्ठश्च यविष्ठश्च तेनासावुपपद्यते ।। ६७ ।।

वृद्धतम होनेपर भी अभी अभी पैदा हुआ इसलिये सद्योजात बताया गया । वह सबसे कनिष्ठ है। परन्तु यह संभव कैसे ? क्या जो अभी पैदा है वह वृद्धतम होगा ? उत्तर है कि इसीसे पता लगता है कि काल उस परमात्मामें कल्पित है ।। ६६-६७ ।।

सद्योजातोऽपि वर्षिष्ठः स्वप्ने मर्त्यादिरीक्षतः ।
रथादीन् तत्र सृजतीत्येवमाह श्रुतेर्वचः ।। ६८ ।।

स्वप्नमें एक अतिवृद्ध दीखा । वस्तुतः उसी समय कल्पनासे उत्पन्न होनेसे सद्योजात है। फिर भी वर्षिष्ठ हुआ । श्रुतिमें "रथान् रथयोगान् पथः सृजते" ऐसी तत्कालसृष्टि बतायी है। वस्तुतः स्वप्नमें तत्काल पुराकाल दोनों ही कल्पित हैं ।। ६८ ।।

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।। ६९ ।।

यद्वीर्येण भवेद् बालस्तद्वीर्यं स्वकलेवरे ।
स्थित्वा स्वदेहं बालं न करोत्याश्चर्यमेव तत् ।। ७० ।।

लीला देवस्य कापीयं कालस्यातिविलक्षणा ।
जरयत्येव नूत्नं स जीर्णं नूतनयेन्न सः ।। ७१ ।।

परं न परमेशानं जरयेत् काल एव हि ।
यदि कुर्यान्नूतनयेन्नित्यनूत्नो हि शंकरः ।। ७२ ।।
पुरापि नव एवासौ पुराण इति पठ्यते ।
पुराभवोऽप्यसौ नूत्न इत्येषास्य पुराणता ।। ७३ ।।
नैव कालेन स क्रोडीक्रियते नूतनत्वतः
तमेतमर्थमत्राह विरोधाभासवाक्यतः ।। ७४ ।।

काल सभी भूतोंको जर्जरित करता है, सबका संहार करता है। सब सो जायं भले. किन्तु काल अपने जर्जरण और संहरणमें लगा रहता है। वह दुरतिक्रम है। पुरुषशरीरस्थ वीर्यसे बालक पैदा होता है। किन्तु जिस शरीर में वह वीर्य था, या है उसको बालक नहीं बनाता। यही तो कालकी लीला है। नूतनको जीर्ण करता है। जीर्णको नूतन नहीं करता। हाँ एक परमेश्वरको वह जीर्ण नहीं करता. यदि करता है तो नूतन करता है। परमेश्वर पुराण है। अर्थात् पुराभव भी नवीन है। (पुरा-पुराभवोऽपि नवीनः) परमेश्वर कालके लपेटमें नहीं आता। यही वर्षिष्ठ यविष्ठ इस विरोधाभासोक्तिका तात्पर्य है।। ६९-७४।।

अत्र देशाऽपरिच्छिन्नः प्रथमे पाद ईरितः।
तथा वस्त्वपरिच्छिन्नो द्वितीये विनिवेदितः॥ ७५॥

एवं कालापरिच्छिन्नस्तृतीये दर्शितः शिवः।
परिच्छेदत्रयाभावः सिद्धस्तेन महेशितुः॥ ७६॥

प्रथम पादमें देशपरिच्छेदाभाव, द्वितीयमें वस्तुपरिच्छेदाभाव और तृतीयपादमें कालपरिच्छेदाभाव बताया। अतएव त्रिविधपरिच्छेद शून्य परमेश्वर है यह बात सिद्ध हुई॥ ७५-७६॥

नमः सर्वस्मै०

सर्वस्मै किं च तदिदमितिसर्वाय ते नमः।
सर्वस्मै सर्वनामेदं सर्वाभिन्नत्वमाह हि॥ ७७॥

बहुव्रीहौ सर्वनामाभावात् सर्वाय भण्यते।
तत्र चान्यपदार्थत्वात् सर्वभिन्नत्वमुच्यते॥ ७८॥

सर्वाऽभिन्नः कथं सर्वभिन्नो भवितुमर्हति।
विरोधाभासताऽत्रापि मुनिना दर्शिता ततः॥ ७९॥

"सर्वस्मै" "इतिसर्वाय" इसमें, प्रथम सर्वनाम संज्ञायुक्त है। उसका सर्वाभिन्न परमेश्वरको प्रणाम करना अर्थ है। द्वितीयमें बहुव्रीहि है। बहुव्रीहिमें सर्वनामसंज्ञा का निषेध है। बहुव्रीहि अन्यपदार्थप्रधान है। अतः सर्वभिन्न ऐसा अर्थ होगा। सर्वाऽभिन्न सर्वभिन्न कैसे होगा? यहां भी विरोधाभास दिखाया है॥ ७७-७९॥

पश्य नीलं नभ इति न नीलं नभ इत्यपि।
यथा तथेशः सर्वश्च न सर्वश्चेत्युदीर्यते॥ ८०॥

सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नेति नेतीति च श्रुती ।
आचक्षाते यथोक्ताभ्यां रूपाभ्यां परमं शिवम् ॥ ८१ ॥

'नील आकाश देखो', 'आकाश नील नहीं है' ऐसी दोनों बात जिस प्रकार होती है वैसे शिव सर्व है, सर्व नहीं है, दोनों बात कही जाती हैं। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च नेति नेति" ऐसी दो श्रुति भी यही बात कहती हैं ॥ ८०-८१ ॥

सर्पतादात्म्यवद्रज्जौ सर्पाभावान्मृषोरगः ।
सर्वतादात्म्यवच्छम्भौ सर्वाभावान्मृषाखिलम् ॥ ८२ ॥

सर्पतादात्म्यवाली रस्सीमें सर्पाभाव होनेसे वहां सर्प मिथ्या है। वैसे सर्वतादात्म्यापन्न शंकरमें सर्वाभाव होनेसे सर्व जगत मिथ्या है ॥ ८२ ॥

रज्जुरेव यथा सर्पः शर्व एव तथाखिलः ।
शर्वरूपाय सर्वस्मै नित्यमेव नमो नमः ॥ ८३ ॥
न रज्जौ विद्यते सर्पः सा ह्यसर्पा यथा तथा ।
अप्रपञ्चः शिवस्तस्मै शिवाय च नमो नमः ॥ ८४ ॥

सर्वाधिष्ठानरूपाय निर्मलाय पिनाकिने ।
अद्वितीयाय शान्ताय महेशाय नमो नमः ॥ ८५ ॥

सर्ववेदैकवेद्याय निरस्तगुणवृत्तये ।
तुरीयाय महेशाय शिवायास्तु नमो नमः ॥ ८६ ॥

जैसे रज्जु ही सर्प है वैसे शंकर ही जगत है। शंकर सर्वको नित्य ही प्रणाम है। रज्जुमें सर्प नहीं है। रज्जु असर्प है वैसे शिव भी अप्रपञ्च है। उस शिवको प्रणाम। सर्वाधिष्ठान भगवान शंकर है। अतएव निर्मल है। अद्वितीय एवं शान्त है। उस महेश्वरको प्रणाम। सर्ववेदैकवेद्य सत्त्वादि-गुणवृत्तिरहित तुरीय शिवको प्रणाम ॥ ८३-८६ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
ऊनत्रिंशो गतः स्पन्दो महिम्नःस्तोत्रवार्तिके ॥ २९ ॥

ॐ

त्रिंशः श्लोकः

समस्तस्तोत्रतात्पर्यविषयार्थमथाधुना ।
संक्षेपादुपसंहृत्य स्तवीति भगवान् मुनिः ॥ १ ॥

अब इस तीसवें श्लोकमें संपूर्ण स्त्रोत्रके तात्पर्यार्थका संक्षेपसे उपसंहार करते हुए भगवान कात्यायनमुनि शंकरकी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

अर्वाचीनपदस्यात्र रहस्यमभिधीयते ।
तथा वाङ्मनसातीतस्वरूपमुपदर्श्यते ॥ २ ॥

इस श्लोकमें शंकर भगवानके अर्वाचीन स्वरूपका रहस्य संक्षेपमें कहा जायेगा । तथा वाणी और मनके अविषय जो परमस्वरूप है उसको भी दिखाया जायेगा ॥ २ ॥

उच्यते परमं नामोपास्तेर्नामचतुष्टयम् ।
समर्पणनतिश्चेति शास्त्रार्थः खल्वियानिह ॥ ३ ॥

नामोपासनाके लिये उपयोगी मुख्य चार नामोंको भी यहां पर बताया जायेगा । और समर्पणार्थक नमस्कार भी बताया जायेगा । इस स्तोत्रके अंदर मुख्यरूपेण ये ही शास्त्रीय अर्थ हैं ॥ ३ ॥

जपेत् शिव शिवेत्याहो भजेद् हर हरेति वा ।
स्मरेद्भव भवेत्याहो रटेन्मृड मृडेति वा ॥ ४ ॥
एतावता कृतं सर्वं देवश्च समुपासितः ।
ज्ञातं च परमं तत्त्वं किमन्यदवशिष्यते ॥ ५ ॥

"शिव शिवेति शिवेति वा" इत्यादि भक्तोद्गारमें बताया शिव शिव जपो, हर हर भजो, भव भव स्मरण करो, मृड मृड रटो, इतनेमें सब कर्म आ गया, देवोपासना हो गयी, परमतत्त्वका ज्ञान भी हुआ (भविष्यद्वृत्त्या) अब बाकी क्या रह जाता है ? ॥ ४-५ ॥

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥३०॥

विश्वको उत्पन्न करने के लिये विशेषरूपेण रजोगुण धारण करनेवाले भव शंकरको बार बार प्रणाम। विश्वसंहार करने के लिये प्रबल तमको धारण करनेवाले हरको बार बार प्रणाम। जब विशेष सत्त्वगुण ही रहता है तब जनताको सुख पहुंचाने वाले जगत्स्थितिकारी मृडको बार बार प्रणाम। त्रिगुणातीत परमज्योतिरूप स्वरूपसे स्थित होनेपर मङ्गलरूपधारी शिवको बार बार प्रणाम है ॥ ३० ॥

भवत्यस्माज्जगदिति भव इत्युच्यते शिवः ।
हरति प्रलये सर्वं हर इत्युच्यते तथा ॥ ६ ॥
मृडयेत् सुखयेदेष मृडस्तेन निगद्यते ।
पूर्णमङ्गलरूपत्वात् शिव इत्युच्यते स हि ॥ ७ ॥

जगदुत्पत्तिकारण होनेसे भव नाम शंकरका हुआ। प्रलयमें जगत्संहार करनेसे हर नाम पड़ा। शंकर सबको सुख पहुंचाकर स्थितिकारण होते हैं अतः मृड नाम पड़ा और पूर्णमङ्गल मोक्षस्वरूप होनेसे शिव नाम हुआ ॥ ६-७ ॥

ननु संहर्तृताहेतोर्युज्यते हरनामता ।
प्रसिद्धिवशतस्तस्य शिवनामत्वमेव च ॥ ८ ॥
भवेति तु कथं युक्ते मृडेत्यपि च नामनी ।
स्रष्टृत्वं रक्षितृत्वं च ब्रह्मविष्णवोर्यतो मतम् ॥ ९ ॥
न च प्राग्दर्शितश्रुत्या तथा न मृड जीवसे ।
इति श्रुत्या च ते सिद्धे नामनी इति सांप्रतम् ॥ १० ॥
अर्थान्तरवशादेव तच्छ्रुत्योरुपपत्तितः ।
स्रष्टृत्वरक्षितृत्वाभ्यां न शिवः सिध्यतीति चेत् ॥ ११ ॥
न, ब्रह्मविष्णुरुद्राणां सृष्टिस्थित्यन्तकारकः ।
को भवेदिति वक्तव्यमस्ति तेषां हि तत्त्रयम् ॥ १२ ॥
तान् सृष्ट्वावंश्च तैरेव जगत्सृष्ट्यादिकं शिवः ।
कृत्वाऽन्ते सकलानेव सह तैर्हरति प्रभुः ॥ १३ ॥

पूर्वपक्षः—संहारकारी होनेमे हर नाम ठीक है। या रूढिसे शिव नाम भी उचित है। परंतु भव नाम और मृड नाम शंकरमें कैसे उपपन्न हैं? क्योंकि स्रष्टा और रक्षकके रूपमें ब्रह्मा और विष्णु प्रसिद्ध हैं। यदि कहें कि पहले जो श्रुति दिखाई—"भवाय च रुद्राय च नमः" और दूसरी श्रुति "तया नो मृड जीवसे" उससे स्रष्टा और रक्षक सिद्ध होता है तो उसका उत्तर है कि वहां अर्थ दूसरा है। मङ्गलकारी होनेसे भव कहा, भक्तजन सुखकारीत्वको लेकर मृडन प्रार्थना है। उससे शिवमें स्रष्टृत्व और पालकत्व सिद्ध नहीं होगा। उत्तर—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इन तीनोंकी सृष्टि, स्थिति और संहार कौन करता है? ये भी उत्पत्ति आदि युक्त हैं। वास्तविकता यह है कि इन तीनोंकी सृष्टि और स्थिति कर शिव इनके द्वारा जगत्-सृष्टि आदि कराते हुए अन्तमें इन तीनोंके सहित समस्त संसारका संहार करता है॥ ८-१३॥

देवानां प्रभवो यस्तु रुद्रो विश्वाधिपः प्रभुः।
हिरण्यगर्भं जनया-मास पूर्वमिति श्रुतिः॥ १४॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां मासवर्षादिकारणम्॥ १५॥
एवं शतायुर्ब्रह्मापि तथा विष्ण्वादयोऽपि च।
किं च नैकैकशो ब्रह्मविष्ण्वाद्याः किन्त्वसंख्यकाः॥ १६॥
ब्रह्माण्डमेतत्सकलं ब्रह्मणः क्षेत्रमुच्यते।
क्षेत्रज्ञश्च स एवोक्तो विरिञ्चिश्च प्रजापतिः॥ १७॥
ब्रह्माणो हरयो रुद्रास्तत्र तत्र व्यवस्थिताः।
आज्ञया देवदेवस्य महादेवस्य शूलिनः॥ १८॥
ब्रह्माण्डानामसंख्यानां ब्रह्मविष्णुहरात्मनाम्।
उद्भवे प्रलये हेतुर्महादेव इति श्रुतिः॥ १९॥
इति सौरे निगदितं लैङ्गोक्तमधुना श्रृणु।
कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु॥ २०॥
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः।
सृष्टाः प्रधानेन तथा प्राप्य शंभोस्तु संनिधिम्॥ २१॥
असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्चाप्यसंख्याता एक एव महेश्वरः॥ २२॥
ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्राद्यैरपि देवैरगोचरम्।
आदिमध्यान्तरहितं भेषजं भवरोगिणाम्॥ २३॥

श्वेताश्वतरमें समस्तदेवजनक और हिरण्यगर्भोत्पादक शिवको बताया है। गीतामें ब्रह्माजीके दिनरात्रिका वर्णन है। उससे मासवर्षादि होंगे। शतवर्षमें ब्रह्माजी समाप्त होंगे। बल्कि असंख्य ब्रह्माण्ड और उनमें असंख्य ब्रह्माविष्णुरुद्रादि हैं। सबकी उत्पत्ति स्थितिलयकारण महादेव है ऐसा और पुराणमें तथा विशेषतः लिंगपुराणमें कहा गया है ॥ १४-२३ ॥

पद्मभूर्जलशायी च गिरिशश्च त्रयो मताः।
पद्मादीनां च विलये तेषां च विलयो ध्रुवः ॥ २४ ॥
तथा चोक्तं पुराणादौ पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
आपस्तेजसि वायौ तद्वायुर्नभसि लीयते ॥ २५ ॥
नभ एतदहंकारे महत्तत्त्वे स लीयते।
प्रकृतौ तस्य च लयो भवति प्रतिसंचरे ॥ २६ ॥
नासदासीन्नो सदासीत्तम आसीदिति श्रुतिः।
प्रलयं शून्यमाचष्टे क्व तदाऽब्जपर्वताः ॥ २७ ॥

ब्रह्मादि तीनमें एक पद्मज है। दूसरा जलशायी है। तीसरा कैलास-पर्वतवासी है। प्रलयमें पद्मादि विलय होनेपर ब्रह्मादिका भी विलय होगा। पुराणोंमें कहा है—प्रलयमें पृथिवी जलमें लीन होती है। जल तेजमें, तेज वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश अहंकारमें, अहंकार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें विलीन होते हैं। उस समय पानी, कमल, पर्वतादि कहां रह जाते हैं। श्रुति भी सुनिये—'उस प्रलयमें न असत् था न सत् था केवल तम (प्रकृति) ऐसी शून्यावस्थामें जलादि कहां रह जाते हैं ॥ २४-२७ ॥

वक्तव्यमितरत् प्रायः प्रागेवास्माभिरीरितम्।
किंचिद्विशेषवत्त्वात्तदुत्थाप्य पुनरीर्यते ॥ २८ ॥

वामतोऽभूद्विधिः शंभोर्विष्णुर्दक्षिणतोऽभवत्।
हृदयादभवद्रुद्रो मूलमत्र सदाशिवः ॥ २९ ॥

अन्य वक्तव्य प्रायः पहले ही कहा जा चुका है। कुछ विशेष वक्तव्य जो रह गया है तदर्थ उसका पुनरुत्थापन करते हैं। भगवान शंकरके वाम-भागसे ब्रह्मा, दक्षिण भागसे विष्णु और हृदयसे रुद्र हुए। तीनोंका मूल सदाशिव है ॥ २८-२९ ॥

तत्कार्याद्युपयोगीनि पञ्चीकरणपूर्वकम्।
ब्रह्माण्डान्तर्गतानि भूतानि सृजतीशः सदाशिवः ॥ ३० ॥
समस्तं यदभूत् पूर्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारकम्।
ऐश्वर्यं व्यभजद् व्यस्तं त्रिभ्यस्तेभ्योंऽशतो हरः ॥ ३१ ॥

ब्रह्मा, विष्णु आदिके शरीरादिके उपयोगी तन्मात्रा, पंचीकृत भूत एवं ब्रह्माण्डपर्यन्त सबको भगवान् सदाशिव पहले सृष्टि कर लेते हैं। फिर जो समस्तरूपसे सृष्टिस्थितिलयकारी शक्ति महेश्वरमें थी उसे अंशतः ब्रह्मा विष्णु रुद्रमें व्यस्तरूप से विभक्त किया ॥ ३०-३१ ॥

ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती उभे भगवति स्थिते।
अंशतो व्यस्यतः सर्वप्राणिषु स्वेच्छयेशितुः ॥ ३२ ॥
परिपक्वमलान् शिष्यान् शक्तिपातेन दीक्षया।
आचार्यमूर्तिगस्तत्त्वे परे योजयतीश्वरः ॥ ३३ ॥
ज्ञानशक्तिर्यथेशस्य सर्वत्रैवं प्रवर्तते।
तथा क्रियाशक्तिरपि शिवस्यैव प्रवर्तते ॥ ३४ ॥
सद्वाऽसद्वाऽखिलं कर्म स च कारयति प्रभुः।
सृष्ट्यादिकं च विध्याद्यैः कारयत्यात्मशक्तितः ॥ ३५ ॥

ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति दोनों परमेश्वरमें ही स्थित हैं। परमेश्वर की इच्छासे दोनों समस्त प्राणियोंमें व्यस्तरूपसे आती हैं। स्मृतिवचनमें कहा है—परिपक्व शिष्योंमें दीक्षासे शक्तिपातकर परतत्त्वमें जोड़नेवाला आचार्यदेहस्थ ईश्वर ही है। ज्ञानशक्ति इस प्रकार जैसे भगवानकी है वैसे क्रियाशक्ति भी है। सत् असत् जो भी कर्म करते हैं सो भगवतीय क्रिया-शक्तिसे ही है। कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्मा आदिसे सृष्टि आदि कार्य स्वशक्ति आधानके द्वारा परमेश्वर ही कराते हैं ॥ ३२-३५ ॥

अत एव च सर्वेषां देवानां ज्ञानिनामपि।
ज्योतिर्लिङ्गं पृष्ठतः स्यात् पृष्ठतो वर्तयेद्धि सः ॥ ३६ ॥
वर्तुलाकारकं ज्योतिर्ज्योतिर्लिङ्गं निगद्यते।
व्याख्यातं सर्वमेवैतद्विस्तरेण मया पुरा ॥ ३७ ॥

यही कारण है कि सभी देवताओंके और ज्ञानी, सिद्ध सन्तोंके पीछे ज्योतिर्लिंग देखनेमें आता है। क्योंकि वही पीछे रहकर कार्य करता है। वर्तुलाकार ज्योति ज्यतिर्लिंग है इस बातको हम पहले ही कह आये हैं ॥ ३६-३७ ॥

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छवत्पृष्ठतः स्थितेः।
प्रवर्तनाद्भासनाच्च ज्योतिर्लिङ्गं श्रुतिर्जगौ ॥ ३८ ॥

श्रुतिमें 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' बताया। पूंछके समान पृष्ठतः स्थित है इसलिये। अर्थात् पृष्ठस्थित समान प्रवर्तक तथा भासक है ऐसे ज्योति-र्लिङ्गात्मक ब्रह्मको श्रुति कहती है ॥ ३८ ॥

वामश्च हृदयं चैव दक्षिणश्च क्रमोदितः ।
भवो हरो मृडश्चेति श्लोकेऽतः क्रमसंगतिः ॥ ३९ ॥

वामभाग, हृदय मध्यभाग और दक्षिण भाग इस क्रमके अनुसार भव, हर, मृड इन तीनका कथन हैं। अतः श्लोलमें दर्शित क्रम युक्त ही है ॥ ३९ ॥

स्पष्टत्रिगुणभेदस्वशक्तियुक्तः सदाशिवः ।
अव्यक्तगुणभेदस्वशक्तियुक्तः शिवस्तथा ॥ ४० ॥

शक्त्या समरसो यस्यां त्रैगुण्यं नोपलभ्यते ।
परमः स शिवः प्रोक्तस्तुर्यपादेन दर्शितः ॥ ४१ ॥

तीन गुणोंका भेद जहां स्पष्ट है उस शक्तिसे युक्त 'सदाशिव' होता है। जहां त्रिगुण भेद अस्पष्ट है उस शक्तिसे युक्त 'शिव' होता है। जिस शक्तिमें त्रैगुण्य उपलब्ध नहीं, उस शक्तिसे समरस 'परमशिव' है। वही 'प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये' इस चतुर्थपादमें बताया है ॥ ४०-४१ ॥

शिवशक्त्योः सामरस्ये त्रैगुण्यं नैव विद्यते ।
भेदाभेदो यदा तर्हि ततस्त्रैगुण्यमुद्भवेत् ॥ ४२ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
इत्याह भगवान् कृष्णो गीतायामर्जुनं प्रति ॥ ४३ ॥

प्रकृतेः संभवन्तीति ततः प्रकृतिसंभवाः ।
संभवान्न हि पूर्वं ते शक्तिर्निस्त्रिगुणा ततः ॥ ४४ ॥

न चैवमसदुत्पत्तिः शङ्क्यतां विबुधैरिह ।
अनिर्वाच्यत्वतस्तेन सामरस्यं च संगतम् ॥ ४५ ॥

शिव और शक्तिके सामरस्यमें त्रिगुण नहीं होते। शिव और शक्ति में भेदाभेद होने लगता है तब त्रैगुण्योत्पत्ति है। इसीलिये गीतामें कहा— सत्त्व रज तम ये तीन गुण प्रकृतिसंभव हैं। संभवका उत्पत्ति अर्थ है। तब उत्पत्तिसे पूर्व प्रकृतिमे त्रिगुण नहीं रहे यह भी मानना पड़ेगा। शंका होगी—तब असत्की उत्पत्ति माननी होगी। नहीं। अनिर्वाच्य सिद्धान्तमें यह दोष नहीं है। अतएव सामरस्य भी संगत है ॥ ४२-४५ ॥

शिवस्य सा भवेच्छक्तिस्त्रिगुणोद्भावनोन्मुखी ।
उत्पन्नत्रिगुणा सा च शक्तिः सादाशिवी भवेत् ॥ ४६ ॥
एकैकश्च गुणो व्यस्तो भिन्नासु तनुषु स्थितः ।
यदा भवति तर्ह्येव ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ४७ ॥

परमशिवशक्ति त्रिगुणरहित है। त्रिगुणोत्पत्त्यभिमुख शक्ति शिवकी है। उत्पन्नत्रिगुण शक्ति सदाशिवकी है। एक-एक गुण भिन्न शरीरोंमें जब व्यस्त होता है तब ब्रह्मा विष्णु रुद्र होते हैं ॥ ४६-४७ ॥

इदं त्वत्रावबोद्धव्यं रजोमात्रं न वेधसि।
तमोमात्रं न रुद्रे च सत्त्वमात्रं हरौ च न ॥ ४८ ॥

सत्त्वप्रधानाः सकला देवा नैवात्र संशयः।
अन्यथा नैव देवत्वं कथंचिदुपपद्यते ॥ ४९ ॥

रजःप्रधानतायां स्यादसुरत्वं रुजादि वा।
तमःप्रधानतायां स्याद्राक्षसत्वं विमूढता ॥ ५० ॥

रजःप्रधानो वेधाश्चेद् वेदवित्त्वं कथं भवेत्।
तमःप्रधानश्चेदीशो ज्ञानाधिष्ठातृता कथम् ॥ ५१ ॥

सत्त्वप्रधानो ब्रह्मायं रजो धत्तेऽस्य सृष्टये।
तादृशश्च हरो धत्ते संहाराय बहिस्तमः ॥ ५२ ॥

सत्त्वप्रधानो विष्णुश्च सत्त्वं धत्तेऽवनार्थतः।
यथा कोटिपतिः किंचित्पणं हस्ते व्ययार्थतः ॥ ५३ ॥

यह वात यहां ध्यानमें रखना चहिये कि केवल रज ही ब्रह्मामें नहीं, केवल तम ही रुद्रमें नहीं और केवल सत्त्व ही विष्णुमें नहीं। सभी देव सत्त्वगुणप्रधान ही हैं। अन्यथा वे देव ही नहीं होंगे। रजोमात्र हो तो वह असुर होगा या नित्य दुःखी होगा। केवल तम हो तो राक्षस होगा या नित्यमूढ होगा। तब ब्रह्मा वेदवेत्ता कैसे ? शंकर ज्ञानाधिष्ठाता कैसे ? यथार्थ बात यह है कि सत्त्वप्रधान ही ब्रह्मा सृष्ट्यर्थ रजोगुण धारण करते हैं। सत्त्वप्रधान ही विष्णु रक्षणार्थ अलग थोड़ा सत्त्व रखते हैं। जैसे कोई करोड़पति है। किन्तु खर्चके लिये थोड़ा धन जेबमें डालकर चलता है ॥ ४८-५३ ॥

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
इत्युक्त्वा मायिनं प्राहुः सामान्येनेश्वरं बुधाः ॥ ५४ ॥

ब्रह्मादेरीश्वरत्वाच्च सिद्धा सत्त्वप्रधानता।
ज्ञानानन्दाद्यभिव्यक्तिस्तेऽन्ततः शास्त्रसंमता ॥ ५५ ॥

पञ्चदशी आदिमें सत्त्वकी शुद्धि और अशुद्धिसे प्रकृतिके माया और अविद्या ऐसे दो विभाग किये। मायायुक्त ही ईश्वर है। अतः शुद्धसत्त्व-

प्रधानता निश्चित है। ब्रह्मा आदिमें ज्ञान, आनन्दादिकी अभिव्यक्ति शास्त्र-संमत होनेसे भी यह बात निश्चित होती है ॥ ५४-५५ ॥

प्रकृत्युपाधयो वा स्युर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
सदाशिवांशाः सत्त्वरजस्तमोबहिरुपाधयः ॥ ५६ ॥

अथवा ब्रह्मा आदि तीनोंकी उपाधि प्रकृति ही है। क्योंकि वे सदाशिवके ही अंश हैं। कार्यार्थ बाहरसे सत्त्व, रज और तमको उपाधिरूपसे ग्रहण करते हैं, इतना ही फरक है ॥ ५६ ॥

कार्यं तु सकलं नित्यमुपादाने प्रकल्पितम् ।
मृन्मयं मृदि यद्वद्धि तदेतच्छ्रुतिबोधितम् ॥ ५७ ॥
त्रैगुण्यं प्रकृतावेव कल्पितं स्यात्तदुद्भवात् ।
निस्त्रैगुण्या भवेच्छक्तिः शिवैकरसतां गता ॥ ५८ ॥
न शक्तिशिवयोस्तर्हि प्रभेदः कश्चिदिष्यते ।
त्रैगुण्योद्भवमार्गेण तयोर्भेद इव स्थितः ॥ ५९ ॥

यह सिद्धान्त है कि कार्य सभी उपादानकारणमें कल्पित हैं। जैसे मृन्मय पदार्थ मृत्तिकामें कल्पित है। यह बात श्रुतिमें भी कही गयी है — "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। मृत्में घट भिन्नत्व, अभिन्नत्व, भिन्नाभिन्नत्वादिसे निर्वाच्य नहीं है। तत्र प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुण भी प्रकृतिमें कल्पित सिद्ध हुआ। फलतः शक्तिरूपा प्रकृति निस्त्रैगुण्य सिद्ध होगी। वही शिवैकरसताको प्राप्त प्रकृति है। वैसे शिव और शक्तिमें कोई भेद नहीं है। त्रैगुण्यके उद्भवको लेकर भेद किया जाता है॥ ५७-५९ ॥

त्रैगुण्यबाधे विमलं तत्त्वं यदवशिष्यते ।
स शिवः परमः प्रोक्तस्तुरीयं तदितीर्यते ॥ ६० ॥

त्रिगुणका बाध होनेपर जो शुद्धशक्तिरूप शिवतत्त्व अवशिष्ट रहता है वही परमशिव है। वही तुरीयपद है ॥ ६० ॥

प्रकृष्टं मह एतद्धि मायात्रैगुण्यवर्जनात् ।
दिविस्थितं त्रिपाद् ब्रह्म तदेवोक्तं स्वयंप्रभम् ॥ ६१ ॥

वही 'प्रमहस्' प्रकृष्ट ज्योति है। प्रकर्ष इसलिये कि उसमें मायाके त्रैगुण्यका सम्बन्ध नहीं है। "त्रिपादस्यामृतं दिवि" श्रुतिमें प्रोक्त दिविस्थ त्रिपाद ब्रह्म भी वही स्वयंप्रकाश तत्व है ॥ ६१ ॥

सृष्टयेऽनल्परजसे भवायास्तु नमो नमः ।
संहृत्यै भूरितमसे हरायास्तु नमो नमः ॥ ६२ ॥

स्थितये शुद्धसत्त्वाय मृडायास्तु नमो नमः ।
निस्त्रैगुण्यप्रमहसे शिवायास्तु नमो नमः ॥ ६३ ।

सृष्टयर्थ विशेषरजोधारी भवको प्रणाम । संहारार्थ विमेष तमोगुण-धारी हरको प्रणाम । रक्षार्थ शुद्धसत्त्वगुणधारी मृडको प्रणाम । त्रिगुणातीत प्रकृष्ट ज्योतिस्वरूप शिवको प्रणाम ॥ ६२-६३ ॥

नम भवं जगदुद्भवकारणं
स्मर हरं भवदुःखविदारणम् ।
जप मृडं सुखदं स्थितिधारणं
भज शिवं परमं भवमोक्षणम् ॥ ६४ ॥

जगदुत्पत्तिकारण भवको नमन करो। संसार दुःखहारी हरका स्मरण करो। जगत्स्थितिकारण सुखदायी मृडका जप करो। भवमोक्षदायी परमशिवका भजन करो ॥ ६४ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नःस्तोत्र विवृतौ त्रिंशः स्पन्दो विनिर्गतः ॥ ३० ॥

ॐ

एकत्रिंशः श्लोकः

शास्त्रार्थः सकलोऽप्येव पूर्वस्मिन्नुपसंहृतः ।
असदृक्त्वं स्तुतेः प्रोक्तमुपसंह्रियतेऽन्यथा ॥ १ ॥

शास्त्रार्थका समग्रतया पूर्वश्लोकमें उपसंहार किया गया। अब "अविदुषो यद्यसदृशी" इस प्रकार जो स्तुतिकी अननुरूपता बतायी थी उसका प्रकारान्तरसे यहां उपसंहार करते हैं ॥ १ ॥

असदुक्तरं स्तुतेरुक्त्या प्रागौद्धत्यं निराकृतम् ।
निजं तदुच्यते युक्त्या स्वाहंकारावधोरणम् ।। २ ।।

व्यज्यते महिमा चैव प्रभोः स्पष्टतया ततः ।
उपक्रमोपसंहारसारूप्यादेर्न च क्षतिः ।। ३ ।।

स्तुतिकी अननुरूपता कहकर पहले स्वीय औद्धत्य निराकरण किया उसको अहंकारनिरासार्थ युक्तिसे कहते हैं। फिर भी यहां महिमाकी भी अभिव्यक्ति है। अतः उपक्रमोपसंहारकी सरूपताकी क्षति भी नहीं है ।। २-३ ।।

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ।। ३१ ।।

अल्पपरिपाक अविद्यादि क्लेशोंके वशीभूत मेरा यह चित्त कहां ? और गुणातीत शाश्वत आपकी महिमा कहां ? इस कारण यद्यपि मैं चकित था तथापि मेरी भक्तिने मुझे स्फूर्ति देकर हे वरद ! आपके चरणोंमें यह वाक्यपुष्पोपहार चढ़वाया ।। ३१ ।।

परिणामः परिणतिराद्यश्लोकोक्त एव सः ।
उच्यते परिपाकोऽयमधीत्यादिसमुद्भवः ।। ४ ।।

परिणामावधि सर्वे स्तुवन्ति स्वमतेः शिवम् ।
एवं काममवाच्योऽस्मि तथापि न्यूनता मम ।। ५ ।।

कृशा मे सा परिणतिर्न ब्रह्मादेरिवोर्जिता ।
अल्पश्रुतोऽल्पमननोऽस्म्यल्पाभ्यासस्तथास्म्यहम् ।। ६ ।।

यहां परिणति शब्दसे स्वमतिपरिणामवधिमें कहा गया परिणाम ही बताया है। अध्ययनादिजन्यपरिपाक ही परिणति है। स्वमतिके परिपाकानुसार सभी स्तुति करते हैं। इस प्रकार मैं अवाच्य भले हू. फिर भी मुझमें न्यूनता तो है ही। क्योंकि मेरी अल्पपरिपाकवाली मति है। ब्रह्मादिकी बहुपरिपाकवाली है। मेरा श्रवण मनन निदिध्यासन अल्प है अतः परिपाक भी अल्प है ।। ४-६ ।।

पूर्णस्तु केवलः स्थाणुरपूर्णा इतरेऽखिलाः ।
अतो बहुभ्यो मर्त्येभ्योऽप्यहं न्यूनो न संशयः ।। ७ ।।

लभन्ते न्यूनतां सर्वे महान्तोऽपि भुवस्तले।
यो महान् ज्ञायते तस्मादस्ति कश्चिन्महत्तरः ॥ ८ ॥
न चैवमनवस्था स्यादिष्टत्वादनवस्थितेः।
अनन्तः खलु संसारः सोऽनवस्थित एव यत् ॥ ९ ॥
परिच्छिन्नाद् भवत्येव परिच्छिन्नान्तरं महत्।
अत एव ह्यनन्तत्वं संसारस्योपपद्यते ॥ १० ॥

पूर्ण केवल शिव है। अन्य सभी अपूर्ण हैं। अतः ब्रह्मादि क्या, बहुत मनुष्योंसे भी मैं न्यून हूं। महान कहलानेवाले सभी किसीकी अपेक्षा न्यून ही हैं। जो महान है उससे महत्तर भी है। क्या इस प्रकार फिर अनवस्था नहीं होगी? होगी। अनन्य संसारमें वह इष्ट है। परिच्छिन्नसे बड़ा दूसरा परिच्छिन्न अवश्य होगा। अतएव अनन्तताकी उपपत्ति है ॥ ७-१० ॥

न्यूनत्वं यदि मे कश्चिद्दर्शयिष्यति पण्डितः।
आत्महत्यां करिष्यामीत्याह काश्यां पुराऽङ्ग्लकः ॥ ११ ॥
महाविद्यालयगृहं देववाण्या अनूनकम्।
स मेने किन्तु नीचैस्त्वं कुट्टिमस्यावदत् परः ॥ १२ ॥

काशीमें संस्कृत महाविद्यालयका भवन किसी अंग्रेज इंजिनीयरने बनाया। उसने कहा इसमें कोई न्यूनता दिखायेगा तो मैं आत्महत्या करूंगा। तुरत एक भारतीय इंजिनीयरने कहा फरश नीचा हो गया है। कमसे कम दो फूट ऊपर होना चाहिये था। (अंग्रेजने माना, सचमुच उसने आत्महत्या की।) ॥ ११-१२ ॥

अस्तु वा कश्चनैकस्मिन्नन्यूनो विषये सुधीः।
अन्यस्मिन् विषये नूनमून एव भविष्यति ॥ १३ ॥
न्यायशास्त्रे महाविद्वान् भट्टाचार्यो गदाधरः।
मीमांसायामभूदज्ञस्तं हसन्ति परे ततः ॥ १४ ॥
उपसद्भिश्चरित्वेति यागभेदान् श्रुतीरितान्।
व्युत्पत्तिवादे स जगौ तिलमिश्रिततण्डुलान् ॥ १५ ॥

और भी मान लीजिये कि एक विषयमें दूसरेसे अन्यून है। किन्तु अन्य विषयोंमें न्यून होगा ही। न्यायशास्त्रके बड़े विद्वान् गदाधर भट्टाचार्य मीमांसामें अज्ञ रहे। "उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति" इस

विधिवाक्यमें उपसद् यागविशेषका नाम है। और भट्टाचार्यजीने व्युत्पत्ति-वादमें उसका अर्थ लिखा—तिलमिश्रित तण्डुल ॥ १३-१५ ॥

अनन्ताश्च गुणाः स्तुत्या विषयाः परमेशितुः।
घोषयेत्स्वस्य पूर्णत्वं को नु तत्प्रतिपादने ॥ १६ ॥

स्तवनीय गुण जो विषय है वह तो शंकर के अनन्त हैं। उनके प्रतिपादन करनेमें अपनी पूर्णताको कौन घोषत कर सकता है ? ॥ १६ ॥

तत्रापि चेतसस्तावत् कृशा परिणतिर्मम।
एकमप्येव न गुणं कात्स्न्र्येन वदितुं क्षमम् ॥ १७ ॥

गुणातीतस्वरूपे तु तत्प्रवेशकथा वृथा।
उपहासास्पदमिव श्रमो भवति मे ततः ॥ १८ ॥

फिर तिसपर बुद्धिपरिपाककी अल्पता। एक गुण भी पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें असमर्थ है। गुणातीत स्वरूपमें तो प्रवेशकी बात भी व्यर्थ है। अतः मेरा श्रम उपहासास्पद जैसा ही है ॥ १७-१८ ॥

कृशा परिणतिः कस्मात्क्लेशवश्यं मनो यतः।
तत् साविद्यास्मितारागद्वेषं चाभिनिवेशि च ॥ १९ ॥

कृशपरिणाम क्यों है ? इसलिये कि मन क्लेशोंके वशीभूत है। अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशरूपी पांच क्लेशोंसे युक्त है ॥ १९ ॥

अविद्या भावरूपा सा न त्वभावात्मिका मता।
ततश्च तस्या वशगं चेत इत्युपपद्यते ॥ २० ॥

अज्ञानेनावृतं ज्ञानमित्याह भगवान् हरिः।
अभावो नावृणोत्यन्यं भावा वस्त्रादयस्तथा ॥ २१ ॥

किन्तु विद्याविरोधित्वन्नञा निर्दिश्यते तु सा।
तत्कार्यत्वाद्भ्रान्तिरपि स्यादविद्यापदास्पदम् ॥ २२ ॥

अनित्याशुचिदुःखेषु चानात्मसु च या मतिः।
नित्यः शुचिः सुखं स्वात्मेत्यविद्या सा निगद्यते ॥ २३ ॥

संसारक्लेशमूलत्वादविद्या भ्रान्तिरेव च।
उच्यते क्लेशशब्देन मुख्या भ्रान्तिर्यथोदिता ॥ २४ ॥

पांच क्लेशोंमें प्रथम अविद्या विद्याका अभाव नहीं, किन्तु भावा-त्मक तत्व है। इसलिये चित्त उसके वशमें हो गया, अभावक वशमें कौन होगा ? गीतामें ज्ञानको अज्ञानसे आवृत बताया है। भावपदार्थ ही आव-

रण कर सकता है, जैसे वस्त्रादि। न कि अभाव। तब अविद्या ऐसा निर्देश कैसे ? विद्याविरोधी होनेसे। अविद्याकार्य होनेसे भ्रान्तिको भी अविद्या कह देते हैं। अनित्य, अशुचि, दुःख एवं अनात्मामें नित्य, शुचि, सुख, आत्मा ऐसा ज्ञान अविद्या है। संसारक्लेशका मूल होनेसे उसे क्लेश भी कहते हैं ॥ २०-२४ ॥

अस्मिता स्यादहंकारो गर्वोऽहंतत्त्वमेव वा।
आत्मानं सा परिच्छिन्द्याच्च्यावयेद्व्यापकत्वतः ॥ २५ ॥
यतमानो महत्त्वायाऽहंकारमकरोत् कुधीः।
विच्छेद्यात्मानमन्येभ्यश्चाल्पीयांसमसौ व्यधात् ॥ २६ ॥

अस्मिता अहंकारको कहते हैं। वह गर्व या अहंतत्त्व है। वह आत्माको परिच्छिन्न कर व्यापकतामे च्युत करती है। गर्वार्थमें भी महत्त्व के लिये गर्व किया और दूसरोंसे अपनेको अलगकर बहुत छोटा बना दिया ॥ २५-२६ ॥

नैवाल्पे सुखमस्तीति श्रुतिराह सनातनी।
एवं क्लिश्नात्यस्मितेति सापि क्लेश उदाहृता ॥ २७ ॥

श्रुति कहती हैं —अल्पमें सुख नहीं है, इस प्रकार, यह अस्मिता भी क्लेश देती है, अतः क्लेश कहलायी ॥ २७ ॥

रागस्तु रञ्जनात्प्रोक्तो विषयैरभिरज्यति।
चित्तमेतत्तद्विषय-प्राप्तौ तस्य भवेत्सुखम् ॥ २८ ॥
दुःखं स्याद्विषयाप्राप्तौ प्राप्ते भोगोत्थरागतः।
पुनर्वासनया रागपारंपर्योद्भवादपि ॥ २९ ॥
रागो यत्नः सुखं दुःखं वासनेत्यादिचक्रवत्।
प्रवर्तमानः खल्वेष क्लिश्नाति पुरुषं मुहुः ॥ ३० ॥

रंजित करता है इसलिये राग कहलाया। वह विषयोंके रंगमें चित्त को रंजित करता है। विषय प्राप्त होनेपर सुख होता है। न प्राप्त होनेपर राग दुख दायी होता है। प्राप्त होनेपर भी पुनः राग वासनाकी परम्परा चलती हैं। रागसे विषयार्थ यत्न, कभी सुख कभी दुःख, फिर वासना इस चक्रमें डालकर वह भी मनुष्यको क्लेशमें डालता है ॥ २८-३० ॥

स्वाभीष्टविषयप्राप्ति प्रतिबन्धविधायिनम्।
ईर्ष्यास्पदं दुःखदं च दुःखं च द्वेष्टचसज्जनः ॥ ३१ ॥

द्वेषः प्रज्वलनात्मायं चित्तेन्द्रियकलेवरम् ।
दहन् जर्जरयंश्चैव क्लिश्नाति बहुधा नरम् ॥ ३२ ॥

द्वेषो महान् प्रज्वलनो द्वेषः प्रतिभयो रिपुः ।
सर्वपापकरो द्वेषो द्वेषः क्लेशो भयंकरः ॥ ३३ ॥

अपने अभीष्टकी प्राप्तिमें जो प्रतिबन्ध करता है, जो ईर्ष्यापद है, जो दुःखदायी है और जो दुःख है इन सबके प्रति असत् पुरुष द्वेष करता है। द्वेष अग्निरूप है। मनको, इन्द्रियोंको और शरीरको जलाता हुआ, जर्जरित करता हुआ मनुष्यको अनेक प्रकारसे क्लेशमें डालता है। द्वेष महान अग्नि है। द्वेष भयानक शत्रु है। द्वेष सर्वपापकारी है। अतः द्वेष ही भयंकर (संसारभयकारी) क्लेश है ॥ ३१-३३ ॥

मृतिभीराग्रहो वाऽभि-निवेशः स पुनस्तनुम् ।
नृणां स्वरसवाही सन्ननुबध्नाति निर्भरम् ॥ ३४ ॥

यावत्तन्वनुबन्धः स्याद् दृढस्तावन्निजात्मनः ।
अपरिच्छिन्नरूपत्वं न स्फुरेदिति निश्चयः ॥ ३५ ॥

तनूनां क्लेशभूयस्त्वादनुक्लिश्नात्ययं सदा ।
यावत्तद्वासना तावन्नैव मोक्षश्च संभवी ॥ ३६ ॥

मरणभय या विशेष आग्रह अभिनिवेश है। वह सबके अन्दर स्वाभाविक रूपसे रहता है और शरीरके साथ अनुबद्ध रहता है। जबतक यह तनु-अनुबन्ध दृढ़ होगा तबतक कितना ही शास्त्र पढ़ लें फिर भी अपरिच्छिन्न अपने स्वरूपकी स्फुरणा नहीं ही होगी। साथ ही शरीर क्लेशबहुल होनेसे उसके पीछे सदा क्लेशयुक्त भी मनुष्य रहेगा। जबतक—जन्मजन्मान्तरपर्यन्ततक भी अभिनिवेशन वासना रहेगी तबतक मोक्षवार्ता सम्भव नहीं ॥ ३४-३६ ॥

क्लेशहानिं विना नात्मावरणं विनिवर्तते ।
अनिवृत्ताऽऽवृतेर्ज्ञानपरिपाकश्च दूरतः ॥ ३७ ॥

एतत्तत्त्वं च भगवान् पतञ्जलिरवोचत ।
स्पष्टं विधिमुखेनैव सूत्रैर्योगानुशासने ॥ ३८ ॥

क्लेशकर्मनिवृत्त्यैव सर्वावरणसंक्षयः ।
ज्ञानानन्त्यं ततस्तस्माज्ज्ञेयमल्पं भवेदिति ॥ ३९ ॥
क्लेशकर्मनिवृत्तिश्च धर्ममेघसमाधितः ।
समाधिः सर्वथा जातविवेकख्यातितः स तु ॥ ४० ॥

ननु सैषा प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य जायते।
अकुसीदस्त्ववरागः स्यादन्योन्याश्रयता ततः ॥ ४१ ॥

सत्यं क्लेशेष्वविद्यैव मुख्याऽऽवरणकारणम्।
तन्निवृत्तौ विशेषेण रागादिर्विनिवर्तते ॥ ४२ ॥

विनिवृत्तिपदं तस्मात् सूत्रे पाठो विलोक्यते।
सवासनोच्छेद एव सर्वथापि विवक्षितः ॥ ४३ ॥

क्लेशनिवृत्तिके बिना आत्मावरणकी निवृत्ति नहीं होगी। आवरण निवृत्त न हुआ तो ज्ञानपरिपाक दूर ही रह जायेगा। इस तत्त्वको भगवान पतञ्जलिने विधिमुखेन योगसूत्रमें समझाया है। "ततः क्लेशकर्मविनिवृत्तिः।" "तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्" ऐसे वहां सूत्र हैं। अर्थः— उससे क्लेश एवं उसके मूल कर्मकी विनिवृत्ति होती हैं। तब सर्व आवरणमल दूर होगा तो ज्ञान अनन्त होगा और ज्ञेय अल्प हो जायेगा। क्लेशकर्मनिवृत्ति धर्ममेघ समाधिसे होती है और धर्ममेघ समाधि सर्वथा विवेकख्यातिसे होगी। परन्तु शंका होगी कि वह सर्वथा विवेकख्याति वैराग्यसे होगी। फलतः अन्योन्याश्रय होगा। इस प्रकार पूर्वमें सूत्र है:—"प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।" इसके बादका सूत्र है— 'ततः क्लेशकर्मविनिवृत्तिः।" अर्थ इस प्रकार है—सर्वाधिष्ठातृत्वादि प्रयोजक विवेकसाक्षात्कारमें भी जो निःस्पृह हो उसको सर्वथा विवेकख्याति और उससे धर्ममेघसमाधि होगी। उसके बाद क्लेशकर्म निवृत्ति होगी। क्लेशोंमें राग आता है। राग पूरा निकले तब धर्ममेघसमाधि होगी धर्ममेघसमाधि हो तब क्लेश तदन्तर्गत रागनिवृत्ति होगी। यह अन्योन्याश्रय दोष है। उत्तर है—विनिवृत्तिका विशेषेण निवृत्ति अर्थ है। पहले सामान्यतः रागनिवृत्ति होनेपर धर्ममेघ समाधि होगी। उससे फिर विशेषेण निवृत्ति होगी। जहां "वि" उपसर्गपाठ नहीं है वहां भी यही अर्थ करना चाहिये। विशेषनिवृत्तिका अर्थ है—रागादिवासनासहित रागाद्युच्छेद यह धर्ममेघसमाधिके बाद ही होगा ॥ ३७-४३ ॥

क्लेशसत्त्वेऽपि विज्ञानं न सम्यगुपजायते।
किं पुनः क्लेशवश्यत्वे क्लेशवश्यं च मे मनः ॥ ४४ ॥
जायमानमपि ज्ञानं न सम्यगुपजायते।
ज्ञानानन्त्यकथा तत्र निरस्ता दूरतो भवेत् ॥ ४५ ॥

सामान्यरूपसे क्लेश रह जाता है तो भी विज्ञान बराबर उत्पन्न नहीं होता। फिर यदि क्लेशवशीभूत हो तो बात ही क्या ? मेरा चित्त है क्लेश-

वशीभूत। मैं तो सम्यक् ज्ञानकी आशा भी नहीं कर सकता। और क्लेश-युक्त चित्तमें यदि ज्ञान सम्यक् उत्पन्न ही नहीं होता तब "ज्ञानस्यानन्त्यात्" यह बात तो स्वप्नमात्र होकर रहेगी ॥ ४४-४५ ॥

ज्ञानानन्त्यं भवेत् कामं यस्य कस्यापि योगिनः।
तस्यापि ज्ञेयमेवाल्पं न पुनः परमः शिवः ॥ ४६ ॥

अप्रमेयः शिव प्रोक्तस्तस्याल्पत्वं न संभवेत्।
जन्यं ज्ञानं पुरस्तस्य त्वल्पमेवाखिलं यतः ॥ ४७ ॥

अल्पमेवाक्षरे ब्रह्मण्यनन्तमपि चाम्बरम्।
तथानन्तमपि ज्ञानमल्पमेव महेश्वरे ॥ ४८ ॥

और अनन्तज्ञान किसी योगीका माना जाय तो भी उसके ज्ञेय पदार्थ ही ज्ञानापेक्षया अल्प होगा। न कि परमशिव। क्योंकि वह अप्रमेय है—अज्ञेय है। उसकी अल्पता हो ही नहीं सकती। परमशिवके सामने जन्य ज्ञान तो सभी अल्प ही रहेगा। अनन्तज्ञान अल्प किस प्रकार? जैसे अनन्त आकाश ब्रह्मके सामने अल्प होता है। क्योंकि उसका भी जनक ब्रह्म है। वैसे अनन्त ज्ञान भी परमशिवके संमुख अल्प ही रहेगा ॥ ४६-४८ ॥

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं गुणवृत्तिर्हि सा ततः।
गुणसीमोल्लङ्घिनी च शश्वद्वृद्धिर्महेशितुः ॥ ४९ ॥

ज्ञान सत्त्वगुणसे उत्पन्न होता है। वह गुणवृत्ति है। परमेश्वरकी महिमा गुणसीमाको लांघकर आगे बढ़ी हुई है ॥ ४९ ॥

पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
पादान्तर्वर्ति सत्त्वादिगुणैश्च सहितं जगत् ॥ ५० ॥
गुणात्मकमिदं सर्वं गुणः पादे च सीमितः।
गुणसीमोल्लङ्घि तत्त्वं त्रिपाद् ब्रह्मात्मकं ततः ॥ ५१ ॥

अनन्तमपि च ज्ञानं तदेतत्पादसीमितम्।
पादमुल्लङ्घ्य न शिवतत्त्वं तत्स्प्रष्टुमर्हति ॥ ५२ ॥
न चैवं तदनन्तत्वं प्रभज्येतेति सांप्रतम्।
व्यावहारिकमात्रं तदनन्तत्वं न वास्तवम् ॥ ५३ ॥

स्वप्ने ह्यनन्त आकाशो दृश्यते प्रातिभासिकः।
किन्तु कण्ठे सीमितः स जाग्रत्कालेऽनुभूयते ॥ ५४ ॥
एवं ह्यनन्तरूपेण ज्ञेयं वा ज्ञानमेव वा।
परमार्थदशायां स्यात् सकलं पादसीमितम् ॥ ५५ ॥

न चानन्तं ससीमं चेत् स्यात्स्वाप्नव्योमवन्मृषा ।
इष्टापत्तेर्नैव सत्यं दृश्यमभ्युपगम्यते ॥ ५६ ॥

गुणसीमोल्लङ्घी किस प्रकार ? सुनो । श्रुतिमें समस्त भूत (उत्पन्न) को ब्रह्मका पादमात्र बताया । त्रिपात् ब्रह्म स्वयंप्रभ है । वहां न ज्ञान है और न ज्ञेय ही । क्योंकि गुणोंके सहित जगत् पादान्तर्वर्ती है । गुणात्मक ही सारा जगत् है । गुण पादवर्ती है । तब गुणसीमोल्लङ्घी त्रिपाद् ब्रह्म सिद्ध होता है ज्ञान भले अनन्त हो फिर भी वह पादमें ही सीमित है । एकपाद-का उल्लंघन कर त्रिपात्‌रूपी शिवतत्त्वका वह स्पर्श नहीं कर सकता । यदि सीमा हो गयी तो वही अन्त है तब अनन्तता किस प्रकर होगी ? उत्तर है व्यावहारिक अनन्तता है वास्तविक नहीं । जैसे स्वप्नमें अनन्त आकाशको देखा । परन्तु जाग्रत होनेपर पता लगा कि वह कंठमें ही सीमित था । इसी प्रकार ज्ञान हो, ज्ञेय हो, सभी परमार्थदशामें पादमात्रमें सीमित है । शंका होगी कि अनन्त यदि सीमित है तो मिथ्या होगा । जैसे स्वप्नका आकाश कण्ठसीमित होनेसे मिथ्या है । इसका समाधान यही है कि इसमें हमारी इष्टापत्ति है । हम दृश्य प्रपञ्चको पारमार्थिक नहीं मानते ॥ ५०-५६ ॥

ननु व्यर्थं तदा ज्ञानं स्पृशेच्चन्न परं शिवम् ।
नैवमावृतिभङ्गार्थं ज्ञानं भवति सार्थकम् ॥ ५७ ॥

यदाऽऽवरणभङ्गः स्याम् परमानन्दलक्षणम् ।
स्वप्रकाशं प्रकाशेत शिवतत्त्वं तदा परम् ॥ ५८ ॥

यदि ज्ञान परमशिवका स्पर्श नहीं करता है तो वह व्यर्थ क्यों नहीं होगा ? इसलिये कि आवरणभङ्ग करनेमें उसकी सार्थकता है । जब आवरण भग होता है तव परमानन्द स्वयं प्रकाश शिवतत्त्व प्रकाशित होगा ॥ ५७-५८ ॥

नन्वावरणभङ्गेन स्वप्रकाशप्रकाशनम् ।
यत् स्यात् स एव तत्स्पर्शो ज्ञानगोचरतापि सा ॥ ५९ ॥

ब्रह्मान्यद् ज्ञेयमल्पं स्यान्न ब्रह्मालपमुदीर्यते ।
नाल्पं वा नाधिकं वा तद् ज्ञानगोचरता स्वतः ॥ ६० ॥

नैवं कृत्स्नावृतेर्भङ्गे ज्ञानमेव न तिष्ठति ।
ज्ञानाभावे कथं नाम ज्ञानगोचरता भवेत् ॥ ६१ ॥

यदि चावरणं किंचिद् व्यावधानं तदा स्फुटम् ।
कथं ज्ञानेन तत्स्पर्शस्तदा भवितुमर्हति ॥ ६२ ॥

तथा हि ज्ञानमप्येतदविद्याकार्यमेव नः ।
उपादाने विनष्टे न कार्यं तिष्ठेत् कथंचन ॥ ६३ ॥
अविद्या यदि विद्येत तदाऽऽवृतिरपि ध्रुवा ।
ज्ञानकाले कथं तस्मादावृतेर्भङ्ग इष्यताम् ॥ ६४ ॥

पूर्वपक्षः—आवरण भङ्गसे स्वप्रकाश ब्रह्मका प्रकाशन जो हुआ यही तो ज्ञानस्पर्श है। तब ज्ञानगोचरता भी ब्रह्ममें निश्चित है। ज्ञेयमल्पं जो बताया वह ब्रह्मातिरिक्त ज्ञेयको अल्प बताता है न कि ब्रह्म भी अल्प हो जाता है। ब्रह्म न अल्प है न अधिक है। अतः ज्ञानगोचर होनेमें क्या अनुपपत्ति ? उत्तर यह है कि पूरे आवरणका भंग हुआ तो ज्ञान ही नहीं रह जायेगा। ज्ञान नहीं रहा तो ज्ञानगोचरता किस प्रकार ? यदि थोड़ा आवरण मानेंगे तो उस आवरणसे व्यवधान होनेके कारण ज्ञानका ब्रह्मस्पर्श किस प्रकार ? इसीको और थोड़ा स्पष्ट समझिये। यह जो ज्ञान है यह भी अविद्याका कार्य है। अविद्या नहीं रही तो उपादान न होनेसे उपादेय कार्य ज्ञान भी नहीं रहेगा। यदि उपादान अविद्या मान लेते हैं तो उसीसे आवरण होगा। तब शुद्ध ब्रह्मस्पर्श ज्ञानका किस प्रकार ? ज्ञान हो तो तदुपादान अविद्या निश्चित है ॥ ५९-६४ ॥

नन्वेवं सति सूत्रेण विरोधस्ते प्रसज्यते ।
सकलावरणापायः सूत्रे खलु निवेदितः ॥ ६५ ॥
मैवं सूत्रे स्थूलमात्रावरणापाय ईरितः ।
तदाह सर्वावरणमलापेतेति सूत्रकृत् ॥ ६६ ॥
अत्रायं मलशब्दस्तु स्थूलत्वमवबोधयेत् ।
मलात्मकं स्थूलरूपमपैत्यावरणं कवेः ॥ ६७ ॥
स्थूलाविद्याविनाशेऽपि लेशाविद्याऽवतिष्ठते ।
ततो ज्ञेयं जगत्तिष्ठेत् सावृति ब्रह्म भासते ॥ ६८ ॥
इत्थमभ्यस्यतो ज्ञानपरिपाको यदा भवेत् ।
लेशाविद्याविनाशेन ज्ञानं चापि विनश्यति ॥ ६९ ॥
भासते परमं शुद्धं शिवतत्त्वं तदा परम् ।
तदा ज्ञानस्य विरहान्न तत्स्याज्ज्ञानगोचरम् ॥ ७० ॥
अज्ञेयत्वमतः सिद्धं ज्ञानाऽगोचरतात्मकम् ।
अज्ञेयं च कथंकारं शिवं तं प्रस्तुवीमहि ॥ ७१ ॥

यदि ज्ञानकालमें आवरण मानते हैं तो सूत्रविरोध स्पष्ट है। सर्वावरणापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्यात्" यहां सर्वावरणापाय और ज्ञानास्तित्व

स्पष्टोक्त है। इसका उत्तर यह है कि सूत्रमें स्थूलावरणमात्रका उपाय बताया है। सूत्रमें मलपद आया है। "तदा सर्वावरणमलापेतस्थ" ऐसा वहांका पाठ है। मलपद स्थूलत्वका बोधक है। मलरूप स्थूल आवरण ज्ञानीका नष्ट होता है यही सूत्रार्थ है। स्थूलाविद्या भले नष्ट हो, लेशाविद्या तो रहेगी। यह सर्ववेदान्त्यभिमत है। अतएव इस जगत्की स्थिति है—जगत् दीखता है। अतएव सावरण ब्रह्म ही भासित होगा। (सावरण ब्रह्म माने ईषदावृत ब्रह्म) इतनी बात अवश्य है कि उसी ज्ञानका अभ्यास करते रहनेपर अन्तमें ज्ञानपरिपाक होगा। तब लेशाविद्या भी नष्ट होगी। किन्तु साथ ही ज्ञान भी नष्ट होगा। तब शुद्ध ब्रह्म भासित होगा। किन्तु ज्ञान न रहनेसे ज्ञानगोचरता तो शुद्ध ब्रह्ममें नहीं ही आयेगी। अतः ब्रह्म अज्ञेय ही है। अज्ञेयका अज्ञानगोचर अर्थ न करना ज्ञानका अगोचर ऐसा अर्थ समझना चाहिये। जो ब्रह्म ज्ञानका विषय ही नहीं होता भला उस ब्रह्मरूपी शिवतत्त्वको हम अपनी स्तुतिरूप वाणीसे कैसे प्रस्तुत कर सकते हैं ? ॥ ६५-७१ ॥

शरदभ्रपरिच्छिन्नचन्द्रबिम्बसिवेश्वरम् ।
स्थूलावरणभङ्गेन पश्यन्ति किल योगिनः ॥ ७२ ॥

स्थूल मलावरणके हटनेपर योगी ईश्वरको उसी प्रकार देखते हैं जैसे शरत्कालमें सफेद हल्के बादलसे आच्छन्न चन्द्रमाको लोग देखते हैं ॥७२॥

सैषापि सर्वावरणमलापेतस्थितिर्न नः ।
क्लेशवश्यं यतश्चित्तं क्व चैतत्क्व च सा स्थितिः ॥ ७३ ॥

परन्तु वह स्थूलावरणापायकी जो स्थिति है वह भी तो हमारी नहीं है कि ईषदावरणके अन्दरसे परमात्माको देख लें। कहां क्लेशवशीभूत चित्तता है और कहां सर्वमलावरणक्षयस्थिति है ॥ ७३ ॥

जानाम्यहमिमां स्वीयां दुर्हरामज्ञतां स्वयम् ।
ततोऽयुक्तार्थकथनभीतोऽप्येषोऽस्मि यद्यपि ॥ ७४ ॥
तथापि भक्तिरिह माममन्दीकुरुते बलात् ।
प्रयोजयति च स्तोतुमनौचित्यं विधूय माम् ॥ ७५ ॥

मैं अपनी दुर्हर अज्ञताको जानता हूं। अत अयुक्त अर्थ कहनेके लिये डरता भी हूं। फिर भी यह भक्ति मुझे स्तुतिके लिये आगे बढ़ा रही है और प्रेरित कर रही है। अनौचित्य चिन्ताको भी छुड़ा रही है। (उचित अनुचित सोचे बिना ही स्तुति कर रहा हूं) ॥ ७४-७५ ॥

न मे मन्दाक्षता काचित् स्तुतिप्रस्तुतये प्रभोः ।
उद्गायामि विलज्जः सन्नृत्यामि च विरौमि च ॥ ७६ ॥

मन्दाक्षता (लज्जा) रूपी मन्दता भी मुझमें नहीं है। मैं धड़ल्लेसे कुछ भी स्तुतिरूपसे बोल जाता हूं, निर्लज्ज होकर गाता हूं, नाचता हूं, भगवानके सामने रोता हूं ।। ७६ ।।

रामायणादिशास्त्राणां तन्त्राणामप्यशेषतः ।
प्रवक्ता सर्वविद्यानामधिष्ठाता महेश्वरः ।। ७७ ।।
वेदः शिवः शिवो वेदो विशुद्धज्ञानविग्रहः ।
तस्याग्रे किं मम ज्ञानं का स्तुतिः का च दक्षता ।। ७८ ।।
तथाप्यमन्दीकृत्यैव भक्तिराधापयन् मया ।
वाक्यपुष्पोपहारं तत्पदयोः सच्चिदात्मनोः ।। ७९ ।।

रामायणादि शास्त्रोंके, समस्त तन्त्रोंके प्रवक्ता, सम्पूर्ण विद्याओंके अधिष्ठाना महेश्वर हैं। अधिक क्या वेद ही शिव है, शिव ही वेद है। उस भगवान के सामने मेरा क्या ज्ञान, क्या स्तुति और कौनसी दक्षता है? फिर भी भक्तिने मुझे निर्लज्ज बनाकर, अग्रसरकर सच्चिदात्मा शंकर भगवानके चरणोंमें वाक्यरूपी पुष्पोंका उपहार चढ़वाया। ७७-७९ ।।

मां च मन्दमतिं भक्तिरमन्दं सुज्ञमादधात् ।
भक्त्या मामभिजानातीत्युक्तिं विदधती सतीम् ।। ८० ।।
तथा च भक्तिलब्धेन ज्ञानेन परमार्थत ।
स्तुतिर्यथार्थमेवार्थं द्योतयन्ती प्रवर्तते ।। ८१ ।।
वाक्यपुष्पोपहारं तमिममङ्घ्र्योस्तवार्पये ।
वरदस्त्वमभीष्टार्थं मोक्षाख्यं देहि मे वरम् ।। ८२ ।।

मैं मन्दमति हूं, भक्तिने मुझे अमन्द बनाया और "भक्त्या मामभिजानास्ति" इस उक्तिको सार्थक किया। उस भक्तिलब्ध परमात्मज्ञानसे यथार्थ अर्थका ही द्योतन करती हुई यह स्तुति प्रवृत्त हुई है। इस वाक्यपुष्पोहारको आपके चरणोंमें मैं समर्पित करता हूं। आप वरद हैं। अभीष्ट मोक्षाख्य वर देकर हमें कृतार्थ करें ।। ८०-८२ ।।

नमः परमकल्याण नमः परमपावन ।
सनाथयोररीकृत्य वाक्यपुष्पाञ्जलिं जनम् ।। ८३ ।।

हे परमकल्याण ! परमपावन ! इस वाक्यपुष्पाञ्जलिको स्वीकारकर हमें सनाथ करो ।। ८३ ।।

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ ।
महिम्नः स्तोत्रवृतौ वृत्तः स्पन्द उपान्तिमः ।। ३१ ।।

ॐ

द्वात्रिंश: श्लोक:

बाह्योपि महिमेशस्य दुर्निरूप इतीरितम्।
कस्य स्तुत्यः कतिविध-गुण इत्यादिना पुरा ॥ १ ॥

"स कस्य स्तोतव्य: कतिविधगुण:" इत्यादिमें परमेश्वरकी औपाधिक बाह्य महिमा का भी निरूपण अशक्य है यह बताया ॥ १ ॥

तच्चोपपादयन्नेव तद्द्वारापि महामुनिः।
महिमानं भगवत उपसंहरतेऽधुना ॥ २ ॥

उसका भी उत्पादन करते हुए उसके द्वारा भी भगवानकी महिमा का उपसंहार अब महामुनि कात्यायन कर रहे हैं ॥ २ ॥

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥ ३२ ॥

नीलाञ्जन पर्वतके समान स्याही हो, सागर समूचा दावात हो, कल्पवृक्ष शाखा कलम हो और कागज पूरी पृथिवी हो, तथा साक्षात् सरस्वती उस कलमसे अनन्तकाल तक लिखती रहें तो भी हे भगवन् ! आपके गुणों का पार पाया नहीं जा सकता ॥ ३२ ॥

शारदा

ब्रह्मा तु जगतः सृष्टिकार्ये व्यस्तमनाः भवेत्।
पौरोहित्ये च देवानां गुरुस्तावद् बृहस्पतिः ॥ ३ ॥
अतस्त्यक्त्वा सुरगुरू शारदां गुणवर्णने।
वाग्वादिनीं भगवतीमादाद् विद्यास्वरूपिणीम् ॥ ४ ॥

"किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदं" इस प्रकार यद्यपि पहले सुरगुरु बृहस्पति या ब्रह्माका उपादान किया। किन्तु ब्रह्माजी सृष्टिमें व्यस्त हो सकते हैं, और बृहस्पति जी देवताओं के गुरु जो ठहरे. उन्हीं के पौरोहित्यमें लगे रह सकते हैं, अतः गुणोंको पार नहीं कर सकने मे हेत्वन्तर हो सकता

है। अतः उन दोनोंको छोड़कर भगवद्गुण लेखनमें शारदाकी कल्पना की जा रही है जिसका दूसरा कोई काम प्रतिबन्धकरूपसे सम्भावित नहीं है। वह वाग्वादिनी है विद्यास्वरूपिणी है, और भगवती भी है ॥ ३-४ ॥

सर्वकालं

असिताद्रावववसिते सर्वकालमितीरणात् ।
असिताद्यन्तरं सद्यः समुत्पन्न प्रकल्प्यताम् ॥ ५ ॥
एवं चानन्तनीलाद्रिसमकज्जलकल्पना ।
कर्त्तव्यैवं सिन्धुपात्रमुर्वीपत्रं च बुध्यताम् ॥ ६ ॥

असितगिरि परिच्छिन्न होनेसे समाप्त होगा। इधर सर्वकालं कहकर अनन्त कालतक लिखनेकी बात बतायी जा रही है। अतः यही समझना चाहिये कि एक नीलाद्रि समाप्त होते ही दूसरा नीलाद्रि उत्पन्न होकर स्याही के लिये आ जाता है। फलतः यहां अनन्त नीलाचलोंके सदृश स्याही की कल्पना समझना चाहिये। वैसे सिन्धुपात्र आदिमें भी समझना चाहिये। एक सिन्धु समाप्त हुआ तो दूसरा सिन्धु आ गया। एक पृथिवी-पत्र समाप्त हुआ लिखते-लिखते तो दूसरा पृथिवीपत्र तैयार इत्यादि। कल्पतरुशाखा भी यदि घिसती हो तो अनन्त कल्पतरुशाखा भी कल्पनीय है ॥ ५-६ ॥

तव गुणानामीश

वाचामगोचरपदं मनसोऽपि यदीरितम् ।
तदेवोपाधिवशतः सगुणत्वं प्रपद्यते ॥ ७ ॥
ततः सगुणमादाया–प्युपसंहरताऽर्थतः ।
लिलक्षयिषितं तत्त्वमखण्डं परमर्षिणा ॥ ८ ॥

जो वाणी और मनका अविषय बताया गया वही उपाधिवशतः सगुण होकर वाङ्मनसविषय होता है अतः सगुणके उपसंहारसे भी अर्थतः अखण्डतत्व ही महर्षि कात्यायन लक्षित करते हैं ॥ ७-८ ।

स्वयंप्रकाशमद्वैत –मवाङ्मनसगोचरम् ।
लक्ष्यं सगुणवाक्यैस्तदिति वेदान्तनिश्चयः ॥ ९ ॥
भक्तिश्च परमेशान—विषया सत्यवर्त्म ःम् ।
सम्बलं लक्ष्यसंप्राप्ताविति वेदान्तनिर्णयः ॥ १० ॥

क्यों अखण्डतत्त्व लिलक्षयिषित है ? इसलिये कि स्वयं प्रकाश अद्वैत-तत्त्व वाणी और मनका विषय नहीं है। सगुणवाक्योसे ही उसको लक्षित

करना पडता है। अतः सगुणवर्णनका उसीमें तात्पर्य है। यहां एक दूसरी बात यह है कि इस श्लोकमें तथा पूरे ग्रन्थमें भी भक्ति स्पष्ट है। परमेश्वर विषयक भक्ति सत्यमार्गियोंके लिये संवल (सम्यक बल और रास्तेका भोजन) है। लक्ष्यप्राप्तिके लिये वह भी आवश्यक है। यह "परो भक्तिवशः पुमान्" "यस्य देवे परा भक्तिः" इत्यादि वेदान्तवाक्यनिर्णीतार्थ है ॥९-१०॥

पारं न याति

यस्या विद्यात्मविधया वाग् वपुर्विधया स्थिता।
सा शारदा गुणानां न पारं याति महेशितुः ॥ ११ ॥

तत्र वाणी च विद्या च प्रक्रमेतां कथं प्रभौ।
असद्विद्यामसद्वाचां मादृशां परमात्मनि ॥ १२ ॥

साक्षात् विद्यादेवी वाग्देवी शारदा जिसके गुणोंका पार नहीं पा सकती उस प्रभु परमात्मामें असद्विद्य, असद्वचन हमारी विद्या और वाणी कैसे प्रवेश कर सकती है ॥ ११-१२ ॥

नेदिष्ठाय दविष्ठाय नम इत्यादितस्ततः।
भूयिष्ठां नमउक्तिं ते वयं हि विदधीमहि ॥ १३ ॥

इसलिये अन्ततः हम नमो नेदिष्ठाय, नमो दविष्ठाय इत्यादि रीति आपको बहुवार नमस्कारवचन कहकर ही सन्तोष करते हैं ॥ १३ ॥

वाचामगोचरापारगुणयोगमुपेयुषे　　।
सदानन्दजुषे शान्तवपुषे मीढुषे नमः ॥ १४ ॥

वाग्देवता एवं अस्मदादिवाणीके अविषय अपारगुणोंसे युक्त, सतत आनन्द स्वरूप शान्तवपु भगवान् शंकरको हम प्रणाम करते हैं ॥ १४ ॥

इति श्री काशिकानन्दयोगिनः कृतिनः कृतौ।
माहिम्नः स्तोत्रविवृतौ वृत्तः स्पन्दोऽयमन्तिमः ॥ ३२ ॥



ॐ

अमुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
ग्रंथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य ।
सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ।। ३३ ।।

असुर, देवता और मुनिवर जिसकी अर्चना करते हैं, गुण महिमाका ग्रथन करते हैं उस चन्द्रशेखर अथ च निर्गुण परमेश्वरकी सकलगुणसम्पन्न पुष्पदन्तनामा आचार्यने बड़े छन्दोंमें यह सुन्दर स्तुति बनायी ।। ३३ ।।

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथात्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमांश्च ।। ३४ ।।

भगवान शंकरके निर्दोष इस स्तोत्रको शुद्धचित्त होकर जो मनुष्य परमभक्तिमे प्रतिदिन पढ़ता है वह शिवलोकमें रुद्रके सामरूप्यको प्राप्त होगा और यहां भी प्रचुरधन तथा दीर्घायुको प्राप्त होगा, पुत्रवान होगा, कीर्तिमान होगा ।। ३४ ।।

दीक्षा दानं तपस्तीर्थ-स्नानं यागादिकाः क्रियाः ।
महिम्नःस्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।। ३५ ।।

दीक्षा, दान, तप, तीर्थस्नान, याग इत्यादि क्रियायें महिम्नःस्तोत्र पाठके सोलहवीं कलाके भी योग्य नहीं ।। ३५ ।।

आसमाप्तमिदं स्तोत्रं सर्वमीश्वरवर्णनम् ।
अनौपम्यं मनोहारि पुण्यं गन्धर्वभाषितम् ।। ३६ ।।

पुष्पदन्तोक्त समाप्तिपर्यन्त ईश्वरवर्णनात्मक समूचा यह स्तोत्र अनुपम, मनोहर एव पुण्यस्वरूप है ।। ३६ ।।

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥ ३७ ॥

महेशसे बढ़कर दूसरा कोई देव नहीं है, महिम्नसे बढ़कर कोई स्तुति नहीं, अघोरसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं, गुरुसे बढ़कर कोई तत्त्व नहीं ॥ ३७ ॥

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
शशिधरवरमौलेर्देवदेवस्य दासः ।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्
स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ॥ ३८ ॥

चन्द्रकलाधारी भव्यमस्तकसे शोभायमान महादेव भगवान शंकरके पुष्पदन्त नामक गन्धर्वराजने शंकररोषसे नष्टमहिमा होनेसे इस दिव्य दिव्य महिम्नः स्तोत्रकी रचना की ॥ ३८ ॥

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुम्
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः ।
व्रजति शिवसमीपं किंनरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥ ३९ ॥

बड़े बड़े एवं मुनियोंके सम्माननीय स्वर्गमोक्षदाता पुष्पदन्तप्रणीत अमोघ इस स्तोत्रको अनन्यमनस्क एवं प्रांजलि होकर यदि मनुष्य पाठ करता है तो वह किंनरोंसे स्तूयमान हो शिवसामीप्यको प्राप्त होगा ॥ ३९ ॥

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥ ४० ॥

श्रीपुष्पदन्तके मुखपंकजसे निर्गत, पापहारी, शंकरका प्रिय यह स्तोत्र कण्ठस्थ कर समाहितचित्त होकर पढ़ें तो भूतपति शंकर भगवान परम प्रसन्न होते हैं ॥ ४० ॥

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छंकरपादयोः ।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ।। ४१ ।।

इस प्रकार यह वाङ्मयी पूजा भगवान शंकरके चरणोंमें मैं अर्पण करता हूं । उससे महादेव सदाशिव मुझपर प्रसन्न हों ।। ४१ ।।

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ।। ४२ ।।

हे देव ! जो अक्षर या पद छूट गया और कहीं मात्रा छूट गयी तो सब क्षमा करो और हे परमेश्वर ! हमपर प्रसन्न हों ।। ४२ ।।

।। इति श्री पुष्पदन्तविरचितं शिवमहिम्नः स्तोत्रं सम्पूर्णम् ।।

फल श्रुतिस्तथा ग्रन्थप्रशस्तिश्च प्रकाश्यते ।
ग्रन्थकृन्नाम च श्लोकैरसुरेत्यादिभिः शिवम् ।। १ ।।

"असुरसुरमुनीन्द्रैः" इत्यादि श्लोक में फलश्रुति का एवं ग्रन्थप्रशस्तिका प्रकाशन किया गया है । तथा ग्रन्थकारका नाम-निर्देश एव अन्य विशेषताओं का वर्णन भी किया गया है ।

।। इस प्रकार यह व्याख्या यहाँ समाप्त होती है ।।



प्रवचनसंदर्भे यद् व्याख्यातं विस्तरेण तद्धि मया ।
लोकानामनुवर्त्त्यै श्लोकैः संक्षिप्य संदृब्धम् ॥ १ ॥

कथाप्रवचनके संदर्भमें मैंने विस्तारसे जो बताया था, लोग उसका अनुवर्तन कर सकें एतदर्थ लोकसेवार्थ इसे संक्षेप कर श्लोकोंमें संगृहीत किया ॥ १ ॥

सकलं श्लोकरहस्यं वक्तुं कात्यायनस्य कः प्रभवेत् ।
शेषो वक्त्रसहस्रैर्व्याचष्टे यस्य किल वाक्यम् ॥ २ ॥

कात्यायनमुनिके श्लोकोंका संपूर्ण रहस्य भला कौन कह सकता है ? जिनके वाक्य (वार्तिक) की शेष भगवान् (पतञ्जलि) हजारों मुखोंसे व्याख्या करते हैं ॥ २ ॥

कात्यायनाय मुनये वररुचये नौमि पुष्पदन्ताय ।
येन विरचितं रुचिरं परमं स्तोत्रं शिवमहिम्नः ॥ ३ ॥

कत्यायन, वररुचि आदि नामवाले पुष्पदन्तको हम नमन करते हैं जिन्होंने सुन्दर उत्तम शिव महिम्नः स्तोत्रकी रचना की ॥ ३ ॥

पाणिनिरनेन निकृतः शिवमाराध्याप परमविज्ञानम् ।
व्याकरणशास्त्रमकरोत् पुनरपि निकृतः क्वचिदनेन ॥ ४ ॥

तर्हि महेश्वररोषाद् भ्रष्टोऽयं वररुचिर्निजमहिम्नः ।
स्तवनं महिम्न ईशितुरकरोत्किल दिव्यदिव्यमिदम् ॥ ५ ॥

पाणिनिने मूढ होनेसे इनसे तिरस्कृत होकर शिवजीकी तपस्याकी थी और महान ज्ञान प्राप्त किया। फिर अष्टाध्यायी व्याकरण शास्त्रकी रचना की । लेकिन फिर भी एक बार शास्त्रार्थमें कात्यायनने उन्हें परास्त किया था । तब भगवान् शंकर रुष्ट हो गये और हुंकार किया तो कात्यायन अपनी महिमासे भ्रष्ट हो गये । उस महिमाको पुनः प्राप्त करनेके लिये शंकरका दिव्यातिदिव्य यह महिम्नः स्तोत्र बनाया ॥ ४-५ ॥

संततकृतनुतितुष्टाल्लब्ध्वा ज्ञानं महेश्वराद्दिव्यम् ।
तेनादिष्टश्चक्रे व्याकरणे वार्तिकग्रन्थम् ॥ ६ ॥

काचान्वेषीकी मणिप्राप्तिवत् महिम्नस्तुतितुष्ट शंकरसे कात्यायनने दिव्यज्ञान प्राप्त किया। निरपेक्ष होनेपर भी शंकरादेश पाकर अष्टाध्यायी-पर वार्तिकग्रन्थरचना की ॥ ६ ॥

तस्यास्य शिवमहिम्नः स्तोत्रस्यात्यन्तदिव्यदिव्यस्य ।
अकरोदतिसंक्षेपाद् वृत्तिं जयमङ्गलाचार्यः ॥ ७ ॥

इस अत्यन्त दिव्य महिम्नः स्तोत्रकी अत्यन्त संक्षेपसे यह वृत्ति जय-मंगलाचार्यने लिखी। (कथाओंका विस्तार पुराणोंमें होनेसे श्लोकसूचित कथाओंका संक्षिप्त वर्णन ही यहांपर है) ॥ ७ ॥

अनया तुष्यतु भगवान् वृत्त्या निजपादपङ्कजार्पितया ।
अनुगृह्णात्वपि सकलान् प्रसादतः स्वान् महेश इति ॥ ८ ॥

इस वृत्तिसे जो उनके संमुख समर्पित है, शंकर भगवान् संतुष्ट हों और प्रसादसे स्वजन परअनुग्रह करें ॥ ८ ॥

इति श्री जयमङ्गलाचार्य (महामण्डलेश्वर काशिकानन्दयति)—
विरचितं महिम्नःस्तोत्रस्पन्दवार्तिकम्



ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ तत्सत्



श्रीपुष्पदन्ताचार्यविरचितम्

महिम्नःस्तोत्रम्

महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीकाशिकानन्दगिरि कृतसंक्षिप्तानुवादसमेतम्

गजाननं भूतगणाधिसेवितं कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम् ।
उमासुतं शोकविनाशकारकं नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम् ।।

गजाननं=गजवदन (हाथी के समान मुखवाले); **भूतगणाधिसेवितं**=भूतगणों के द्वारा अत्यन्त सन्तत सेवित **कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणं**=कैथ तथा जामुन के फलों को सानंद खानेवाले **शोकविनाशकारकं**=शोकहारी **उमासुतं**=पार्वतीपुत्र **विघ्नेश्वरपादपङ्कजं**=परमपूज्यविघ्नेश भगवान् को (गणेशजीको) **नमामि**=मैं प्रणाम करता हूं ।

श्री पुष्पदन्त उवाच

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः ।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ।। १ ।।

शिवपक्ष

हर=सकलतापहारी हे शंकर ! ते=आपकी **महिम्नः**=महिमा की **पारं**=सीमाको **अविदुषः**=न जानने वाले (हम जैसों) की **स्तुतिः**=स्तुति **यदि**=यदि **ते महिम्नः असदृशी**=आपकी महिमा के अनुरूप न हो **तत्**=तो **ब्रह्मादीनां**=ब्रह्मा आदि की **अपि**=भी **गिरः**=वाणी-स्तुति **त्वयि**=आपके विषय में **अवसन्नाः**=अयोग्य ही है **अथ**=यदि यह कहें कि **स्वमतिपरिणामावधि**=अपनी बुद्धि के परिपाक के अनुसार **गृणन्**=स्तुति करते हुए **सर्वः**=सभी **अवाच्यः**=अनुपालम्भनीय हैं, आक्षेप योग्य या अपवादयोग्य नहीं हैं तो **मम अपि**=मेरा भी **स्तोत्रे**=स्तुति विषयक (स्तुति करनेका)

एषः=यह **परिकरः**=आरम्भ-प्रयत्न **निरपवादः**=अपवादयोग्य नहीं है उचित ही है ॥ १ ॥

विष्णुपक्ष

अयि=हे **पर-म**=लक्ष्मीपति भगवान् ! **ब्रह्मादीनां**=ब्रह्मा आदि की **गिरः**=वाणी का **पारं**=पार **विदुषः**=जानने वाले **ते**=आपकी **महिम्नः**=महिमा की **यदि**=यदि **स्तुतिः**=स्तुति हो **तत्**=तो वह **ते महिम्नः**=आप की महिमाके **असदृशी**=अननुरूप एवं **अवसन्नाः**=अतितुच्छ **अपि**=भी **अस्तु**=भले हो; वह भी सार्थक ही है। क्योंकि **अथ**=इस के बाद-ऐसी स्तुति के फलस्वरूप **अतिपरिणामावधि**=अतिमात्र (अपनी शक्तिसे भी अधिक) **स्वं**=अपनी (भगवान् की) **गृणन्**=स्तुति करनेवाले (पूर्वोक्त) **सर्वः**=सभी (चाहे ब्रह्मा हो चाहे मूढ) **ते**=आप के लिये **आवाच्यः**=अभिमुख संभाषणीय हो जाते हैं (जैसे प्रह्लाद नारदादि से आप बात-चीत सभी करते थे) ऐसे **स्तोत्रे**=स्तुति करने वाले के लिये **अपि**=भी **मम**=मेरा **अहः** (अहः)=सदा **एषः**=यह **अनिरपवादः**=निःशेष अपवाद-दूषण रहित **परिकरः**=स्तुति नमस्कारादि है (आप के लिये तो सदा है ही) ॥ १ ॥

> **अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-**
> **रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।**
> **स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः**
> **पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥ २ ॥**

शिवपक्ष

तव=आपकी **महिमा**=महिमा **वाङ्मनसयोः**=वाणी और मन का **पन्थानं**=मार्ग को **अतीतः च**=अतिक्रमण किये हुए ही हैं। अर्थात् वाणी और मन का अविषय है यह निश्चित है। **अतद्व्यावृत्त्या**=अनात्मा के निषेध द्वारा या भागत्याग द्वारा **यं**=जिसको **चकितं**=भीत से **श्रुतिः अपि**=वेद भी **अभिधत्ते**=कहते हैं **सः**=ऐसे आप **कस्य**=किस के **स्तोतव्यः**=स्तोतव्य हैं, अर्थात् ऐसे वाणी और मन के अविषय आप की स्तुति कौन कर सकता है ? कोई नहीं। **कतिविधगुणः**=कितने ही प्रकार के गुण वाले आप हैं ? अर्थात् अनन्त गुण हैं या निर्गुण हैं। **कस्य**=किस के **विषयः**=विषय आप हैं ? अर्थात् किसी के विषय नहीं हो सकते। **तु**=हां, किन्तु **अर्वाचीने**=(लीलोपात्त) नवीन साकार **पदे**=स्वरूप में **कस्य मनः**=किस का मन

न पतति=नहीं लगेगा ? अर्थात् सब का लगेगा **कस्य वचः**=किसकी वाणी **न पतति**=नहीं प्रवृत्त होगी ? अर्थात् सब की प्रवृत्त होगी ॥ २ ॥

दूसरा अर्थ

तव=आप की **महिमा**=महिमा **वाङ्मनसयोः**=वाणी और मन के **पन्थानं अतीतः**=अगोचर है । **अतद्व्यावृत्त्या**=कार्यप्रपञ्चके भेदसे **चकितं**=मानो कि भीत हो ऐसे **यं**=जिस (आप) को **श्रुतिः अपि**=वेद भी **अभिधत्ते**=कहते हैं । अर्थात् भगवान् भी भयभीत हैं कि ये अज्ञानी जन मुझ से अलग कर के जगत् को देख न लें तभी तो यक्ष के रूप में देवताओं के सामने आये । **सः**=वह आप **कस्य स्तोतव्यः**=किस के लिये स्तुति विषय हो सकते हैं ? कौन आप की स्तुति कर सकता है ? कोई नहीं । **कतिविधगुणः**=कितने ही आप के गुण हैं ? अर्थात् अनन्त हैं । **कस्य**=किस के **विषयः**=विषय आप हो सकते हैं ? किसी के नहीं । **तु**=किन्तु **अर्वाचीने**=नवीन अर्थात् भक्तानुग्रहार्थ अवतारादि रूपसे गृहीत **पदे**=रूप में **कस्य**=किस का **मनः**=मन **अप-तति**=बाह्यविषयों से संकुचित अर्थात् विमुख **न (भवति)**=न होगा ? और **कस्य**=किसकी **वचः**=वाणी **अप-तति**=इतर विषयों को छोडकर भगवन्मात्र में संकुचित **न (भवति)**=न होगी ? ॥ २ ॥

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवतः
तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम् ।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ॥ ३ ॥

शिवपक्ष

ब्रह्मन्=हे भगवन् ! **मधुस्फीताः**=माधुर्यादिशब्दालंकारयुक्त **परमं अमृतं**=मोक्षरूपी अमृत के हेतु होने से अर्थालंकारपूर्ण **वाचः**=वेदवाणी को **निर्मितवतः**=निःश्वास से प्रकट करनेवाले **तव**=आप को **सुरगुरोः**=ब्रह्मा की **अपि**=भी **वाक्**=वाणी **विस्मयपदं**=विस्मय उत्पन्न करनेवाली **किं**=होगी क्या ? कदापि नहीं । मेरे जैसों की तो बात ही क्या ? अतः आप को विस्मय कराने के लिये नहीं **तु**=किन्तु **पुरमथन**=हे त्रिपुरारी ! **भवतः**=आप के **गुणकथनपुण्येन**=गुणगान के पुण्यसे **मम एतां वाणीं**=मेरी इस वाणी को **पुनामि**=पवित्र करूँ **इति**=इस अभिप्राय से **अस्मिन्**=इस **अर्थे**=स्तुति कार्य में **मम**=मेरी **बुद्धिः**=बुद्धि **व्यवसिता**=प्रवृत्त हुई है ॥ ३ ॥

विष्णुपक्ष

पुरमथन=जिसका मन्थन हुआ है ऐसा क्षीर सागर, अथवा जहां दधिमन्थन होता है ऐसा गोकुल जिसका आवास स्थान है ऐसे हे भगवन्! **ब्रह्मन्**=हे परमेश्वर! **वाचः**=समस्त वाणी का **परमं**=निरतिशय। गहरे से गहरा) **अमृतं**=सार **निर्मितवतः**=(निर+मितवतः) जाननेवाले **सुरगुरोः**=हिरण्यगर्भादि सभी देवों के आचार्य **तव**=आपको **मधुस्फीता**=माधुर्य से व्याप्त,अत्यन्त मधुर **वाक् अपि**=सरस्वती देवी भी **विस्मयपदं**=आश्चर्य चकित करानेवाली **किं**=हो सकती है क्या? जब सरस्वती देवी स्वयं आप को आश्चर्यचकित नहीं करा सकती तो हमारी बात ही क्या? इस लिये मैं स्वयं स्तुति करने में प्रवृत्त नहीं हुआ हूं! मैं तो यहि समझता हूं कि,- **ममत्वे**=ममता मोह में पड़ी हुई (मेरी) **तां**=उस **वाणीं**=वाणी को **गुण-कथन-पुण्येन**=अपने गुणानुवाद के पुण्य से **पुनामि**=पवित्र किये देता हूं **इति अस्मिन्**=इस **अर्थे**=प्रयोजन को लक्ष्य रखकर **भवतः**=आप की **बुद्धिः**=बुद्धि (मायोपाधिवृत्ति) **व्यवसिता**=(हम से स्तुति कराने के लिये) प्रवृत्त हुई है। अर्थात् भगवान् यह सोच कर कि मेरे भक्त की वाणी को पवित्र करा दूं, हमारे से खुद स्तुति कराते हैं। यह भगवान् की अहैतुकी कृपा है ॥ ३ ॥

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानामस्मिन् वरद रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ॥ ४ ॥

वरद=सकलाभीष्टप्रद हे भगवन्! **यत्**=जो **तव**=आपका **जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्**=जगत् की सृष्टि रक्षा एवं संहार करने वाला **त्रयीवस्तु**=तीनों वेदों का परम तात्पर्यार्थस्वरूप एवं **तिसृषु**=तीन **गुणभिन्नासु**=सत्त्वादिगुणविभक्त **तनुषु**=शरीरों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के रूपमें **व्यस्तं**=विभक्त **ऐश्वर्यं**=ऐश्वर्य है **तत्**=उस को **विहन्तुं**=खण्डन करने के लिये **एके**=कुछ **जडधियः**=जडबुद्धि-मूढ **अस्मिन्**=इस जगत में भी **अभव्यानां**=जिनका कल्याण न होना हो ऐसे लोगों को **रमणीयां**=अच्छा लगने वाला किन्तु **अमरणीं**=अशोभन **व्याक्रोशीं**=आक्षेपवचन **इह**=इस संसार में **विदधते**=कहते रहते है ॥ ४ ॥

दूसरा अर्थ

वरद=सकलाभीष्टप्रद हे भगवन ! **यत्**=जो **तव**=आप का **जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्**=जगत की उत्पत्ति, रक्षा और प्रलय करनेवाला **त्रयीवस्तु**=ऋग्वेद, यजुर्वेद, तथा सामवेदरूपी तीनों वेदों में परम तात्पर्य से पतिपाद्य वस्तु एवं **गुणभिन्नासु**=सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से भिन्न **तिसृषु**=तीन **तनुषु**=शरीरों में **व्यस्तं**=विभक्त अर्थात् ब्रह्मा विष्णु और शिव के रूप में स्थित **तत्**=वह प्रसिद्ध **ऐश्वर्यं**=ऐश्वर्य है **अस्मिन्**=उस ऐश्वर्य के बारे में **अभव्यानां**=जिन का कल्याण कभी नहीं होना है उन में भी **जडधियः**=जो जडमति हैं उनकी **अरमणीं**=अशोभन **व्याक्रोशीं**=आक्षेपवचन (बकवास) को **विहन्तुं**=खण्डन करने के लिये **इह**=इस संसार में **एके**=कुछ महान् लोग **रमणीयां**=शोभन **व्याक्रोशीं**=शास्त्रार्थ **विदधते**=करते हैं ।

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥ ५ ॥

सः खलु=वह [जिस को तुम मानते हो] **धाता**=परमेश्वर **किमीहः**=कैसी क्रिया करता है **किंकायः**=उस का शरीर कौनसा है **किमुपायः**=कौन उपकरण सामग्री उसके पास है **किमाधारः**=आधार उस का क्या है **च**=और **किमुपादानः**=उपादान वस्तु उसके पास क्या हैं जिन से कि वह **त्रिभुवनं**=तीनों लोकों की **सृजति**=सृष्टि करता है **इति**=इस प्रकार का **त्वयि**=आप के बारे में **अतर्क्यैश्वर्ये**=जिन का ऐश्वर्य कि तर्क का विषय नहीं है, **अनवसरदुःस्थः**=अवकाशशून्य अत एव दुःस्थित **अयं**=यह **कुतर्कः**=कुतर्क **जगतः**=लोगों को **मोहाय**=भ्रान्ति में डालने के लिये **कांश्चित्**=कुछ **हतधियः**=मंदबुद्धियों को या दुर्बुद्धियों को **मुखरयति**=वाचाल बना देता है ॥ ५ ॥

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठतारं किं भवविधिरनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥ ६ ॥

अमर-वर=हे महादेव ! **अवयववन्तः**=सावयव **अपि**=भी **लोकाः**=जगत् **किं**=क्या **अजन्मानः**=जन्मरहित हो सकता है ? **जगतां**=जगत् की

भव-विधिः=उत्पत्ति क्रिया **अधिष्ठातारं** = कर्ता की **अनादृत्य**=अपेक्षा किये विना **किं भवति**=क्या हो सकती है ? **वा**=और यदि **अनीश** = ईश्वर से अन्य कोई **कुर्यात्**=बनावे तो **भुवन-जनने**=जगत् को उत्पन्न करने में **कः परिकरः**=क्या सामग्री हो सकती है ? **यतः**=इस लिये **मन्दाः** = मूढ ही **त्वां प्रति**=आप के बारे में (भगवान् के बारे में) **इमे**=ये **संशेरते**=संशय करते हैं (ईश्वर है या नहीं इत्यादि संशय करते हैं ॥ ६ ॥

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ ७ ॥

त्रयी=तीन वेद **सांख्यं**=सांख्यशास्त्र **योगः**=योगशास्त्र **पशुपतिमतं**=पाशुपतशास्त्र (शैवागम) **वैष्णवं**= वैष्णशास्त्र (पांचरात्र) **इति**= इत्यादि **प्रभिन्ने**=भिन्न भिन्न **प्रस्थाने**=सिद्धान्तप्रतिपादकशास्त्रोंमें **इदं**= यह **परं**=श्रेष्ठ है **पथ्यं**=हितकारी है **अदः परं पथ्यं**=वह श्रेष्ठ है, हितकारी है **इति च**=ऐसे ऐसे **रुचीनां**=रुचि **वैचित्र्यात्**=विचित्र होने से **ऋजु कुटिल नाना पथजुषां**=सीधे और टेढे नाना पंथोंका सेवन करने वाले अपनाने वाले **नृणां**=लोगों के लिये वास्तव में **त्वं**=आप **एकः**=एक ही **गम्यः**=प्राप्य है **इव**=जैसे **ऋजुकुटिलनाना पथ जुषां**=सीधे टेढे नाना मार्ग में चलने वाले **पयसां**=गंगा यमुना आदि जलके लिये **अर्णवः**=समुद्र ही **एकः**=एक **गम्यः** = प्राप्य है ॥ ७ ॥

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम् ।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहितां
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥ ८ ॥

शिवपक्ष

वरद=सकलाभीष्टप्रद हे भगवान् ! **महोक्षः**=बूढा बैल **खट्वा-अङ्गं** खटिया का अंग (एकशस्त्र) **परशुः**=परशु **अजिनं**=मृगचर्म **भस्म**= भस्म **फणिनः**=सर्प **च**=और **कपालं**=खोपड़ी **इति इयत्**=इतनी **तव**=आप की **तन्त्र उपकरणं**=कुटुंबभरण की सामग्री है । **तु**=किं तु **सुराः**=देवता **भवद्भ्रूप्रणिहितां**=आपकी भ्रूकुटि के चालन से ही प्राप्त **तां तां**=उस उस **ऋद्धिं**=समृद्धि को **दधति**=धारण करते हैं **हि**=यह यथार्थ है कि **स्वात्मा-**

रामं=अपने आप में रमण करनेवाले को **विषयमृगतृष्णा**=विषयरूपी मृगमरीचिका **न भ्रमयति**=भ्रान्ति में नहीं डाल सकती ॥ ८ ॥

विष्णुपक्ष

वरद=सर्वाभीष्टप्रद भगवन् ! **महः**=तेजस्वरूप **अक्षः**=चक्र, **कपालं**=जल से पलने वाले शंख और पद्म **भस्म-फणिनः**=भस्म सदृश शुभ-वर्ण शेषनाग के **अजिनं**=चर्म तथा— **अङ्गं**=अङ्गरूपी **खट्वा**=शय्या (विस्तर), **परशुः**=परशुरामावतार में परशु **इति इयत्**=इतनी ही **तव**= आप की **तन्त्रोपकरणं**=निर्वाह सामग्री है **तु**=किन्तु **सुराः**=देवता **भवत्-भ्रू प्रणिहितां**=आप के भ्रुकुटि चालन से संपादित **तां तां**=उस उस **ऋद्धिं**=संपत्ति-समृद्धि को **दधति**=धारण करते हैं **हि**=यह सच है कि **रामं**=जिन में योगी रमण करते हैं ऐसे आनदस्वरूप राम अर्थात् भगवान् को **स्वात्मा**=जिस की आत्मा स्वयं भगवान है वह **विषयमृगतृष्णा**=माया मरीचिका **न भ्रमयति**=भ्रमित नही करा सकती ॥ ८ ॥

ध्रुवं कश्चित् सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये ।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवञ्जिह्लेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥ ९ ॥

पुरमथन=हे त्रिपुरारी ! **कश्चित्**=कोई (सांख्यमतानुयायी) **सर्व इदं**=समस्त इस जगत को **ध्रुवं**=नित्य-सत् **गदति**=कहता है। **अपरः तु**=दूसरे (बौद्धादि) तो **सकलं**=सबको **अध्रुवं**= अनित्य-असत् **गदति**= कहते हैं। **परः**=अन्य (नैयायिकादि) **समस्ते अपि**=सारे ही **एतस्मिन्**= इस **जगति**=जगत में **ध्रौव्य-अध्रौव्ये**=नित्यता और अनित्यता **व्यस्त-विषये**=अलग अलग वस्तुओं में **गदति**=कहते हैं। **अहं**=मैं **विस्मित इव**= अश्चर्यचकित सा **तैः**=इन सब वादों के द्वारा ही **त्वां**=आपकी **स्तुवन्**= स्तुति करता हुआ **जिह्लेमि न खलु** = लज्जित नहीं होता। **ननु**=क्यों कि **मुखरता**=वाचालता **धृष्टा**=ढीठ होती है ॥ ९ ॥

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ १० ॥

शिवपक्ष

गिरिश=कैलासवासी हे शंकर ! अनल-स्कन्ध-वपुषः=तेजःपुंज-शरीरधारी तव=आप के ऐश्वर्यं=स्थूलस्वरूपरूपी ऐश्वर्य को परिच्छेत्तुं=मापने के लिये यत्नात्=प्रयत्न से विरिञ्चः=ब्रह्माजी उपरि=ऊपर और हरिः=विष्णु भगवान् अधः=नीचे यातौ=गये यत् अनलं=किन्तु असमर्थ जो हुए ततः=उस से अन्य उपाय छोड़ कर यत्=चूंकि भक्ति-श्रद्धा-भर-गुरुगृणद्भ्यां=भक्ति और श्रद्धा के अतिशय से गौरवपूर्ण स्तुति करते हुए वे रहे अतः ताभ्यां=उन दोनों को दर्शन देनके लिये स्वयं=स्वयं ही आप तस्थे=प्रगट हो गये। सच है कि तव=आपकी अनुवृत्तिः=सेवा भक्ति किं न फलति=क्या फल नहीं देती। दर्शन पर्यन्त सभी फल देने वाली है ॥ १० ॥

विष्णुपक्ष

गिरिश=गोवर्धन पर्वत पर लीलाशयन करनेवाले या समुद्रमंथन के समय मंदराचल को पतला बनाने वाले हे भगवन्। अनलस्कन्धवपुषः=तेजःपुंजात्मक शरीरधारी तव=आपके ऐश्वर्यं=ऐश्वर्य को परिच्छेत्तुं=मानो मापने के लिये विरिञ्चः=ब्रह्माजी उपरि=ऊपर ब्रह्मलोक में हरिः=सर्प-शेषनाग अधः=नीचे पाताल में यातौ=पहुंचे। यत् किन्तु अनलं=असफल हुए। यत् ततः=इसलिये भक्ति-श्रद्धा-भर-गुरु-गृणद्भ्यां=भक्ति और श्रद्धाके अतिशयसे बड़ी स्तुति करते हुए स्वयं ताभ्यां=वे अपने आप तस्थे=स्थित हुए, ब्रह्मलोक से ऊपर और पाताल से नीचे जाने का पुनः साहस नहीं किया किं=क्या तव=आपकी अनुवृत्तिः=सेवा न फलति=फलित नहीं होती ? अवश्य होती है ॥ १० ॥

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद् बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥ ११ ॥

शिवपक्ष

त्रिपुरहर=हे त्रिपुरान्तक शंकर। दश-आस्यः=रावण त्रिभुवनं=तीनों भुवनों को अयत्नात्=अनायास ही अवैरव्यतिकरं=वैरकारणरहित आपाद्य=बनाकर अपने बाहून्=बाहुओं को रणकण्डूपरवशान्=युद्ध करने की खुजली से परेशान से यत्=जो अभृत=किया इदं=यह तो शिरः

पद्मश्रेणी-रचित-चरणा-म्भोरुहबलेः=अपने नौ शिरोंको कमल समान आपके चरणकमलों में चढ़ा कर की गयी स्थिरायाः=स्थिर त्वद्भक्तेः=आपकी भक्ति का ही विस्फूर्जितं=प्रभाव है ॥ ११ ॥

विष्णुपक्ष

त्रिपुरहर=जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्तिरूपी तीनों पुरों को हर कर मोक्ष प्रदान करने वाले हे भगवन् विष्णो ! दशास्यः=रावण त्रिभुवनं=तीनों भुवनों को अयत्नात्=अनायास ही अवैरव्यतिकरं=वैरकारण रहित आपाद्य बनाकर बाहून्=अपने बाहुओं को रणकण्डूपरवशान्=रण की खुजली से हैरान यत्=जो अभृत=बनाया [तत्]=वह स्थिरायाः=जन्मजन्मान्तरस्थायी त्वद्भक्तेः=आपकी भक्ति का ही विस्फूर्जितं=प्रभाव है [तथा=और] बलेः=बलि के शिरःपद्म-श्रेणी-रचित-चरणाम्भोरुह=कमल समान शिर रूपी निःश्रेणिका पर अपने चरण कमलको रखने वाले हे परमात्मन् ! इदं=यह [च=भी-] अर्थात् बलि के याग में जाना, तीन पग जमीन मांगना, दो पगमें सारे जगत्को मापना और अन्तमें तीसरा पग बलि के सिरमें रखना यह सभी बलेः=बलि की की हुई स्थिरायाः=सुदृढ़ त्वद्भक्तेः=आपकी भक्ति का ही विस्फूर्जितं=प्रभाव है ॥ ११ ॥

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात् कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥ १२ ॥

शिवपक्ष

त्वत्-सेवा=आपकी सेवा से समधिगत-सारं=बल को प्राप्त हुए भुज-वनं=जंगलके सदृश बीस हाथों को बलात्=बलपूर्वक त्वदधिवसतौ=आपके वासस्थान कैलासे अपि=कैलास पर्वत में भी विक्रमयतः=विक्रमण कराते हुए अथात् इस कैलास पर्वत को ही उखाड़ कर लंका ले जाऊं इस उद्देश्य से हाथों से कैलास को उखाड़ते हुए अमुष्य=उस रावण की प्रतिष्ठा=स्थिति त्वयि=जब आप अलस=धीमे से चलिताङ्गुष्ठशिरसि=अंगूठे के अग्रभाग को चलाया अर्थात् धीमेसे पांव के अंगूठे से कैलास पर्वत को दबाया, तब पाताले अपि=पाताल में भी अलभ्या आसीत्=दुर्लभ होने लगी अर्थात् रावण पाताल में जाकर दब गया। ध्रुवं=यह बात सत्य है है कि उपचितः खलः=संपन्न हुआ खल मुह्यति=विवेकहीन हो जाता है ॥ १२ ॥

विष्णुपक्ष

कैलासे=केलि अर्थात् केवल क्रीडाके निमित्त असि-नन्दकखड्ग धारण करनेवाले हे भगवान्! **त्वत्**=आपके **अधि-**=अधिकृत **वसतौ अपि**=वासस्थानके भी निमित भगवद्वासस्थान त्रिलोक के निमित्त **बलात्**=बलपूर्वक अनधिकृतरूपसे भुजवन=हस्तोदक त्वत्सेवा समधिगत **सारं**=जो कि आपके करकमल की सेवा से वस्तुत: सौभाग्यतिशय प्राप्त हो रहा था **विक्रमयत:**=देते हुए **अमुष्य**=उस राजा वलि की **अलभ्या प्रतिष्ठा**=अलभ्य प्रतिष्ठा महती प्रतिष्ठा **पाताले अपि**=पाताल में भी **आसीत्**=हो गयी थी **त्वयि**=जव आप ने **अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि**= तीसरा पग मापने के लिये धीमे से राजा बलि के सिर में पांव का अंगूठा रखा। वलि की त्रैलोक्य सम्पत्ति इस लिये छीनी कि:—**खल:**=असुर **उपचित:**=अधिकार सम्पन्न होने पर **ध्रुवं**=निश्चित **मुह्यति**=विवेक खो देता है ॥ १२ ॥

यदृद्धि सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः॥ १३॥

शिवपक्ष

वरद=सर्वाभीष्टप्रद भगवन्! **परिजन**=सेवकों के समान या अपने सेवकों के ही **विधेय**=अधीन **त्रिभुवन:**=जिसका त्रिभुवन हो गया ऐसे **बाण:**=वाणासुर ने **सुत्राम्ण:**=इन्द्र की **परम-उच्चै:**=अत्यन्त उन्नत **सतीम् अपि**=होती हुई भी **ऋद्धि**=सम्पत्ति समृद्धिको **यत्**=जो **अधश्चक्रे**= नीचा दिखाया **तत्**=वह **त्वच्चरणयो:**=आपके चरणों में **वरिवसितरि**= नमस्कार करने वाले **तस्मिन्**=उस वाणासुर में **न चित्रं**=कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योकि **त्वयि**=आपके सामने **शिरस:**=शिर **अवनति:**= नंवाना **कस्यै**=किस **उन्नत्यै**=उन्नति के लिये **न भवति**=समर्थ नहीं है? ॥ १३ ॥

विष्णुपक्ष

वरद=सर्वाभीष्टप्रद **परम**=लक्ष्मीपते! **सुत्राम्ण:**=इन्द्र का **परिजन विधेय त्रिभुवन:**=त्रिभुवन को सेवकके समान वशवर्त्ती बनानेवाला

बाणः=शर **अधःसतीं अपि** = दैन्यों के कारण नीचे गयी हुई भी **ऋद्धि** = राज्यादि सम्पत्ति को **यत्** = जो **उच्चैः** = ऊँची **चक्रे**=किया **तत्**=वह **त्वच्चरणयोः** = आप के चरणों में **वरिवसितरि** = प्रणाम करने वाले **तस्मिन** = उस इन्द्र में **न चित्रं** = कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि **त्वयि**=आपके सामने **शिरसः अवनतिः**=सिर झुकाना **कस्यै उन्नत्यै** = किस उन्नति के प्रति **न भवति**=कारण नहीं होता ॥ १३ ॥

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः ।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ॥ १४ ॥

शिवपक्ष

त्रिनयन=त्रिनेत्रधारी भगवन् ! **अकाण्ड**=असमयमें ही **ब्रह्माण्ड-क्षय**= ब्रह्माण्ड का नाश होते देखकर **चकित**=भयभीत हुए **देव असुर-कृपा**= देवता और असुरों के प्रति उत्पन्न हुई कृपा के **विधेयस्य**=वशीभूत (होकर) **विषं**=(अमृतमंथन के समय) जहर को **संहृतवतः तव**=पीनेवाले आपके **कण्ठे** = कण्ठमें **यः कल्माषः** = जो कालिमा **आसीत्**=हो गयी **सः कल्माषः**= वह कलिमा **तव कण्ठे** =आपसे गले में **श्रियं न कुरुते न**=शोभा न बढ़ाये ऐसी बात नहीं है **अहो**=ओह ! यह एक निश्चित यथ्य है कि **भुवन-भय-भङ्ग**=जगत् का भय नष्ट करना ही **व्यसनिनः**=जिसका व्यसन है उसके लिये **विकारः अपि**=विकार भी, भद्दा रंग भी **श्लाघ्यः**=प्रशंसनीय हो जाता है ॥ १४ ॥

विष्णुपक्ष

अकाण्ड-ब्रह्माण्ड-क्षय=असामयिक ब्रह्माण्डप्रलय से **चकितदेवासुर-कृपा**=भयभीतदेवादि के प्रति कृपा—**विधेयस्य**=परवश हुए **विषं संहृत-वत** =यज्ञवाराह के रूप में जल को सोखने वाले **तव**=आपके शरीर में **यः कल्माषः**=जो कीचड़ लगा **सः**=वह **कण्ठे**=श्रोताओं के कण्ठ में **श्रियं न कुरुते न**=शोभा न करें ऐसी बात नहीं । यह निश्चित है कि **भुवनभयभङ्ग व्यसनिनः**=जगत् का दुःख दूर करना जिसका व्यसन है उसका **विकारः अपि**=विकार भी **श्लाघ्यः**=स्तुतियोग्य होता है ॥ १४ ॥

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा नहि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥ १५ ॥

शिवपक्ष

ईश=हे परमेश्वर **जयिनः**=विजयशील **यस्य**=जिसके **विशिखाः**=बाण **जगति**=जगत में **सदेवासुरनरे**=जहां कि देवता, असुर, या मनुष्य कोई भी हो **क्वचिद् अपि**=कहीं भी **नित्यं**=कभी भी **असिद्धार्थाः**=अपना कार्य सिद्ध किये बिना **नैव**=नहीं ही **निवर्तन्ते**=लौटते नहीं-विफल नहीं होते **सः**=वह **स्मरः**=कामदेव **त्वां**=आपको **इतरसुरसाधारणं**=अन्य देवताओं के बराबर **पश्यन्**=देखने लगा, और फल यह हुआ कि वह **स्मर्तव्यात्मा**=स्मरणीयमात्र **अभूत्**=रह गया। अर्थात् भगवान् शंकर उसे भस्म कर स्मरणावशेष कर दिया। **हि**=यह बात निश्चित है कि **वशिषु**=जितेन्द्रियों का **परिभवः**=तिरस्कार **न पथ्यः**=हितकारी नहीं होता ॥ १५ ॥

विष्णुपक्ष

इतरसुर=सर्वविलक्षण हे देव **ईश**=हे भगवन्! **जयिनः यस्य**=विजयशील जिसके **विशिखाः**=बाण **जगति**=जगत में **सदेवासुरनरे**=देवता, असुर, और मनुष्य इनमें **क्वचिदपि नित्यं**=कहीं भी हमेशा ही **असिद्धार्थाः**=स्वकार्य सिद्ध किये बिना **नैव निवर्तन्ते**=नहीं ही लौटते **स्मर्तव्यात्मा**=भगवान् शंकर से नष्ट हुआ भी **सः स्मरः**=वह कामदेव **त्वां पश्यन्**=आपको देखकर **साधारणं**=आपके समानरूप से **अभूत्**=(प्रद्युम्न के रूप में) प्रगट हुआ। हां इतनी कमी जरूर थी कि **परिभवः**=सबको परिभूत करनेवाला वह काम **वशिषु न हि पथ्यः**=जितेन्द्रियों में प्रिय न रहा ॥ १५ ॥

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् ।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥ १६ ॥

शिवपक्ष

पादाघातात्=पाँव की टक्कर से **मही**=पृथिवी **सहसा**=एका एक **संशयपदं**=(कहीं फट न जाय ऐसे) संशय को **व्रजति**=प्राप्त होती है

विष्णोः पदं = विष्णुपद–अन्तरिक्ष भ्राम्यत् भुज = घूमते हुए भुजारूपी परिघ = परिघा से रुग्ण = पीड़ित ग्रहगणं = नक्षत्र समूहों से युक्त होकर संशयपदं व्रजति = संदेहास्पद होने लगता है अनिभृत = बिखरी हुई जटा-ताडित = जटाओं से ताडित तटा = जिसका प्रान्त प्रदेश हो ऐसा द्यौः = स्वर्गलोक दौस्थ्यं = टिकना कठिन हो जाय ऐसी स्थिति याति = प्राप्त होने लगती है। त्वं = आप जगत्-रक्षायै = जगत की रक्षा के लिये नटसि = नृत्य करते हैं ननु = आश्चर्य है कि विभुता = प्रभुपना वामा एव = विलक्षण ही होता है ॥ १६ ॥

विष्णुपक्ष

आघातात् = आघात करने वाले दुष्ट महीपात् = राजाओं से जब सा = वह मही = पृथ्वी सह = साथ साथ (आघात के साथ) संशयपदं = संकट को व्रजति = प्राप्त होती है भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणं = घुमते हुए राक्षसादि के हस्तपरिघ से सोमपात्रादि ग्रहगण का तोड़फोड़ जहां हो ऐसा जब विष्णोः पदं = यज्ञस्थान होने लगता है अनिभृतजट = पाखण्डववेषधारी आताडिततटा = जिसका खण्डन करें ऐसा द्यौः = स्वर्गलोक जब मुहुः = बार बार दौस्थ्यं याति = संशयास्पद होता है तब त्व = आप जगद्रक्षायै = जगत् की रक्षा के लिये नटसि = नट के समान अवतार लेकर आते हैं। यद्यपि अवतार लिये विना भी रक्षा भगवान् कर सकते थे। बात यह है कि ननु वामैव विभुता = प्रभु की लीला विलक्षण ही होती है ॥ १६ ॥

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते ।
जगद् द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि–
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥ १७ ॥

शिवपक्ष

वियत्-व्यापी = आकाश में व्याप्त तारागण = नक्षत्रगणों से गुणित = सौगुनी हजारगुनी बढ़ी हुई फेन–उद्गम-रुचिः = फेन के उद्गम की शोभा से युक्त वारां = जलका यः प्रवाहः = जो प्रवाह–त्रिपथगामिनी गङ्गा का प्रवाह ते = आपके शिरसि = शिर में पृषत-लघु-दृष्टः = बिन्दु के समान छोटा देखा गया तेन = उस (गंगा प्रवाह) ने ही जलधि-वलयं अपने जल से पूरित समुद्र को वलय बना कर जगत् = पृथिवी को द्वीपाकारं = द्वीप के आकार में कृतं = बनाया। इति अनेन एव = इसी से तव वपुः = आपका

शरीर कैसी धृतमहिम=महिमा युक्त और दिव्यं=दिव्य है यह उन्नेयं=अनुमान कर सकते हैं ।। १७ ।।

विष्णुपक्ष

तारा–गण–गुणितफेना=तारागणों से जिसमें फेन अधिक हो गये वैसी गंगा की उद्गमरुचिः=उत्पत्ति से शोभा पूर्ण, वियद्व्यापी=आकाश व्यापी, शिरसि=ब्रह्मलोकस्थित यः वारां प्रवाहः=जो जल प्रवाह ते=आपने पृषतलघुदृष्टः=बिन्दु से भी छोटा देखा था तेन=उस (जल प्रवाह) ने जलधिवलयं=समुद्ररूपी वलय बनाकर जगत् द्वीपाकारं कृतं=पृथिवी को द्वीपाकार बनाया इति अनेन एव = इससे ही दिव्यं=आकाश में आविर्भावित तव धृतमहिम=आपका महिमापूर्ण वपुः=शरीर त्रिविकम शरीर कैसा है यह उन्नेयं=अन्दाजा किया जा सकता है ।। १७ ।।

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ।। १८।।

शिवपक्ष

क्षोणी=पृथिवी को रथः=रथ बनाया। शतधृतिः=ब्रह्मा को यन्ता=सारथि, अगेन्द्रः= मेरुपर्वत को धनुः– धनुष, चन्द्रार्कौ=चन्द्र और सूर्य को रथाङ्गे=रथ के दो चक्र अथो=और रथचरणपाणिः=चक्रपाणि भगवान् विष्णु को शरः=बाण बनाया । त्रिपुरतृणं=त्रिपुररूपी तिनके को दिधक्षोः=भस्म करने की इच्छावाले ते=आप इति आडम्बरविधिः=इस प्रकार का आडम्बर करना अयं=यह कः=क्या है ? संकल्पमात्र से ही जब कि त्रिपुरनाश कर सकते थे खलु=हां यह निश्चित है कि विधेयैः=स्वाधीन वस्तुओं से क्रीडन्त्यः=कीला करने वाली प्रभुधियः=प्रभुओं की मर्जी न परतन्त्राः=पराधीन नहीं होती ।। १८ ।।

विष्णुपक्ष

रथः=इन्द्रादि का भेजा गया वह रथ क्षोणी=मानो पृथिवी ही था इतना विशाल था । यन्ता=सारथि तो शतधृतिः=ब्रह्मा ही था । धनुः=धनुष तो अगेन्द्रः=मेरुपर्वत ही था । रथाङ्गे=चक्र तो चन्द्रार्कौ चन्द्र और सूर्य ही थे शरः=वैष्णवास्त्र तो रथचरणपाणिः=स्वयं विष्णु ही ठहरे।

त्रिपुरतृणं=त्रिकूटशिखराश्रित लंकारूपी तृण को दिधक्षोः ते = जलाने के इच्छुक आप के लिये इति अयं आडम्बरविधिः कः=यह सब आडम्बर करना क्या है ? क्या इन्द्र रथ न भेजता, सुग्रीवसख्यादि न होते तो आप रावणादि को नहीं मार सकते थे ? खलु=हां यह निश्चित है कि विधेयैः क्रीडन्त्यः= स्वाधीन वस्तुओं से लीला करने वाली प्रभुधियः=प्रभु इच्छायें न परतन्त्राः= पराधीन नहीं होतीं ॥ १८ ॥

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥ १९ ॥

शिवपक्ष

त्रिपुरहर=त्रिपुरनाशक भगवन् ! हरिः=विष्णु भगवान ने ते= आप के पदयोः=चरणों में साहस्रं=एक हजार कमलबलिं=कमलों का उपहार आधाय=समर्पण कर (पूजा करते थे) एक दिन तस्मिन्=उन हजार कमलों में से एक-ऊने=एक कम पड़ गया तो निजं=अपने नेत्र-कमलं=नेत्ररूपी कमल को ही यत्=जो उदहरत्=निकाल कर चढ़ाया असौ=वही भक्ति-उद्रेकः=अतिशय भक्ति भाव चक्रवपुषा=चक्र के रूप में परिणतिं गतः=परिणत होकर अर्थात् वही भक्तिभाव चक्र बन कर त्रयाणां= तीनों जगतां=लोकों की रक्षायै=रक्षा के लिये जागर्ति=आज भी जागृत हो रहा है ॥ १९ ॥

विष्णुपक्ष

त्रिपुरहर=जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूपी तीनों को हर कर तुरीय अवस्था को प्राप्त करानेवाले भगवन ! हरिः=इन्द्र ने ते=आप के पदयोः= चरणों में साहस्रं=अपने एक हजार नेत्रकमलं=नेत्रकमलरूपी कमलबलिं= कमलोपहार को यत्=जो आधाय=समर्पण कर अर्थात् एक हजार अपने नेत्रों से भगवच्चरणों का निरन्तर दर्शन कर एकः=अकेला ही अनेतस्मिन्= परलोक में-स्वर्ग में निजं=अपने को उदहरत्=ऊपर उठाया-अपना उत्कर्ष बढ़ाया असौ=यही भक्ति-उद्रेकः=भक्ति का प्रभाव चक्रवपुषा— ऐरावत उच्चैःश्रवा आदि सैन्यचक्र के रूप में परिणतिं गतः=परिणत होकर त्रयाणां=तीनों जगतां=लोकों की रक्षायै=रक्षा के लिये जागर्ति-जागृत हो रहा है ॥ १९ ॥

क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥ २० ॥

क्रतौ=यागादि कर्म **सुप्ते**=समाप्त होते हैं–नष्ट होने हैं तो भी **क्रतुमतां**=यज्ञ करने वालों को फलयोग स्वर्गादि फल प्राप्ति कराने के निमित्त **त्वं**=आप स्वयं **जाग्रत् असि**=जागृत रहते हैं । **पुरुष–आराधनं ऋते**=भगवान की आराधना बिना **प्रध्वस्तं**=आशुविनाशी **कर्म**=कर्म **क्व फलति**=भला कैसे फल दे सकते हैं । **अतः**=इस लिये **क्रतुषु**=यागादिकर्मों में **त्वां**=आप को **फलदानप्रतिभुवं**=फल देने में जिम्मेदार **संप्रेक्ष्य**=समझ कर **जनः**=लोग **श्रुतौ**=श्रुति में **श्रद्धां**=श्रद्धा **बद्ध्वा**=बांध कर–रख कर **कर्मसु**=कर्म करने में **कृतपरिकरः**=प्रवृत्त होते हैं ॥ २० ॥

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता–
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।
क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥ २१ ॥

शिवपक्ष

शरणद=भक्तों को शरण देने वाले हे भगवन् ! **क्रियादक्षः**=यज्ञादि क्रिया में निपुण **तनुभृतां**=शरीर धारियों के **अधीशः** अधिपति–अर्थात् प्रजापति **दक्षः**=दक्ष स्वयं **क्रतुपतिः** यजमान, **ऋषीणां**=भृगु आदि ऋषियों की **आर्त्विज्यं** ऋत्विक् के रूपमें उपस्थिति, **सुरगणाः**=देवतागण **सदस्याः**=सदस्य, इन सब बातों के होते हुए भी अथ च **क्रतुफलविधान**=यागादि क्रिया का फल देने में **व्यसनिनः**=स्वयमेव चिन्ता करनेवाले **त्वत्तः** आप से ही **क्रतुभ्रंशः** यागध्वंस हो गया । **ध्रुवं**=यह निश्चित है कि **श्रद्धाविधुरं** श्रद्धा के बिना किये गये **मखाः** यज्ञादि **कर्त्तुः हि**=यजमान के ही **अभिचाराय**-नाश का कारण बनते हैं ॥ २१ ॥

विष्णुपक्ष

शरणद=शरणागत को शरण देने वाले भगवन् ! **क्रिया–दक्ष–उदक्षः**=क्रियानिपुण तथा उत्तम इन्द्रिययुक्त **तनुभृतां** शरीरमात्रपोषी दैत्यों के या दीनजनपोषी दानियों के **अधीशः** अधिपति राजा बलि **क्रतुपतिः** यजमान, **ऋषीणां आर्त्विज्यं**-ऋषि लोग ऋत्विक् और **सुरगणाः** देवताओं में

गणनायोग्य महापुरुष **सदस्याः**=सदस्य, फिर भी **क्रतु-फल-विधान-व्यसनिनः** =यज्ञादि क्रिया के फल देने में व्यसनी **त्वत्तः**-आप से ही **क्रतुभ्रंशः**=यज्ञ विनाश हुआ। **ध्रुवं**=यह निश्चित है कि **श्रद्धाविधुरं** श्रद्धा विना किये गये **मखाः**=यज्ञ **कर्तुः**=यजमान की **अभिचाराय हि**-अधोगतिका ही कारण होता है ॥ २१ ॥

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा ।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥ २२ ॥

शिवपक्ष

नाथ=जगन्नियामक विश्वनाथ! **प्रजानाथं** ब्रह्माजी को-जो कि **अभिकं** अति कामुक होकर **स्वां** अपनी **दुहितरं** पुत्री सन्ध्या के साथ जो लज्जा से **रोहिद्भूतां** संध्याशरीर छोड़ कर हरिणी बनी, **ऋष्यस्य** हरिण के **वपुषा**=शरीर से **रिरमयिषुं**=रति करने के इच्छुक होकर **प्रसभं**=बलात्कार से **गतं**=गमन करने लगे **धनुष्पाणेः**=पिनाक पाणी **ते**=आपका **मृगव्याधरभसः**=मृगको वेधने का साक्षात् उत्साहस्वरूप बाण **दिवं**=स्वर्ग में **यातं अपि** पहुंचे हुए भी **सपत्राकृतं**=शरीर में प्रविष्ट होने से अत्यन्त व्यथित किये गये भी **त्रसन्तं** एवं भयभीत हुए भी **अमुं**=उनको (ब्रह्माजी को ; **अद्य अपि**=आज भी **न त्यजति**=नहीं छोड़ रहा है ॥ २२ ॥

विष्णुपक्ष

नाथ=हे जगन्नाथ! **प्रसभं**=शूरवीर से युक्त प्रकृष्टसभावाले **अभिकं** चारों ओर सिरवाले **प्रजानाथ** राजा रावण को **रिरमयिषुं**= रमण कराने के इच्छुक एवं **ऋष्यस्य** = मायामृग के **वपुषा** = स्वरूप से **स्वां दुहितरं**-अयोनिजा सीता को **रिरमयिषुं**=रमण कराने के इच्छुक **रोहिद्भूतां**= हरिण बालपन को **गतं**=प्राप्त हुए-हरिण बालक बने **प्रजानाथ**=प्रजासंतापक-मारीच को जो कि **सपत्राकृत**=बाण प्रवेश से व्यथित **त्रसन्तं** भयभीत होकर **दिवं यातं**-स्वर्ग पहुंचा **अपि**=फिर भी **अमुं**= उसको **धनुष्पाणेः**=धनुर्धारी **ते**=आपका **मृगव्याधरभसः**=मृगवधोत्साह **अद्य अपि**=आज भी **न त्यजति**-नहीं छोड़ रहा रामायण के अध्येताओं की दृष्ट में नहीं छोड़ रहा ॥ २२ ॥

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्नाय तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि ।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥ २३ ॥

शिवपक्ष

पुरमथन=त्रिपुरारी ! यमनिरत=यमनियमपरायण हे भगवन् ! स्वलावण्य=अपने ही सौन्दर्य की आशंसा-धृत-धनुषं=आशा पर धनुष उठाने वाले अर्थात् पार्वती के सौन्दर्य से हीं शंकरजी को वश में करेंगे इस आशा से धनुष उठाने वाले पुष्पायुधं=कामदेव को अह्नाय=क्षण भर में ही तृणवत्=तिनके के समान पुरः=सामने ही प्लुष्टं=नेत्रानल से दग्ध दृष्ट्वा अपि=देख कर भी यदि=यदि देवी=देवी पार्वती देहार्धघटनात=अर्धाङ्गिनी बनाने से त्वां=आप को स्त्रैणं=स्त्रीवश अवैति=समझती है अद्धा=तो वह ठीक ही है। क्योंकि वरद=हे वरद बत=अहो मुग्धाः युवतयः=युवतियां तत्वविवेक हीन होती हैं ॥ २३ ॥

विष्णुपक्ष

अर्धघटनादव=संभोग तथा विप्रलम्भ-रूपी शृगाररसघटना के अर्ध अर्थात् विप्रलंभ को दावाग्नि के समान मिटाकर संभोग प्रदान करने वाले (सीता के विप्रलंभवियोग संताप मिटानेवाले) हे भगवन् ! स्वलावण्याशं क्षत्रियकुलजात अपने शत्रुविनाशनादि लावण्य-शोभा की एकमात्र आशा रखते हुए धृतधनुषं धनुष धारण किये त्वां आपको यदि यदि अह्नाय अल्प समय में ही पुरः=लंका पूरी का प्लुष्टं=दाह अपि=तथा युधं युद्ध को दृष्ट्वा देख कर पुरमथनपुष्पा=पुष्पसे भी अधिक सुकुमार (जिस के शरीर को पुष्प भी मन्थन कर डाले) यम-निरत-देहा=अत्यन्त पतिव्रता (वैसे ही शरीर को नियममें निरत कराने वाली। सा=वही देवी=भगवती सीता स्त्रैणं=स्त्रीवश एति समझने लगती है अद्धा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि वरद=हे वरद युवतयः=युवतियां बत=अहो मुग्धाः=मुग्ध ही तो होती हैं ॥ २३ ॥

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि ॥ २४ ॥

शिवपक्ष

स्मरहर = कामान्तक **वरद** = वरद हे भगवन्! **श्मशानेषु** = श्मशानों में **आक्रीडा** = केलि क्रीडा, **पिशाचाः सहचराः**=प्रेतपिशाच साथी, **चिताभस्म-आलेपः**=चिताभस्म लेपना **अपि** = और **नृ-करोटी-परिकरः** = मनुष्यों की खोपड़ी–समूह की **स्रक्**=माला धारण करना **एवं**=इस प्रकार **तव**=आप का **अखिलं शीलं** = सभी स्वभाव **अमङ्गल्यं** = अमंगल **भवतु नाम** = भले हो, **तथापि** = तथापि **तव स्मर्तॄणां** = आप का स्मरण करने वालों के लिये **परमं** = परम **मङ्गलं** = मङ्गल स्वरूप **असि** = आप हैं ।।२४।।

विष्णुपक्ष

वरद = हे वरद ! **श्मशानेषु** = स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि श्मशानतुल्यानि ग्रहाणि तानि के अनुसार श्मशानतुल्य गृहों में **आक्रीडा**=क्षणिक सुख भोग करते हैं। **स्मरहरपिशाचाः** = हरिस्मरणको हरने वाले पिशाचसदृश पुत्रकन्या बान्धवादि **सहचरा** = साथी बनाये हुये हैं। **चिताभस्मालेपः**= चिताभस्म होने जो जा रहा है ऐसे शरीरों में लिपायमान हो रहे हैं। **स्रग् अपि** = मालाचन्दनादि भी **नृकरोटीपरिकरः** = भगवदर्थं नहीं, किन्तु पिशाचतुल्य कान्तापुत्राद्यर्थं होने से मुर्दों की खोपड़ी सजानेवाला बन यया है। **तव**=आप का **अखिलं**=परम फल हेतु **नामस्मर्तॄणां** = नाम स्मरण करने वालों का **एवं अमङ्गल्यं**=उपरोक्तरीति अमंगल ही **शीलं भवतु** = शील हो **तथापि** तो भी उन नामस्मरण करने वालों के लिये **परमं मङ्गलं असि** = आप परम मंगल दाता हो। (जैसे अजामिलादि के लिये) ।। २४ ।।

> **मनः प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः**
> **प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः ।**
> **यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये**
> **दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत् किल भवान् ।। २५ ।।**

यमिनः = संयमी पुरुष **सविधं** = यमनियमादि शास्त्रीय विधि प्रकार के साथ **आत्तमरुतः** = प्राणामय से प्राणों को रोक कर **मनः** - मन को **प्रत्यक्** = प्रत्याहार द्वारा अन्तर्मुख बनाकर एवं **चित्ते** = हृदयकमलादि देश विशेष में धारणापूर्वक **अवधाय** = ध्यान और समाधि से निश्चल बनाकर **प्रहृष्यद्रोमाणः** = रोमाञ्चयुक्त एवं **प्रमदसलिल-उत्सङ्गितदृशः** = आनन्दाश्रु पूर्ण नेत्रवाले हुए **यत् किमपि** = जिस वाचामगोचर **तत्त्वं** = तत्त्व को **आलोक्य** = देख कर **अमृतमये** = अमृतमय **ह्रदे** = सरोवर में **निमज्ज्य इव** =

डुबकी लगाये हुए जैसे अन्तः = बाह्य सुखविलक्षण आन्तरिक आह्लादं = आनन्दको दधति = प्राप्त होते हैं तद् भवान् किल = वह तत्त्व आप ही हैं ॥ २५ ॥

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥ २६ ॥

शिवपक्ष

त्वं अर्कः असि = तुम सूर्य हो, **त्वं सोमः असि**=तुम चन्द्रमा हो, **त्वं पवनः असि** = तुम वायु हो, **त्वं हुतवहः असि**=तुम अग्नि हो, **त्वं आपः असि** = तुम जल हो, **त्वं व्योम असि** = तुम आकाश हो, **त्वं धरणिः असि** तुम पृथिवी हो **च**=और **त्वं उ आत्मा असि** तुम ही आत्मा (यजमान) हो **इति** = बस, यह भगवान का स्वरूप हुआ **एवं**=इस प्रकार **परिणता** = बुद्धिपरिपाकवाले **त्वयि**=आप के बारे से **परिच्छिन्नां गिरं** = परिच्छिन्नरूप बतलानेवाली वाणी **बिभ्रतु** = बोला करें **तु वयं**=पर हम तो **इह तत् तत्त्वं** - इस जगत में उस वस्तु को **न विद्मः** = नहीं जानते **यत्** = जो **त्वं न भवसि** = आप नहीं हैं— आप से भिन्न है ॥ २६ ॥

विष्णुपक्ष

त्वं अर्कः असि = तुम आदित्य में स्थित पुरुष हो **त्वं सोमः असि** = तुम चन्द्रमामें स्थित पुरुष हो **त्वं पवनः असि** = तुम वायु में स्थित पुरुष हो **त्वं हुतवहः असि**=तुम अग्निमें स्थित पुरुष हो **त्वं आपः असि** तुम जल में स्थित पुरुष हो **त्वं व्योम असि** = तुम आकाश में स्थित पुरुष हो **त्वं धरणिः असि** = तुम पृथिवी में स्थित पुरुष हो **त्वं आत्मा असि** = तुम विज्ञानात्मा में स्थित पुरुष हो **इति च** = और भी विद्युत आदि में स्थित पुरुष हो **एवं** = इस प्रकार दृप्तबालाकि के समान **परिणताः** = बुद्धिपरिपाकवाले **त्वयि** = आप के बारे में **परिच्छिन्नां गिरं बिभ्रतु** = परिच्छिन्न वाणी बोला करें **तु वयं** = पर, हम तो **इह तत् तत्त्वं न विद्मः** =इस जगत् में उस तत्त्वको नहीं जानते **यत् त्वं न भवसि**=जो तुम न हो ॥ २६ ॥

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥ २७ ॥

शरणद शरणागतों को शरण देनेवाले हे भगवान् ! **त्रयीं** = तीन वेदों को **तिस्रः वृत्तीः** = जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति रूपी तीन वृत्तियों को **अथो**=और **त्रिभुवन** स्वर्ग, भुमि, पाताल इन तीनों लोकों को **त्रीन् सुरान् अपि**=ब्रह्मा विष्णु और शिव इन तीनों देवों को **अकाराद्यैः** = अकार उकार और मकाररूपी **त्रिभिः**=तीन **वर्णैः**=वर्णों से **अभिदधद**=बतलाने वाला और **तीर्णविकृति** = सर्व विकारातीत **तुरीयं**= चतुर्थ **ते धाम** = आप के धाम को **अणुभिः** = सूक्ष्म **ध्वनिभिः**=ध्वनियों से **अवरुन्धानं** = प्रतिपादन करने वाला **व्यस्तं**=अ-उ-म ये व्यस्त और **समस्तं**= ॐ ऐसा समस्त ॐ **इति पदं**=ॐ यह पद **त्वां**=आप को **गृणाति**=प्रतिपादन करता है ॥ २७ ॥

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहाँ-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।
अमुष्मिन् प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायस्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते ॥ २८ ॥

देव=हे भगवान् ! **भवः, शर्वः, रुद्रः, पशुपतिः**=भव, शर्व रुद्र पशुपति **अथ उग्रः**=और उग्र **सह महान्**=महादेव **तथा भीम-ईशानौ** = तथा भीम और ईशान **इति** = इस प्रकार **इदं यत् अभिधानाष्टकं** = ये जो आठ नाम हैं **अमुष्मिन्** = इन में **प्रत्येकं** = हरेक के साथ **श्रुतिः अपि** = श्रुति भी **प्रविचरति** = प्रमाणरूप में आती है-प्रतिपादन करती है। **अस्मै** = उस **प्रियाय** = सर्वप्रिय **धाम्ने** = तेजः स्वरूप **भवते** = आपको **प्रणिहितनमस्यः-अस्मि** = मैं प्रणाम करता हूं ॥ २८ ॥

विष्णुपक्ष

देव = हे भगवन् **भव** जगत् को उत्पन्न करने वाला **शर्वः** = संहार करने वाला **रुद्रः** = रुलानेवाला-असाधु कर्म कराने वाला **पशुपतिः** = दीनानाथ साधुकर्म कराने वाला **उग्रः** राक्षसादि के लिये उग्ररूप **सह** = साथ साथ **महान्** = शिष्टरक्षक होने से महान **तथा भीमेशानौ** = भयकारी तथा सर्वाधिपति **इति यत् अभिधानाष्टकं इदं** ये जो आठ यौगिक नाम हैं **अमुष्मिन् प्रत्येकं** = इन में प्रत्येक के लिये **श्रुतिरपि-प्रविचरति** = श्रुति भी प्रमाण है **अस्मै प्रियाय धाम्ने** = उस प्रिय धाम **भवते** = आप को **प्रणिहितनमस्योऽस्मि** = प्रणाम करता हूं ॥ २८ ॥

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिसर्वाय च नमः ॥ २९ ॥

शिवपक्ष

प्रियदव = निर्जनवन प्रिय भगवन् ! **नेदिष्ठाय** = अत्यन्त समीपवर्ती **च** = और **दविष्ठाय** = अति दूरवर्ती **ते नमो नमः** = आप को बार बार प्रणाम । **स्मरहर** = कामान्तक हे भगवन् **क्षोदिष्ठाय च** = अत्यन्त छोटे और **महिष्ठाय ते** = अति महान् आपको **नमो नमः** = बार बार प्रणाम । **त्रिनयन** = त्रिनेत्रधारी परमेश्वर ! **वर्षिष्ठाय च** = अतिवृद्ध और **यविष्ठाय ते** अति युवा आपको **नमो नमः** = बार बार प्रणाम । हे परमात्मन् ! **सर्वस्मै** सर्वस्वरूप **च** = और **तदिदमिति सर्वाय** 'तत्' कर के परोक्ष रूप से जिसको कहा जाय और 'इदं' करके अपरोक्षस्वरूप से जिस को कहा जाय उन सब के अधिष्ठान स्वरूप **ते** = आपको **नमो नमः** = बार बार प्रणाम ॥ २९ ॥

विष्णुपक्ष

तीन सम्बोधनों की व्याख्यामात्र बदल लेना चाहिये । **प्रियदव**=प्रिय अर्थात् वैषयिक सुखों को वैराग्योद्भावन से नष्ट करनेवाले । **स्मरहर** = वासनाओं को हरने वाले । **त्रिनयन** = तीनों लोकों के नयनवत् सर्वार्थावभासक ।

बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥ ३० ॥

विश्वोत्पत्तौ=विश्व की उत्पत्ति के निमित्त **बहुलरज से**=उद्रिक्त रजोगुणधारी **भवाय** = सृष्टिहेतु ब्रह्ममूर्ति भव भगवान को **नमो नमः** = बार बार प्रणाम । **तत्संहारे**=विश्व के संहार निमित्त **प्रबलतमसे** = उद्रिक्त तमोगुणधारी **हराय** = रुद्रमूर्ति हर भगवान को **नमो नमः** = बार बार प्रणाम **जनसुखकृते** = सकलजन सुख के निमित्त **सत्त्वोद्रिक्तौ** = सत्त्वोद्रेककाल में **मृडाय** = विष्णुमूर्ति मृड भगवान को **नमो नमः** = बार बार प्रणाम । **निस्त्रै-**

गुण्ये = त्रिगुणातीत अवस्था में प्रमहसि पदे = मायानभिभूत ज्ञानतेजः-स्वरूप शिवाय नमो नमः = परब्रह्मस्वरूप शिव को बार बार प्रणाम ॥३०॥

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधात्
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥ ३१ ॥

वरद = सर्वाभीष्टप्रद भगवन् ! कृशपरिणति = अल्प परिपाक वाला (अपरिपक्व) क्लेशवश्यं अविद्या अस्मिता आदि क्लेशों के पराधीन या क्लेश में वश करने योग्य इदं = यह (मेरा) चेतः = चित्त च = तो क्व = कहां ? च = और तव = आपकी गुणसीमोल्लङ्घिनी = गुणों की सीमा को पार करने वाली शश्वत् = शाश्वत ऋद्धिः = महिमा क्व = कहां ? इति = इस प्रकार चकितं = भीत मां = मुझे अमन्दीकृत्य = भीतिरहित एवं निरलस बनाकर भक्ति = (मेरी भक्ति ने ते चरणयोः = आपके चरणों में वाक्यपुष्पोपहारं = महिम्नस्तुतिवाक्यरूपी पुष्पों की भेंट आधात् = चढ़वायी ॥ ३१ ॥

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥ ३२ ॥

ईश = हे परमेश्वर ! यदि = यदि असितगिरिसमं = नीलाञ्जन पर्वत के बराबर कज्जलं = स्याही स्यात् = हो, सिन्धुपात्रे = सागर दावात हो, सुरतरुवरशाखा = कल्पवृक्ष की शाखा लेखनी = लेखनी (कलम) हो, उर्वी = पृथिवी पत्र = पत्र (कागज) हो और सर्वकालं = अनादि अनन्त काल तक शारदा = सरस्वती गृहीत्वा = उसे लेकर लिखति = लिखती रहे तत् = तो अपि = भी तव आपके गुणानां = गुणों को पारं = पार न याति = नहीं पा सकती अथवा तव गुणानां पारं = आपके गुणातीत रूप को न याति = नहीं पा सकती ॥ ३२ ॥

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य ।
सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ॥ ३३ ॥

शिवपक्ष

असुरसुरमुनीन्द्रैः = असुर, देवता और महामुनियों द्वारा **अर्चितस्य** = पूजित **इन्दुमौलेः** - चन्द्रशेखर **ग्रथितगुणमहिम्नः** = गुण महिमायुक्त **निर्गुणस्य** अथ च निर्गुण **ईश्वरस्य** भगवान् शंकर का **सकलगुणवरिष्ठः** समस्त गुणों से महत्त्वप्राप्त **पुष्पदन्ताभिधानः** = पुष्पदन्त नाम के गन्धर्वराज **अलघुवृत्तैः** - बड़े बड़े छन्दों में **एतत्** = यह **रुचिरं स्तोत्रं** = सुन्दर स्तुति **चकार** = बनायी ॥ ३३ ॥

विष्णुपक्ष

असुरसुरमुनीन्द्रैः = असुर, देवता एवं मुनीन्द्रों से **अर्चितस्य** = पूजित **इन्दुमौलेः** शंकर भगवान के भी **ईश्वरस्य** मालिक **ग्रथितगुणमहिम्नः** = अनन्त गुणयुक्त **निर्गुणस्य**=फिर भी गुणातीत परब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु का **सकलगुणवरिष्ठः**=समस्त गुण जिनमें हैं उनमें भी श्रेष्ठ **पुष्पदन्ताभिधानः**=पुष्पदन्त नाम के गन्धर्व राज ने **अलघुवृत्तैः**=उत्तम चरित्रों से युक्त **एतत्**=यह **रुचिरं**=सुन्दर **स्तोत्रं**=स्तुति **चकार**=की ॥ ३३ ॥

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान् यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथात्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमांश्च ॥ ३४ ॥

शिवपक्ष

धूर्जटेः=शंकर भगवान का **एतत्**=यह **अनवद्यं**=निर्दोष स्तोत्र **शुद्धचित्तः**=शुद्धचित्त होकर **परमभक्त्या**=परम भक्ति से **अहरहः** = प्रतिदिन **यः पुमान् पठति**=जो मनुष्य पढ़ेगा **सः**=वह **शिवलोके**=शिवलोक में **रुद्रतुल्यः भवति** = शिवसारूप्य को प्राप्त होगा **तथा**=और **अत्र**=इस लोक में **प्रचुरतरधनायुः**=महान् धनी एवं दीर्घायु **पुत्रवान् च**=पुत्रवाला और **कीर्तिमान् भवति**=कीर्तिशाली होगा ॥ २४ ॥

विष्णुपक्ष

इदं अनवद्यं स्तोत्रं=यह विष्णु का निर्दोष स्तोत्र **धूर्जटेः परमभक्त्या**=शंकर की भी परम भक्ति से **शुद्धचित्तः यः पुमान्** = शुद्धचित्त जो

मनुष्य अहरहः पठति = प्रतिदिन पढ़ता है सः = वह यो यो यां यां तनुं भक्तः"" स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् के अनुसार शिवलोके = शिवलोक में रुद्रतुल्यः=रुद्र समान भवति = होगा तथा=और अत्र = यहां प्रचुरतरधनायु = धनी एवं दीर्घायु पुत्रवान् च कीर्तिमान् पुत्रवान् और कीर्तिमान् भवति होगा ॥ ३४ ॥

दीक्षा दानं तपस्तीर्थ-स्नानं यागादिकाः क्रियाः ।
महिम्नस्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३५ ॥

आसमाप्तमिदं स्तोत्रं सर्वमीश्वरवर्णनम् ।
अनौपम्यं मनोहारि पुण्यं गन्धर्वभाषितम् ॥ ३६ ॥

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥ ३७ ॥

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
शशिधरवरमौलेर्देवदेवस्य दासः ।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्
स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ॥ ३८ ॥

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः ।
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥ ३९ ॥

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥ ४० ॥

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः ।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ॥ ४१ ॥

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ॥ ४२ ॥

•

ॐ पूर्णमदं पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य मुर्णमादाय मुर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

•

(अनुवादका अन्तिम पद्य)

इयं श्रीकाशिकानन्दयतेर्विजयते कृतिः ।
चन्द्रिकेव सतां नित्यं चेतः कुमुदिनीवने ॥

समाप्तमिदं सानुवादं महिम्नः स्तोत्रम्

शुभं भूयात् ॥



ग्रन्थकारके अन्य प्रकाशन

जा० सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	१५-००
वैराग्यमन्दाकिनी	अप्राप्य
गोपीगीतम् अर्थद्वय हिन्दी	,,
दशशान्तयः सानुवादाः	,,
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	,,
ईशावास्यरहस्यविवरणं सवार्तिकं	१५-००
संक्षिप्तशंकरदिग्विजयः सानुवादः	१०-००
नारदीयभक्ति(सूत्राणि)दर्शनम् सवार्त्ति(कानि)कम्	
प्रथमो भागः	१०-००
द्वितीयो भागः	१०-००
तृतीयो भागः	१०-००
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः	८-००
भागवतसारस्तोत्रम् सानुवादं	८-००
भीष्मस्तुतिप्रवचन गुजराती	समाप्त
महिम्नःस्तोत्रं हरिहरपक्षीयानुवाद टिप्पणी सहित	समाप्त
शिवमहिम्नःस्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	३०-००
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ पूर्वार्धं	प्रेसमें
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ उत्तरार्धं (स्थितप्रज्ञदर्शन)	प्रेसमें
सुभगोदयम् अमृतझरिका व्याख्या अन्वयार्थबोधिनी टीका एवं भाषानुवाद सहित	शीघ्रप्राप्य

अन्य पुस्तकें भी यथाशीघ्र मुद्रित होंगी